15.5

म्प्रदायों को वे, आर्यों के प्राचीन गौरव को दूसरों की दृष्टि
ते थे; उनका निश्चय था कि नवीन मतों ने, महन्तों ने
। काल की महत्ता पर मिट्टी डाल दी है। उसकी विशुद्धता
या है। जब तक मतों को मिटाया न जाय आर्यों में परम
पित होना कठिन है।

जनिक हित के लिए ही हाथ में तर्क का तीर लेकर खण्डन
थे। रोगी के फोड़े-फुन्सियों का जब तक छेदन न किया
होना दुष्कर है। खेत में से जब तक झाड़-झंखाड़ उखाड़
ाल कर उसका शोधन न किया जाय उसमें खेती का
म्भव है। ऐसे ही किसी देश और जाति में से जब तक
न किया जाय तब तक उसका उन्नति के सोपान पर पदार्पण
है। सुधार का काम सर्वप्रिय तो नहीं परन्तु सार्वजनिक हित
करता है।

का अवलम्बन करते समय श्री महाराज के महान् हृदय में पर-हित परिपूर्ण हो रहा था, इसका परिपुष्ट प्रमाण उनका अपना ही लेख है। स्वामीजी लिखते हैं—"यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मत में पाए जाते हैं, (परन्तु यदि) वे पक्षपात छोड़कर सर्व तंत्र सिद्धान्त को स्वीकार करें, जो जो बातें सबके अनुकूल हैं और सब में सत्य हैं उनको ग्रहण करके, और जो बातें एक दूसरे से विरुद्ध पाई जाती हैं उनको त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्तें वर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित हो जाय। विद्वानों के विरोध ही से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर विविध दुःखों की वृद्धि और सुखों की हानि होती है। यह हानि स्वार्थी मनुष्यों को प्यारी है परन्तु इसने सर्वसाधारण को दुःख-सागर में डुबो दिया है।

जो सज्जन सार्वजनिक हित को लक्ष्य में धरकर कार्य में प्रवृत्त होता है उसका विरोध स्वार्थी जन तत्परता से करने लग जाते हैं। उनके मार्ग में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधायें डालते हैं। परन्तु "सत्यमेव जयति नानृतम्; सत्येन पन्था विततो देवयानः" सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय होता है। सत्य ही से विद्वानों का मार्ग

विस्तृत हो जाता है। इस दृढ़ निश्चय के अवलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने में उदासीन नहीं होते, सत्यार्थ-प्रकाश करने से कभी पीछे नहीं हटते।"*

स्वामी जी ने आर्यावर्तीय मतों से भिन्न मतों पर भी समालोचना की है। वह समालोचना उन मतों की मान्य पुस्तकों के आधार पर ही की गई है। उसमें गहरी गवेषणा और अकाट्य युक्तियों से काम लिया गया है। यह सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं कि ऐसी और इससे भी कड़ी समालोचना, बुद्धदेव से लेकर आज पर्यन्त, सभी धर्मों के गुरुजन करते आये हैं। स्वामी दयानन्द जी अपने युग के सबसे बड़े समाज-संस्कारक थे। वे अद्वितीय सुधारक थे। उन्होंने करोड़ों मनुष्यों की हितकामना से कार्य किया है। आर्यजाति के पुरुषों की सहस्रों वर्षों से संचित सम्पत्ति को सर्वनाश के मुख से निकाला है। समाज चक्र को चलाने के लिए उसकी चूल में अपने प्यारे प्राणों को तैल बनाया है। सर्व-प्रियता की अपेक्षा सर्व-हित ही को सर्वोपरि माना है। ऐसे महापुरुष के सुधार कार्य पर छोटे और अधमतम शस्त्रों से काम लेने वाले छुट-भैया लोग सुधारपद्धति से सर्वथा अजान हैं।

महाराज ने दूसरे धर्मों की किस भाव से समालोचना की है इसका वे स्वयं प्रकाश करते हैं। वे लिखते हैं—"यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूं तथापि जैसे इसके मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात किए बिना यथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसा ही वर्त्ताव दूसरे देश के मतवालों के साथ करता हूँ। मेरा मनुष्यों की उन्नति का व्यवहार जैसा स्वदेशियों के साथ है वैसा ही विदेशियों के साथ है। सब सज्जनों को इसी प्रकार वर्त्तना योग्य है। यदि मैं किसी एक का पक्षपाती होता ना जैसे आजकल के मतवादी अपने मत का मण्डन और प्रचार करते हैं तथा दूसरे मतों की निन्दा और हानि करते हैं और उनका प्रचार बन्द करा देते हैं वैसा ही मैं भी करता परन्तु ऐसा करना मानुषी कर्म है। जैसे बलवान् पशु निर्बलों को दुःख देते और मार डालते हैं, ऐसा ही काम यदि मनुष्य-तन पाकर भी किया तो यह मानुषी स्वभाव से विपरीत है, पशुओं के सदृश है। जो बलवान्

---

* भाषा की अपेक्षा भाव पर अधिक ध्यान दिया गया है।

होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहा जाता है और जो स्वार्थवश परहानि पर तुला रहता है वह तो मानो शत्रुओं का भी बड़ा बन्धु है।"

स्वामी जी महाराज ने सामाजिक सुधार में ब्रह्मचर्यावस्था पालन करना अत्यावश्यक बताया है। एक-एक दो-दो वर्ष के बालकों का विवाह करना वे देश के अधःपतन का प्रबल कारण मानते थे। उन्होंने कुरीतियों के निवारण में अति बल लगाया। उनके लेखों में पूर्ण युवावस्था के विवाह का विधान प्रबल प्रमाणों द्वारा किया गया है।

उन्होंने वर्णाश्रम-मर्यादा को गुणकर्म के अनुसार माना है। किसी जाति के जन का उत्तम तथा निकृष्ट होना, वे जन्म और नाम ही से नहीं मानते थे। उनके निश्चय में जैसे किसी के गुण कर्म हैं वैसे ही वर्ण में वह परिगणित होना चाहिए। वे कहते हैं कि—"जिस पुरुष में जिस वर्ण के गुण-कर्म हों उसको उसी वर्ण का अधिकार देना चाहिए। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील हो जाते हैं।" महाराज शूद्रों के सुधार के बड़े पक्षपाती थे। उन्हें भी, सर्जनकर्त्ता की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि में समझते थे। चतुर्थ वर्ण से घृणा करना, उसे अस्पृश्य समझना उनके निकट मनुष्य पदवी से गिरा हुआ कर्म है। जो लोग कुत्तों को छूते हैं, बिल्लियों से खेलते हैं, भैंसों को हाथ लगाते हैं, ऊँटों का स्पर्श करते हैं, घृणित जीव जन्तुओं को भी छू लेते और अपने हाथ से जूता तक उतार देते हैं, वे मनुष्यों को अछूत समझें, उनसे दूर भागा करें यह कितना अन्याय है, कितना अधर्म है, यह बात सहज से समझी जा सकती है। महाराज शूद्रों को वेदाधिकार देते हुए लिखते हैं—"जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, और अन्नादि पदार्थ सबके लिये बनाए हैं वैसे ही वेद भी सब मनुष्यों के लिए प्रकाशित किये हैं"

श्री स्वामीजी ने स्त्री जाति के सुधार का भी परम कार्य किया है। शास्त्र-रीति से उनको वेदाधिकार दिया है। महिलाओं की महत्ता का जितना उन्होंने वर्णन किया है उतना किसी आचार्य ने नहीं किया। वे चाहते थे कि कुछ एक विदुषी स्त्रियाँ मिलकर मातृ-मण्डल निर्माण करें और फिर मातृ-शक्ति को सर्वगुणसम्पन्न बनायें। उन्होंने श्रीरमा को परोपकार के लिए जीवनोत्सर्ग की

प्रबल प्रेरणा भी की, परन्तु सफलता न हुई। श्रीमती रमाबाई इस परम कर्म को करने का साहस न कर सकी। महाराज स्त्रियों का महत्व वर्णन करते हुए लिखते हैं—"स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य धारण और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये। भारत की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि देवियां शास्त्रों का पढ़कर पूरी विदुषी हुई थीं। देख', आर्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद, युद्ध-विद्या अच्छे प्रकार जानती थीं। यदि ऐसा न होता तो कैकेयी आदि स्त्रियां दशरथादि राजाओं के साथ संग्राम में कैसे जा सकतीं ? स्त्रियों को व्याकरण, धर्म्म, वैद्यक, गणित और शिल्पविद्या अवश्य सीखनी चाहिये।"

महाराज ने शिक्षा-सुधार पर भी बड़ा बल दिया है। वे जानते थे कि जब तक सर्व साधारण में सुशिक्षा का प्रचार नहीं होता तब तक उन्नति नहीं हो सकती। करोड़ों मनुष्यों को एक उददेश्य पर लाने के लिए शिक्षा सबसे ऊँचा साधन है। वह शिक्षा भी धर्म-सहित और जातीय होनी चाहिए। शिक्षा पर लिखते हुए वे कहते हैं—"जब पांच वर्ष के लड़का लड़की हों तब उनको देव-नागरी अक्षरों का अभ्यास कराना चाहिए। अन्य देशी भाषाओं के अक्षरों का भी अभ्यास कराना उचित है।"

स्वामीजी ने ही सबसे पहिले शिक्षा के आवश्यकीय सिद्धान्त को उद्घोषित किया। वे अनिवार्य शिक्षा के पक्षपाती थे और नहीं चाहते थे कि कोई भी मनुष्य लिखने-पढ़ने के ज्ञान से शून्य रह जाय। अनिवार्य शिक्षा पर लिखते हुए वे कहते हैं कि "इसमें राज-नियम और जाति-नियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष के उपरान्त कोई मनुष्य अपने लड़का या लड़कियों को घर में न रख सके। अवश्यमेव उसे पाठशाला में भेजे। यदि न भेजे तो वह दण्डित किया जाय।"

श्री स्वामीजी महाराज से भारत-वासियों की दरिद्र दलित दशा छिपी न थी। उन्होंने अपने विस्तृत पर्यटन में अकाल-पीड़ितों की करुणाजनक अवस्था को अपनी आंखों देखा था। उनके हृदय-वेधक रोदन को अपने कानों सुना था। वे जानते थे कि भारतीय प्रजा के सहस्रों जन, निर्जीव यन्त्र की भांति, दिन भर परिश्रम करने पर भी अपने बाल-बच्चों के मुंह में पूरा ग्रास नहीं डाल सकते। ऐसे कितने ही परिवार हैं जो अपने पेट की निरन्न पीड़ा मिटाने

में निपट निरुपाय हो रहे हैं। श्री स्वामीजी यह भी जानते थे कि भारत-भूमि रत्न-गर्भा है, सुजला, सुफला है। ऊसर नहीं, किन्तु उर्वरा और शस्यशालिनी है। इस पर आहार-योग्य नाना धान्य उत्पन्न होते हैं। इस पर सुस्वादु फलों की त्रुटि भी नहीं है। भोजन-आच्छादन और व्यवहार के योग्य सब वस्तुयें यहाँ उत्पन्न होती हैं। तो फिर माता वसुन्धरा अपनी सन्तान का लालन-पालन क्यों नहीं कर सकती ? इसके लाड़ले लड़के-बाले भूख के मारे इसकी गोद में बैठे बिलख-बिलख कर आठ-आठ आंसू क्यों रो रहे हैं ?

ऊपर के प्रश्नों का उत्तर, महर्षि ने अच्छी तरह समझ लिया था। उनकी दिव्य दृष्टि से नित्य के अकाल के कारणों का छुपे रहना सर्वथा असम्भव था। वे जानते थे कि भूमि की उपज में भेद नहीं पड़ा किन्तु कुछ वृद्धि हो गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर भी यहां भूख है और दुर्भिक्ष है तो इसका कारण शिल्पकला का भारी अभाव है। आवश्यकीय व्यवहार की वस्तुयें यहां निर्मित नहीं होतीं। विदेशी वस्तुओं की भरमार से यहां के लाखों परिश्रमी निकम्मे हो रहे हैं। उनके पास आजीविका का कोई उपाय नहीं रहा। पहले साधारण परिस्थिति के मनुष्य से लेकर महाराजों और राजेश्वरों तक इसी देश के बने वस्त्रों से वेष-विन्यास करते थे। यहाँ के रत्न-जटित और मणि-मुक्ता-खचित आभूषणों से विभूषित होते। उनके आकाश-भेदी भवन इसी देश के कृतकर्मा विश्वकर्माओं के द्वारा बनाये जाते। उनको सुसज्जित करने के लिए भारत की चित्रशालाओं के चित्रकारों ही से अद्भुत चित्र प्राप्त हो जाते। परन्तु आज सब कुछ विपरीत हो गया है।

महाराज, दूसरे वक्ताओं की भांति, अपने भाषण को व्याख्यान भवन की खुली खिड़कियों से पार कर देने में ही अपने देश-हित की सम्पूर्ण सफलता नहीं मानते थे। वे परम कर्म-योगी थे, इस कारण क्रियात्मक कर्म करना चाहते थे। उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में, उनके धर्म प्रचार और समाज-सुधार आदि उदात्त उद्देश्यों में, भारतवर्ष में शिल्पकला का विस्तारित करना भी सम्मिलित हो गया था। वे इसके लिए पूर्ण प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने अपने पश्चिमी शिष्य 'वीस' महाशय को लिखा था कि आप भारतवासियों को शिल्प-कला सिखाने का प्रबन्ध कीजिए। महाराज के पत्र के उत्तर में जर्मन देश-निवासी श्रीमान् जी. ए. वीस ने जो पत्र लिखे उनके कुछ एक अंश

यहाँ उद्धृत किए जाते हैं इनसे पाठकों को पता लग जायगा कि महाराज स्वदेश-वस्तु-प्रचार में कितने सचेष्ट थे। अपने २१ जून सन् १८८० के पत्र में श्रीमान् वीस महाशय लिखते हैं—"जो जो विषय आपके विद्यार्थियों के प्रयोजन के लिए सबसे अधिक उपयोगी और आवश्यक प्रतीत होते हैं वे सब हम उन्हें सिखा देंगे। साधारण विद्यार्थियों की अपेक्षा जिनके सामने ऐसा कोई विशेष उद्देश्य नहीं होता, हम आपके विद्यार्थियों की विशेष शिक्षा पर अधिक ध्यान देंगे। कृपया लिखिए कि इस प्रस्ताव के विषय में आपकी क्या सम्मति है। इस विषय में खुलकर अपने विचार लिखिए। हम ऐसे प्रबन्ध करने के लिए सदा उद्यत हैं जो आपके देशवासियों के लिए और हमारे लिए सन्तोष-जनक हों।"

उसी सन् की ३० जून को वे फिर लिखते हैं—"यदि आप दूर-दर्शिता से आरम्भ करें और प्रारम्भ ही में सीमातीत शीघ्रता से काम न लें तो मैं समझता हूँ कि कालक्रम में भारत की मण्डी में अपने प्रति-द्वन्द्वियों को पराभव कर देने का आपके पास अच्छा अवसर है। क्योंकि आपको कुछ एक ऐसी सुविधायें प्राप्त हैं जो उनके पास नहीं हैं। एक तो आपके देश में दैनिक वेतन सस्ता है। दूसरे आपके देश में सूक्ष्म काम को कुशलता से करने के, साधारणतः यूरोपियों की अपेक्षा अधिक प्रवीण परिश्रमजीवी जन मिल जाते हैं। तीसरे, बहुत से यूरोपियों की अपेक्षा आप लोगों का आचार अच्छा है। आप अपने ग्राहकों को सस्ती और निकम्मी वस्तुयें दे उनका रुपया नहीं बटोरेंगे। आप जीवन में, वाणिज्य में और कला-कौशल में निर्दोष नियम का पालन करेंगे। आप जब चाहें अपने विद्यार्थियों को हमारे पास भेज दें। जितना शीघ्र भेजें उतना ही उत्तम है। क्योंकि हम उनको उनके अध्ययन के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के अनुसार काम में लगाने के लिए तत्पर हैं।"

'वीस' महाशय ने ३० सितम्बर १८८० को फिर लिखा—"आप के पुत्र हमसे भौतिक और अन्य विद्यायें तथा शिल्प-कर्म सहर्ष सीख सकते हैं। हमें आपकी उन्नति का डाह नहीं है।

"मैं निर्धन माता-पिताओं के पुत्र लेने और उनको अपने सर्वोत्तम पुरुषों से शिक्षा दिलाने के लिए समुद्यत हूँ। कालान्तर में ज्यों ही हमारी आय इस योग्य हो जायगी, जब आप कहेंगे, तो मैं आपके कुछ दरिद्र 'सुधी विद्यार्थी

ले लूँगा। उनको बहुत थोड़े शुल्क पर अथवा बिना शुल्क शिक्षा दूँगा और उनकी उन्नति के लिए सहायता दूँगा।"

श्रीमान् वीस के पत्रों के ऊपर दिये अंशों से भली भांति प्रकाशित होता है कि महाराज भारत में शिल्प-कला का विस्तार करने के लिए बड़ा भारी उद्यम कर रहे थे। वे विदेश में कला-कौशल सीखने के लिए एक मण्डली भेजना चाहते थे। उन्होंने लाहौर आदि नगरों में अपने प्रेमियों को पत्रों द्वारा प्रेरित भी किया कि शिल्प सीखने के लिए विदेश जाइये। परन्तु इस उद्देश्य को क्रियात्मक बनाने के लिए द्रव्य और मनुष्य दोनों वस्तुएँ चाहिएँ। इन दोनों के अभाव को दूर करने के लिए वे रातदिन यत्न करते थे। यदि, काल की गति उनके मार्ग में बाधक न होती तो वे कालान्तर में, इस कार्य में अवश्यमेव कृतकार्य हो जाते। भारत की हित-कामना के उपर्युक्त परमोपयोगी उद्योग को देखकर, यह बात साहसपूर्वक कही जा सकती है कि स्वामी दयानन्द जी पहले महा-पुरुष थे, जिन्होंने देश-दशा सुधारने के लिए, इसकी नौका को भूख के भयङ्कर भंवर से निकालने के लिए, और स्वदेश-बन्धुओं का दरिद्र धोने के लिए पूर्ण पुरुषार्थ किया। स्वामीजी जहाँ लोगों की आत्मिक भूख-प्यास को वेदोपदेश द्वारा दूर करते थे वहां उनकी शारीरिक क्षुत्पिपासा को उपशम करने के लिए शिल्प-शिक्षा का सुदृढ़ सूत्रपात भी कर रहे थे। वे सजग थे। उनकी दृष्टि व्यापिनी थी। वे इस मर्म को जानते थे कि कबूतर की तरह आंखें मूंद लेने से भूख की बिल्ली दूर नहीं हो सकती। निरे कूपमंडूक बने रहने से स्वदेश-हित साधित नहीं होता।

उस महापुरुष के माहात्म्यों में हम प्रथम पद एक निराकार ईश्वर के पूजन को देते हैं। हमारे पास इतिहास-सम्बन्धी पुष्ट प्रमाण हैं कि जब से आर्य्य धर्म्म में मत-भेद हुए तब से स्वामीजी महाराज के बिना ऐसा एक भी आचार्य नहीं हुआ, जिसने उनकी भांति एक ईश्वरवाद का ऐसी निर्दोष रीति से वर्णन किया हो। महाराज का दूसरा महत्व वेद-विश्वास है। यद्यपि आर्य धर्म्म के मौलिक मन्तव्यों से निकली हुई साम्प्रदायिक शाखाओं में वेद मान्य माना जाता है परन्तु साम्प्रदायिक मतों के मन्तव्य-कर्तव्य वेद से उतना ही भेद रखते हैं, जितना कि दिन से रात और धूप से छाया। स्वामीजी महाराज केवल वेद पर आश्रित थे। वे उससे बाहर जाना जानते ही न थे।

(शास्त्र-रीति से स्त्री-जाति को स्वातन्त्र्य देना, उनको वेदाधिकार प्रदान करना स्वामीजी का तीसरा माहात्म्य है। उनसे पूर्व आचार्यों ने ऐसी उदारता कभी नहीं दिखाई।)

श्री महाराज का चतुर्थ माहात्म्य शूद्रों का उद्धार है। भील, कोल और पँरिहा आदि लाखों मनुष्य आर्यों में अछूत समझे जाते हैं। ऐसे कुलीन जन भारत में पाये जाते हैं जो इनकी छाया भी अपने शरीर पर नहीं पड़ने देते। ऐसे कुत्सित व्यवहार से जो हानियाँ हो रही हैं उन्हें सभी जानते हैं। श्री स्वामीजी ने सर्व प्रकार के शूद्रों को आर्य्य जाति का अङ्ग वर्णन किया है। उन्होंने अपने नूतन संस्कार में इस भारी भूल को, घृणित भेद-भावना को और तुच्छाभिमान को निकाल डाला है, अस्पृश्यता का विचार उठा दिया है। आर्य्य धर्म्म में जब से आचार्य-चक्र चला है, सम्प्रदायों की जब से स्थापना हुई है और जब से समाज-सशोधक सन्तजन उत्पन्न होते आये हैं तब से यह अनुपम पदवी एक स्वामी दयानन्द जी को ही प्राप्त हुई है कि उन्होंने दूसरे धर्मों और जातियों के जनों के लिए वेद-मर्यादा से आर्य-धर्म का द्वार खोल दिया। अब चाहे जो आर्य-धर्म्म में प्रवेश करे, उसके मार्ग में प्रतिबन्धक बात कोई भी नहीं है। इतिहास-माला में यह माहात्म्य सदा सम्मान से स्मरण किया जायगा।

पुरानी पद्धति के पण्डित लोग लोकहित के कार्यों से विरक्त हो जाते हैं। निरे नाम के परमार्थ पर घोटा लगाने वाले, संसार-सुधार में कुछ भी समय नहीं देते प्रत्युत व्यावहारिक कर्मों से घृणा करने लग जाते हैं। कुछ एक इने-गिने सन्त-जन अवश्य ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने शिष्यों को समाज-रक्षा के लिए प्रेरित किया। परन्तु जिस प्रकार संसार का उपकार करना स्वामीजी ने आर्य्यसमाज के कर्त्तव्यों में मुख्य कर्त्तव्य स्थापित किया, देशहित के लिए दौड़-धूप की और एक बड़े भारी परिमाण में शिल्पकला का उद्योग करना आरम्भ किया, इस प्रकार इस दिन तक किसी अन्य धर्म्माचार्य्य ने नहीं किया।

वैदिक काल के अनन्तर आर्यावर्त्त में जितना धार्मिक साहित्य संचित हुआ है उसमें निष्क्रियवाद को अति प्रधानता दी गई है। निष्क्रियता को ही एक प्रकार से धर्म्म बताया है। ऐसे साहित्य में कर्म-काण्ड की इतनी अवहेलना की गई है कि इसे अज्ञानियों के बाँधने के लिए एक खूँटा वर्णन किया है।

कर्म-रूप धर्म्म का खण्डन करते हुए कई ज्ञानीब्रुव पुरुष भाषा में कर्मकाण्डियों को पशु तक कह गये हैं।

हम मानते हैं कि इस निष्क्रियवाद के चरण-चिह्न महाभारतकाल में ही चमकने लग गये थे। इनको मिटाने के लिए उस समय के परम कर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र ने पूर्ण बल लगाया था। वे उस समय मिटे तो नहीं किन्तु ढाई सहस्र वर्ष के पश्चात् ऐसे चमके कि उन्होंने सारे साहित्य को चकाचौंध लगा दी। बुद्ध महाराज के प्रचार ने इस अकर्मण्यवाद को अति पुष्ट किया। वही समय निष्क्रियवाद का यौवन युग कहा जा सकता है। निष्क्रिय धर्म्म का पालन कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता। क्रिया के किये बिना किसी की भी प्राण-यात्रा नहीं चल सकती। अपने विचारों को प्रकट करने के लिए भी क्रिया की आवश्यकता होती है। और तो और, निष्क्रियवाद धर्म्म है ऐसी समझ, ऐसा ज्ञान और ऐसी धारणा भी सूक्ष्म क्रिया ही से उत्पन्न होती है।

निष्क्रियता धर्म्म नहीं है। धर्म्म तो कर्म्मात्मक है। वह पुरुषार्थ से उपार्जित है। क्रिया से निष्पन्न होता है। इसलिए ज्ञानियों ने धर्म्म का लक्षण प्रेरणा वर्णन किया है। ऐहिक और पारलौकिक सुख-सिद्धि का साधन बताया है। स्मार्त्त धर्म्म के व्याख्याता भगवान् मनु भी धर्म्म के लक्षण क्रिया-रूप ही वर्णन करते हैं।

यदि अक्रिया-रूप धर्म्म हो तो भेड़ें और बकरियां कभी असत्य भाषण नहीं करतीं। ममियाने के बिना वे दूसरा कोई शब्द ही नहीं बोलतीं। तब तो वे सत्यवादियों में सर्व शिरोमणि हो जायं। भोले भाले मृग मनुष्य के पांव की आहट सुनकर कोसों दूर भाग जाते हैं। कभी किसी की हिंसा नहीं करते। परन्तु कोई भी अकर्मवादी उनको परमदयालु नहीं मानता एक अंधा, बहिरा, मूक और विकल-शरीर मनुष्य वन में जीवन के दिन काटता हुआ न अशुभ सुनता है और न अशुभ देखता है, न अशुभ बोलता है और न अशुभ करता है, परन्तु वह मुनि नहीं कहला सकता। उन्मत्त अथवा मूर्छित मनुष्य अशुभ सङ्कल्प-विकल्प से शून्य तो होता है पर वह महात्मा नहीं माना जाता। गहरी नींद में कोई अशुभ क्रिया नहीं होती परन्तु वह समय पुण्य उपार्जन का समय नहीं समझा जाता।

अशुभ विचारों को और अशुभ आचारों को शुभ विचारों और शुभ

आचारों द्वारा धक्का देकर भीतर से निकाल देना, उनको अपने निकट न आने देना शुभ-सम्पत्ति-सम्पादन का सर्वोत्तम साधन है। यह साधन क्रिया-जन्य है। यही धर्म्म है। आर्य्यों में जब से निष्क्रियवाद ने घर किया है तभी से इनका विनिपात होना आरम्भ हुआ है। जातियों में जो नर-रत्न होते हैं वे प्रायः धार्मिक भी हुआ करते हैं। समाज के लिए उनका जीवन अत्यन्त उपयोगी होता है। उनका समाज से पृथक् हो जाना समाज को अवनत करना है। निष्क्रियवाद के निष्ठावान् सज्जन जनसमूह से दूर भागते हैं। उनको समाज-सशोधन, समाज-सुधार और समाज संरक्षण कर्त्तव्य कर्म ज्ञात नहीं होते। वे उलटे इन कर्म्मों से घृणा करने लग जाते हैं। यही कारण है कि अकर्मवाद की पोषक पुस्तकों में पुरुषार्थ-धर्म्म का निरादर है। गृहस्थ को पाप और बंधन वर्णन किया है। माता-पिता, पुत्र, कलत्र आदि सम्बन्धों को दुःख का कारण माना है। क्षात्र-धर्म्मादि उत्तम धर्म्मों को प्रशसित नहीं समझा गया। आर्य्य प्रजा के अनेक दीप्तिमान् रत्न इसी अकर्मवाद की उलझन में उलझकर अपनी उपयोगिता नष्ट कर गये हैं। उनकी उज्ज्वल कान्ति से किसी ने कुछ भी लाभ नहीं उठाया।

इसी निष्क्रियवाद की बेल के फल का नाम त्यागवाद है। त्यागी कहलाने में लोग जब से मुक्ति और महत्ता मानने लगे हैं तब से आर्य्य जाति में नाना अनिष्टों की, दुःखों की और अभावों की सृष्टि हुई है। यहाँ लाखों त्यागी वास करते हैं। उनकी आंखों के सामने, उनकी कुटियाओं के पास, उनकी कन्दराओं के निकट और उनके आश्रमों के समीप दिन-दोपहर में उनका धर्म-धन लुटा जा रहा है, लोग अपना पुरातन धर्म्म परित्याग कर रहे हैं। अनाथों की बिल-बिलाहट और कृश प्रजा का करुण-क्रन्दन हो रहा है। इसे देखकर पराये भी पिघल गये हैं। परन्तु इधर ये अपने सर्व-त्यागी हैं कि दुर्दिन-दलित दरिद्र बन्धुओं पर दूर खड़े दया दिखाने में भी आनाकानी करते हैं। इस संकीर्णता का प्रबल कारण है—यहाँ के त्यागियों ने त्याग के अर्थ छूआछूत समझ रक्खे हैं। इसका तात्पर्य घृणा करना, पृथक् हो जाना, संकुचित बनना और पीड़ित प्राणियों को भी क्रियात्मक सहायता न देना निकाला है।

सच्चा त्याग वही है जिसमें घृणा का त्याग है, वैर-विरोध का त्याग है, अभिमान का त्याग है। दूसरे को सुख देने के लिए, परोपकार करने के लिए

अपने प्राणों तक की ममता न करना सच्चा त्याग है। यह परम त्याग ईश्वर-भक्ति और प्रजा-प्रेम से उत्पन्न होता है। भक्ति और प्रीति पुरुषार्थ और शुभ क्रिया के बिना प्राप्त नहीं होती।

स्वामी जी महाराज ने समाज-संस्कार करते समय क्रियात्मक धर्म्म का निरूपण किया है। उन्होंने कई स्थलों में कहा है कि पर-हानि पाप और परोपकार पुण्य है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में गृहस्थादि आश्रमों के और चारों वर्णों के कर्मों को मोक्ष धर्म्म के साधन वर्णन किया है।

महाराज ने वेद-भाष्य के भावार्थ में पुरुषार्थ के लिए अनेक महत्त्व-सूचक वाक्य लिखे हैं। वे ऋग्वेद २-३७-३ में वर्णन करते हैं कि 'किसी को उद्यम के विना न रहना चाहिए'। ऋग्वेद १-४-७ में लिखा है कि 'ईश्वर पुरुषार्थी मनुष्य पर कृपा करता है, आलस्य करने वाले पर नहीं। जब तक मनुष्य ठीक-ठीक पुरुषार्थ नहीं करता तब तक ईश्वर की कृपा का भागी नहीं होता और वह अपने किये कर्मों से प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ कभी नहीं हो सकता। इसलिए सब मनुष्यों को पुरुषार्थी होकर ही ईश्वर की कृपा का भागी होना चाहिए।' फिर ऋ० २-४-१ में लिखा है कि 'जो मनुष्य पावक के समान पवित्र, जल के समान कोमल, सिंह के समान पराक्रम करने वाले और वायु के समान बलिष्ठ होकर अन्याय को निवृत्त करें वे समस्त सुखों को प्राप्त हों।' महाराज की महत्ता का यह ज्वलन्त प्रमाण है कि वे धर्म्म के मर्म का और उसके तात्त्विक स्वरूप का उपदेश करते थे। वे ईश्वर-भक्ति और प्रजानुराग में जीवन तक त्याग देने को सच्चा त्याग निरूपण करते थे।

स्वामी जी महाराज पहले महापुरुष थे जो पश्चिमी देशों के मनुष्य के गुरु कहलाये, जिनको अनेक पश्चिमी मनुष्य गुरु, आचार्य और धर्म-पिता मानते थे। जिस युग में श्री स्वामीजी हुए हैं उससे अनेकों वर्ष पहले से आज तक ऐसा एक ही पुरुष हुआ है जो विदेशी भाषा नहीं जानता था, जिसने स्वदेश से बाहर एक पैर भी नहीं रक्खा था, जो स्वदेश के ही अन्न-जल से पला था, जो विचारों में स्वदेशी था, भाषा और वेष में स्वदेशी था, परन्तु वीतराग और परम विद्वान् होने से सबका भक्ति-भाजन बना हुआ था, जिसका देशी-विदेशी सभी मान करतेथे। ऊँचे से ऊँचे विदेशी पदाधिकारी और स्वदेशी राजे-महाराजे जिसका अति सम्मान करते थे, वह महापुरुष महर्षि दयानन्द था।

महाराज निरपेक्ष भाव से समालोचना किया करते। सब मतों पर टीका टिप्पणी चढ़ाते। परन्तु इतना करने पर भी उनमें कोई ऐसी अलौकिक शक्ति और कोई ऐसे गुण थे कि जिनके कारण वे अपने समय के सारे बुद्धिमानों के सम्मान-पात्र बने हुए थे। मुसलमान दल के सर्वोपरि नीति निपुण नेता श्रीमान् सर सैयद अहमद खाँ महाशय अन्तरात्मा से महाराज के अनुगामी थे। पादरी स्काट ऐसे सज्जन उनको अति आदर देते थे। स्थान-स्थान पर उनको ईसाई मन्दिरों में उपदेश देने के लिए आमन्त्रित किया जाता। लाहौर में तो प्रतिष्ठित मुसलमान सज्जनों ही ने अपने मकान देकर उनका आतिथ्य किया। श्रीयुत केशवचन्द्रसेन जी उनसे अपार प्रेम करते थे। महात्मा देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने उनको श्रद्धापूर्वक सम्मान दिया। महामति गोविन्द रानडे तो उनकी भक्त-माला के एक आभावान् मोती थे। सभी प्रान्तों के गण्य-मान्य सज्जन उनके चारु चरणों में बैठने में गौरव मानते थे। तीव्र समालोचक होते हुए इतनी विस्तृत प्रियता का माहात्म्य दूसरे किसी व्यक्ति को कदाचित् ही प्राप्त हुआ होगा।

महाराज के उच्चतम जीवन की घटनाओं का पाठ करते समय हमें तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि आज तक जितने भी महात्मा हुए हैं उनके जीवनों के सभी समुज्ज्वल अंश दयानन्द में पाये जाते थे। वह गुण गुण ही न होगा जो उनके सर्व-गुण-सम्पन्न स्वरूप में न विकसित हुआ हो। महाराज का हिमालय की चोटियों पर चक्कर लगाना, विन्ध्याचल की यात्रा करना, नर्मदा के तट पर घूमना, स्थान-स्थान पर साधु-सन्तों के शुभ दर्शन और सत्सङ्ग प्राप्त करना मङ्गल नाम श्रीराम को स्मरण कराता है। कर्णवास में कर्णसिंह के बिजली की भांति चमकते खड्ग को देखकर भी महाराज नहीं कांपे, तलवार की अतितीक्ष्ण धारा को अपनी ओर झुका हुआ अवलोकन करके भी निर्भय बने रहे और साथ ही गम्भीर भाव से कहने लगे कि आत्मा अमर है। अविनाशी है। इसे कोई हनन नहीं कर सकता। यह घटना, और ऐसी ही अन्य अनेक घटनायें ज्ञान के सागर श्रीकृष्ण को मानस नेत्रों के आगे मूर्तिमान् बना देती हैं। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो वे ही बोल रहे हैं।

अपनी प्यारी भगिनी और पूज्य चचा की मृत्यु से वैराग्यवान् होकर वन-वन में कौपीन-मात्रावशेष दिगम्बरी दशा में फिरना, घोरतम तपस्या करना

और अन्त में मृत्युञ्जय महौषध को ब्रह्म-समाधि में लाभ कर लेना महर्षि के जीवन का यह अंश बुद्ध देव के समान दिखाई देता है।

दीन-दुःखियों, अपाहिजों और अनाथोंको देखकर श्रीमद्दयानन्द जी क्राइस्ट बन जाते हैं। धुरन्धर वादियों के सम्मुख श्रीशङ्कराचार्य का रूप दिखा देते हैं। एक ईश्वर का प्रचार करते और विस्तृत भ्रातृ-भाव की शिक्षा देते हुए भगवान् दयानन्द जी श्रीमान् मुहम्मद जी प्रतीत होने लगते हैं। ईश्वर का यशोगान करते हुए स्तुति प्रार्थना में जब प्रभु दयानन्द इतने निमग्न हो जाते हैं कि उनकी आंखों से परमात्म-प्रेम की अविरल अश्रुधारा निकल आती हैं, गद्गद-कण्ठ और पुलकित गात हो जाते हैं तो सन्तवर रामदास, कबीर, नानक, दादू, चेतन, और तुकाराम का समय बँध जाता है। वे सन्त-शिरोमणि जान पड़ते हैं। आर्यत्व की रक्षा के समय वे प्रातःस्मरणीय प्रताप, श्री शिवाजी तथा गुरु गोविन्दसिंह जी का रूप धारण कर लेते हैं।

महाराज के जीवन को जिस पक्ष से देखें वह सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रतीत होता है। त्याग और वैराग्य की उसमें न्यूनता नहीं है। श्रद्धा और भक्ति उसमें अपार पाई जाती है। उसमें ज्ञान अगाध है। तर्क अथाह है। वह समयोचित मति का मन्दिर है। प्रेम और उपकार का पुञ्ज है। कृपा और सहानुभूति उसमें कूट-कूट कर भरी पड़ी है। वह ओज है, तेज है, परम प्रताप है, लोक-हित है और सकल कला-सपूर्ण है।

—सत्यानन्द



वैराग्य काण्ड

जन्म-काल से गुरु चरणों तक

: १ :

दयानन्दोदय से पूर्व स्वदेश-दशा

स्वामी दयानन्दजी एक आदर्श संन्यासी थे। उत्तम कोटि के संन्यासी जन कभी अपनी आश्रम-मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। इसीलिए स्वामी दयानन्द जी पूर्वाश्रम का अपना और अपने बन्धुओं का नाम-निर्देश करने में मौन ही रहा करते थे। वे गुर्जर देश में गये। काठियावाड़ में भी पधारे। राजकोट में उन्होंने अनेक व्याख्यान दिये, परन्तु पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों का नाम और ग्राम नहीं बताया।

माता-पिता आदि परिवार-परिजन का परिचय देने में वे इसलिए सकुचाते थे कि गुर्जर देश-वासियों में मोह विशेषता से होता है। पता लगने पर बंधु-वर्ग का बार-बार मिलना, घरेलू काम-धन्धों की चर्चा चलाना और सयोग-वियोग की वार्त्ता बताना ये कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे समदृष्टि सन्यासियों में आत्मीय जनों के लिए स्नेह-स्रोत का स्राव करने लग जाना सम्भावित होता है। ऐसा होने से उस महापुरुष के महोपकारार्थ धारण किए महाव्रत में बड़ी बाधा पड़ जाने की आशङ्का थी।

भक्त अल्काट आदि सज्जनों ने उनसे साग्रह प्रार्थना की कि भगवन्, भारत, अमेरिका और योरुप निवासी आपके शिष्य और सेवक आपके मङ्गलमय जीवन की मङ्गल-कथा जानना चाहते हैं। कृपया अपने जीवन के मुख्य-मुख्य अंश लिखकर हमारे पत्र 'थियासोफिस्ट' में प्रकाशित कराइए। महाराज ने उनके कथन को स्वीकार किया और अपने जीवन के कुछ एक मोटे-मोटे भाग

लिखाकर 'थियासोफिस्ट' में छपने के लिए भेजे। उनमें उन्होंने अपने जन्म-देश का इतना ही वर्णन किया है कि मेरा जन्म मच्छुकांटा नदी के किनारे मोरवी-राज्य के एक कसबे में ब्राह्मण कुल में, संवत् १८८१ में हुआ था। मेरे वंशीय उदीच्य ब्राह्मण हैं। मेरे पिता की पुष्कल भूमिहारी थी। उनको मोरवी-राज्य से अधिकार भी प्राप्त थे। वे अच्छे सत्ताधारी थे और प्रबन्ध को स्थिर रखने के लिए कुछ सैनिक भी रखते थे।

प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय धर्मवीर श्री लेखरामजी अपनी खोज के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचे थे कि महाराज का जन्म-स्थान काठियावाड़ देश में मोरवी नगर है। परन्तु श्रीदेवेन्द्रनाथ जी ने राज सहायता से ६ मास तक परिश्रम करके यह निश्चित परिणाम निकाला कि श्री स्वामी दयानन्द जी का जन्म-स्थान मोरवी राज्य में टकारा ग्राम है। उनके पिता का नाम कर्षनजी था। कर्षन जी बड़े भूमिहार थे और लेन-देन का भी काम करते थे। कर्षन जी के ज्येष्ठ पुत्र (दयानन्द) का नाम मूलजी था, मूलजी को लोग दयालजी भी कहकर पुकारा करते थे। अध्यापक (आचार्य) श्रीरामदेवजी ने भी अपनी ढूंढ-खोज से श्री देवेन्द्रनाथ मुकर्जी के निश्चय ही को सुनिश्चित किया है।

उक्त परिणाम को इस समय प्रमाण रूप मानकर यह कहना पड़ता है कि, श्री दयानन्द जी का जन्म एक परिवर्तन के युग में हुआ। उस समय भारत में बड़ा भारी विप्लव हो रहा था। राष्ट्रीय शक्ति किसी सुदृढ़ नीति-सूत्र में आबद्ध न थी। मुगल राज्य का मङ्गल ग्रह म्लान-मुख हो चुका था। राजपूताने की समर-शालिनी शक्ति परिश्रान्त होकर अपने ही मरुस्थलों और पहाड़ियों के क्रोड में कभी की सो गई थी। उन दिनों महाराष्ट्र का महाबल नीति-निपुण अंगरेजों के दल-बल से टक्कर ले रहा था। पेशवा और सिन्धिया-शक्ति की स्वतंत्रता का तारा अस्ताचल की ओट में हो रहा था। नैपाली सैनिक संग्राम-भूमि को उत्तेजित करने के अनन्तर अपनी पर्वत-मालाओं में जा रहे थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के प्रतिनिधि लार्ड एम्हर्स्ट, भारत के कई विभागों के भाग्य की बागडोर अपने हाथों में लेकर शासन कर रहे थे। इसी काल में ब्रह्म देश की स्वाधीनता का सूर्य्य अशुभ-सूचक चिन्हों से घिर रहा था। उसके अस्त हो जाने के पल, उसके पास ही आकर उपस्थित हो गये थे।

पंजाब के केसरी श्रीमन्महाराजा रणजीतसिंह जी अपने सिंहनाद से, हिमालय के कुछ विभागों समेत शतद्रु से लेकर सिन्धु महानद के तटों तक सारे पंजाब प्रान्त को प्रतिध्वनित कर रहे थे। उनके दहाड़ने से अफरीदियों की कन्दरायें भी कांपने लग जाती थीं।

उस समय देश में अशान्ति के चिह्न जहाँ-तहाँ दिखाई दे रहे थे। इसीलिए देशवासी प्रायः भय से शङ्कितचित्त काल व्यतीत करते थे। लुटेरों के अत्याचार विशेष करके असह्य हो गये थे। उनके त्रास से लोग काँप उठे थे। उस समय की सामाजिक दशा भी अत्यन्त शोचनीय थी। भारत-भूमि अनेक कुरीतियों से कण्टकाकीर्ण हो गई थी। सैकड़ों चितायें अबलाओं की सजीव देहों से धधक रही थीं। परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और जाति-विद्रोह ने घोरतम रूप धारण किया था। जनशिक्षण की आवश्यकता का अनुभव करके अधिकारी और नेता वर्ग उसकी पद्धति पर परस्पर विचार कर रहे थे। ईसाई धर्म के पादरी लोग आर्यावर्त को ईसाई बनाने के लिए सर्वथा सुसज्जित होकर आ रहे थे। उस समय ईसाई सेना ने गङ्गा और सागर के समीपवर्ती स्थानों में अपने दुर्ग निर्माण करके कुछ एक ऐसे प्रारम्भिक शस्त्रपात किये थे कि जिनसे पौराणिक धर्म की अवस्था डाँवाडोल हो रही थी। प्रारम्भ में पादरी लोग लोक-शिक्षा और धर्म्म दीक्षा दोनों का प्रचार करते थे। इससे उनके कार्य्य का प्रभाव दिन पर दिन अधिकाधिक होता जाता था। राज-धर्म वैसे ही प्रलोभनपूर्ण, आकर्षणकारी होता है, परन्तु जब उसके साथ लोक-हित की बात भी मिल गई तो वह नव-शिक्षितों और पश्चिमी सभ्यता में दीक्षितों को एक-एक करके अपने मन्दिर में प्रवेश कराने लगा।

आर्य-जाति के करोड़ों मनुष्य धर्म-ग्रन्थों को पढ़ना तो कहाँ उनके सुनने के भी अधिकारी नहीं समझे जाते थे। कुसंस्कारों का इतना प्राबल्य था कि विदेश-गमन, समुद्र-यात्रा और विदेशी के स्पर्श आदि से ही लोग जातिपतित किये जाते थे। इससे भी अधिक भारतवर्ष में चारों ओर अविद्या और अधर्म की अन्धेरी रात राज्य करती थी। आर्य-जाति की रीति-नीति का आकाश पश्चिमी सभ्यता की घन-घोर घटाओं से आक्रान्त हुआ जाता था। नवीन संस्कारों का झंझावात पुरातन चाल-ढाल, आचार-विचार के प्रत्येक पेड़ को जड़ से कम्पित कर रहा था। इस पर, नवीन धर्म की उक्तियों-युक्तियों की

वाण-वर्षा आर्य-धर्म के मूलाधार स्थल को पोला करने के प्रयत्न में थी। परन्तु भारतवासी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर आलस्य की गहरी निद्रा में निमग्न हो रहे थे। कहीं-कहीं इस घटाटोप में ब्रह्मविद्या की विद्युद्-रेखा चमक जाती थी, नहीं तो भारत के भविष्य पर निराशा का गहरा परदा पड़ा हुआ था।

इस अवस्था की विद्यमानता में संवत् १८८१ में एक सम्मानित समृद्ध गृह को स्वामी दयानन्द के प्रकाश ने प्रकाशित किया।

पहले पुत्र की प्राप्ति से माता-पिता का हृदय प्रसन्नता के पूर से प्लावित हो गया। सम्पूर्ण परिवार में आनन्द मनाया जाने लगा। उत्सव के बाजे बजने लगे और चारों ओर से नगरवासी तथा बंधुपरिजन बधाई देने लगे। स्वामी दयानन्द के पिता ने, अपने यहां की मर्यादा के अनुसार, अपने पुत्र के जात-कर्मादि संस्कार क्रमशः और विधिपूर्वक किये और इन शुभ अवसरों पर उसने जी खोलकर दान, मान और दक्षिणा से समागत सज्जनों को सत्कृत किया।

बालक दयानन्द माता की प्रेममयी गोद में, पिता के प्यार-पूर्ण हाथों में, वन्धुजनों के स्नेह विगलित लालन-पालन में, सुरक्षित अशोकलता और शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कला की भाँति दिनों दिनबढ़ने लगा। जब उनकी आयु पांचवर्ष की हुई तो उन्हें देवनागरी अक्षरों का लिखाना आरम्भ कराया गया। उनके माता-पिता आदि वृद्ध, बान्धव उनको कुलाचार और कुल रीति भी शनैः शनैः सिखाने लगे। बड़े बन्धुजनों ने उनको बहुत से स्तोत्र, मंत्र, श्लोक और उनकी टीकायें कण्ठस्थ करा दीं।

आठवें वर्ष में स्वामी दयानन्द का यज्ञोपवीत संस्कार यथाविधि बड़े समारोह और महोत्सवपूर्वक कराया गया। उनको गायत्री और सन्ध्या की उपासना विधि सिखाई गई। उनके पिता यद्यपि उदीच्य वशीय होने से साम-वेदान्तर्गत थे। परन्तु इनको उन्होंने रुद्राध्याय की शिक्षा के अनन्तर यजुर्वेद-संहिता पढ़ानी आरम्भ की। श्री दयानन्द के सभी सगे सम्बन्धी शैव थे। विशेष करके उनके पिता तो पक्के शिवोपासक थे, इसलिए वे दयानन्द को शिवोपासना में प्रवीण करने की चेष्टा करने लगे। इन पर शैव सम्प्रदाय के बहुत से संस्कार डाले गये। इनके पिता शैव सम्प्रदाय के प्रदोष आदि व्रतोप-

वास करने की प्रबल प्रेरणा किया करते, और कहा करते कि मिट्टी की शिव-पिण्डी बना कर उसका प्रतिदिन पूजन किया करो।

संवत् १८९०, अर्थात् दशम वर्ष में दयानन्द साधारणतया पार्थिव पूजा ही किया करते थे, पर उनके पिता चाहते थे कि उनका पुत्र नियमानुसार शिवसम्प्रदाय का पालन करे। उपवास करके कथा सुनता और जागरण करता हुआ वह निष्ठावान् शैव बन जाय। परन्तु माता का मोह भी कोई वस्तु होता है। दयानन्द की माता अपने प्यारे पुत्र को क्षुत्पिपासा-पीडित, कष्टदायक क्रिया-कलाप से व्याकुल-चित्त देखना नहीं चाहती थी। इसलिए वह अपने पति से साग्रह कहा करती थी कि यह सुकोमल बालक ऐसे कष्टदायक व्रतोपवासों के योग्य नहीं है। इससे भूख नहीं सही जायगी। परन्तु स्वामी दयानन्द के पिता बड़ी धारणा के धनी थे। वे उनको शिवोत्सवों में और कथादि में सर्वत्र संग ले जाया करते और समझाते कि शिवोपासना सर्वोत्तम है।

इसी प्रकार जब श्री दयानन्दजी १८९४ में चौदह वर्ष की आयु को प्राप्त हुए तो उस समय यजुर्वेद-संहिता उनको कण्ठ हो गई थी। अन्य वेदों का भी उन्होंने कुछ-कुछ अभ्यास कर लिया था। व्याकरण के भी शब्दरूपावली आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ पिताजी से पढ़ लिये थे। इसी वर्ष स्वामी जी के पिता ने उनको शिवरात्रि का व्रत रखने की आज्ञा की, परन्तु वे ऐसा करने के लिए उद्यत न हुए। तब उनको इस व्रत के माहात्म्य की कथा और उससे होने वाले स्वर्ग-सुखों के वर्णन सुनाये गये, जिससे उनके हृदय में व्रत करने के लिए रुचि उत्पन्न हो गई। वे प्रतिदिन कुछ प्रातराश किया करते थे, इसलिए उनकी माता आग्रह से कहती थी कि इसको उपवास न कराओ। इससे उपवास न निभेगा। यदि हठ से निभा भी लिया तो रुग्ण हो जायगा। परन्तु उनके पिता ने एक न मानी, और बोले कि कुल-धर्म के अनुसार व्रतादि रखकर शिवार्चन अवश्यमेव करना चाहिए। इस प्रकार स्वामीजी को व्रतोपवास की अनिवार्य आज्ञा दी गई।

दूसरे देशों की रीति से भिन्न, काठियावाड़ में फाल्गुन के स्थान पर यह व्रत माघ बदी १४ को होता है। उस दिन सायं समय ही श्री दयानन्द जी को समझाया गया कि आज रात भर तुम्हें जागरण करना होगा। ऐसा न करोगे तो व्रत निष्फल हो जायगा। पूजन का प्रकार भी इन्हें बता दिया

गया। इस रात्रि को, नगर से बाहर एक बड़े शिवालय में नगर के सर्व साधारण भक्त और प्रतिष्ठित जन जाकर व्रतपूर्वक पूजा पाठ, जप और जागरण किया करते थे। स्वामी जी के पिता भी उनको इसी मन्दिर में ले गये, स्नानादि करके शुचि-वदन, रेशमी धोतियाँ धारण किये, भाल पर विभूति रमाये, हाथ में शुद्धोदक पूर्ण कलश और पूजा की सामग्री लिये शैव भक्तों की मण्डलियां एक-एक करके सायं समय मन्दिर में प्रवेश करने लगीं। मन्दिर-प्रवेशिका में लटके हुए अति गुरु घण्टे को जब भक्तों ने "हर हर, बम्म बम्म महादेव" कहते हुए संचालित किया तो उसका "टन टन" नाद शिवालय से भी ऊँचा होकर शिवरात्रि जागरण की सारे नगर में उद्घोषणा करने लगा। सुरीले स्तोत्रों से मन्दिर निनादित हो रहा था। दीप से सर्वत्र जगमगाहट थी। धूप की सुगन्ध का पूर सारे शिवालय को पूर्ण करके बाहर के वायु को भी वासित कर रहा था। लोगों ने प्रथम प्रहर की पूजा बड़े भाव और भक्ति के साथ समाप्त की। दूसरे प्रहर की पूजा में यथा-तथा से काम लिया। परन्तु रात्रि के तीसरे प्रहर के प्रारम्भ होने पर लोगों की आँखें मिचने लगीं, और वे ऊँघ में झूलने लगे। निद्रा-देवी की माया ने सबको मूर्च्छित करके जहाँ तहाँ सुला दिया। सबसे प्रथम जो किसी को निद्रा आई तो वे थे स्वामीजी के पिता। पुजारी लोगों ने जब देखा कि सारे भक्त सो गये हैं और आनन्द से खर्राटे ले रहे हैं तो वे भी धीरे-धीरे मन्दिर के बाहरी भाग में जाकर निद्रा में लीनता लाभ करने लगे।

ऐसे गम्भीर, निस्तब्ध, नीरव, सुनसान समय में उस शोभन शिवालय की ऊपर की छत को, चारों ओर की दिवालों को, समतल भूमि को और पूजोपहार सहित शिव-पिण्डी को दो ही ज्योतियाँ प्रकाशित कर रही थीं, एक तो मन्दिर के दीपक की ज्वलन्त बत्ती और दूसरे जागरूक दयानन्द की उज्ज्वल चित्तवृत्ति। दीपक की बत्ती ग्रहण-शक्ति-रहित है, ज्ञान-शून्य है, किसी घटना का परिणाम निकालने में असमर्थ है, वह केवल उजाला ही उगल सकती है, कदाचित् बुझने लगे तो अपने बचाने का उसके पास कोई उपाय नहीं। परन्तु दयानन्द की चमत्कारिणी चित्तवृत्ति ज्ञानवती और ग्रहणशक्ति-सम्पन्न है। उसमें अतुल त्वरा से घटना के परिणाम पर पहुंच जाने का सामर्थ्य है। श्री दयानन्दजी पर जब निद्रा का आक्रमण होता और उनकी आँखें झँपने लगतीं

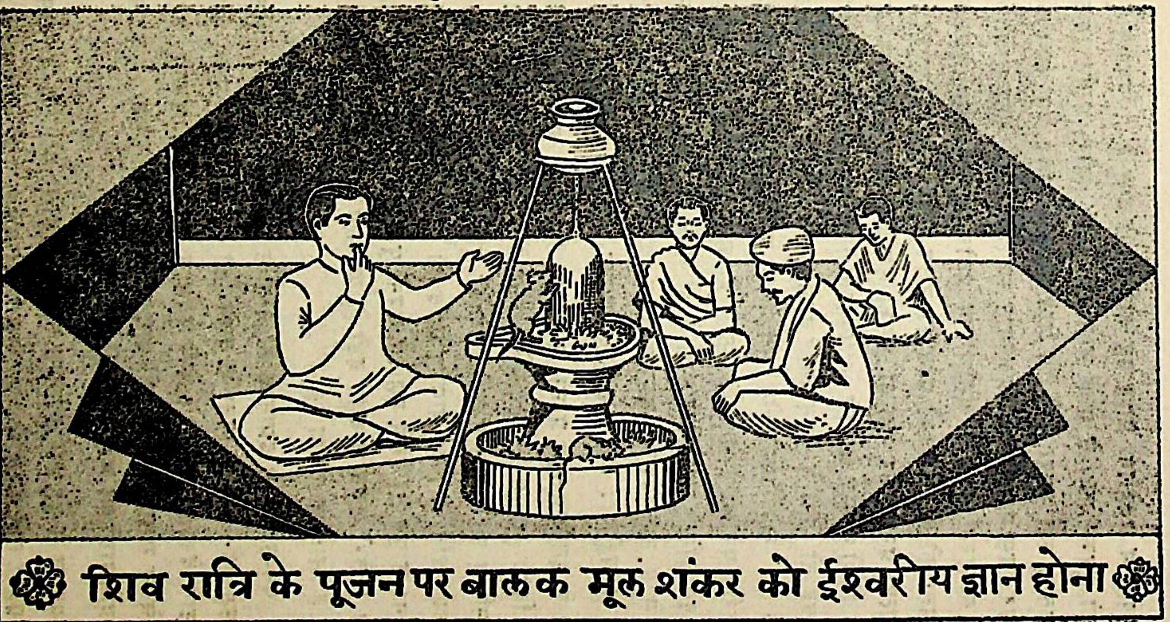
तो वे नेत्रों पर ठण्डे पानी के छींटे दे देकर अपने आपको सावधान और सचेत करते। उन्हें भय था कि आँखें लग जाने से कहीं व्रत निष्फल न हो जाय। पर उनका चित्त आश्चर्य से चकित हो गया, जब उन्होंने देखा कि शिव-पिण्डी पर, अपवित्र क्षुद्र जन्तु चूहे कूद-कूद कर और उछल-उछल कर चढ़ते हैं, और उस पर चढ़ाया हुआ भक्तों का पूजोपहार बड़े आनन्द से खा रहे हैं। जिस प्रकार मेघ-माला में रह कर विद्युत् की रेखा फिर जाती है, और जिस प्रकार वायु से ताड़ित महासागर में ऊंचे-ऊंचे तरङ्ग उठते हैं, वैसे ही दयानन्द के चिदाकाश में इस घटना से संचालित विचार और प्रश्नों के तारे एक-एक करके चमचमा उठे। शङ्कासमाकुल हृदय में उन्होंने सोचा कि शिव-कथा में तो मैंने सुना है कि शिव त्रिशूलधारी हैं, उनका वाहन वृषभ और निवास कैलास है, वह मनुष्याकारधारी देवता, डमरू बजाने वाला, अस्त्र सम्पन्न और वर-शाप प्रदान में समर्थ परब्रह्म है। वह पाशुपतास्त्र से दैत्यों का संहार करता है, तो क्या वही महादेव यह मूर्ति हो सकती है? अहो! इसके सिर पर तो ये अपावन प्राणी चूहे दौड़ लगा रहे हैं, इसके चढ़ावे को बड़ी निर्भयता से खा रहे हैं। इसमें तो इन तुच्छ जीवों को भगाने का भी बल नहीं? यह महादेव कैसा?

: २ :

शिव-रात्रि में प्रबोध-भास्कर का उदय

बहुत देर तक उन्होंने इस आन्दोलन को अपने भीतर रक्खे रक्खा। परन्तु उस दिव्य ज्योति ने, जो अन्तरात्मा में स्वभावतः और सहसा संघर्षित हो उत्पन्न हुई थी, उस दिव्य वाणी ने जो उन्होंने अन्तःकरण के कानों से श्रवण की थी, उन्हें बलात्कार से उत्तेजित किया कि वे अपना हार्द पिता के समक्ष प्रकाशित करें।

श्री दयानन्द जी ने अपने पिता को जगाकर बिना झिझक अपने शङ्का-समूह को उनके सम्मुख उपस्थित कर दिया और विनय की कि जिस देव का वर्णन मुझे सुनाया गया है क्या उसके समान ही यह मन्दिर की मूर्ति है?



शिव रात्रि के पूजन पर बालक मूल शंकर को ईश्वरीय ज्ञान होना

अथवा चूहों से अवहेलना प्राप्त यह कोई दूसरी वस्तु है ? पिता ने पुत्र के इन प्रश्नों को सुनकर क्रोध से आँखें लाल कर लीं, और भर्त्सनापूर्वक कहा—"यह बात तू क्यों पूछता है ? ऐसे शिवाराधन के समय ऐसा प्रश्न क्यों करता है ?" पर जिस महात्मा को, अकस्मात् स्वात्मा ही में सत्य सम्प्राप्ति हो गई थी, जो साधारण घटना से असाधारण प्रबोध का धनी हो चुका था, उसके लिए, पिता की कोई झिड़की प्रश्न का उत्तर न हो सकी। जिसको बोलने के लिए आत्मा प्रेरणा कर रहा था उसका मुख डांट-डपट से बन्द न हुआ। श्री दयानन्द निर्भीक भाव से बोले—"पिताजी जिस महादेव की कथा मुझे सुनाई गई है, वह तो गुणों से चेतन प्रतीत होता है, यदि यह मूर्ति वही महादेव होता तो भला इन भ्रष्ट महामलीन मूषकों को अपने ऊपर क्यों चढ़ने देता। चूहे उसके शरीर पर सपाटे से दौड़े फिरते हैं और यह सिर तक नहीं हिलाता, और न इन घृणित जन्तुओं के स्पर्श से ही अपने को बचाता है। इस अचेतन महादेव से मैं उस सर्वशक्ति-सम्पन्न चेतन परमेश्वर को समझना असम्भव समझता हूँ, यही भेद जानने के लिए आपको जगा कर प्रश्न पूछा है।"

पुत्र के इस अश्रुतपूर्व प्रश्नों को सुन पिता ने गम्भीरता से समझाना आरम्भ किया 'पुत्र ! इस कलि काल में महादेव के साक्षात् दर्शन नहीं होते, इसलिए उसी कैलासवासी शिव की मूर्ति बनाकर प्राण-प्रतिष्ठापूर्वक पूजन किया जाता है। इन पाषाण आदि की मूर्तियों को यदि कोई महादेव की भावना से पूजे तो इससे महादेव अपनी पूजा के समान प्रसन्न हो जाता है। बेटा ! तेरी तर्कबुद्धि बहुत बड़ी है, यह सत्य है कि 'यह तो केवल देवता की मूर्ति है' साक्षात् देवता नहीं।"

इस पितृ-उपदेश से दयानन्द की सन्तुष्टि नहीं हुई। उनकी मूर्तिपूजन से आस्था उठ गई। उन्होंने पिता के वचनों को एक पर्चावा मात्र, गोल मोल बात से टाल देना ही समझा। उसी समय से उन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया कि जब चेतन सत्ताधारी शिव को प्रत्यक्ष देखूँगा तब उसका पूजन करूँगा। इन जड़ प्रतिमाओं को कभी भी नहीं पूजूँगा।

बाल्यकाल से ही, श्री दयानन्द की यह प्रकृति थी कि वे सहसा किसी बात को ग्रहण नहीं करते थे। पर जब विचारपूर्वक किसी बात को ग्रहण कर लेते तो ऐसे दृढ़ होजाते थे कि उसके पालन में, चाहे कैसा भी कष्ट क्यों न हो

उसे नहीं छोड़ते थे। इसी प्रकार जब ज्ञान से निश्चय हो जाता कि प्रबल हाथों से पकड़ी हुई वस्तु असत्य है, भ्रान्त है, तो तुरन्त, तुच्छ तृणवत् उसका परित्याग कर देते थे। उनके चरित्र के इस चित्र से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि जब तक शिवरात्रि के व्रतादि में निश्चय नहीं था तो पूज्य पिता की आज्ञा भंग करने पर भी उद्यत हो गये, परन्तु जब कथा-श्रवण से रुचि उत्पन्न हुई तो आधी रात के समय, सबके सो जाने पर भी दयानन्द आँखों को जलके छींटे देकर जाग रहा था और जिस समय अन्तःकरण के आकाश में सत्य के सूर्य ने अपनी किरण का संचार किया तो उन्होंने अपने पिता को स्पष्ट कह दिया कि मैं इस जड़ मूर्ति से परमेश्वर के विचार प्राप्त करना असम्भव समझता हूँ। इतना ही नहीं किन्तु निश्चय बदल जाने के पश्चात् उन्हें प्रतीत होने लगा कि क्षुधा के कारण इतनी देर बैठने से मैं श्रान्त हो गया हूँ और इससे मुझमें दुर्बलता आ रही है। अब मन्दिर में बैठे रहने का कोई प्रयोजन न रहा, इसलिए उन्होंने पिता से घर जाने के लिए पूछा। पिता ने पुत्र की बुद्धि का चमत्कार अभी ही देखा था, इस कारण अनुमति देते हुए यही कहना उचित समझा कि, अच्छा घर जाते हो तो अकेले मत जाओ। सिपाही को साथ लेकर जाओ परन्तु भोजन कदाचित् न करना।

भाव बदल जाने पर श्री दयानन्द जी को भूखा रहना असह्य भार ज्ञात होने लगा। इसलिए घर जाते ही कहा माता जी ! मुझे बड़ी भूख लग रही है। माता ने कहा, "बेटा मैं तो तुझे पहले ही से कहती थी कि तू उपवास न कर सकेगा, तूने बड़ा हठ किया।" इन वचनों के साथ माता ने पुत्र को खाने के लिए मिठाई दी और कहा "तेरे पिता बड़े पक्के शैव हैं। यदि उन्हें व्रतभंग का भेद ज्ञात हो गया तो वे तुझे ताड़ना-तर्जना करेंगे, इसलिए उनके पास जाकर अपनी भोजन कथा न बताना।" भोजन आदि करके कहीं एक बजे के पश्चात् दयानन्द सोये, इसीलिए सवेरे आठ बजे के पहले उनकी आँख न खुल सकी। प्रातःकाल घर में पदार्पण करते ही दयानन्द जी के पिता को किसी प्रकार उनका भोजन-वृत्त विदित हो गया। वे व्रतातिक्रमण के कारण पुत्र पर अति कुपित हुए और आवेश में बोले—"तुमने बहुत बुरा काम किया।" विनयावनत पुत्र ने स्पष्टवादिता से निवेदन किया कि "पिता जी ! जब ग्रन्थ-कथित महादेव मन्दिर में था ही नहीं तो मैं एक कल्पित बात के लिए व्रतोप-

वास का कष्ट क्यों सहता ।" इसके अनन्तर उन्होंने अपने प्यारे चाचा जी से प्रार्थना की कि अध्ययन के कारण मुझसे पूजोपवास का आडम्बर नहीं निभ सकता । यह बात आप पिता जी को समझा दीजिए ।

श्री दयानन्द के चाचा और माता जी ने उनके पिता को यह कह कर समझाया कि लड़का पढ़ने में बड़ा परिश्रम करता है । उसे कठोर कर्मकाण्ड में डालना उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होगा । अभी उसे भली भाँति पढ़ने दो । उक्त सम्पूर्ण वार्ताओं को लक्ष करके, पिता ने पुत्र के यथारुचि अध्ययन के लिए, प्रसन्नता से अपनी अनुमति का प्रकाश कर दिया । अब पूजा-पाठ से खुली छुट्टी मिल जाने के कारण श्री दयानन्द जी ने विद्याध्ययन में बहुत अच्छी उन्नति की । अपने स्थान के समीपवर्ती एक विद्वान् ब्राह्मण से उन्होंने निघण्टु, निरुक्त और मीमांसादि शास्त्र पढ़ना आरम्भ कर दिया, और साथ ही वे कर्मकाण्ड की 'स्मार्त्त' पुस्तकें भी पढ़ा करते थे । इस प्रकार वे सारा समय शास्त्रानुशीलन में व्यतीत करते थे । छोटी बहनें और दो छोटे भाई, ये सब मिल कर श्री दयानन्द जी पाँच बहिन-भाई थे । सब बहन-भाई परस्पर सुदृढ़ स्नेहसूत्र-सम्बद्ध और गाढ़ अनुराग रञ्जित थे । ऐसे बहिन-भाइयों के प्रेममय स्वर्गीय सुख का अनुभव करते हुए और विद्याध्ययन से अपने अन्तःकरण के कोश को भरते हुए श्री दयानन्द जी सोलहवें वर्ष को प्राप्त हुए ।

संवत् १८९६ विक्रमी में जब वे सोलहवें वर्ष को अतिवाहित कर रहे थे तो एक रात उन्हें अपने बन्धुओं सहित एक इष्ट मित्र के यहाँ नृत्योत्सव में जाना पड़ा । उत्सव को प्रारम्भ हुए अभी बहुत देर न हुई थी कि श्री दयानन्द जी के घर से एक नौकर बड़े वेग से दौड़ा हुआ आया । उसने हाँपते-हांपते आकर समाचार दिया कि उनकी चौदह वर्षीया छोटी भगिनी को विशूचिका हो गई है । इस समाचार ने दयानन्द और उनके कुटुम्बियों पर वज्र-पात किया । वे सब वहाँ से उठ तुरन्त घर पहुँचे । सारा परिवार रोगिणी की सेवा-शुश्रूषा में लग गया । वैद्य लोग अपने सारे विद्या-बल से चिकित्सा कर रहे थे, पर रुग्णा की दशा पल-पल में शोचनीय होती गई । उस आसन्नमरणा कुमारी के सुकोमल तन को, मत्तहस्ती द्वारा उत्पाटित और प्रखर आतप द्वारा तापित कमलिनी के सदृश कुम्हलाते और क्षण-क्षण में मूर्च्छा खाते देख पास

खड़ी ममतामयी माता का कलेजा काँप उठा, पिता व्याकुल-चित्त हो गया, सब पर उदासीनता छा गई और सारे परिवार की आँखें डब-डबा आईं। लाख यत्न किये, बहुतेरा बल लगाया पर "कर्मगति टारी नाहिं टरे।" अन्ततः सकल सम्बन्धी समूह की उपस्थिति में, चार घण्टों के भीतर ही, भाई-बहिनों की स्नेहलता सदा के लिए सूख गई! माता-पिता की प्रिय पुत्री के प्राण-पखेरू उड़ गये!! कुलदीपिका, अकाल ही में काल की विकट वायु में शान्त हो गई!!!

जिस समय इस दुःखद दुर्घटना से सकल परिवार के नेत्रों से अविरल अश्रुधारायें बह रही थीं, रोने-पीटने से हाहाकार मचा हुआ था, रो-रोकर हिचकियाँ लेते-लेते माता की घिग्घी बँध गई थी और सर्व स्नेही वर्ग पर शोक का सागर उमड़ आया था, उस समय एक दयानन्द ही था जो मृता भगिनी की शय्या के समीपवर्ती दिवाल से लगा हुआ अश्रुविहीन नेत्रों से चुपचाप प्यारी बहिन के शव को एक-टक देख रहा था। उसके चित्त की गहरी चिन्ता को न पहचानकर बन्धुओं ने उस पर बहुतेरे कटु कटाक्ष किये, पिता ने पाषाण-हृदय कहा, यहाँ तक कि सदा प्रेम प्रदर्शित करने वाली माता ने भी यही शब्द दुहराये, परन्तु दयानन्द के सम्मुख उस घटना ने एक ऐसी समस्या उपस्थित कर दी थी कि जिसकी पूर्ति के लिए उनका चित्त चंचल हो उठा था।

जैसे वायु का तीव्र वेग नौका के मुख को फेर देता है, जैसे विशाल चट्टान से टक्कर खाकर नदी का बहाव बदल जाता है, ऐसे ही इस अदृष्टपूर्व घटना को देखकर श्री दयानन्द की चित्तवृत्तियाँ अपने क्लिष्ट प्रवाह को क्रमशः बदलने लगीं। विद्युत्पात से कम्पित मनुष्य की भाँति भयभीत दयानन्द सोचने लगे—अहो! मेरी बहिन की तरह सभी लोग एक-एक करके, अवश्यमेव विकराल काल के गाल में ग्रास बनेंगे। निश्चय ही मुझे भी उसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। मृत्यु ऐसी अवश्यम्भावी है कि इससे, छोटा-बड़ा कोई भी जीव बच नहीं सकता। हा!! यह असह्य वियोग-वेदना सबको सहनी होगी। यह दुर्दिन जीव-मात्र को देखना होगा। सचमुच, यह जीवन क्षण-भंगुर है, जल-बुद्बुदवत् चंचल है, सन्ध्या राग की भांति अस्थिर है, पलाश पत्र पर पड़े ओस-कण की तरह चलायमान है। तब तो कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे जन्म-मरण के दारुण दुःख से मुक्ति लाभ हो, अमर जीवन की उपलब्धि हो।

दो अरणियों के मंथन से जैसे अग्नि उत्पन्न हो जाती है, उचित वस्तुओं के मिश्रण और संघर्षण से जैसे विद्युत् वहात्र बह निकलता है ऐसे ही मृत्यु-घटना से सचालित दयानन्द के चित्त में, चिरकाल के निरन्तर चिन्तनरूप संघर्षण से विवेक-विद्युत् का रेखा का उदय हो गया, वैराग्य की ज्वलन्त ज्वाला उछलने लगी, जिसने प्रकट होते ही दयानन्द की चित्त-भूमि से सांसारिक वासनाओं के घास-पात को भस्मसात् करना आरम्भ कर दिया।

कुल की रीति के अनुसार पांच दिन तक सहानुभूति करने वाले लोग आते-जाते रहे और घर में रोना-धोना बना रहा, परन्तु दयानन्द के हृदय-स्रोत को मृत्यु के भय और वैराग्य की आग ने इतना शुष्क कर दिया था कि लोगों के धिक्कारने पर भी उनकी आंख गीली नहीं हुई। वे रात-दिन चुप्पी साधे अपनी चिन्ता में चूर रहते। बड़ी रात बीत जाने पर भी जब वे न सोते तो उन्हें बन्धुजन सोने के लिए प्रेरणा करते, परन्तु भला इतनी चिन्ता, इतनी अशान्ति में नींद कहां! बिछौने पर पड़े बार-बार चौंक पड़ते। इस मृत्यु-व्याधि के नाश की औषधि कहां मिलेगी? अमर-जीवन के लिए कौन से उपायों का अवलम्बन करना चाहिए? मुक्ति-मार्ग में किसका भरोसा किया जाय? इत्यादि विचारों में वे रात-दिन निमग्न रहते। अन्त में दयानन्द जी ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो, मुक्ति हस्तगत करूंगा और मृत्यु के मुख से छुटकारा पाऊंगा। इस धारणा के साथ ही उनके मन से संसार का अनुराग दूर हो गया, उनका चित्त स्वस्थ हो गया, और उसमें उत्तरोत्तर उत्तम विचारों की उन्नति होने लगी।

महात्माओं के महत्त्व को सम्पादन करने वाली प्रायः घटनायें ही हुआ करती हैं। बुद्धदेव को भी मृतक की ऐसी ही घटना देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ था, परन्तु उपर्युक्त घटना से जो वैराग्य दयानन्द को हुआ, विरक्ति की जो आग उनके भीतर प्रकट हुई, उसमें एक विशेषता थी। वह यह, उन्होंने उसी समय धारणा करली कि चाहे जो हो, मैं अब इस वैराग्य-अग्नि पर सांसारिक स्नेह और सांसारिक सम्बन्ध का गीला ईंधन और हरी घास डालकर इसे धूमायमान नहीं बनाऊंगा। परन्तु इन विचारों को उस समय प्रकट करना उचित न जानकर वे अपने पढ़ने-लिखने में यथापूर्व लगे रहे।

संवत् १८९९ श्री दयानन्द जी की आयु का उन्नीसवां वर्ष था। इस वर्ष

में उनसे अति प्रेम करने वाले उनके धार्मिक तथा विद्वान् चचा विशूचिका महारोग के चंगुल में फंस गये। बहुत उपचार किये पर एक भी सफल न हुआ। अपने परम प्रिय और पूज्य चाचा को भयङ्कर रोग से पीड़ित देख दयानन्द का हृदय दुःख से विदीर्ण हुआ जाता था। जिस समय काल-महासागर में रोगी की डूबती हुई नाड़ी-नौका को बन्धु-बान्धवजन उङ्गलियों से टटोल रहे थे, उसी अन्त समय में म्रियमाण चचा ने अपने भतीजे दयानन्द को समीप बुलाकर बैठने का संकेत किया। आरम्भ काल से, प्रयत्नपूर्वक लालित-पालित अपने प्रेम-पात्र भ्रातृ पुत्र से सदा की विदाई लेते समय उनकी आंखों से आंसू टप टप करके गिर पड़े। उनकी यह दशा देखकर दयानन्द अधीर हो गये, और करुण-क्रन्दन करते हुए फूट-फूटकर रोने लगे, यहां तक कि रोते-रोते उनकी आंखें भी सूज गईं। उन्होंने अपने सारे गत जीवन में इतना रोदन कभी न किया था। यह दूसरी घटना, दयानन्द के वैराग्य-दावानल के सङ्ग पवन का प्रसङ्ग था, उनकी सम्वेग-नदी का वेग बढ़ाने में महामेघ का वर्षण था, उनके विरक्ति-कुण्ड में घृत-धारा का पात था।

उन्होंने देखा कि यह सम्पूर्ण दृश्य असार है। यहां स्थायी कुछ भी नहीं। भावी से खिचे हुए सभी प्राणी काल के गाल में जा रहे हैं और अन्त को मेरी देह भी मरण-धर्म्मा है। अपने इन भावों को उन्होंने माता-पिता के सामने तो प्रकट न किया परन्तु इष्ट मित्रों और विद्वत्सज्जनों से जिज्ञासा करने लगे कि अमरपद-प्राप्ति के उपाय बताइए।

पण्डित लोगों ने जिज्ञासुको परमपद-प्राप्ति का उपाय योगाभ्यास बताया। उत्कट लगन से प्रेरित होने के कारण दयानन्द के मन में योगाभ्यास की लगन समा गई। वे मन ही मन कहने लगे कि यह योग घर बार के काम-काज में, मोह-ममता के जगड्वाल में सिद्ध न हो सकेगा, अतएव गृह त्यागकर कहीं चलना चाहिए। इस निश्चय के पश्चात् उन्होंने अपने मित्रों को अपना मनोगत भेद खोलकर बता दिया। उन्होंने कहा—"मैंने यह निश्चित कर लिया है कि यह संसार सार रहित है! इसमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसके लिए जीने की इच्छा की जाय, और वास्तव में कोई भी मनोज्ञ वस्तु नहीं जिसमें मन लगाया जाय। मैं इसे रस रहित और फीका समझता हूं।" इष्ट मित्रों ने यह वार्त्ता उनके माता-पिता को बता दी।

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहां दयानन्द-ऐसे वैराग्यवान् वीरों को स्नेह-बन्धन में बांधने के लिए, बन्धुवर्ग विवाह-शृङ्खला को सर्वोत्तम समझते आये हैं। इसी परम्परा-प्राप्त पद्धति पर श्रीदयानन्द जी के माता-पिता आरूढ़ हो गये, और लगे शीघ्रता से उनके विवाह का उद्योग करने। उन्होंने स्थिर कर लिया कि बीसवें वर्ष में ही पुत्र का विवाह कर दिया जाय। यह वैराग्य की आग अनुराग की बदली के बरसने पर आप ही शान्त हो जायगी। श्री दयानन्द जी को जब ज्ञात हुआ कि उनको सदा के लिए जकड़ने के निमित्त, एक प्रबल पाश प्रस्तुत करने का प्रस्ताव हो गया है तो उन्होंने मित्रों द्वारा इसका घोर विरोध किया। इससे विवश हो, उनके पिता को उस वर्ष विवाह-कार्य रोक देना पड़ा।

श्री दयानन्द जी निश्चिन्त नहीं थे। उन्हें भय था कि इक्कीसवें वर्ष के आरम्भ होते ही विवाह की चर्चा फिर चलेगी। उस समय उसका टालना कठिन कार्य हो जायगा। इसलिए संवत् १९०० में बीसवें वर्ष की समाप्ति पर ही उन्होंने पूज्य पिताजी से प्रार्थना करना प्रारम्भ कर दिया कि मुझे व्याकरण, ज्योतिष और वैद्यक के ग्रन्थ पढ़ना है। कृपया मुझे काशी जी भेज दीजिए क्योंकि इन ग्रन्थों की पढ़ाई वहीं अच्छी होती है। जो माता-पिता यह जानते थे कि पुत्र वैराग्यवान् हो गया है और गृह-त्याग के अवसर ढूंढ रहा है भला वे काशी-गमन कब स्वीकार करने लगे थे। उन्होंने कहा, "हम तुम्हें काशी कभी न भेजेंगे, जो कुछ अध्ययन कर चुके हो वही पर्याप्त है। अधिक पढ़कर क्या करोगे और बहुत पढ़ाकर हमने करना भी क्या है? तुम्हारे विवाह में और थोड़े दिन शेष हैं। तुम्हें गृहस्थ बनना है इसलिए काम-धन्धे में जी लगाना सीखो।" माता ने तो स्पष्ट कह दिया—"बेटा! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि बहुत पढ़े हुए लड़के विवाह करना उचित नहीं समझते। तुम्हारे काशी-गमन में भी यही झलक है।" फिर श्री दयानन्द जी ने पिताजी से तीन बार साग्रह कहा कि काशी में विद्याध्ययन करके जब तक मैं पूर्ण पण्डित न हो आऊँ उसके पहले विवाह होना ठीक नहीं। परन्तु माता जी उनके इस आग्रह से उनके काशी-गमन के और भी विरुद्ध हो गईं और कहने लगीं—"हम तुम्हें कहीं नहीं भेजते। अब तो बेटा, शीघ्र ही विवाह करेंगे।" यह सोचकर कि अधिक आग्रह करने से कार्य कभी सिद्ध नहीं होता किन्तु बिगड़

जाया करता है श्री दयानन्दजी चुप हो गये और माता-पिता के सामने से टल गये। पुत्र को अन्यमनस्क, उदासीन देखकर पिता ने भूमि-सम्बन्धी कार्य करने की आज्ञा दीं परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार न किया।

वैराग्यवान् श्री दयानन्दजी को घर में एक दिन भी भारी प्रतीत होता था इसलिए वे फिर कुछ दिनों के बीतने पर पिता जी से बोले—"आपने मुझे काशी जाने से रोका इसमें मेरा कुछ आग्रह नहीं, परन्तु इतना तो मान लीजिए कि यहां से तीन कोस पर अपनी जाति के एक वयोवृद्ध बहुत बड़े विद्वान् रहते हैं उन्हीं के पास जाकर पढ़ा करूँ।" वहां अपनी भूमिहारी है इसलिए कोई कष्ट भी न होगा। इस प्रस्ताव को पिता जी ने स्वीकार कर लिया और श्री दयानन्द जी उन प्रशंसित पण्डित जी के पास जाकर पढ़ने लग गये। कुछ काल बीत जाने पर वे एक दिन प्रशंसित पण्डित जी से वार्तालाप कर रहे थे कि बीच में विवाह-प्रसङ्ग छिड़ गया। उस समय दैवयोग से उनके मुख से ये शब्द निकल गये—"मुझको विवाह से ऐसी घृणा है कि जो किसी प्रकार मेरे मन से दूर नहीं हो सकती।" विवाह से घृणा की बात यदि पण्डित जी के पास ही रहती तो उनका पाठ तो चलता रहता, परन्तु यह श्री दयानन्द जी की पाठशाला से निकलकर उनके पिताजी के कानों तक पहुँच गई। इस पर पिता ने पुत्र को तुरन्त अपने पास बुला भेजा और शीघ्रता से विवाह का उद्योग करने लगे। श्री दयानन्द जी ने घर आते ही देखा कि उनके विवाह-सम्बन्धी वस्त्राभूषण प्रस्तुत हो रहे हैं, नाना प्रकार की सामग्री विवाह के लिए एकत्रित की जा रही है। यह सब कुछ देखकर वे भौंचके हो गये। उनका चित्त चञ्चल हो उठा।

श्री दयानन्द जी के मनमें जो वैराग्य समाया हुआ था उसके साथ उनका कोई इष्ट मित्र सहमत न था। सब उनके विवाह के पक्षपोषक थे। चर्म-चक्षुओं में अपना कोई सहायक न देखते हुए, वे अपने गम्भीर हृदय-सरोवर में गहरी डुबकी लगाकर, मन-ही-मन विचारने लगे कि मेरे विद्योपार्जन का द्वार अब बन्द किया जाता है। यदि मैं गृह में रहा तो अब मेरे माता-पिता मेरा विवाह किये बिना न रहेंगे। ये जितने लोग मेरे विवाह के बांध बाँध रहे हैं, मेरा ब्रह्मचर्य-व्रत भङ्ग करना चाहते हैं, मेरा भविष्य बिगाड़ना चाहते हैं। ऐसे

सोच-विचार के अनन्तर श्री दयानन्द जी ने निश्चय कर लिया कि वे कुटुम्बियों के इस कथन पर नहीं चलेंगे, किन्तु अब वह काम करेंगे जिससे जन्म भर के लिए विवाह के बखेड़े से बच जांय। इस मनोरथ को वे किसी पर प्रकट नहीं करते थे किन्तु अनुकूल अवसर का अवलोकन करते थे कि कब इसे पूरा किया जाय। इधर विवाह का उद्योग आरम्भ हुए भी एक मास होने लगा। सारी विवाह-सामग्री प्रस्तुत हो गई।

: ३ :

अनन्त-पथ का यात्री : अनुराग-पाश टूट गया

सारे इष्ट मित्र, बन्धुबान्धव और मेली जोली श्री दयानन्द का विवाहोत्सव देखने के उत्सुक हैं। दूरवासी सम्बन्धियों के आने का समय भी समीप आ गया है। एक समृद्धिशाली गृहस्थ का विशाल गृह-प्राङ्गन स्वच्छ सुसज्जित हो गया है। वस्त्राभूषण सब सजाकर रक्खे जा रहे हैं। अनेक प्रकार के महोत्सव योग्य भोज्य पदार्थ एकत्र करने के लिए पूरा प्रयत्न किया जा रहा है। पिता सुप्रसन्न हैं। माता के आनन्द की सीमा नहीं। घर के सब छोटे बड़े हर्षित-हृदय और प्रफुल्ल-वदन हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो इस गृह में आज कोई प्रसन्नता स्रोत बह निकला है। सारा परिवार हर्ष से फूला नहीं समाता, पर दयानन्द गहरे विचार में निमग्न हैं। उनके मुख-मण्डल पर चित्त से उठी हुई चिन्ताओं के मेघ मँडरा रहे हैं। वे विकसित नेत्रों से देख रहे हैं, जागृत मन में जान रहे हैं कि सामने दृश्यमान सन्ध्या राग जैसे मुहूर्त भर में पश्चिम दिशा के नीलाकाश में लीन हो जायगा, इसी प्रकार इन सम्बन्धियों की यह प्रसन्नता की लालिमा भी थोड़ी देर पीछे शोक-काल की काली घटाओं में छिप जायगी।

वह १६०२ का संवत् था। उनकी आयु बाईस वर्ष की हो चुकी थी। एक दिन सायं समय उनका मन सम्बंधियों के ममता-मोह से उठ गया, अनुराग-पाश आजन्म के लिये टूट गया। उन्होंने यह कहते हुए "फिर लौट कर घर न आऊँगा" वासना-समूह की पूर्णाहुति दे दी और वे चुपचाप, एकाएक आने

सम्बद्ध गृह से चल निकले। विवाहोत्सव से सुशोभित धन-धान्य पूर्ण गृह को, माता-पिता के पूर्ण प्रेम को, सज्जन सम्बंधियों के सरस स्नेह को, और सबसे बढ़ कर यौवन अवस्था के सामने खड़े विकसित अबाध्य वसन्त का सर्वथा परित्याग कर देना—तिलाञ्जलि दे देना—श्री दयानन्द की गहरी लगन और तीव्र वैराग्य को प्रदर्शित करता है। वे घर से इसीलिए निकले कि सर्वथा स्वतंत्र होकर मृत्यु-महारोग की महौषधि ढूंढें, और अमर जीवन प्राप्त करें।

सुनसान रात के समय, अनिश्चित स्थान को एकाएकी जाते हुए नवीन त्यागी दयानन्द के हृदय में क्या-क्या भाव उद्भव हुए, उन्हें दो ही सत्तायें जानती हैं—एक तो दयानन्द का अपना अमर आत्मा, और दूसरे प्रभु परमात्मा।

श्री दयानन्द जी ने गृह-त्याग की पहली रात्रि अपने नगर से छः कोस के अन्तर पर व्यतीत की। अभी रात्रि का एक प्रहर शेष था कि वे फिर यात्रा के लिए सन्नद्ध हो गये। उन्होंने, सायंकाल से पूर्व बीस कोस पर एक ग्राम में पहुँचकर विश्राम लिया। यहाँ उन्होंने हनुमान् के एक मन्दिर में रात्रि काल बिताया। उन्होंने अपनी यात्रा में चातुर्य से काम लिया। वे प्रसिद्ध मार्ग पर न चलकर एक ऊँचे-नीचे विषम पथ से जाते थे कि कहीं कोई जान-पहचान वाला सामने से न मिल जाय।

उधर जब माता आदि ने किसी प्रकार जान लिया कि दयानन्द अचानक कहीं चला गया है तो वे भौंचक्क हो गये। उन पर मानो एक भीषण वज्रपात हुआ। पिता की व्याकुलता का ठिकाना न रहा। जननी जलहीन मीन की भाँति तड़पने लगी। बन्धु-वर्ग के मस्तिष्कों को उनके हृदय से उछलते हुए शोक-तरङ्गों ने निमग्न कर लिया। विवाह-सम्बन्धी सारा ठाठ-बाट, साज-सामग्री, राग-रंग, सहसा फीका हो गया। घर-बार, द्वार-दिवाल, सब पर उदासीनता छा गई। अन्वेषणकार्य तुरन्त आरम्भ कर दिया गया। चारों ओर गुड़चढ़े और पदाति सिपाही दौड़ाये गये। जहाँ-जहाँ श्री दयानन्द जी के जाने की सम्भावना हो सकती थी वहां-वहां खोजने वाले पहुँचे। परन्तु मानसरोवर की यात्रा के लिए, पिंजड़ा तोड़कर निकले हुए राजहंस का कोई भी पता न चला।

श्री दयानन्द जी जिस समय टेढ़े-मेढ़े मार्गों से तीसरे दिन की यात्रा कर

रहे थे तो मार्ग में एक राज-पुरुष द्वारा उन्हें भी ज्ञात हो गया कि अमुक पुरुष के भागे हुए पुत्र की खोज में कुछ घुड़चढ़े और प्यादे यहां तक आये थे। यह सुनकर वे और आगे जाने के लिए अग्रसर हुए।

उसी दिन मार्ग में उनको साधु-वेष में एक ठगों का दल मिला। उनमें से एक वैरागी बाबा बनकर मार्ग में मूर्ति स्थापित करके बैठा हुआ था। उसने प्रथम तो श्रीदयानन्द नवीन यात्री से उसकी यात्रा का कारण पूछ लिया और फिर लगा इनको चिढ़ाने—"देखो त्यागी बनने चला है। हाथ की अंगूठियां तो छोड़ी ही नहीं गईं, वैराग्य-सिद्धि क्या धूल करोगे। भला, कभी ऐसे वस्त्राभरण वाले को भी सिद्धि प्राप्त होती है ? इसलिए सारा भूषणालङ्कार मूर्त्ति जी के आगे चढ़ा दो। इससे तुम्हें दो लाभ होंगे। एक देवार्चन से पुण्य, दूसरे सर्वत्याग से वैराग्य-सिद्धि।" जिस महात्मा ने ऐरावत हाथी त्याग दिया वह उसके बांधने के रस्से से कब स्नेह करने लगा था। उन ठगों के चिढ़ाने से उन्होंने अंगूठियां अंगुलियों से उतार कर उन कपट-वेषधारियों के आगे फेंक दीं और अपने मार्ग पर चल पड़े।

ब्रह्मचर्य-दीक्षा : मूल शङ्कर से शुद्ध चैतन्य

पर्य्यटन करते हुए श्री दयानन्द जी ने लोगों से सुना कि सायले नामक ग्राम में एक विचारवान् व्यक्ति, लाला भक्त रहता है। वहां अन्य भी अनेक साधु-सन्त विराजते हैं। इस जिज्ञासा से कि सम्भव है वहां कोई मुक्ति का मार्ग जानने वाला मिल जाय, वे वहां पहुंचे। इस ग्राम में उन्हें एक ब्रह्मचारी मिले, जिन्होंने प्रेरणा की कि तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन जाओ। ब्रह्मचारी जी के कथन को श्रीदयानन्द जी ने स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् ब्रह्मचारी जी ने उनको दीक्षा देकर काषायवस्त्र धारण कराये। एक तूम्बा हाथ में अवलम्बन कराया, और आदेश किया कि आज से आपका नाम "शुद्ध चैतन्य" हुआ। इसके अनन्तर ब्रह्मचारी श्री शुद्ध चैतन्य जी उन्हीं साधु-सन्तों की मण्डली में मिलकर वहीं कुछ योग-साधन में भी प्रवृत्त हो गये। एक रात का वर्णन है कि श्री शुद्धचैतन्य जी मठ से बाहर एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठे हुए आराधना कर रहे थे। इतने में पेड़ पर पक्षियों की एक विलक्षण "घू-घू" ध्वनि उस गहरी रात में गूंजने लगी। ब्रह्मचारी जी ने बाल्यावस्था में मां-बाप से भूत-

प्रेत के भ्रम-युक्त संस्कार ग्रहण किये थे, वे सहसा उद्भूत हो आये, और भूत-भय समझ कर वे मठ में प्रविष्ट हो गये।

नवीन काषायाम्बरधारी ब्रह्मचारी जी बहुत दिनों तक श्री लाला-भक्त के मठ में योगाभ्यासादि साधन करते रहे, परन्तु यह देख कर कि उनकी वास्तविक कामना यहां पूर्ण न हो सकेगी, वे उस मठ से प्रस्थान करके कोट काङ्गड़ा नाम के एक छोटे से नगर में जा पधारे। यह स्थान अहमदाबाद के समीप, गुजरात प्रान्त के एक छोटे से राज्य के अन्तर्गत है। उस गाँव में बहुत से वैरागी वास करते थे। वहीं एक राणी भी वैरागियों के फन्दे में फँसी हुई उनके पास रहती थी। श्री शुद्धचैतन्यजी को गेरुए वस्त्रों में देखकर वैरागियों ने उनकी हँसी उड़ाई, और वैरागी-जमात में मिल जाने को प्रेरणा की, इनकी रेशमी धोतियों पर वैरागियों ने आक्षेप किया। श्री ब्रह्मचारी जी के पास उस समय तीन रुपये शेष थे। उनसे उन्होंने नई सादी धोतियाँ लेकर, वे रेशमी धोतियां वहीं फेंक दीं, और वैरागियों की अबोध जमात से पृथक् किसी अन्य स्थान में निवास करने लगे। उस स्थान में उन्होंने तीन मास बिताए।

कोट काङ्गड़ा में, उस समय सिद्धपुर में कार्तिक मास में होने वाले मेले की बड़ी चर्चा हो रही थी। मेले का होना सुनकर शुद्धचैतन्य जी इस भावना से कि सम्भव है, भाग्यवशात् वहां किसी योगी जन का मङ्गल-मिलाप उपलब्ध हो जाय, सिद्धपुर की ओर चल पड़े। गांव से थोड़ी ही दूर जाने पाये थे कि उन्हें एक ग्रामीण वैरागी से साक्षात् हुआ। वह उनका परिचित था और उनके सारे कुल को भी अच्छी तरह से जानता था। गृह-त्याग के अनन्तर, चिरकाल पश्चात् शुद्धचैतन्यजी ने एक स्वस्नेही व्यक्ति का अवलोकन किया, इसीलिए, उसे देखकर उनका हृदय उमड़ पड़ा और उनकी आंखों से टप-टप आंसू गिरने लगे। उन्हें देखकर यही दशा वैरागी की हुई। वैरागी ने ब्रह्मचारी जी के मुख से उनके गृहत्याग की सारी कहानी श्रवण की। उनके मार्ग की सम्पूर्ण घटनाओं को सुना। काषायवस्त्र धारण करने के कारण को भी जाना। प्रथम तो ब्रह्मचारी जी के वेष पर वैरागीजी को हँसी आ गई। परन्तु तुरन्त गम्भीर होकर उनके इस प्रकार घर से निकल भागने पर उसने अतीव खेद प्रकट किया और इस कार्य्य के लिए उन्हें धिक्कारा भी। अन्त में दुःखित होकर वैरागी जी ने पूछा—"क्या तुमने घर छोड़ दिया ? अब गृह

पर न जाओगे ?" शुद्धचैतन्य जी ने प्रथम मिले स्नेही को स्पष्ट उत्तर दिया— "हाँ मैंने गृह त्याग दिया है। कार्तिक के मेले पर सिद्धपुर जाऊँगा।" वे इन्हीं बातों को करते-करते अन्त में एक दूसरे से पृथक् हो गये, और श्री शुद्धचैतन्यजी ग्रामानुग्राम विचरते हुए कुछ कालान्तर में सिद्धपुर आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने नीलकंठ महादेव के मन्दिर में आसन किया। इस मन्दिर में पहले ही से कई दण्डी स्वामी और बहुत से ब्रह्मचारी विराज रहे थे। शुद्धचैतन्यजी, उन समीप वासी सन्तों का सत्संग तो करते ही थे, परन्तु यदि वे सुनते कि अमुक स्थान में कोई अभ्यासी आत्मज्ञानी महात्मा विराजते हैं, तो तुरन्त वहीं पहुँच जाते। समादर से, नम्र भाव से, उनके आगे योग-विद्या की जिज्ञासा करते।

जहाँ सिद्धपुर के मेले में आए हुए सहस्रों जन इष्ट मित्रों से मिलते थे, इधर-उधर मार्गों में भ्रमण करते-फिरते, थे, मेले की शोभा को निहार रहे थे, क्रय-विक्रय में लगे हुए थे, हास-विलास में लीन थे, आमोद-प्रमोद में मग्न थे, खान-पान और शयन में सुख मानते थे, वहाँ वैराग्य के रंग में रंगे हुए; सच्ची लग्न से प्रेरित, धुन के धनी ब्रह्मचारी श्री शुद्धचैतन्य जी एक-एक महात्मा के आसन पर जाकर सिर झुकाते थे, इसलिए कि किसी से भव-भय-भंजनी भगवती योगविद्या प्राप्त हो, और अमर जीवन का मार्ग मिले।

उधर, उस वैरागी ने जो उन्हें कोट काङ्गड़ा गाँव से निकलते ही मिला था, स्वस्थान पर जाकर पत्र द्वारा उनके पिता को सूचित कर दिया कि तुम्हारे पुत्र ने गृहत्याग कर काषायाम्बर धारण कर लिए हैं और अब वह सिद्धपुर के मेले पर गया है। यह समाचार पाते ही, उनके पिता चार सैनिकों समेत सिद्धपुर आ पहुँचे और मेले में घूम-घूम कर अपने पुत्र को ढूँढने लगे। एक दिन, प्रातः काल, उनके पिता एकाएक उस शिवालय में आ खड़े हुए जिसमें कि उनका पुत्र गेरुए वस्त्र धारण किये सामने बैठा था। पुत्र को इस दशा में देखकर उनके कोप का पार न रहा। उनकी आँखें रक्तवर्ण हो गईं। वे कड़कती हुई वाणी से बोले "तूने सदैव के लिए हमारे वंश को दूषित कर दिया। तू हमारे कुल को कलंक लगाने वाला जन्मा है।" आवेश में उन्होंने और भी बहुत कुछ ऊँचा-नीचा कहा। ब्रह्मचारी जी कोप से भीत होकर अपने पिता की ओर नेत्र भरकर देखने का भी साहस न कर सकते थे। उन्हें

उस समय पिता की ताड़ना से त्राण प्राप्त करने का एक ही उपाय सूझा और वह यह कि उन्होंने आसन से उठकर पिता के दोनों चरण पकड़ लिए; साथ ही प्रार्थना की कि गृह-त्याग, मैंने धूर्त्त लोगों के बहकाने से किया है। मैं अपने इस कर्म का पर्याप्त फल पा चुका हूँ। मैंने दुःख उठाए हैं। आप शान्त हूजिए। मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए। मैं तो यहाँ से घर ही आने को था परन्तु यह भी अच्छा हुआ जो आप आ गये हैं। जब आज्ञा करें, मैं प्रसन्नता-से आपके साथ चलने को उद्यत हूँ।

पिता का प्रचण्ड कोपाग्नि ऐसी न थी कि शीघ्र ही शान्त हो जाती उन्होंने झटपट ब्रह्मचारी जी के गेरुए कुरते को हाथ से पकड़ा और बलपूर्वक खींच कर उसकी धज्जियाँ उड़ा दीं, साथ-साथ शतशः दुर्वचन-वृष्टि भी करते गये। श्वेत वस्त्र पहनाकर वे उन्हें अपने ठहरने के स्थान पर ले गये। वहां लेजा कर भी बहुत कटु वचन कहे और यह कहा कि तेरी माता तेरे वियोग के कारण रो-रोकर मर रही है और तू ऐसा कठोर हृदय है कि मातृ-हत्या करना चाहता है। पुत्र ने अति अनुनय विनय से कहा कि अब निश्चिन्त हो जाइए। मैं आपके संग चल कर माता जी के दर्शन करूँगा। पर पिता निश्चिन्त नहीं हुए। उन्होंने पुत्र पर कड़ा पहरा लगा दिया। सैनिकों को आज्ञा दी कि इस निर्मोही को अकेले कहीं आने-जाने न दो; सदा इसके संग रहो। रात-भर जागते हुए इसे अपनी दृष्टि में रक्खो। इस प्रकार श्री शुद्धचैतन्य जी अपने पूज्य पिता के आदेश से दृष्टिबन्ध तो हो गये, परन्तु गृह-त्याग और अमर जीवन की प्राप्ति की धुन में वे उतने ही पक्के थे, जितने अपने प्रयत्न में उनके पिता।

ब्रह्मचारी जी को उस समय अपनी उद्देश्य-सिद्धि का जो भी मार्ग सूझा, वे उस पर चलने से, केवल यही नहीं कि हिचकिचाये ही न हों किन्तु उन्होंने उसका पूरा-पूरा उपयोग भी किया। इधर पिता जी को भरसक यत्न से विश्वास दिलाते रहे कि मैं अवश्यमेव गृह पर चलूँगा और उधर यह सोचते-विचारते रहे कि जिस समय अवसर अनुकूल आये, जब दांव लगे, यहाँ से भाग निकलें। पितृ-बन्धन में पड़े दो दिन और दो रातें बीत गईं। तीसरा दिन भी ज्यों-त्यों करके काटा। तीसरी रात आ गई। उसके एक-एक पल को शुद्धचैतन्य जी आंखों में काट रहे थे। वे बिछौने पर लेटे हुए अवश्य थे—

देखने वालों को भी सोये हुए दिखाई देते थे, परन्तु तीव्र मानस लग्न से संचालित, भीतर से जागते थे। तीसरी रात्रि का भी आधा भाग बीत गया, और तीसरा पहर आरम्भ हुआ। निद्रा से अभिभूत पहरे वाला ऊँघते-ऊँघते दैवयोग से गाढ़ निद्रा में निमग्न हो गया। ब्रह्मचारी जी अनुकूल काल हाथ लगा समझ वहां से शीघ्रता से चल निकलने को बद्धपरिकर हो गये। चलते समय हाथ में जलपूर्ण कलश ले लिया कि यदि किसी ने पूछा तो "लघुशङ्का करने जा रहा हूँ।" कह दिया जायगा। बिना रोकटोक, भागते हुए सिद्धपुर से आध कोस दूर वे एक उद्यान में जा पहुँचे। उस उद्यान में एक पुराना मन्दिर था। वटवृक्ष की जटाओं के सहारे वे उस मन्दिर के शिखर पर हाथ में कलश लिए जा बैठे। बैठे-बैठे मन-ही-मन सोचने लगे कि देखें दैव अब क्या-क्या दृश्य दिखाता है।

दूसरी ओर जब पहरे वालों और ब्रह्मचारी जी के पिता को पता चला कि वे भाग गये हैं तो वहां हलचल मच गई। उन्हें पकड़ने के लिए चारों ओर मनुष्य दौड़ पड़े। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ये लोग उस उद्यान में भी पहुँचे जहाँ ब्रह्मचारीजी छिपे बैठे थे। मन्दिर के भीतर बाहर ढूँढ़ा, मालियों से भी पूछताछ की, परन्तु कोई पता न चला। अन्त को निराश होकर वे लोग उद्यान की ओर से चले आये। यह दृश्य रात्रि के चार बजे तक ब्रह्मचारी जी के सामने होता रहा, परन्तु वे ऐसे दुबके बैठे थे कि हिलना डुलना, खांसना खखारना तो दूर रहा श्वास-प्रश्वास की गति भी वश में किये हुए थे। सारा दिन इस घोर कष्ट में और उपवास में उन्होंने वहीं बैठे-बैठे बिताया। जब रात के सात बजे तो उस समय कुछ अन्धेरा हो गया था। ब्रह्मचारीजी मन्दिर की चोटी से नीचे उतर आये और सड़क छोड़कर आगे चल पड़े। किसी से गांव आदि का भी नाम पूछ लिया। उस उद्यान से दो कोस के अन्तर पर जाकर उन्होंने एक ग्राम में विश्राम किया। प्रातःकाल होने पर उस गांव से भी प्रस्थान कर गए। ब्रह्मचारी जी का बन्धु मिलाप—पितृदर्शन—सिद्धपुर में अन्तिम ही समझना चाहिए।

ग्राम-ग्राम और नगर-नगर विचरते हुए वे अहमदाबाद से बड़ौदा नगर में आकर कुछ काल ठहर गये। यहां चैतन्य मठ में कुछ ब्रह्मचारी और संन्यासी रहते थे। उनसे शुद्धचैतन्यजी का वेदान्त विषय पर बहुत वार्त्तालाप

हुआ करता था। वहां रहने वालों में ब्रह्मानन्द जी आदि ब्रह्मचारी और संन्यासी लोग वेदान्त में बहुत घुटे हुए थे। उन्होंने अपनी कोटियों और पंक्तियों को सुना-सुनाकर शुद्धचैतन्य जी को पक्का वेदान्ती बना दिया। यद्यपि पहिले वेदान्त शास्त्र के अध्ययन काल में, उनका विचार उस ओर झुक गया था परन्तु मठ में तो उन पर ऐसा रङ्ग चढ़ा कि वे परमात्मा से भिन्न सब को मिथ्या मानने लगे और उन्होंने अपने आपको ब्रह्म कहना आरम्भ कर दिया।

श्री शुद्धचैतन्यजी ने यद्यपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य को अपने ऊपर घटा लिया था, परन्तु इससे उनके उन्नतिशील अन्तःकरण में जो जिज्ञासा की ज्योति जाग रही थी वह वेदान्त की फीकी फक्किकाओं से शान्त नहीं हुई। इसलिए वाराणसी की रहने वाली एक बाई के मुख से ज्योंही उन्होंने सुना कि नर्मदा-तट पर बड़े-बड़े विद्वानों की एक बड़ी सभा होने वाली है वे तुरन्त बड़ौदे से नर्मदा की ओर चल पड़े। वहां पहुँचकर वे एक सच्चिदानन्द नाम के परमहंस से मिले और उनसे अनेक प्रकार की ज्ञान चर्चा करते रहे। सच्चिदानन्दजी ने उन्हें बताया कि इसी नर्मदा के तट पर, चाणोदकर्नाली में बड़े-बड़े विद्वान् ब्रह्मचारियों की एक मण्डली आज कल ठहरी हुई है। उस मण्डली के महात्माओं से मिलकर आपको विशेष लाभ होगा। जैसे कर्मयोग के आदर्शस्वरूप श्रीराम दण्डकारण्य में विचरते हुए जहां कहीं दूर समीप, ऋषि मुनियों का आश्रम सुन पाते सत्सङ्ग जिज्ञासा से वहां पहुँच जाते थे, उसी प्रकार अमर जीवन की जड़ी को जानने के आदर्श भूत जिज्ञासु श्रीशुद्धचैतन्य जी चाणोदकर्नाली में जा विराजे। उन्होने वहाँ श्रीचिदाश्रम आदि सच्चे विद्वान् संन्यासियों की भेंट प्राप्त की। कई सुयोग्य पण्डित ब्रह्मचारियों का भी मिलाप उपलब्ध किया, और वे अनेक शास्त्रीय, पारमार्थिक विषयों पर वार्त्तालाप करके ज्ञानगोष्ठी का सुख अनुभव करते रहे। वहीं एक परमानन्द नाम के परमहंस विराजते थे। श्रीशुद्धचैतन्य ने उनके पास अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। कई मास के अध्ययन से उन्होंने वेदान्तसार, आर्य हरिमीडे तोटक, आर्य हरिहर तोटक और वेदान्त-परिभाषा-प्रमुख ग्रन्थ पढ़ लिए।

: ४ :

संन्यास-दीक्षा : शुद्धचैतन्य से दयानन्द सरस्वती

अपनी ब्रह्मचर्य-दीक्षा की पद्धति के अनुसार शुद्ध चैतन्यजी अपने हाथ का पकाही खाते थे। इस कारण उनके विद्याध्ययन में बाधा पड़ती थी। सम्पूर्ण सांसारिक वासनाओं से वे पहिले ही विमुक्त हो चुके थे, परन्तु फिर भी आश्रम-शैली से यथा विधि संन्यास लेने में उन्होंने दो लाभ देखे—एक तो भोजन बनाने के बखेड़े से बच जायँगे और दूसरे चतुर्थाश्रम में प्रवेश करने से नाम और आकृति आदि में परिवर्तन हो जाने पर कोई उन्हें पहचान भी न सकेगा। इस प्रकार पिता आदि द्वारा पकड़े जाने का भय भी जाता रहेगा। इस प्रकार सोचकर वे संन्यास ग्रहण करने के लिये सर्व प्रकार सन्नद्ध हो गये। उन्होंने अपने एक मित्र दक्षिणी पण्डित द्वारा स्वामी श्री चिदाश्रमजी को कहलाया कि आप शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी जी को संन्यासदीक्षा देना स्वीकार कीजिए। परन्तु उस परमदीक्षित सन्यासी प्रवर ने यह कह कर कि ब्रह्मचारी अभी युवक है, अपनी अस्वीकृति प्रकाशित कर दी।

श्री चिदाश्रम जी के संन्यास न देने से शुद्ध-चैतन्य जी का उत्साह भंग न हुआ। वे विद्याध्ययन में, योग-साधन में, स्वसमय यापन करते और किसी अन्य महाभाग संन्यासी का प्रतीक्षण करते कि जिससे संन्यास ग्रहण कर सर्वथा निर्द्वन्द्व हो जायँ। सन्तों के सत्संग में, मुनियों के विमल मिलाप में, विद्या विनोद में, शास्त्र-चर्चा में, आत्मिक आराधन, चिन्तन और ध्यान में शुद्ध चैतन्यजी ने नर्मदा-तटपर डेढ़ वर्ष व्यतीत किया। इस समय उनकी आयु २४ वर्ष २ मास की हो गई थी।

एक दिन श्री शुद्ध चैतन्यजी ने किसी से सुना कि चाणोद से डेढ़ कोस के अन्तर पर जङ्गल में एक दाक्षिणात्य दण्डी स्वामी आकर विराजे हैं। वे बड़े विद्वान् उत्तम संन्यासी हैं। उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी हैं। तब शुद्ध-चैतन्य जी अपने उपर्युक्त मित्र दक्षिणी पण्डित को साथ लेकर प्रशंसित दण्डींजी की सेवा में उपस्थित हुए और समादर नमस्कार करने के पश्चात् पास बैठकर उन्होने वार्त्तालाप करना आरम्भ कर दिया। ब्रह्म विद्या-सम्बन्धी

अनेक विषयों पर बातचीत होती रही। अन्त में श्रीचैतन्य जी को निश्चय हो गया कि दण्डी जी महाराज और उनके संगी ब्रह्मचारी दोनों ब्रह्म-विद्या में निपुण हैं। दण्डी जी का शुभ नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। शुद्ध चैतन्य जी के हृदय में उनसे संन्यास ग्रहण करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। तब उन्होंने अपने मित्र पण्डित जी को संकेत किया कि दण्डी जी के सन्मुख उनके संन्यास का प्रस्ताव करे। पण्डित जी ने निवेदन करते हुए कहा – "दण्डी जी महाराज ! यह विद्यार्थी ब्रह्मचारी, शुद्ध चैतन्य, अति सुशील और विनीत है। ब्रह्म-विद्या पढ़ने के लिए अतीव उत्कण्ठित है। परन्तु क्या करे भोजन बनाने के बखेड़े ही में इसका बहुत सा समय व्यर्थ व्यय हो जाता है, जिससे यथारुचि विद्याध्ययन नहीं कर सकता। इसकी कामना के अनुसार, आप कृपा करके इसे चतुर्थ प्रकार का संन्यास दे दीजिये।"

यह प्रार्थना सुनकर, उक्त स्वामी जी ने, शुद्ध चतन्यजी की भर-पूर युवावस्था के कारण उन्हें सन्यास देने से एक बार तो जी हटा लिया। पर पण्डित जी के अधिक आग्रह से संन्यास की अनुमति देते हुए यह कहा कि यदि ये पूर्ण वैराग्यवान् हैं तो किसी गुजराती संन्यासी से दीक्षा लें। हम तो महाराष्ट्री हैं। पण्डित जी बोले—"महाराज ! दक्षिणी सन्यासी, गौड़ों को जो पंच द्रविड़ों से बाहर हैं, सन्यास दे देते हैं तो आप इसे संन्याम क्यों नहीं देते ? यह गुर्जर ब्राह्मण हैं, और यह तो आप जानते ही हैं कि गुर्जर पंच द्रविड़ों में गिने जाते हैं।" पण्डित जी की अन्तिम युक्ति से दण्डी जी ने संन्यास देना स्वीकार कर लिया और अति प्रसन्नता प्रकाशित करते हुए श्री शुद्धचैतन्य मुमुक्षु को व्रत उपवास और जपादि क्रियानुष्ठान करने का आदेश दिया।

दो दिन तक जपादि साधनों को यथाविधि करके तीसरे दिन ब्रह्मचारी जी दण्डी जी की सेवा में उपस्थित हुए। उनसे उसी दिन श्राद्ध कराके, दण्डी स्वामी जी ने विधिपूर्वक संन्यास धारण कराया। हाथ में दण्ड अवलम्बन कराकर उनका नाम 'दयानन्द सरस्वती' उद्घोषित किया। विनय से नम्रशिर, नव शिष्य को स्वामी पूर्णानन्द जी ने यतियों के धर्म बताये, संन्यास की रीति-नीति का उपदेश दिया। आश्रम मर्य्यादा और विद्योपार्जन, जप-तप आदि के करने की शिक्षा की। वे कई दिन तक गुरु चरणों में बैठकर बड़ी विनीतता

से ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ पढ़ते रहे। अब उन्होंने गुरु आदेश के अनुसार विद्याराधना में विघ्नकारी जानकर दण्ड को विसर्जन कर दिया। स्वामी पूर्णानन्द जी शृङ्गेरी मठ से द्वारिका को जाते हुए मार्ग में कुछ मित्रों के लिए 'चाणोद' में ठहर गये थे। कुछ दिन के पश्चात् जब वहाँ से चलने लगे तो उनके नूतन शिष्य दयानन्द ने बड़ी पूजा और सम्मान से गुरु चरणों में प्रणाम किया। स्वामी जी महाराज बड़े वात्सल्य भाव को प्रदर्शित करते हुए उनसे विदा होकर द्वारिका दर्शन को चल पड़े। स्वामी दयानन्द सरस्वती पीछे कई दिनों तक चाणोद में ही टिके रहे।

एक दिन उन्होंने सुना कि व्यासाश्रम में योगानन्द जी एक महात्मा विराजमान हैं और वे योग की क्रियाओं में कुशल हैं। उस महात्मा के मिलाप की उत्सुकता से प्रेरित होकर वे व्यासाश्रम में जा पहुंचे। वहाँ उन्होंने उक्त महात्मा से योग विद्या के रहस्य सुने और इसकी पुस्तकें भी अच्छी तरह पढ़ीं। योग की क्रियाओं को सीख लेने के अनन्तर उन्होंने सुना कि छिन्नाड़े में कृष्ण-शास्त्री नाम का एक धुरन्धर वैयाकरण पण्डित रहता है। वे व्याकरण के अध्ययन की लालसा से उस ग्राम में जा विराजमान हुए। कुछ काल तक कृष्ण-शास्त्री जी से व्याकरण के ग्रन्थ पढ़कर फिर चाणोद कर्नाली में पधारे और वहाँ एक राजगुरु से वेदाध्ययन करने लगे।

निरभिमानिता की मूर्ति स्वामी दयानन्द जी को सत्य के जानने की इच्छा, योग विद्या की प्राप्ति की परम लगन, साधु-सन्तों के शुभ दर्शनों और शांति दायक सत्संगों के लिए सदा उत्साहित करती रहती थी। नई-नई विद्यायें सीखने के लिए वे सदा उत्सुक रहते थे। किसी महात्मा के समीप जाने में उन्हें कभी संकोच न होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने गृह परित्याग करते ही सबसे पहले अहङ्कार के काण्टे को हृदय की भूमि से उखाड़ फेंका था, मान को मर्दन कर दिया था, सङ्कीर्णता सर्वथा छोड़ दी थी और तब आत्म-प्रेम-प्रसादी माँगने के निमित्त लगन की झोली हाथ में लिए श्रद्धापूर्वक कुटी-कुटी और द्वार-द्वार पर चक्कर लगाने लगे थे। यह हो नहीं सकता कि ऐसे श्रद्धालु जिज्ञासुओं की कामनायें पूर्ण न हों। सच है 'जिन खोजा तिन पाइयाँ।'

चाणोद कर्नाली में स्वामी दयानन्द जी ने दो महात्माओं के दर्शन प्राप्त

किये। उनमें से एक का नाम ज्वालानन्दपुरी और दूसरे का नाम शिवानन्दगिरी था। ये दोनों ही महानुभाव प्रसन्न चित्त, प्रशान्तात्मा, योगी थे। स्वामी दयानन्द जी अपना अहोभाग्य मानकर लगे उनके मङ्गल-मिलाप का लाहा लूटने। योगी महात्माओं ने भी जान लिया कि यह जिज्ञासु आत्म-पिपासु है। इसलिए उसे अपने साथ मिलाकर अभ्यास आरम्भ कराया। अभ्यासानन्तर तीनों मिलकर योग शास्त्र की चर्चा किया कर । कुछ काल के उपरान्त वे दोनों योगी अहमदाबाद चले गये और दयानन्द जी को आदेश कर गये कि एक मास के पश्चात् आप हमारे पास अहमदाबाद में आइएगा। उस समय हम आपको योगसाधन के सम्पूर्ण गूढ़ तत्व क्रियाओं सहित भली भांति समझा देंगे। वहां हमारा आसन नदी के किनारे दूधेश्वर महादेव के मन्दिर में होगा।

स्वामी दयानन्द जी चाणोद में रहकर एक मास तक जप, तप क्रियानुष्ठान करते रहे। फिर महात्माओं की आज्ञानुसार अहमदाबाद चले गये। सीधे दूधेश्वर के मन्दिर में जाकर उनके दर्शनों से कृतार्थ हुए। वहाँ उन सन्त शिरोमणियों की शुभ संगति में रात दिन रहकर, आत्म-तृष्णा की परितृप्ति में परायण रहते थे। प्रतिदिन के सहवास से योगिराजों ने समझ लिया कि स्वामी दयानन्द जी, एक उत्तम कोटि के सुपात्र हैं। इन्हें योग तत्वों के अमूल्य रत्नों से आकण्ठ भर देना चाहिए। उन्होंने योग का प्रत्येक भेद और रहस्य स्वामी दयानन्द जी को बताया। उन योगियों की शुभ कामना से श्री स्वामी जी को जो लाभ हुए उनका उन्होंने अपनी कृतज्ञता के साथ इस प्रकार वर्णन किया है—"वहाँ उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और अपने कथनानुसार मुझे निहाल कर दिया। उन्हीं महात्माओं के प्रभाव से, मुझे क्रिया-समेत पूर्ण योग विद्या भली भांति विदित हो गई। इसलिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। वास्तव में उन्होंने मुझ पर एक महान उपकार किया। इस कारण मैं उनका विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ।"

चिरकाल तक योगिजनों के सत्संग से कृतकृत्य होकर श्रीस्वामी जी ने आबू पर्वत की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने सुना था कि आबू पर बहुत से योगी जन रहते हैं, इस कारण, इस पर्वत पर आकर महात्माओं के मिलापार्थ यत्न करने लगे। वहाँ अर्बुदा भवानी नाम के पर्वत शिखर पर

तथा अन्य अनेक स्थानों में उनकी सन्त महात्माओं से भेंट हुई। यहाँ के कई योगी, पूर्वोक्त दो योगियों से विशेष रूप से आगे बढ़े हुए थे। उनसे भी स्वामी जी ने विशेष योग तत्त्वों की प्राप्ति की।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों का पर्यटन करते हुए स्वामी जी महाराज महात्माओं के मिलाप से, विद्वानों के सम्पर्क से, अभ्यासियों के मेल जोल से, और योगी सन्तों के शुभ संग से आत्मिक उन्नति करते रहे, शान्ति के साधनों का संचय करते रहे। वे विद्यार्थी बनकर सबके पास गये और जिससे जो भी कुछ शुभ प्राप्त हुआ उसे कृतज्ञता से धारण करते रहे।

इस प्रकार यतियों मुनियों को मिलते हुए स्वामी जी महाराज वैशाख सम्वत् १९१२ में होने वाले कुम्भ के महा मेले पर हरिद्वार पधारे। उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी। उनके यहाँ आने का प्रयोजन यह था कि कुम्भ पर, बहुत से योगीजन गुप्त रूप से आकर रहते हैं, जिनको साधारण जन नहीं जान सकते। उनसे मिलकर ज्ञानचर्चा करेंगे। गँवार के लिए कंकड़ और हीरा समान है। परन्तु उनमें कौन महत्त्ववान् है, यह बात जौहरी तुरन्त जान जाता है। स्वामी दयानन्द, इसी प्रकार महान् साधु समारोह में, अपनी परख के प्रभाव से उत्तमोत्तम सन्तों को मिलते थे। हर की पैड़ियों की ओर बड़ी भारी भीड़ और महा कोलाहल था। मनुष्य पर मनुष्य गिरता था, कन्धे-से-कन्धा छिलता था। संकीर्ण भूमि, जन संघट से सपःकुल थी। सर्वत्र अगणित मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। जहाँ देखो जूठी पत्तलें, उच्छिष्टसहित पत्ते पड़े थे। तट-समीप वाहिनी गङ्गा धारा भी लाखों नर-नारियों के नहाने से, वस्त्रों के धोने से, बर्तनों के प्रक्षालन से नांगों के देह की राख से शुद्ध तो कहाँ? निर्मल भी न रही थी। धूलि से भूतलाकाश एक हो रहा था। गङ्गा का यह किनारा, ध्यान समाधि तो कहाँ, सुख से विश्राम लेने के भी अयोग्य हो गया था। इसी कारण महात्मा दयानन्द जी महाराज, जो योग-साधन परायण थे मेले के दिनों में गङ्गा के उस पार, चण्डी पर्वत के जंगल में निवास करते रहे। ऐसे मेलों पर आये अन्य योगी जन भी प्रायः नदी के उसी पार रहा करते हैं।

मेले के पश्चात् स्वामी जी महाराज ने हृषीकेश की यात्रा की। वहाँ उच्चतर महात्मा संन्यासियों के समीप रह कर योग-साधन की रीतियाँ सीखीं,

विमलचित और विशुद्ध आत्माओं का सत्सग लाभ लिया। उष्णता के विशेष बढ़ जाने से सन्त लोग गंगा के उपरिभागों में चले जाते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द जी बहुत दिनों तक हृषीकेश में ही अकेले विराजते रहे।

एक दिन यहाँ उन्हें एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मिले परस्पर अधिक परिचय हो जाने से स्वामी जी उनके साथ टिहरी की यात्रा में प्रवृत्त हुए। टिहरी नगर के बाहर उन्होने किसी स्वच्छ स्थान में आसन कियां। यह नगर उस समय विद्यावृद्ध साधुजनों के निवास और बहुत से सुपठित राज-पण्डितों के कारण प्रसिद्ध था। एक दिन का वर्णन है कि एक राजपण्डित ने स्वामी जी के आसन पर आकर उन्हें गृह पर भोजन पाने के लिए सादर निमन्त्रित किया। नियत समय पर उनको लिवा लेने के लिए एक पुरुष भी आया, स्वामी दयानन्द जी और उनका साथी ब्रह्मचारी दोनों निमन्त्रण-दाता गृहस्थ के गृह पर गए। गृह द्वार से आगे बढ़ते ही स्वामी जी को अत्यन्त घृणा आई, क्योंकि उन्होने देखा कि एक पण्डित मांस काट-काट कर पका रहा है। कुछ अधिक आगे जाने पर उन्होंने देखा कि मांस और अस्थियों के ढेर और पशुओं के भुने हुए सिरों पर कई पण्डित छुरी आदि से कार्य कर रहे हैं! इस सारे तान्त्रिक दृश्य को देख स्वामी जी घृणा से व्याकुल और आश्चर्य से चकित हो गए। इतने में उन्हें आते देख गृहपति सम्मान पूर्वक स्वागत के लिए सम्मुख आया। उसने आदर से कहा "कृपया विना संकोच भीतर चले आइए।" परन्तु स्वामी जी को तो घृणा के कारण वहाँ एक क्षण ठहरना भी भारी प्रतीत हो रहा था। इसलिए यह कह कर—"आप अपना काम करते जाइए, मेरे लिए कुछ कष्ट न कीजिए" वे झट, वहाँ से लौट पड़े और अपने स्थान पर आकर विश्राम लिया। थोड़े समय के अनन्तर वह गृहपति स्वामी जी के पास फिर आया और उनके लौट आने पर दुःख प्रदर्शित करता हुआ बोला—"कृपया चलिए, गृह पर भोजन पाइए। न जाने आप क्यों पीछे लौट आए हैं। हमने तो आपके निमित्त मांसादि उत्तमोत्तम भोजन प्रस्तुत किये हैं।" स्वामी जी ने स्पष्ट कह दिया—"यह सब वृथा और निष्फल है क्योंकि आप मांस-भक्षी हैं। मांस का खाना तो दूर रहा मैं तो उसके देखने से रोगी हो जाता हूँ। मेरे योग्य तो केवल फलादि हैं। यदि आप मेरा न्योता करना ही चाहते हैं तो कुछ अन्न और फल आदि वस्तु

भिजवा दीजिये । मेरा ब्रह्मचारी यहीं पर भोजन बना लेगा ।" यह सुनकर वह पण्डित अपने किए पर लज्जित हुआ, और घर पर जाकर उसने अन्न फलादि, स्वामी निर्दिष्ट पदार्थ उनके स्थान पर पहुँचा दिये ।

स्वामी महाराज कई दिनों तक टिहरी में रहे । वह निमन्त्रण दाता पण्डित उनके पास आने जाने लग गया । स्वामी जी ने उससे प्रसिद्ध परन्तु दुष्प्राप्य पुस्तकों का पतादि पूछा । उसने बताया कि यहाँ बड़े-बड़े कवियों के रचे हुए संस्कृत, व्याकरण, कोष, और तंत्र-ग्रन्थ मिल सकते हैं । श्री स्वामीजी ने उन दिनों तक तन्त्र ग्रन्थों का अवलोकन नहीं किया था, इस कारण पण्डित जी को तन्त्र-ग्रन्थ ले आने के लिए कहा । वह स्वल्प समय में कुछ एक तंत्र पुस्तकें स्वामीजी को दे गया । स्वामीजी उनमें से एक पुस्तक को उठाकर ज्योंही खोलकर पढ़ने लगे तो अकस्मात् उनकी दृष्टि एक ऐसे लेख पर पड़ी, जिसमें अत्यन्त लज्जा-जनक, अशुद्ध और ऊट पटांग बातें लिखी हुई थीं । उस लेख को पढ़कर वे कांप उठे । उन्होंने उसपुस्तक में यह लिखा देखा कि माता, भगिनी, कन्या, चूहड़ी, चमारी से अनुचित सम्बन्ध धर्म है । मद्य तथा मत्स्य आदि अनेक जन्तुओं के मांस का सेवन, और ब्राह्मण से लेकर चण्डाल पर्यन्त सबका एक स्थान में भोजन करना तन्त्र-धर्म में विहित है ! यह भी लिखा देखा कि मद्य, मांस, मछली, मुद्रा और मैथुन इन पांच मकारों के सेवन से मोक्ष प्राप्त होता है । इस प्रकार के लेख तंत्र ग्रन्थों में पढ़कर स्वामी जी को पूर्ण निश्चय हो गया कि उनके रचयिता कवि धूर्त, स्वार्थी और दुष्ट थे ।

टिहरी से प्रस्थान कर स्वामी जी ने श्रीनगर में पधार केदार घाट पर एक मन्दिर में आसन लगाया । श्रीनगर के पण्डितों से उनकी जब कभी बात-चीत होती तो स्वामी जी, टिहरी में पढ़े हुए तन्त्र ग्रन्थों के प्रमाणों से उन्हें ऐसा लज्जित करते कि, वे अपनी हार स्वीकार कर लेते । श्रीनगर के समीप, एक वनावृत्त पहाड़ी पर गंगागिरि नाम के एक अच्छे विद्वान् महात्मा निवास करते थे । वे महात्मा दिन के समय कभी उस पहाड़ी से नीचे नहीं उतरते थे । स्वामी दयानन्द जी का उस एकान्तवासी शान्तात्मा के साथ मिलाप हो गया, प्रतिदिन के वार्तालाप से दोनों परस्पर मित्र हो गये । वे नित्यप्रति मिलकर योगादि उत्तम-उत्तम विषयों की चर्चा में समय बिताते । नित्य के समागम

और तर्क-वितर्क से स्वामीजी को यह निश्चय हो गया कि हम और गंगागिरि जी आपस में मिलकर रहने के सर्वथा योग्य हैं। स्वामी जी को तो उस एकान्तवासी महात्मा की संगति ऐसी अच्छी लगी कि वे दो मास से अधिक काल तक उनके साथ रहे।

ग्रीष्म-ऋतु के आरम्भ में गङ्गागिरि जी से बिदा होकर श्री स्वामी जी अपने एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधुओं सहित, केदारघाट से चलकर रुद्र प्रयाग आदि स्थानों में घूमते हुए अगस्त्य मुनि की समाधि पर पहुंचे। इस स्थान से उत्तर की ओर आगे एक पर्वत-शिखर 'शिवपुरी' नाम से प्रख्यात है। स्वामी जी उस पर गये। वहां उन्होंने शरद् ऋतु के चार मास व्यतीत किये। शिवपुरी से पीछे लौटते समय स्वामी जी ने साथियों के संग को भी भी एक प्रकार का खटका ही समझा। इसलिए उनसे पृथक् होकर, एकाकी, फिर केदार घाट में आ गये। वहां से जाकर कुछ समय गुप्त काशी में रहे। गुप्त-काशी से गौरी कुण्ड, भीम गुफा, त्रियुगी नारायण होते हुए थोड़े ही दिनों में तीसरी बार फिर केदारघाट में सुशोभित हुए। केदारघाट का वास उन्हें अति प्रिय था और वहां गङ्गागिरि जी का सत्सङ्ग-सुख भी मनोभावना था। इसलिए इस बार, वे वहाँ चिरकाल तक, उस स्थान में रहे, जहां जंगम जाति के कुछ एक पुजारी ब्राह्मण निवास करते थे। इसी बीच में स्वामी जी के साथी दोनों पर्वतीय साधु और एक ब्रह्मचारी भी उन्हें आ मिले। यहाँ स्वामी जी केदारघाट वासी ब्राह्मणों और पण्डितों की करतूतों को भी देखते रहे। उन लोगों की जो बातें स्मरण रखने योग्य थीं उन्हें वे ध्यानगत कर लेते। जब वहां रहते हुए स्वामी जी ने वहां वालों की रीति और प्रकृति को भली भांति समझ लिया तब उनके मन में निकटवर्ती हिममण्डित हिमालय की पर्वत-मालाओं में भ्रमण करने की उमङ्ग पैदा हुई। उन्होंने चलते समय दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो, जिन सन्तों-सिद्धों की इतनी कथायें-वार्त्तायें सुनते आये हैं उनका पता अवश्य लगाना चाहिये। वे महात्मा इन शिखरों और गिरि-गुहाओं में हैं भी या नहीं इसका निश्चय करना चाहिये। दुर्गम, विषम पर्वतों की यात्रा की कठिनाइयां स्मरण कर, शरद् ऋतु के दिनों-दिन बढ़ते हुए अति शीत को सोचकर स्वामी जी ने पहले पर्वत वासियों से महात्माओं के सम्बन्ध में पूछना ताछना आरम्भ कर दिया। इस सारे प्रयत्न

से उन्हें पता लगा कि पर्वतवासी भोले भाले लोग, एक तो भ्रम मूलक गप्पें हांकते हैं और दूसरे महात्माओं के विषय में अनभिज्ञ हैं। स्वामी जी के साथी शीत से पीड़ित होकर दो दिन पहले ही उनसे पृथक् हो गये थे, इसलिए वे अकेले ही हिमाच्छादन से श्वेत, आकाशस्पर्शी, अति उत्तुङ्ग और अतिशीतल शैल शिखरों के उपर नीचे, इधर-उधर बीस दिन तक घूमकर पीछे लौट आये, परन्तु उन्हें किसी महात्मा का साक्षात् न हुआ।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने तुङ्गनाथ की चोटी पर चढ़ना आरम्भ किया। वहां पहुँचकर उस स्थान के मन्दिर को उन्होंने मूर्तियों और पुजारियों से परिपूर्ण पाया। पुजारियों के ऐसे जमघटे को देख वे उसी दिन वहां से उतर आये। परन्तु कुछ आगे चलकर उन्हें दो मार्ग दीख पड़े। उनमें से एक मार्ग पश्चिम को जाता था और दूसरा नैर्ऋत को। उनमें से स्वामी जो उस ओर झुके जो एक बड़े बिकट वन को जाता था। थोड़ी दूर जाने पर ही वे ऐसे सघन अरण्य में जा निकले जो बड़ी-बड़ी शिलाओं और छोटे-मोटे अगणित पत्थरों से आकीर्ण था। वहां के नाले जलहीन और भयावने हो रहे थे। इस पर विपत्ति यह कि आगे चलने के लिए मार्ग का कोई चिह्न तक न दिखाई पड़ता था। इस प्रकार वृक्ष-समूह से घनीभूत, लता-पताओं से आवृत विषम वन में स्वामी जी महाराज घिर गये। नभभेदी घने वृक्षों के घोर आवरण ने सूर्य के प्रकाश को रोका हुआ था। इसलिए दिन के समय ही उन्हें रात सी प्रतीत होने लगी। ऐसी दशा में स्वामी जी ने सोचा कि अब ऊपर को लौटें या नीचे को ही चलते चलें। पहले उन्होंने ऊपर की ओर दृष्टि डाली। जो मार्ग उतरते समय, अति ढलवान के कारण सुगम जान पड़ा था वही अब एक सीधी रेखा के समान, चोटी तक खड़ा दिखाई दिया। इसलिए फिर ऊपर चढ़ना उन्होंने प्रायः असम्भव समझा। सोच विचार कर उन्होंने निर्धारित कर लिया कि नीचे उतरने से ही निस्तार होगा। तब वे शुष्क घास और झाड़ियों को, पत्रहीन सूखी शाखाओं को पकड़-पकड़ कर एक नाले के तट पर आ पहुँचे। वहाँ एक ऊपर को उठी हुई शिला पर आरूढ़ होकर उन्होंने चहुँ ओर दृष्टि डाली। उन्हें पर्वतों की अगम्य चोटियों और मनुष्य के चलने के लिए असम्भव जटिल जङ्गल के सिवा और कुछ भी दिखाई न पड़ा। उस समय सूर्य भी अस्त ही हुआ चाहता था। ऐसे कड़े काल में स्वामी जी महाराज के चित्त

में चिन्ता की रेखा रह-रह कर उत्पन्न होती थी। वे सोचते थे कि ऐसे सुनसान निर्जन वन में, जहां पीने को पानी नहीं, निशा के घोर शीत-पात से परित्राण पाने के लिए अग्नि जलाने का कोई साधन नहीं, मेरी क्या दशा होगी। अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया—

पुरुषार्थ और यत्न को कभी न त्यागें धीर,
सकल विघ्न को बाध कर अन्त सफल हों वीर।

परन्तु उस विकट जङ्गल में ऐसे स्थानों में से होकर निकलना पड़ा, जहाँ कण्टकाकीर्ण झाड़ियों में उनके वस्त्र उलझ कर खण्ड-खण्ड हो गये। नुकीले पत्थरों की ठोकरों से और काण्टों के चुभने से उनके पांव लङ्गड़े हो गये, शरीर पर भी घाव दीखने लगे। रक्त बहता था, वेदना होती थी। अन्त को दुःख-संकट सहते हुए बड़ी कठिनाई से उस गहन वन को पार करके नीचे तुङ्गनाथ पर्वत की तलैठी में आ पहुँचे, वहाँ आकर उन्होंने देखा कि अब वे साधारण मार्ग पर गमन कर रहे हैं। उस समय निस्तब्ध, नीरव रजनी का राज्य था। सर्वत्र अन्धकार छा रहा था। इसीलिए स्वामी जी बड़ी सावधानी से मार्ग टटोल-टटोल कर चल रहे थे। वे बड़े ध्यान से मुख्य मार्ग से इधर-उधर होने से बचते थे। अन्ततः वे चलते-चलते एक ऐसे स्थान पर आ पहुँचे जहाँ कतिपय पर्ण-कुटियां दीख पड़ीं। पूछने पर पता लगा कि जिस मार्ग पर चल रहे हैं वह ओखी मठ को जाता है। महाराज आगे चल पड़े और बड़ी रात बीते ओखी मठ में पहुँचे।

शेष रात उन्होंने उसी मठ में निश्चिन्तता से काटी। प्रातःकाल जब सुखपूर्वक सो कर उठे तो उत्तर की ओर चल पड़े। परन्तु थोड़ी दूर जाकर उन्हें लौट आना पड़ा; क्योंकि मठ को देखने की अभिलाषा उनके मन में ही रह गई थी। साथ ही वे वहाँ के कन्दरा-निवासी साधुओं की भी अवस्था को जानना चाहते थे। पीछे लौट आने से स्वामी जी को मठ देखने का एक अच्छा अवसर मिल गया। उस समय मन्दिरों में ऐसे साधुओं की भरमार थी जो प्रायः पाखण्डपरायण थे। वे लोग बड़े आडम्बर से रहते थे। स्वामी जी के ज्ञान और गुणों पर उस मठ का मुख्य महन्त मोहित हो गया और चेला बन जाने के लिए उन्हें प्रेरणा करता हुआ बोला—"यदि हमारे शिष्य बन जाओ तो गद्दी के स्वामी हो जाओगे। लाखों रुपयों की सम्पत्ति तुम्हारे हाथ

में हो जायेगी । तुम महन्त कहलाओगे इसलिए मान-प्रतिष्ठा का भी पार न रहेगा । इस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक यथेष्ट सुख भोगोगे ।"

ओखी मठ के महन्त का प्रलोभन-पाश

ओखी मठ के महन्त का वह प्रलोभनपूर्ण सूत्र महात्यागी दयानन्द को बांधने के लिए उतना ही दृढ़ था, जितना, ऐरावत हाथी को बद्ध करने के लिए सूत का कच्चा तार । महाराज ने महन्त को कहा कि यह तुम्हारा कथन, सब व्यर्थ है । मेरे पिता की सम्पत्ति आपकी पूजा-पाठ के पाखण्ड द्वारा एकत्रित की पूँजा से कई गुणा अधिक है । जब मैं उसे भी काष्ठ-लोष्ठ समान त्याग आया हूँ तो आपके धन-धान्य की ओर कब ध्यान कर सकता हूँ ? जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने सकल सांसारिक सुखों से मुख मोड़ा और ऐश्वर्यशाली पितृ-गृह को सदा के लिये छोड़ा है, मैं देखता हूँ उस उद्देश्य पर न तुम चलते हो और न उसका तुम लोगों को कुछ ज्ञान ही है । इस अवस्था में चेला बनना तो दूर, मेरा तुम्हारे पास रहना भी असम्भव है ।

वह महन्त स्वामी-मुख से लक्ष्मी के तिरस्कार के वचन सुनकर कहने लगा कि अच्छा, बताइए आपका वह उद्देश्य क्या है ? किस वस्तु की जिज्ञासा में मग्न तुम इतने कष्ट-क्लेश उठा रहे हो ?श्रीस्वामी जी ने उत्तर में कहा कि मैं सत्य योग-विद्या और मोक्ष चाहता हूँ । जब तक यह प्रयोजन सिद्ध न होगा तब तक तपश्चर्या करता हुआ मनुष्य मात्र के कर्तव्य, स्वदेशोपकार को, बराबर करता रहूँगा । वह महन्त उनके महात्याग और उच्च उद्देश्य को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला, "यह बहुत अच्छी बात है । पर कुछ दिन तो हमारे समीप निवास करो ।" स्वामी जी बहुत वार्तालाप में कुछ सार न देख उस समय तो मौन रहे; परन्तु अगले दिन प्रातःकाल ही उठकर जोशी मठ की ओर चले गये ।

जोशी मठ में संन्यासाश्रम की चौथी श्रेणी के बहुत से सच्चे महाराष्ट्र संन्यासी वास करते थे । श्री स्वामी जी ने भी उन्हीं के समीप अपना निवास नियत किया । वहाँ उन्हें कई योगी-जन सत्संग के लिए मिल गये । स्वामी जी ने उनसे कई नवीन भेद भी प्राप्त किये और साथ ही विद्वान् साधु-सन्तों से परमार्थ-विषयक वार्त्तालाप करते रहे ।

: ५ :

अलखनन्दा के तट पर

जोशी मठ से प्रस्थान कर स्वामी जी बद्रीनारायण पहुँचे। वहाँ के मुख्य महन्त उस समय 'रावलजी' थे। स्वामी जी ने उनके निकट कई दिन तक निवास किया। कभी-कभी रावल जी के साथ स्वामी जी का वेदों और दर्शनों पर बड़ा वाद-विवाद छिड़ जाया करता था। एक दिन स्वामी जी ने रावलजी से पूछा कि क्या आस-पास के पर्वतों में कोई सच्चा योगी भी निवास करता है ? रावलजी ने अति शोक के साथ कहा कि इन दिनों इधर कोई ऐसा योगी महात्मा नहीं है। परन्तु मैंने सुना है कि इस मन्दिर के दर्शनार्थ प्रायः योगी-जन आया करते हैं।

वहाँ श्री स्वामी जी ने दृढ़ सङ्कल्प कर लिया कि इस समस्त प्रान्त में और विशेषतः पार्वत्य प्रदेशों में सर्वत्र भ्रमण करके ऐसे महा-पुरुषों का अन्वेषण अवश्यमेव करेंगे। एक दिन सूर्योदय के साथ वे बद्रीनारायण से चल पड़े और पर्वत के पाँव के साथ चलते हुए अलखनन्दा नदी के तट पर जा पहुँचे। नदी के दूसरे पार एक 'मांस' नामक ग्राम था। उसे वे पहले कभी देख चुके थे, इसलिए उस पार न जाकर पूर्वावलम्बित तट के साथ-साथ नदी के ऊपर की ओर जाने लगे। पर्वतों की ऊँची-ऊँची चोटियाँ, सघन-हिममयी चिट्टी चादर ओढ़े स्फटिक की भाँति, ऐसी चमक रही थीं कि देखकर आँखों में चका-चौंध लगता था, अलखनन्दा का जल उसके बहाव में पड़ी हुई शिलाओं से टकराकर चट्टानों से टक्कर खाकर गिरता था, उछलता था, फेन फेंकता था, गरगराता था, गर्जता था और चीत्कार करता हुआ बड़े वेग से नीचे को दौड़ा चला जा रहा था। इस प्रकार श्री स्वामी जी अपने चारों ओर प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य को निहारते हुए नदी के स्रोत की ओर बढ़ रहे थे। मार्ग बड़ा बीहड़ और विषम था। अति कष्ट उठाकर बड़ी कठिनता से वे अन्त को नदी के निर्गम स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि मैं इन स्थानों से अपरिचित हूँ; हिमाच्छादित नालों से, निकलने के मार्गों से और पर्वत-मालाओं के भेदों से अजान हूँ। उन्हें वहाँ सब ओर गगनभेदी गिरिशिखर ही दिखाई दिये और आगे चलने के मार्ग का सर्वथा अभाव ही जान पड़ा। इस अवस्था में थोड़ी देर के लिए वे किंकर्तव्य की चिन्ता में निमग्न हो गये। अन्त में मार्ग-अन्वेषण के निमित्त उन्होंने अलखनन्दा पार करने का निश्चय किया।

स्वामी जी के शरीर पर वस्त्र बहुत ही थोड़े थे। इसलिए हिमप्राय हेम्नी प्रदेश का अति शीतल पवन तन को तीर की तरह आर-पार करने लगा। क्षण-क्षण में बढ़ते हुए शीत का सहन करना एक बार तो उन्हें असम्भव-सा जान पड़ा। प्यास के कारण मुख सूख रहा था; होठ शुष्क हो रहे थे। कण्ठ में कांटे पड़ गये थे और क्षुधा ने भी घोर रूप धारण कर रक्खा था। इन दोनों बाधाओं से बचने के लिए स्वामी जी ने हिम का एक टुकड़ा लेकर चबाया, परन्तु उसने कुछ भी सहारा न दिया। उदर की आग उससे शान्त न हुई। तब वे नदी पार करने में साहस से प्रवृत्त हुए। उस जगह अलखनन्दा कहीं तो बहुत गम्भीर और कहीं एक-दो हाथ गहरी थी। उसका पाट आठ-दस हाथ का था। वह हिम के छोटे-छोटे, तिरछे और नुकीले टुकड़ों से भरी हुई थी। नदी को चीरकर पार करते समय ये नुकीले हिमखण्ड श्री स्वामी जी महाराज के नंगे पाँवों पर बार-बार आघात करते थे। इससे उनके पैरों के तलुए छिल गये, उङ्गलियों में घाव हो गये, और स्थान-स्थान से रक्त बहने लगा। परन्तु अति शीतलता के कारण उनके पाँव ऐसे सन्न हो गये थे कि कितने ही काल तक उन्हें इन बड़े-बढ़े घावों का भान ही न हुआ। इस समय भूमि, आकाश और पवन सभी शीतल हो रहे थे। इन सबने स्वामी-शरीर की स्वाभाविक ऊष्मा को अभिभूत कर लिया था; महाराज की काया पर शून्यता छाई जा रही थी। उनके हृदय पर अचेतनता धीरे-धीरे बढ़ रही थी। यहाँ तक कि वे शून्य अवस्था में मूर्छा खाकर हिममय जल में गिरने को ही थे कि उनके अन्तःकरण में चैतन्य की रेखा चमक उठी, और वे संभल गये। अपने आपको थाम कर महाराज ने विचारा कि यदि एक बार भी मैं यहाँ गिर गया तो फिर न उठ सकूँगा; यहीं सन्न होकर समा जाऊँगा।

वे साहस से सावधान होकर बड़े बल के साथ उस नदी से बाहर निकले और दूसरे तट पर जा पहुंचे। वहाँ पहुँचकर भी उनकी अवस्था कुछ काल पर्यन्त मृततुल्य बनी रही। परन्तु तो भी साहस का अवलम्बन कर उन्होंने अपने तन के उपरि भाग के सारे वस्त्र उतार कर, उनके साथ पाँव से लेकर घुटनों तक का सारा भाग लपेट लिया। उस समय वे चलने में अशक्त, हिलने-जुलने में असमर्थ और व्याकुल-चित्त थे। विगत-शक्ति खड़े-खड़े इस बात की प्रतीक्षा करते थे कि कोई सहायता मिल जाय तो इस संकट-समाकुल स्थान

से निकल कर कहीं आगे चलूँ। ऐसे सुनसान शीत-प्रधान प्रदेश में कोई मनुष्य मिल जायगा यह आशा भी नहीं बँधती थी। वे उस स्थान में निःसन्देह विवश थे, निस्सहाय थे, अजान थे, निराश थे, परन्तु उत्साह-हीन नहीं थे, इसलिए विकसित लोचनों की ज्योति को चारों ओर सञ्चालन कर रहे थे। जैसे घटाटोप से घिरी हुई अमावस्या की महाकाली रात्रि में अकस्मात् बिजली की रेखा दौड़ जाय, ठीक वैसे ही स्वामीजी को दो पहाड़ी पुरुष सामने से आते दिखाई दिये। उन आगन्तुक भद्र जनों ने एक परमहंस को दुःखाकुल दशा में पड़ा देख पहिले तो नमस्कार किया और फिर समादरपूर्वक निवेदन किया कि महाराज ! आइए हमारे सङ्ग हमारे घर चलिए। आप शीत से ताड़ित और भूख-प्यास से व्यथित हैं। हमारे गृह पर आपको पूर्ण सुख और पुष्कल भोजन मिल जायगा। स्वामी जी की क्लेश-कहानी को सुनकर उन पहाड़ियों ने कहा कि आप चिन्ता न करें; हम आपको 'सिद्धपत' तीर्थ-स्थान तक भी पहुँचा देंगे। स्वामी जी चलने में असमर्थ थे, इसलिए उन्होंने उनका कथन स्वीकार नहीं किया और कहा, "महाराज खेद है मैं आपकी इस कृपापूर्ण सहायता को स्वीकार नहीं करता; क्योंकि मुझमें चलने की किञ्चित् भी शक्ति नहीं है।" उन भद्र गृहस्थों ने फिर भी भक्ति भाव से आग्रह और अनुरोध किया कि हमारे साथ अवश्य पधारिये परन्तु स्वामी जी यह कहकर कि इस समय मैं हिलने-जुलने की अपेक्षा यहाँ मर जाना ही उत्तम समझता हूँ मौन हो गए; फिर उनके कथन पर उन्होंने कर्णपात नहीं किया। अन्त को वे पहाड़ी मनुष्य अति खेद के साथ वहाँ से चल पड़े और किञ्चित् काल ही में पर्वत के टीलों और उतराई की ओट में स्वामी जी की दृष्टि से ओझल हो गए।

चिरकाल तक वहीं विश्राम लेने से स्वामी जी का शरीर स्वस्थ और उनका चित्त शान्त हो गया। उसी समय चलकर वे 'वसुधारा' तीर्थ-स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ थोड़ी देर विश्राम लेने के अनन्तर फिर चल पड़े और 'मग्रम' के समीपवर्ती प्रदेशों से होते हुए रात के आठ बजे बद्रीनारायण में जा बिराजे। उनकी देह की दशा को देखकर रावलजी तथा उनके सङ्गी-साथी सब घबरा गये। विस्मित होकर उन्होंने पूछा—"आप आज सारा दिन कहां रहे ? आपकी अवस्था ऐसी क्यों हो रही है ?" उस समय स्वामी जी ने उन्हें अपनी सिद्धों के दर्शनार्थ की गई संकट-संकुल यात्रा आद्योपान्त कह

सुनाई । रावलजी आदि ने स्वामी जी को कुछ भोज्य पदार्थ दिए । उनको खाते हुए उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि अशक्त शरीर में अब शक्ति का सञ्चार हो रहा है, निकला हुआ सामर्थ्य फिर प्रवेश कर रहा है । स्वामी जी फिर सुखपूर्वक रातभर सोते रहे । दूसरे दिन सवेरे ही शीघ्र उठकर रावलजी से प्रस्थान निमित्त आज्ञा माँगी । सम्मानपूर्वक एक दूसरे से मिलकर स्वामी जी महाराज ने वहाँ से प्रस्थान किया और रामपुर को चल पड़े । चलते-चलते उसी सायं को एक योगी के स्थान पर आ निकले । वह महात्मा बड़ा तपस्वी था । तत्कालीन ऋषियों और साधु-सन्तों उच्चकोटि का ऋषि होने का गौरव रखता था । स्वामी जी महाराज ने ऐसे महापुरुष के पास ही रात्रि विश्राम लेना उचित समझा । योगीराज जी के साथ स्वामीजी धार्मिक विषयों पर बहुत देर तक वार्त्तालाप करते रहे । वहाँ स्वामी जी ने अपने सङ्कल्पों को पहिले से भी अधिक दृढ़ कर लिया । प्रातःकाल उठते ही यात्रा आरम्भ कर दी । मार्ग में कई वनों और पर्वतों को उल्लङ्घन करते चिलका घाटी उतरकर रामपुर आ गए । इस नगर में सदाचार और आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रसिद्ध रामगिरि नाम के एक महात्मा निवास करते थे । श्री स्वामी जी ने उन्हीं के पास अपना आसन लगाया । उन्होंने उस पुरुष की प्रकृति में यह विचित्रता देखी कि वह सारी रात जागता रहता और ऊँचे-ऊँचे बातें करने लग जाता था । कभी चिल्लाने लगता था और कभी ऊँची ध्वनि से रोदन करता हुआ जान पड़ता था । स्वामी जी जब कौतूहलवश उठकर देखने गए तो उन्हें वहां उसके बिना अन्य कोई भी दृष्टिगोचर न हुआ । अत्यन्त विस्मित होकर उन्होंने उस महात्मा के चेलों से पूछा कि रात को यह क्या कौतुक होता है ? वे बोले—"गुरुजी महाराज की ऐसा करने की प्रकृति ही है ।" परन्तु स्वामी जी इतने उत्तर से कब सन्तुष्ट होने वाले थे । अन्त में उन्होंने महात्माजी से जा पूछा, और कई बार एकान्त में चर्चा की, तब स्वामी जी को सारा भेद ज्ञात हो गया । स्वामीजी ने यह सार निकाला कि यह पूर्ण योगी नहीं है, प्रत्युत अभी अधूरा ही है । हाँ, इसकी योग में गति अवश्य है । इसे योग के पूरे फल अभी प्राप्त नहीं हुए । परन्तु जिस वस्तु को मैं प्राप्त करना चाहता हूँ वह इसके पास नहीं है ।

: ६ :

नर्मदा नदी की सङ्कट-संकुल यात्रा

कालान्तर में रामपुर से चलकर श्री स्वामी जी काशीपुर होते हुए 'द्रोणासागर' में आये और उन्होंने सारा शरदृऋतु यहीं बिताया। द्रोणासागर में निवास करते समय एक बार उनके हृदय में यह विचार स्फुरित हुआ कि हिमालय के हिममय भाग में जाकर देहत्याग देना चाहिए। परन्तु तुरन्त दूसरे विचार उत्पन्न हो आये कि अभी ज्ञान-संचय करना उचित है। शरीर त्यागना हो तो पूर्ण ज्ञानी होकर त्यागना चाहिए। भगीरथ के प्रयत्न से प्रेरित जैसे गङ्गाजी का पवित्र प्रवाह, हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरों को त्यागकर, नीचे समभूमि की ओर बहने लगा था वैसे ही ज्ञान-सञ्चय के विचारों से सञ्चालित, योगाभ्यास से विमलात्मा स्वामी दयानन्दजी हिमालय में समाधि ले लेने के विचार को त्यागकर, पार्वत्य प्रान्त को छोड़कर, समभूमि पर विचरते हुए किसी ज्ञानी गुरु के अन्वेषण में प्रवृत्त हुए।

द्रोणासागर से स्वामी जी मुरादाबाद आये। वहाँ से सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर में होते हुए गङ्गा तट पर आ पहुँचे। उस समय उनके पास कई धर्म्मपुस्तकों के अतिरिक्त शिव-सन्ध्या, हठ योग प्रदीपिका, योगबीज और केशराणीसङ्गति नामक पुस्तकें भी थीं। उनमें से कई पुस्तकों में नाड़ीचक्र का बड़ा विस्तृत वर्णन था। यह श्रान्त करने वाला विषय न तो कभी पूर्ण रीति से स्वामी जी की बुद्धि में समाया और न ही वे उसे ध्यानपूर्वक स्मरण ही कर सके। उसकी सत्यता में उन्हें सदैव सन्देह रहा करता था। यहाँ तक, उन्होंने साधारण साधनों से उस संशय को निवारण करने का यत्न भी किया। पर यह संशय निवृत्त होने के स्थान में दिनों-दिन बढ़ता ही गया। गङ्गा-तट पर विचरते हुए दैवयोग से एक दिन उन्होंने जल में एक शव बहता देखा। शव को देखते ही वे मन-ही-मन विचारने लगे कि नाड़ी-चक्र के विषय में जो संशय सदा बना रहता है आज इस शव द्वारा परीक्षा करके उसे मिटा लेना चाहिए। मनमें यह आते ही उन्होंने पुस्तकों को नदी-तट पर रख दिया, वस्त्र सम्भालकर गङ्गा-प्रवाह में कूद पड़े और तुरन्त ही बहते हुए शव को पकड़ कर किनारे पर ले आए। अपने उपकरणों में से एक तीक्ष्ण चाकू निकाल कर लगे शव

को चीरने। सावधानी से चीरकर प्रथम हृदय निकाला। उसकी आकृति को, स्वरूप को, और लम्बाई-चौड़ाई को पुस्तक-लिखित वर्णन के साथ देर तक मिलाते रहे। इसी प्रकार सिर, ग्रीवा आदि अङ्गों की भी तुलना की। नाभि आदि चक्रों का भी परीक्षण किया। परन्तु उन पुस्तकों में वर्णित चक्रों और अङ्गों को उन्होंने वास्तविक चक्रों और अङ्गों से लवलेश मात्र भी मेल खाते न देखा। उस परीक्षण से स्वामी जी को पूर्ण निश्चय हो गया कि इन पुस्तकों के ऐसे लेख, सब काल्पनिक हैं। इससे उन्होंने उन पुस्तकों को तुरन्त ही फाड़कर खण्ड-खण्ड कर डाला और शव के साथ ही गङ्गा के प्रवाह में बहा दिया। उसी समय से विचारते हुए वे इस परिणाम पर पहुँचे कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल और सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त शेष समस्त पुस्तकें, जो विज्ञान और योग पर लिखी गई हैं, मिथ्या और अशुद्ध हैं।

ऐसे ही गङ्गा के साथ-साथ चलते हुए संवत् १९१२ की समाप्ति पर स्वामीजी फर्रुखाबाद गये। वहाँ से शृङ्गीरामपुर होते हुए छावनी से पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर की ओर प्रस्थान किया। संवत् १९१३ में पाँच मास तक स्वामीजी कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों में विचरते रहे। भाद्रपद के प्रारम्भ में गङ्गा के तीर पर विचरते हुए मिर्जापुर में जाकर एक मास से कुछ अधिक समय तक विन्ध्याचल अशोलजी के मन्दिर में जा बिराजे। आश्विन मास के आरम्भ में काशी आये। वहाँ वरुणा और गङ्गा के संगम के पास ही एक गुफा में जाकर टिके। उस गुफा पर उस समय भावानन्द सरस्वती का अधिकार था। काशी में रहते हुए स्वामी जी का परिचय काकाराम, राजाराम, इत्यादि अनेक शास्त्रियों से हो गया। इस बार आप केवल बारह दिन ही काशी में रहे।

महाराज काशी से चलकर आश्विन सुदी २, संवत् १९१३ को चण्डालगढ़ में दुर्गाकुण्ड के मन्दिर में दस दिन तक रहे। वहाँ चावल खाना सर्वथा परित्याग कर दिया। केवल दूध पर ही निर्वाह करके रात दिन योग-विद्या के अध्ययन और अभ्यास में परायण रहते थे। हिमालय में विचरने वाले और गङ्गा-तीर पर अटन करने वाले अच्छे-अच्छे साधुओं में भी प्रायः यह दोष पाया जाता है कि पानी-लाग से बचने के लिए वे भाँग का सेवन करने लग जाते हैं। इस प्रदेश में आया हुआ कोई नवीन साधु उन्हें मिल जाय तो उसे भी जल-दोष

से बचे रहने की औषधि विजया ही बताते हैं। इस प्रकार संगति-दोष से विजया-सेवन के संस्कार साधुओं में अतीव प्रबल हैं। इस व्यापक संस्कार के प्रभाव से परमहंस स्वामी दयानन्दजी भी न बचे ! जब वे चण्डालगढ़ में थे तो यह संसर्ग-जन्य दोष उनमें लगा हुआ था। कई बार भाँग के प्रभाव से वे अचेत हो जाया करते थे।

एक दिन का वर्णन है कि स्वामी जी चण्डालगढ़ से निकल कर उसके निकटवर्ती एक ग्राम को चल पड़े। मार्ग में उन्हें एक पुराना साथी मिला। उससे शिष्टाचार आदि करके गाँव के दूसरी ओर एक शिवालय में रात्रि को विश्राम लेने लगे। जब, वे भाँग की मादकता में, बेसुध सो रहे थे तो उन्होंने स्वप्न-लीला में देखा कि, महादेव और पार्वती दोनों उनके समीप खड़े परस्पर बातें कर रहे हैं। गौरी ने शङ्कर से कहा कि महाराज, अच्छा हो यदि दयानन्द सरस्वती का विवाह हो जाय परन्तु शिवजी भाँग का संकेत करके अपनी सम्मति पार्वती के प्रस्ताव के विरुद्ध देते थे। इतने में ही स्वामी जी की तंद्रा टूट गई। स्वप्न को स्मरण कर उन्हें बहुत दुःख और क्लेश हुआ। उस समय आकाश मेघावृत था। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। स्वामी जी मन्दिर के भीतर से निकल कर बराण्डे में आये। वहाँ नन्दी वृषभ की एक विशाल मूर्त्ति स्थापित थी। उन्होंने अपने पुस्तकादि उपकरण वृषभ देवता की पीठ पर रख दिये, और आप उसके पीछे बैठ विचार में निमग्न हो गये। विचारते हुए उनकी दृष्टि अचानक मूर्त्ति के भीतर जा पड़ी। उन्हें वहाँ कोई मनुष्य छिपा बैठा दिखाई दिया। कौतूहलवश, स्वामी जी ने ज्योंही उसकी ओर हाथ पसारा वह अति भयभीत होकर कांप उठा और तत्काल छलाङ्ग मारकर, एकदम ग्राम की ओर भाग गया। उसके पश्चात् उस नन्दी वृषभ के भीतर प्रवेश कर स्वामी जी सुख से सो रहे। प्रातःकाल होने पर वहाँ एक वृद्धा स्त्री आई और उसने आकर उस वृषभ देवता का पूजन किया। स्वामी जी वहीं तन्द्रा में बैठे यह दृश्य देखते थे। वह स्त्री पूजा करके चली गई, परन्तु स्वल्प समय में ही कुछ गुड़ और दही लेकर फिर लौट आई। उस भोली ने स्वामी जी को मूर्त्ति का अभिमानी देवता समझ लिया। इसलिए उसने उनका भी अर्चन किया और भक्ति-भावना से दही-गुड़ का नैवेद्य उनको निवेदन किया। साथ ही कहा—"हे नन्दी वृषदेव ! आप इस मेरी भेंट को ग्रहण

कीजिए और दयालु होकर इसमें से कुछ भोग लगाइये।" स्वामी जी को भी इस समय भूख बहुत सता रही थी। उन्होंने सारा नैवेद्य खा लिया। दही बहुत ही खट्टा था। उनकी भाँग की मादकता को तुरन्त उतारने में एक औषधि बन गया। भाँग का प्रभाव दूर होने पर उन्हें आराम प्रतीत हुआ।

चैत्र १९१४ में वहां से आगे चलकर स्वामी जी महाराज ने नर्मदा नदी का स्रोत देखने की लालसा से यात्रा आरम्भ की। पहाड़ी मार्ग बड़ा बिखड़ा था। चलते हुए वे किसी से भी मार्ग न पूछते थे। दक्षिणाभिमुख चुपचाप चलते चले जाते थे। इस प्रकार चलते हुए मार्ग में एक विस्तृत घना जङ्गल आ गया। उन्हें वह वन जन-संचार-शून्य जान पड़ा, परन्तु विशेष देखने से सुदूर झाड़ियों में अनियमित रूप से कुछ मलिन झोंपड़ियाँ दिखाई पड़ीं। स्वामी जी उस समय क्षुत्पिपासा से पीड़ित थे, इसलिए वे एक झोंपड़ी में गये और उसके अधिपति से मांगकर कुछ दूध ग्रहण किया। वहाँ से आगे चलकर कोई पौन कोस पहुँचने पाये थे कि मार्ग का लोप दिखाई दिया। हाँ, छोटी-छोटी पग-डंडियाँ, जो वास्तव में भेड़-बकरियों के आने-जाने से ऐसे वनों में बन जाया करती हैं, चारों ओर फैली हुई थीं। उन्होंने उनमें से एक को चुन लिया और चल पड़े। थोड़ी दूर जाकर ही वे एक निविड़ वन में जा फँसे। इस वन में वेरी के बहुत से वृक्ष थे। घास अति घनी और लम्बी थी। ऐसे स्थान में ऐसी पदपंक्तियाँ भी प्रलुप्त हो गई थीं। स्वामी जी थोड़े समय के लिए वहाँ ठहर कर यह सोचते ही थे कि किस ओर से आगे बढ़ें; इतने में अचानक एक काला रीछ बड़े वेग से दौड़ता चला आता सामने दिखाई दिया। वह हिंसक पशु चिंघाड़ता हुआ अपने पिछले पाँव पर खड़ा हो गया और मुँह खोलकर उनको खाने के लिए आगे की ओर लपका। स्वामी जी महाराज कुछ क्षण तो आश्चर्यचकित, निष्क्रिय होकर खड़े रहे, परन्तु जब अन्त में देखा कि वह पशु उन्हें कुचलने ही लगा है तो अपना सोटा उन्होंने रीछ की ओर बढ़ाया। वह पशु स्वामी-दण्ड को देखकर वहाँ से उलटे पाँव भाग गया। उस भालू का चिङ्घाड़ना सुनकर जिन झोपड़ियों में स्वामी जी ने दुग्ध ग्रहण किया था वहाँ के लोग शिकारी कुत्ते लेकर घटना-स्थल पर आ गये। वे परमहंस जी को सुरक्षित देख प्रसन्न हुए और बोले—"महाराज, इस जङ्गल में यदि और थोड़ा भी आगे बढ़ोगे तो आपको घोर संकटों के सम्मुख होना

पड़ेगा। इस पर्वत में इस सघन वन में बड़े-बड़े विकट बनैले पशु वास करते हैं। यहाँ आपको सिंह, आदि अति क्रूर और भयङ्कर जीव अवश्यमेव मिलेंगे। कृपा करके आप हमारे साथ हमारे गांव में पीछे चले चलिये। हम आपकी सेवा-शुश्रूषा करेंगे।

स्वामी जी ने उन वनवासी हितेच्छुओं के वचन आदर से सुने और फिर कृतज्ञता के साथ कहा, "आप मेरे लिए चिन्ता न कीजिए। मेरे कुशल-मङ्गल का भय छोड़ दीजिए। क्योंकि मैं सकुशल और सुरक्षित हूँ।" स्वामीजी महाराज ने नर्मदा का स्रोत देखने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। वे जानते थे कि मार्ग में भीषण प्रकृति के हिंस्र जन्तुओं से पूर्ण, भयावने वन आयेंगे। इसलिये, पहिले उन्होंने अपने हृदय से समस्त भय निकाल दिये और फिर वे स्रोत-दर्शन की कामना से चले। ग्रामीण भक्तों ने देखा कि भय की बातों से श्री परमहंस जी का हृदय यत्किंचित् भी डांवाडोल नहीं हुआ और वे अपने विचार में पक्के हैं तो उन्होंने स्वामी जी को एक ऐसा लट्ठ दिया जो उनके अपने सोटे से मोटा और लम्बा था। फिर स्वामीजी के धैर्य्य को धन्य कहते हुए वे लौट गये।

धृति धर्म का मूल है, है जीवन का सार,
की जिसने धारण धृति, तिन पाये फल चार।
ध्रुवता धरणी पै धरें, पाँव निश्चय के जो,
उनको बाधक कार्य में, भय संकट न हो।

स्वामी जी ने ग्रामीणों का दिया हुआ लठ्ठ वहीं फेंक दिया और अति साहस से आगे बढ़ने लगे। उस दिन मार्ग में उन्हें बड़ी-बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। चलते-चलते सायंकाल हो गया, पर दूर-दूर तक मानव बस्ती का कोई चिह्न दिखाई न देता था, न ही मार्ग में आता जाता कोई मनुष्य ही मिलता था। चारों ओर सघन वन था जिसमें स्थान-स्थान पर मत्त हस्तियों के उखाड़े हुए ऊँचे-ऊँचे पेड़ भूतल-शायी हो रहे थे। सर्वत्र सुनसान और सन्नाटा था, परन्तु स्वामी दयानन्द का हृदय निष्कम्प, चित्त निश्चिन्त, बुद्धि स्थिर और मन क्षोभ रहित था। इस विकट विस्तीर्ण वन को पार करते हुए श्रीस्वामी जी को बड़ा कष्ट सहन करना पड़ा। प्रथम तो उस वन में प्रवेश करते ही छोटी-छोटी कण्टकाकीर्ण अविरल झाड़ियों ने उनके तन को छलनी

बनाना आरम्भ कर दिया। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते थे उनके शरीर के वस्त्र पग-पग पर काँटों में फँसकर, झाड़ियों में अटक कर, और शाखाओं में उलझ कर उन्हें पीछे को खींचते थे। इस बंधन से बचने के लिए उन्हें अपने वस्त्रों को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देना पड़ा। पर क्या इतने से ही विपत्ति की समाप्ति हो गई ? तीक्ष्ण कांटों से लदी हुई घनी झाड़ियों की डालियों और छोटी-छोटी टहनियों ने परस्पर ओत-प्रोत होकर, किसी के लिए निकलने का मार्ग न छोड़ा था। स्वामी जी को थोड़ी देर तक तो वह वन-दुर्ग उल्लंघन करना दुस्तर दीखने लगा। उस समय वे मानों कांटों के कोट में से लाँघ रहे थे। सीधे खड़े-खड़े चलना वहाँ असम्भव था। टेढ़े होकर आगे बढ़ना भी महा दुष्कर था। ऐसे स्थानों में स्वामीजी घुटनों के सहारे सरक कर और पेट के बल रेंगकर आगे निकले। अनेक बार उनके पांव पर आघात हुए, तलुवे लहू से लाल हो गये, देह अगणित काँटों के चुभने से रक्त-स्राव करने लगी, तन पर से कहीं-कहीं मांस की बोटियां उड़ गईं, परन्तु धुन के धनी स्वामी दयानन्द जी सकल विघ्न-बाधाओं को अपने साहस से पार करके अन्त को उस वन-दुर्ग पर विजयी हुए। जब वे वन से बाहर आये तो बहुत घायल थे और उनकी अवस्था अधमुई सी हो रही थी।

उस समय सर्वत्र अन्धकार छा रहा था। दृष्टि पसारने पर कुछ भी दृष्टिगोचर न होता था। यहां भी मार्ग कहीं प्रतीत न होता था, पर स्वामीजी थे कि इतने कष्ट पाने पर भी उत्साह-हीन नहीं हुए। उन्होंने अपनी अग्रगति को बन्द नहीं किया। वे इस अन्धकारपूर्ण रात्रि में इस आशा से चले जा रहे थे कि कहीं तो मार्ग मिल ही जायगा। आगे जाकर ऐसे भयानक प्रदेश में पहुँचे, जहाँ, चारों ओर पर्वत और टीले ही दृष्टिगत होते थे। वह स्थान वनस्पति से ढका हुआ था। परन्तु उन्हें वहाँ मानव-निवास के कुछ चिह्न प्रतीत होने लगे। ज्यों ही, कुछ आगे गये तो टिमटमाते हुए दीपक दिखाई पड़े। ये दीपक मानों आने वाले पथिक को वहाँ पहुंच जाने की बधाई देते हुए उसका स्वागत कर रहे थे। समीप जाने पर स्वामीजी को गोबर के ढेर से घिरी हुई कुछ झोंपड़ियाँ दिखाई दीं। उन कुटियों से थोड़ी दूरी पर स्वच्छ जल की एक धारा बह रही थी। उस जल-धारा के तट पर बकरियों का एक रेवड़ चर्वन कर रहा था। वहीं एक विशाल वृक्ष के नीचे स्वामीजी ने विश्राम

के लिए स्थान बनाया। यह वृक्षराज खुली भूमि पर शाखाओं का एक चँदुआसा ताने था। इसके नीचे एक कुटिया भी थी।

उस समय स्वामी जी अपने घावों पर विशेष ध्यान न देकर निद्रादेवी की गोद में चले गये। सवेरे उठने पर शौचादि से निवृत्त होकर उन्होंने नदी-जल से अपने घावों को धोया। हाथ-पाँव प्रक्षालन किये। दण्ड को भी जल से साफ कर लिया। तत्पश्चात् सन्ध्योपासना में बैठा ही चाहते थे कि उन्हें एक घोर गर्जन सुनाई दिया। इसे उन्होंने किसी जंगली पशु की ध्वनि समझा। परन्तु थोड़ी देर में वे क्या देखते हैं कि एक टमटम चली आ रही है। वे समझ गये कि यह उच्च गर्जना इस गाड़ी की ही थी। कुछ काल के अनन्तर स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओं का एक समूह उन झोपड़ियों में से बाहर निकला। उनके साथ बहुत सी गायें और बकरियाँ थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि वे लोग किसी धार्मिक त्योहार की रीति का पालन करने के लिए गत रात्रि को वहां आये थे। जब उस जन-समूह ने नदी तीर पर एक परमहंस को बैठे देखा तो वे उनके समीप आये। उन्होंने आकार आदि से यह भी समझ लिया कि यह सन्त इस प्रान्त के नहीं और इन स्थानों से अपरिचित हैं। उन्होंने आदर आदि प्रदर्शन करके स्वामीजी के इर्द-गिर्द घेरा डाल लिया। अन्त में एक वृद्ध ने पूछा—"महाराज ! आप कहां से पधारे हैं ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—'मैं काशी से आया हूँ और नर्मदा नदी का स्रोत देखने के लिए जा रहा हूँ।" तत्पश्चात् स्वामी जी उपासना में निमग्न हो गये और वे लोग भी वहां से चले गये। आध घण्टे के पश्चात् उस जन-मण्डली का प्रधान पुरुष दो पर्वतीय मनुष्यों को साथ ले स्वामीजी के पास आया और एक ओर बैठकर उसने स्वामीजी से अपनी झोपड़ियों में पधारने की प्रार्थना की। पहले आने वाले लोगों की ओर से वह वास्तव में एक प्रतिनिधि होकर आया था, परन्तु स्वामीजी ने यह जानकर कि ये सब लोग मूर्त्ति-पूजा-परायण हैं, उसका कुटियों में जाने का निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। उस प्रधान पुरुष ने अपने साथियों को अग्नि-प्रज्वालन का आदेश देकर कहा कि तुम दोनों यहाँ ही रहो और रात्रि भर जागते हुए सावधानी से परमहंसजी की रक्षा करो। तत्पश्चात् उस श्रद्धालु भक्त ने हाथ जोड़कर स्वामीजी से भोजन के लिए प्रार्थना की, स्वामी जीने उत्तर दिया कि मैं आजकल अन्न ग्रहण नहीं

करता किन्तु कुछ दूध ही पर निर्वाह किया करता हूँ। यह सुनकर उस सदय-हृदय मुखिया पुरुष ने स्वामीजी से उनका तूंबा माँग लिया। वह उसे लेकर कुटिया की ओर चला आया। फिर, थोड़ी देर पीछे दुग्ध से आकण्ठ पूर्ण तूंबा लेकर स्वामी-सेवा में उपस्थित हुआ। स्वामीजी ने उसमें से कुछ दूध ग्रहण कर लिया। वह प्रधान पुरुष परमहंसजी को नमस्कार आदि से पूजन करके जब स्वस्थान को जाने लगा तो उसने फिर उन दोनों पुरुषों को सचेत किया कि सारी रात जागते हुए परमहंसजी का रक्षण करना। उस मुख्य व्यक्ति के चले जाने के पश्चात् स्वामीजी उसी स्थान पर विराजते रहे। रात होने पर वहीं सो गये। पिछले दिन के परिश्रम से उनका सारा शरीर श्रान्त था, इस-लिए, उस रात उन्हें ऐसी गाढ़ निद्रा आई कि सूर्योदय के साथ ही जागे। संध्योपासनादि से अवकाश पाकर स्वामीजी ने फिर यात्रा आरम्भ कर दी। इसी प्रकार तीन वर्ष पर्यन्त श्री परमहंसजी नर्मदा तीर पर पर्यटन करते रहे। इस अन्तर में उन्हें अनेक सन्त-महात्माओं के सत्संग प्राप्त हुए। उन्होंने अपने अन्तःकरण के सुवर्ण को, सन्तों के सत्संग और तपस्या की आग में तप्त करके, मल विक्षेप-आवरण रूप तीनों दोषों से विमुक्त, कुन्दन बना लिया। उस समय उनका आत्मा अभ्यास की ऊपरी पौड़ियों पर पदार्पण कर रहा था। इतने में, वे स्वामी श्री विरजानन्द जी का विमल यश श्रवण कर, विशेष ज्ञान की जिज्ञासा से मथुरा आ पहुँचे।

: ७ :

व्याकरण-सूर्य दण्डी विरजानन्द : एक परिचय

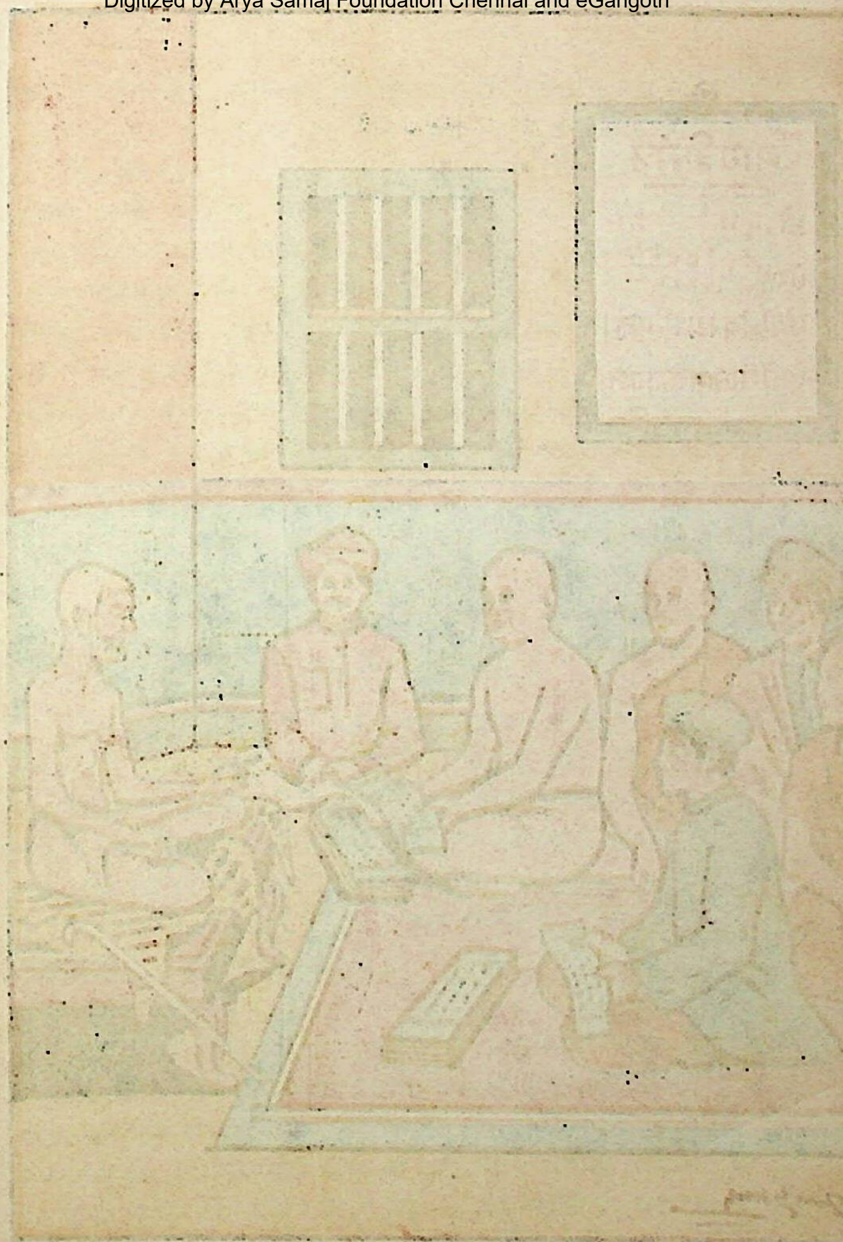
स्वामी श्रीविरजानन्द जी का जन्म-स्थान पञ्जाब प्रान्त के अन्तर्गत कर्तारपुर के समीपवर्ती कोई ग्राम विशेष था। कहते हैं कि उनका जन्म ग्राम कपूरथले के पास से बहने वाली बेईं नामक नदी के तीर पर है। वे शारद शाखा के सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका गोत्र भारद्वाज था। उनके पिता का नाम नारायणदत्त था। जब विरजानन्द जी पाँच वर्ष के थे तो उन पर शीतला रोग का घोर आक्रमण हुआ। जीवन तो उनका बचा रहा, परन्तु वे इस रोग से चक्षुहीन हो गये। वे अभी ग्यारह वर्ष के ही थे कि उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। मातृ-पितृ विहीन, छोटे अन्धे भाई को बड़े भाई ने अनेक

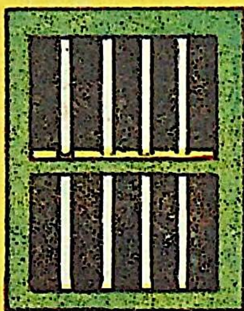
प्रकार से दुःख देना आरम्भ कर दिया। विरजानन्द, स्वबन्धुओं के सताने से घर छोड़ने पर विवश हुए। घर से चलकर वे हृषीकेश में आए। यह स्थान हिमालय के एक भाग से आवृत है। यहाँ वे अधिक काल गङ्गा-जल में बैठकर गायत्री जप में लगाया करते थे। इस प्रकार उनका एक वर्ष बीता। एक दिन स्वप्न में उन्होंने श्रवण किया—"विरजानन्द ! तुम अब यहाँ से चले जाओ। जो कुछ तुम्हारा होना था सो हो गया।" वे इसे देववाणी समझकर वहाँ से कनखल चले आये। वहाँ वे पूर्णानन्द स्वामी से षड्लिङ्गादि व्याकरण के भाग पढ़ते रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि, विरजानन्द जी ने गृह-परित्याग के अनन्तर ही परमहंस वृत्ति धारण कर ली थी।

कनखल में अध्ययन समाप्त कर वे प्रयाग आदि तीर्थ स्थानों के पर्यटन में प्रवृत्त हो गये। एक दिन का वर्णन है कि सोरों में गंगा-स्नान करके विरजानन्द जी विष्णुस्तोत्र की आवृत्ति कर रहे थे। उस समय अलवर के राजा विनयसिंह जी वहाँ विद्यमान थे। वे स्तोत्र के उच्चारण और विरजानन्द के मधुर स्वर को सुनकर अतिशय प्रसन्न हुए। वार्त्तालाप में उनकी चमत्कारिणी प्रतिभा का परिचय पाकर राजा आश्चर्यमय हो गये। उन्होंने विरजानन्द जी से अपने साथ चलने के लिए अनुरोध किया। अति आग्रह से विवश होकर विरजानन्द जी ने कहा कि यदि हमसे तुम प्रतिदिन पढ़ा करो तो मैं तुम्हारे साथ चल सकता हूँ, नहीं तो व्यर्थ कालक्षेप करने के लिए नहीं चलूँगा। अलवर नरेश ने अध्यमन करने की प्रबल इच्छा प्रकट की और उन्हें अपने साथ अलवर लिवा ले गये। अलवर स्थान में खान-पान का पूर्ण प्रबन्ध राज्य की ओर से हो गया। ऊपर के फुटकल व्यय के लिए दो रुपये दैनिक मिलने लगे। महाराज विनयसिंह जी नित्यप्रति तीन घण्टे उनसे अध्ययन करते। जब कभी कोई राज्य-सम्बन्धी विशेष विषय उपस्थित होता तो महाराजा स्वामीजी से भी परामर्श लिया करते। स्वामी विरजानन्द जी, प्रतिदिन राज-प्रासाद में ही नियत समय पर जाकर महाराज को पढ़ाया करते थे। एक दिन स्वामीजी तो समय पर राजप्रासाद में पढ़ाने के लिए चले गए, परन्तु अलवर-अधिपति उपस्थित न हो सके। कहते हैं कि वे, उस समय वाराङ्गनाओं के नृत्य-गायन में कालक्षेप कर रहे थे। स्वामी जी स्वस्थान पर लौट आये, परन्तु इतने विरक्त हो गये कि अपने ग्रन्थादि सभी उपकरण वहीं छोड़कर

सोरों में आ विराजे। वहाँ थोड़े दिन ठहरकर मथुरा के समीपस्थ मुरसान के राजा के पास जाकर रहने लगे। राजा बलवन्त सिंह जी के आग्रह से मुरसान से भरतपुर चले गये। वहाँ छः मास यापन करके फिर सोरों में चले आये। इसके पश्चात् विरजानन्द जी ने अपना स्थान मथुरा में नियत किया।

रेलवे स्टेशन से यमुना के विश्राम घाट तक जो राज-पथ जाता है उसी राजमार्ग की एक ओर एक छोटी सी अट्टालिका में विरजानन्द जी विराजा करते थे। यह छोटा सा स्थान उनकी पाठशाला का भी काम देता था। उनके आहार के प्रबन्ध के लिए अलवर के महाराजा विनयसिंह जी सहायता देते थे और कभी-कभी जयपुर के महाराजा रामसिंह जी भी। इनके अतिरिक्त मथुरा में आने वाले अनेक धनी लोग उनके विद्यालय से प्रेरित होकर स्वेच्छा से द्रव्यादि प्रदान कर जाया करते थे। विरजानन्द जी अन्नाहार बहुत कम करते थे। उनका प्रायः दुग्ध पर ही निर्वाह था। रात को बहुत थोड़ी देर के लिए सोते थे। ब्राह्ममुहूर्त में उठ स्नानादि करके प्राणायामपूर्वक ध्यान में निमग्न हो जाते थे। सूर्योदय तक प्रातःकृत्य से निवृत्त हो लेते थे। फिर अध्यापन-कार्य में प्रवृत्त हो मध्याह्न काल तक पढ़ाते रहते थे। उसके पश्चात् कुछ काल विश्राम लेकर फिर पढ़ाने लग जाते थे। चतुर्थ प्रहर तक अध्यापन होता रहता था। विद्यार्थियों को कभी-कभी विशेष शिक्षायें भी दिया करते थे। प्रतिदिन सायं समय स्नानादि करके ध्यानावस्थित हो जाया करते थे। इस शोभन वृत्ति में श्री विरजानन्दजी के पुण्यमय जीवन के दिन बीतते थे। विरजानन्द जी की विचार-शक्ति अतिशय प्रबल थी। वे विषय की तह में तुरन्त पहुँच जाते थे। वे अपनी असाधारण बुद्धि के कारण विख्यात हो गये थे। स्मरण-शक्ति और धारणा-शक्ति का तो कहना ही क्या है? यदि कोई नवीन श्लोक दो-एक बार भी उनके श्रुतिगोचर हो जाता तो वे, उसे इतने में ही स्मरण कर लेते, और फिर वह उनके स्मृति-पथ से कभी उतरने न पाता था। जो कुछ वे सुनते थे उनके मस्तिष्क में वह अङ्कित सा हो जाता। ऐसी स्मृति ईश्वर ही की देन समझनी चाहिए। इस अद्भुत स्मृति के कारण अनेक ग्रन्थ उन्हें कण्ठाग्र थे। काशी आदि नगरों की पण्डित-मडली में उनका पाण्डित्य प्रख्यात था। जो भी शास्त्रीय विषय विरजानन्द के सम्मुख उठाया जाता था, वे उसका ऐसा उत्तम आलापन करते थे कि विद्वान् जन धन्य-धन्य





गुरु विरजा नन्द के समीप विद्याध्ययन ।

करने लग जाते थे। विरजानन्द एक स्पष्टवक्ता, निष्कपट-स्वभाव, और सरल-वृत्ति साधु थे। वे ज्ञान-ध्यान में निमग्न रहने वाले अभ्यासी और उत्तम कोटि के दण्डी संन्यासी थे। दण्डीजी को अनार्ष ग्रन्थों से अप्रीति हो गई थी। इसलिए उनकी पाठशाला में कौमुदी, मनोरमा, शेखर आदि कोई भी व्याकरण का अनार्ष ग्रन्थ नहीं पढ़ाया जाता था। उनके विद्यार्थी व्याकरण के निघण्टु, निरुक्त, अष्टाध्यायी और महाभाष्य प्रभृति ग्रन्थ पढ़ा करते थे। उन्हें श्रीमद्-भागवत से भी अति घृणा थी। उसके पढ़ने से भी लोगों को रोका करते थे। संक्षेपतः जिस समय स्वामी दयानन्दजी मथुरा में आये उस समय श्रीविरजानन्द जी की प्रतिभा--व्याकरण-विद्या की दीप्ति अद्वितीय समझी जाती थी और वे आर्ष ग्रन्थों के एक प्रबल पक्षपाती तथा प्रचारक थे। दण्डी जी की आयु उस समय इक्यासी वर्ष की थी।

: ८ :

गुरु-शिष्य मिलन

संवत् १९१४ की भारी सैनिक हलचल प्रायः शान्त हो गई थी। अब यत्र-तत्र ही उसकी सुलगती हुई चिनगारियाँ दिखाई देती थीं। शान्ति और समानताका घोषण-नाद भी दिग्दिगन्तरको गुंजायमानकर चुका था किकार्तिक सुदी २ संवत् १९१७ को स्वामी दयानन्द सरस्वती मथुरा में प्रविष्ट हुए, और सीधे दण्डी जी की अट्टालिका पर चढ़कर उसका द्वार खटखटाने लगे। दण्डी जी ने पूछा "कौन है ?" उत्तर मिला— "यही तो जानने की जिज्ञासा है कि मैं कौन हूँ।" "कुछ व्याकरण भी पढ़े हो!" "महाराज ! सारस्वत आदि व्याकरण ग्रन्थ पढ़ा हूँ।"

यह सुनते ही दण्डी जी ने द्वार खोल दिया। स्वामी दयानन्द जी ने भीतर प्रवेश करके अतिशय सम्मान से विरजानन्द जी को नमस्कार किया। वे निर्देश पाकर बड़े विनीत भाव से उनके समीप बैठ गये। विरजानन्द जी ने आगन्तुक से परीक्षा की रीति पर पहले थोड़ा सा कुछ पूछा। स्वामी दयानन्द जी के उत्तरों को सुनकर विरजानन्द जी ने कहा—"दयानन्दजी ! अब तक जो कुछ

तुमने अध्ययन किया है उसका अधिक भाग अनार्ष ग्रन्थ हैं। ऋषि-शैली बड़ी सरल और सुन्दर है परन्तु लोग उसका अवलम्बन नहीं करते। जब तक तुम अनार्ष पद्धति का परित्याग न करोगे तब तक आर्ष ग्रन्थों का महत्त्व और मर्म समझ न सकोगे।" दण्डी जी ने फिर कहा कि आधुनिक अनार्ष ग्रन्थों के रचयिता कैसी प्रकृति के थे इसको सारस्वत नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की कथा से समझ सकते हो। अनुभूतिस्वरूप आचार्य एक दिन विद्वानों के साथ वाद में प्रवृत्त हो रहा था। बुढ़ापे के कारण उसके अगले दांत गिर गये थे। इसलिए वाद-प्रसंग में 'पुंसु' पद के स्थान में उसके मुख से अशुद्ध शब्द 'पुंक्षु' निकल गया। उपस्थित पण्डितों ने 'पुंक्षु' पद पर आक्षेप किया, परन्तु अपनी अशुद्धि स्वीकार करना तो दूर रहा, उसने नूतन ग्रन्थ की रचना करके 'पुंक्षु' पद सिद्ध करने का यत्न किया। यद्यपि उसका यह यत्न सफल नहीं हुआ तो भी अनार्ष ग्रन्थों के कर्त्ताओं की प्रकृति प्रकट करने के लिये यह एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है। यदि तुम मेरे समीप अध्ययन करना चाहते हो तो मनुष्यकृत ग्रन्थों को विस्मरण कर दो। पठन-पाठन में उनसे कोई भी काम न लो। स्वामी दयानन्द जी ने दण्डी जी के इस प्रथम आदेश को प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लिया।

दण्डी जी ने फिर यह भी कहा कि हम संन्यासियों को नहीं पढ़ाया करते। इसका कारण यह है कि उनके भोजन का यहाँ कोई प्रबन्ध नहीं। इसलिए पढ़ना आरम्भ करने के पहले आपको अपने भोजन का प्रबन्ध अवश्य कर लेना चाहिए। निश्चिन्तता प्राप्त किये बिना अध्ययन नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द जी ने इस दूसरे कथन को भी सादर स्वीकार करते हुए कहा—"महाराज! आप पढ़ाना आरम्भ कर दीजिए। भोजन के विषय में निश्चिन्तता मैं थोड़े ही दिनों में लाभ कर लूंगा।"

कहते हैं, दण्डी जी सिद्धान्त कौमुदी के सम्पादक भट्टोजी दीक्षित पर इतने अप्रसन्न थे कि अपने विद्यार्थियों से उसके नाम पर जूते लगवाया करते थे, जिससे उनके मन में उसके लिए प्रतिष्ठा का लेश भी शेष न रह जाय, और वे अष्टाध्यायी का पूरा सम्मान करने लग जायें। इस आज्ञा का पालन पहले स्वामी दयानन्द जी से भी कराया गया और इसके पश्चात् उनका पाठ आरम्भ हुआ। दण्डी जी की प्रेरणा से सारे नगर से चन्दा करके स्वामी दयानन्द जी

के लिए महाभाष्य की एक प्रति ३१) रुपये की मँगवाई गई।

जिस वर्ष स्वामी दयानन्द जी ने मथुरा में अध्ययन आरम्भ किया उस वर्ष देश में घोर दुष्काल पड़ रहा था। उत्तरीय भारत अति पीड़ित था। यद्यपि बहुत सहायता की जाती थी, पर फिर भी सबके पेट की आग न बुझ सकी। सबकी भूख का विषम विषैला कीड़ा न मरा। दुर्दिनदलित सभी दरिद्रों की दुर्भिक्षजनित दारुण वेदना दूर न हुई। सैकड़ों नर-नारी आबाल-वृद्ध भूख के मारे सिर पीट-पीटकर, पाँव पीट-पीटकर, पेट मसोसते हुए मर गये। बड़ा यत्न करने पर भी उस अकाल में दो लाख मनुष्य काल के गाल में जाने से न बच सके। इसके प्रभाव से मथुरा नगरी भी बची हुई न थी। स्वामी जी के वहाँ आने के पश्चात् भी छः मास तक दुर्भिक्ष बना ही रहा। मथुरा-वास के प्रथम दिनों में वे चिरकाल तक चनों पर निर्वाह करके अध्ययन में लगे रहे। कुछ दिनों तक दुर्गाप्रसाद क्षत्रिय ने उनका आतिथ्य किया।

अमरलाल नामक एक आदर्श दानी मथुरा में निवास करते थे। वे बड़े ज्योतिषी थे। महाराजा सिन्धिया उनकी ज्योतिष से इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने अमरलाल जी को कुछ एक ग्राम प्रदान कर दिये थे साथ ही 'ज्योतिषी बाबा' की उपाधि से भी विभूषित किया था। तब से वे अमरलाल जी ज्योतिषी बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके गृह पर प्रायः एक सौ ब्राह्मण प्रतिदिन भोजन पाया करते थे। वे एक आनुष्ठानिक उदीच्यवंशज ब्राह्मण थे। एक दिन अमरलाल जी ने श्री स्वामी जी की कीर्ति सुनकर उनका मिलाप प्राप्त किया। स्वामीजी की अद्भुत प्रतिभा, विलक्षण बुद्धि, दिव्य देह और ब्रह्मचर्य-दीप्ति से चमकते हुए मुख-मण्डल को देखकर वह उनकी ओर आकर्षित हो गये। उन्हें अपना वंशीय जानकर उनकी प्रीति और भी बढ़ी। उन्होंने अति सम्मानपूर्वक स्वामी जी से विनय की कि आप प्रतिदिन हमारे यहाँ ही भोजन ग्रहण किया कीजिए। स्वामी जी ने उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। श्री अमरलाल जी, श्री स्वामी जी के इतने प्रेमी भक्त बन गये थे कि वे नित्यप्रति उन्हें अपने साथ गृह पर ले जाते। प्रथम स्वामी जी को भोजन कराते और फिर पीछे आप किया करते। यदि किसी दिन उन्हें किसी अन्य गृह पर जीमने जाना पड़ता तो प्रथम स्वगृह पर स्वामी जी को जिमाकर उसके पश्चात् जीमने जाते। इस प्रकार, एक भावनावान् भक्त ने स्वामी जी

को भोजन के विषय में सर्वथा निश्चिन्त कर दिया था, उनके आतिथ्य के लिए स्वामीजी ने इन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की थी—"भोजन और ग्रन्थादि के विषय में अमरलाल जी ने जो मुक्त-हस्त से सहायता की उसके लिए मैं उनका अत्यन्त बाधित हूँ।"

स्वामीजी रात को भी पठन-कार्य्य में परायण रहते थे। उनके तेल के व्यय के लिए चार आने मासिक लाला गोवर्धन सराफ दिया करते थे। दूध का प्रबन्ध दो रुपये मासिक के व्यय से हरदेवजी पत्थरवाले ने किया हुआ था।

निवास के विषय में तो स्वामी जी प्रथम दिवस से ही निश्चिन्त थे। विश्रामघाट के ऊपरी भाग में स्थित, लक्ष्मीनारायण के मन्दिर के नीचे की एक छोटी सी कोठरी में, वे रहा करते थे। वह कोठरी, मन्दिर में द्वार प्रवेश करते दाहिने भाग में है। वह इतनी छोटी है कि स्वामी दयानन्द जी महाराज, उसमें अति कठिनता से पाँव पसार कर सो सकते होंगे।

उन दिनों स्वामी जी भाल पर विभूति रमाया करते थे। गले में रुद्राक्ष की एक माला होती थी। सिर पर उपरना बाँधे रखते थे और हाथ में एक लम्बा और मोटा दण्डा हुआ करता था।

वे बहुत सवेरे उठ स्नानादि से निवृत्त हो संध्योपासना में निमग्न हो जाते थे। वे समीप आने वाले ब्राह्मणादिकों और विद्यार्थियों को भी सन्ध्यादि नित्य कर्म्मों का उपदेश देते थे। आगन्तुकों के साथ संस्कृत में वार्त्तालाप किया करतेथे। कण्ठी, तिलक आदि साम्प्रदायिक चिह्नों का खण्डन कियाकरते थे। स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त वे भ्रमण करने दूर तक जाते थे। आसनादि की रीति से व्यायाम भी करते थे। इन सब क्रियाओं को करते हुए भी नियत समय पर अध्ययनार्थ गुरु-सेवा में उपस्थित हो जाने में बड़े नियमबद्ध थे।

: ६ :

आदर्श गुरु-भक्ति

गुरु-भक्ति में भी स्वामी दयानन्दजी ने अपने को एक आदर्श शिष्य सिद्ध किया है। विरजानन्द जी महाराज ब्राह्म मुहूर्त में पुष्कल पानी से स्नान किया

करते थे। परन्तु, स्वामी दयानन्द इतने उद्यमी और परिश्रमी थे कि बड़ी रात रहते उठकर, गुरु-स्नान समय के पूर्व ही, यमुना-जल के कई घड़े अपने कन्धे पर उठा-उठाकर लाते और पर्याप्त जल इकट्ठा कर देते थे। गुरु महाराज के सायं काल के स्नान के लिए भी वे नियमपूर्वक यमुना से जल लाते थे। स्वामी विरजानन्द जी पीते भी यमुना का ही पानी थे। इसलिए, स्वामी दयानन्द जी यमुना के भीतर प्रवेश करके, अति प्रीति से पीने योग्य पानी लाया करते थे। इस बीच में कई बार आँधियाँ आईं, बड़ी वर्षायें हुईं परन्तु स्वामी जी का गुरु-सेवा-समय कभी अतिक्रान्त नहीं हुआ। अबेर-सबेर, अन्धेरा-चाँदना, कीचड़-कर्दम, सब कुछ, समय-समय पर होता रहा पर श्री दयानन्द जी, गुरु-सेवा में घटिका-यन्त्र की सुइयों के सदृश नियमनिष्ठ थे। वे जल के पन्द्रह-बीस घड़े प्रतिदिन लाया करते थे। गुरुजी की आज्ञा का पालन करने में उन्होंने शीत-उष्ण और सुख-दुःख का कभी नाम तक भी नहीं लिया। वे साधु-स्वभाव और सरल-प्रकृति थे। आदेश-पालन, सेवा-शुश्रूषा और चमत्कारिणी प्रतिभा के कारण, श्री दयानन्द गुरुदेव के पूर्ण कृपा-पात्र हो गये थे।

शीत, उष्ण, प्रतिकूलता अरु अनुकूल समान,
मानामान जो नहिं गिने सो सेवक गुणवान।
सेवा में जो लीन हो, करे एक दिन रात,
हिचके न पानी पवन से, महा तम वा उत्पात।
दूर निकट जाने नहीं, क्षुत्पिपासा एक मान,
दुःख सुख में भी रत रहे, सो सेवक पहचान।
जाति-जीवन 'सेवा' है, सभी का यह सिंगार,
नर-जीवन का सार है, कुल कुटुम्ब-आधार।
सेवा जहाँ न दुःख वहाँ, जहँ सेवा नहिं हान,
पथ है उन्नति शिखर का, स्वर्ग-धाम-सोपान।
आर्यजनों की रीति यह, करैं सेवा निष्काम,
तन धन तक अर्पण करैं, पर चाहें नहिं दाम।
विश्वामित्र मुनिराज की, सेवा की श्रीराम,
नींद छोड़ी छः रात दिन, तब हुए पूर्ण काम।

जनक-हृदय में जगमगा, ब्रह्म-ज्ञान का दीप,
याज्ञवल्क्य मुनिदेव का, सेवक हुआ समीप।
वाल्मीकि नारदादि ने, इससे धोये पाप,
चरण धुलाने द्विजों के, माधो धाये आप।
जितना हो सेवक बड़ा, उतना वही महान्,
यहै वड़ाई तात्त्विकी, शेषाडम्बर जान।

श्री स्वामीजी की स्मरण-शक्ति वैसे तो बड़ी प्रबल थी। दो-एक बार ही के सुनने पर पाठ स्मरण कर लेते थे। उनकी धारणा-शक्ति के कारण दण्डी जी उन पर प्रसन्न भी थे। परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की कोई प्रयोग-सिद्धि कुछ ऐसी विलष्ट आई कि स्वामीजी को अपने निवास स्थान पर जाकर विस्मृत हो गई। पूर्व ऐसा कभी न हुआ था। इसलिए स्वयं उन्हें बड़ा खेद हुआ। अन्त में गुरुजी से आकर विस्मृत प्रयोग-सिद्धि पूछी। विरजानन्द जी ने दयानन्द को पाठ कभी बार-बार न बताया था। इसलिए कुछ झिड़क कर कहा—"जाओ स्मरण करके आओ। यहाँ बार-बार उसी-उसी पाठ को पढ़ाने के लिए नहीं बैठे हैं।" दो-तीन दिन तक श्री दयानन्द जी गुरुजी से प्रार्थना करते रहे "महाराज कृपा करके एक बार फिर बता दीजिए, मैं सारा बल लगा चुका, पर क्या करूँ वह पाठ स्मरण ही नहीं आता।" परन्तु विरजानन्द जी ने दुबारा प्रयोग-सिद्धि न बताई और अन्त में खिज कर श्री दयानन्दजी को कहा—"हमने एक बार तुम्हें कह दिया है कि जब तक पहले का पढ़ा हुआ पाठ न सुना दोगे तुम्हारा पाठ आगे नहीं चलेगा। अब तुम्हें कहा जाता है, यदि वह प्रयोग तुम्हें स्मरण न हो आवे तो यमुनाजी में भले ही डूब मरना परन्तु मेरे पास न आना।" स्वामीजी गुरु महाराज के चरण स्पर्श करके वहाँ से चले आये और विश्राम घाट के समीप, सीता घाट के शिखर पर आरूढ़ होकर विस्मृत प्रयोग-सिद्धि को स्मृति-पथ पर लाने के लिये मस्तिष्क पर बल देने लगे। उस समय उन्होंने प्रण कर लिया कि यदि आज साय काल तक वह प्रयोग स्मरण न हो आया तो, अवश्यमेव, यहीं से यमुना में कूद पड़ूँगा और अपने कलेवर को मगर आदि जलचरों का आहार बना दूँगा। इस भीषण प्रतिज्ञा को धारण करके स्वामीजी विस्मृत प्रयोग के स्मरण करने में इतने लीन हुए, इतने एकाग्र हुए कि उन्हें देश और काल का

भी ध्यान न रहा। वे अपनी देह के आभास को भी भूल गये। उन पर स्वप्न की सी अवस्था आ गई। उसमें उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों कोई व्यक्ति लम्बी प्रयोग-सिद्धि सुना रहा है। जब वे सारी प्रयोग-सिद्धि सुन चुके तो सचेत हो गये और उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानो अभी सोकर उठे हैं। स्वामी जी की प्रसन्नता का पार न रहा। दौड़े हुए गुरु-चरणों में आये और अथ से इति तक सारी प्रयोग-सिद्धि सुना दी। श्री दयानन्द जी की धारणा और धैर्य्य को देख कर विरजानन्द जी भी प्रेम से पुलकित तनु हो गये। उनकी आँखों में हर्ष के आँसू डबडबा आये। गुरुजी ने वत्सलता से दयानन्दजी को कण्ठ लगा लिया और भूरि-भूरि आशीर्वाद दिये। उस दिन से, स्वामीजी को, जब कभी कोई बात विस्मृत हो जाती तो वे उसी प्रकार समाधिस्थ होकर स्मरण कर लिया करते थे।

इस समय स्वामीजी की अवस्था ३१ वर्ष की हो चुकी थी। तप्त ताम्र और कुन्दन सुवर्ण की भाँति उनका मुख मण्डल उद्दीप्त था। अखण्ड ब्रह्मचर्य्य के कारण उनका चेहरा एक प्रकार के तेजोमय चक्र से घिरा रहता था। उनकी विशाल आकृति और दिव्य मूर्त्ति को देख कर, सभी लोग मुक्त कण्ठ से उनके ब्रह्मचर्य व्रत की प्रशंसा करने लग जाते थे। स्वामी जी गुरुराज के स्नानादि के लिए जल के कोई बीस घड़े लाने के लिए अनेक बार यमुना पर जाते थे। एक प्रकार से उनका आसन भी यमुना घाट पर ही था। ऐसे स्थानों में प्रायः नाना प्रकृति के लोग वास करते हैं। किसी-किसी समय राह-चलतों से भी कोई-कोई व्यक्ति छेड़छाड़ और उपहासादि करने से नहीं चूकते, परन्तु स्वामी जी थे कि उनसे उपहास करने का साहस कभी किसी अधम-से-अधम नर-नारी को भी न हुआ। वे बाजारों में चलते, गलियों में जाते, और घाट से बार-बार पानी लेते थे। इन स्थानों में सैंकड़ों स्त्रियाँ इधर-उधर आती जाती थीं, परन्तु ढाई वर्ष में कभी किसी ने उन्हें किसी स्त्री की ओर आँख उठाकर देखते नहीं देखा। वे सदा नीची, मार्ग-विलोकिनी दृष्टि रखकर चला करते थे। उनकी इस वृत्ति की सारी मथुरा में धाक थी। मन्दिरों में, घाटों पर, विश्रान्तों में, पाठशालाओं में, बाज़ारों में, हाटों पर, गृहों में, चौबों के अखाड़ों में, और विजया पान की मण्डलियों में, सर्वत्र श्री दयानन्द की सुशीलता और अभंग ब्रह्मचर्य-व्रत का गुण-गान किया जाता था।

एक दिन का वर्णन है कि श्री स्वामीजी यमुना के पुलिन पर ध्यान में मग्न बैठे थे। एक स्त्री स्नान करके आई। उसने देखा कि सामने एक परमहंस पद्मासन लगाये समाधिस्थ है। श्रद्धावती देवी ने, भक्ति-भाव से अति निकट आकर, स्वामीजी के चरण-कमलों पर सिर रखकर नमस्कार किया। भीगे हुए शीतल वस्त्र के स्पर्श का अनुभव करके स्वामीजी ने ज्यों ही नेत्र खोले तो उन्होंने पैरों पर एक माई का सिर पड़ा देखा। वे चौंक पड़े और माता-माता कहते हुए सहसा उस स्थान से उठ गये। जहाँ तक बन पड़ता, श्री स्वामीजी स्त्री-स्पर्श नहीं किया करते थे, परन्तु उस दिन, एक स्त्री ने ध्यान दशा में उनके पाँव पर सिर रख दिया इसलिए वे वहाँ से उठ गोवर्द्धन की ओर जा, निर्जन एकान्त स्थान में स्थित एक टूटे-फूटे मन्दिर में तीन दिन और तीन रात निराहार और चिन्तन में लीन रहे। चौथे दिन जब पाठ के लिए गुरु-सेवा में उपस्थित हुए तो गुरु जी ने तीन दिवस की अनुपस्थिति के लिए उनकी भर्त्सना की और उसका कारण पूछा। स्वामी जी ने प्रायश्चित्त की कथा आदि से अन्तपर्यन्त गुरुचरणों में निवेदन कर दी। स्वशिष्य की व्रत-वार्त्ता सुनकर श्री विरजानन्द जी को प्रसन्नता से रोमाञ्च हो आया। अनेक साधुवाद देते हुए उन्होने उनकी प्रभूत प्रशंसा की। यदि कभी श्री दण्डी जी पठन-पाठन में, कारणवश कुपित हो जाते और आवेश में स्वामीजी को ताड़ना-तर्जना भी कर बैठते तो वे गुरुजी के कोप को कृपा के समान ही समझते थे, चिढ़ते नही थे। एक दिन का वर्णन है, स्वामी विरजानन्दजी ने आवेश में आकर श्री दयानन्दजी पर लाठी का एक ऐसा प्रहार किया कि उनकी भुजा पर बड़ी कड़ी चोट आई। परन्तु पीड़ा का कोई ध्यान न करके उन्होंने गुरु जी से प्रार्थना की—"महाराज मेरा शरीर कठोर है और आपके हाथ कोमल हैं। मारने से आपको क्लेश होता होगा। इसलिए मुझे मारा न कीजिए।" कहते हैं, उस दिन के घाव का चिह्न उनकी भुजा पर जीवन भर बना रहा। वे उसे जब देखते थे तब गुरु जी के उपकारों का स्मरण करने लग जाते थे।

स्वामी श्री विरजानन्द जी की शिष्य-मण्डली में मणि-मुक्ता की भाँति आभावान् नयनसुख नामक एक जड़िया भी था। उसकी धारणा-शक्ति बड़ी प्रबल थी। दण्डी जी की दया का यह विशेष भाजन था। वैसे पढ़ा तो कुछ

भी न था, परन्तु जिस समय विद्यार्थीगण अध्ययन किया करते वह पास बैठा सुनता रहता था। अपनी उज्ज्वल मेधा के माहात्म्य से उसने सुनते-सुनते अष्टाध्यायी और महाभाष्य कण्ठाग्र कर लिए। उसका संस्कृत उच्चारण विशुद्ध था। संस्कृत भाषा में वार्त्तालाप करने की शक्ति भी उसे इसी प्रकार प्राप्त हो गई थी। स्वामी दयानन्द जी से उसे अति प्रेम था और वह उनका बड़ा आदर-सत्कार करता था।

एक दिन ऐसा हुआ कि शिक्षण देते समय दण्डी जी कुछ क्रुद्ध हो गए। उस समय कठोर शब्द कहते हुए उन्होंने स्वामी जी को एक लाठी भी लगाई। स्वामी जी तो समावस्था में, पहले की भाँति अपने पाठ में परायण रहे, परन्तु पास बैठे हुए नयनसुख जी से न रहा गया। उन्होंने हाथ जोड़कर विरजानन्द जी से निवेदन किया—'स्वामी जी महाराज ! ये दयानन्द जी कोई हमारे समान गृहस्थ नहीं हैं; जिनका विशेष ध्यान न किया जाय। ये संन्यासी हैं। इनको न तो अवाच्य कहना उचित है और न मारना।" दण्डी जी ने नयनसुख जी के वचनों को स्वीकार करते हुए कहा—"बहुत अच्छा, आगे को हम इन्हें आदर और प्रतिष्ठापूर्वक पढ़ायेंगे।" शिक्षण की समाप्ति पर जब विद्यार्थी-गण गुरु-कुटी से बाहर निकल आए तो स्वामी दयानन्द जी ने नयनसुख पर अप्रसन्नता प्रकाशित की कि तुमने मेरे लिए गुरुजी को क्यों कुछ कहा ? उनका हमारे साथ कोई द्वेष तो है नहीं, फिर यदि मारते हैं तो हितबुद्धि से प्रेरित होकर ही मारते हैं। जैसे कुम्हार मिट्टी को पीट-पीटकर उसका एक सुडौल सुन्दर घड़ा बनाता है, ठीक उसी प्रकार श्री गुरुदेव हमारी कल्याण-कामना के वशीभूत होकर ही हमें ताड़ना करते हैं।

एक समय, श्री दण्डी विरजानन्द जी का शास्त्रार्थ, रङ्गाचार्य से वृन्दावन में हुआ। उस समय स्वामी दयानन्द जी भी साथ गये। वहाँ रङ्गाचार्य के किसी चेले ने संस्कृत में कुछ कथन आरम्भ किया; परन्तु वह बोलता अति अशुद्ध था। उसका उच्चारण भी बड़ा भद्दा था। इस पर स्वामी दयानन्द जी ने आक्षेप करते हुए उसे रोका, परन्तु दण्डी जी ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। दण्डी जी महारज वैसे तो एक निःस्पृह संन्यासी थे, परन्तु अपनी प्रकृति से राजेश थे। उनकी बातचीत में भी राजाओं के सदृश परिभाषायें पाई जाती थीं। ठीक तो है—

चाह चिन्ता को दूर कर हुआ जो विगत क्लेश,
इन्द्रियगण को दमन कर वही राजराजेश।
कलह कल्पना मेट के निरपेक्षित परिव्राट्,
उसके मानस-महल में सोहे राजसी ठाठ।

एक समय का वृत्त है कि दण्डी जी का कोई दूर-समीप का सम्बन्धी मथुरा में आया। वहाँ आकर उसे दण्डी जी के मिलाप की भी बड़ी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, परन्तु दण्डी जी ने उन दिनों आज्ञा दे रक्खी थी कि विद्यार्थियों के बिना दूसरा कोई भी मेरे स्थान पर न आये। इससे उनका सम्बन्धी अतिशय दुःखित हुआ। एक दिन कहीं मार्ग में स्वामी दयानन्द जी को मिला और बड़ी विनय से बोला—"महाराज किसी प्रकार मुझे दण्डी जी का दर्शन करा दीजिए; मैं बड़ी दूर से आया हूँ यदि यहाँ आकर भी उनके दर्शन से वञ्चित रहा तो फिर जन्म भर में दूसरी बार अवकाश मिलना दुर्लभ है।" स्वामी जी ने आगन्तुक को बहुत समझाया कि वे पढ़ने वालों के बिना अपने स्थान पर किसी दूसरे को नहीं आने देते, और यदि मैं अपने साथ तुम्हें ले चलूँ तो वे मुझपर अत्यन्त अप्रसन्न हो जायेंगे। परन्तु आगन्तुक ने अति आग्रह करते हुए स्वामी जी के पैर पकड़ कर कहा—"मेरे लिए गुरु जी की अप्रसन्नता सह लीजिएगा; परन्तु मुझे दर्शन अवश्य करा दीजिए। मैं चुपचाप दूर से दर्शन करके चला जाऊँगा।" स्वभाव से दयालु श्री दयानन्द जी सदय-हृदय होने के कारण उसे अपने साथ गुरु-अट्टालिका पर ले आये। थोड़ी देर तक वह मौन साध खड़ा दण्डी जी के दुर्लभ दर्शनों का लाहा लूटता रहा, और अन्त में स्वामी जी का संकेत पाकर शनैःशनैः पीछे चला गया। स्वामी जी भी उसके साथ, विश्राम घाट पर जाने के लिए वहाँ से उतर आये। दोनों सीढ़ियों से उतर ही रहे थे कि स्वामी जी को अपना एक सहाध्यायी मिला। उन्होंने उसे संकेत से समझा दिया, परन्तु उसने जाकर स्वामी विरजानन्द जी को कह ही दिया—"महाराज आज दयानन्द के साथ आपके पास जो व्यक्ति आया था वह कौन था। पहरावे से तो पंजाबी प्रतीत होता था।" यह जानकर कि मेरे पास कोई चुपचाप आया और फिर कर लौट गया, श्री विरजानन्द जी क्रोध में आ गये। स्वामी दयानन्द के आने पर उन्हें बहुत झिड़कियाँ दीं और कहा—"तूने मुझे नेत्रहीन जान कर ऐसा किया है। यहाँ से चले

जाओ। तुम्हारे लिए डेवढ़ी बन्द कर दी गई है।" स्वामी जी उसी समय गुरु-चरण ग्रहण कर क्षमा-याचना करने लगे। परन्तु सुनवाई न हुई। अन्त में कई दिनों के अनन्तर, नयनसुख जी ने विनय करके श्री दयानन्द जी का, विरजानन्द दण्डी के दरबार में आना खुलवा दिया। जैसे पवनकम्पित प्रफुल्ल पद्म पर से भ्रमर उड़कर, फिर पराग के अनुराग से वहीं आ बैठता है, ऐसे ही गुरु-गुण-गरिमा से मोहित श्री दयानन्द जी, तिरस्कार होने पर भी गुरु-चरणों के समीप बार-बार आ जाते थे।

स्वामी जी का दरबार में आना एक बार फिर बन्द हुआ। उसका वर्णन यों है कि एक दिन श्री दयानन्द जी ने गुरुजी की बैठक के स्थान में झाड़ू देकर कूड़ाकर्कट एक कोने में इकट्ठा कर दिया और बुहारी रखकर कूड़ाकर्कट फेंकने के लिए किसी वस्तु का अन्वेषण करने लगे। इतने में श्री दण्डी जी टहलते हुए उसी ओर आ गये और उनका पाँव उस कूड़े में पड़ गया, इससे वे क्रोधावेश में आ गये। स्वामी दयानन्द जी को आलसी, अनुद्यमी आदि अनेक वचन कहकर उनकी डेवढ़ी बन्द कर दी। उस समय स्वामी जी का अध्ययन समाप्त होने में भी थोड़ा समय ही शेष रह गया था। स्वामी जी नन्दन चौबे और नयनसुख के पास गये। उन्हें कहा कि, "गुरुजी वास्तव में तो कुपित नहीं हैं, फिर भी कुछ आवेश में आकर उन्होंने मेरा आना-जाना बन्द कर दिया है। अब मेरे विद्या-समाप्ति के दिन भी आ रहे हैं। इसलिए मैं नहीं चाहता कि मेरे विषय में गुरुजी की उदासीनता बनी रहे। आप दोनों साथ चलकर मेरा अपराध क्षमा करा दीजिए।" दोनों को साथ लेकर स्वामी जी महाराज आये और दोनों हाथों से गुरु-चरणों का ग्रहण कर अपराध-क्षमा कराये। श्री विरजानन्द जी यद्यपि शिष्यों पर कभी-कभी कोप का प्रकाश किया करते थे, परन्तु उनका कोप दूध के उबाल और पानी की लकीर की भाँति क्षणिक हुआ करता था। वे शान्त भी तुरन्त हो जाते थे। स्वामी दयानन्द जी पर भी तत्काल ही प्रसन्न हो गये।


ॐ
ॐ
स्वामी दयानन्द का गुरु विरजानन्द को गुरु दक्षिणा देना।

: १० :

आदर्श शिष्य की आदर्श दक्षिणा

महात्मा विरजानन्द जी अपने शिष्यों से विपुल प्रेमबद्ध भी थे। एक दिन सायं समय उन्हें पता लगा कि उनका एक शिष्य आज इसलिए अध्ययनार्थ नहीं आया कि वह किसी पीड़ाविशेष से अत्यन्त पीड़ित है। उसी समय एक दूसरे शिष्य को संग लेकर उस शिष्य के गृह पर पहुँचे और आश्वासन देते हुए बड़ी देर तक उसके पास बैठे रहे। स्वामी दयानन्द जी पर तो उनकी अपार प्रीति थी। उन्होंने अपने सारे शिष्यों के समक्ष कई बार यह कहा कि मेरे शिष्यों में योग्य तो एक दयानन्द ही है। यही एक मेरे आशय को पूर्ण रीति से समझा है। मुझे इस पर भरोसा है कि यह अपनी विद्या को सफल करेगा।

श्री दयानन्द जी की तर्क-शैली पर भी श्री विरजानन्द जी मोहित थे। विद्या-विनोद में किसी-किसी दिन गुरु-शिष्य में परस्पर युक्ति-प्रतियुक्ति की बाण-वर्षा होने लग जाती तो द्रोण-अर्जुन सङ्ग्राम का समय बँध जाता था। विरजानन्द जी अपने शिष्य के तर्क-चातुर्य की प्रशंसा करने लग जाते थे। कभी-कभी तो विरजानन्द जी कह देते थे, "दयानन्द! तुमसे कोई क्या वाद करे? तुम तो कालजिह्व हो! जैसे काल सब पर बली है वैसे तुम्हारी तर्क-शक्ति भी प्रबल है। सब कुमतों का खण्डन करने में समर्थ है।"

श्री विरजानन्द जी के निकट दयानन्दजी के बिना अन्य भी अनेक शिष्य अध्ययन करते थे; परन्तु उनकी तर्क-शक्ति प्रबल न थी। गुरुजी जैसा पाठ पढ़ाते, शास्त्र की जैसी व्याख्या करते वे सब सुनते चले जाते थे। बीच में कोई प्रश्नोत्तर करने का साहस न करता था। परन्तु जब श्री दयानन्द जी अध्ययन करने आते थे तो मध्य में बराबर प्रश्नोत्तर छिड़ जाते थे, तर्क की झड़ी लग जाती थी, युक्तियों-प्रतियुक्तियों का तार बँध जाता था। गुरुजी प्रायः कह दिया करते थे "दयानन्द! आजतक मैंने बहुतेरे विद्यार्थियों को पढ़ाया परन्तु जो स्वाद, जो आनन्द तुम्हें पढ़ाने में आता है वह अन्य किसी को भी पढ़ाने में आजतक नहीं आया"

शास्त्रगत वार्त्ताओं से पृथक्, पुस्तक-लिखित भेदों से भिन्न, ऐसे कई

रहस्य और मर्म होते हैं, जो तत्वदर्शी गुरुजनों के हृदय-कोष में सुरक्षित रक्खे रहते हैं। किसी अत्यन्त श्रद्धावान्, उत्तमाधिकारी, अन्तेवासी को अकेले और एकान्त में बताये जाते हैं। विरजानान्द जी, अपने पवित्र प्रेम के पुनीत पात्र श्री दयानन्द जी को पाठ-काल से अतिरिक्त समय देकर ऐसे सारे रहस्य समझाया करते थे। एकान्त समय में गुरु-शिष्य में चिरकाल तक वार्तालाप होता रहता था। प्रायः गूढ़ तत्त्वों की ही चर्चा चला करती थी। इस प्रकार श्री विरजानन्द जी महाराज ने उन अमूल्य रत्नों को, जो उन्होंने युवा-काल से लेकर उस समय तक अन्तःकरण में संचित किये थे, एक-एक करके श्री स्वामी जी को सौंप दिया और इस दान से वे अति सन्तुष्ट हुए।

स्वामी जी महाराज ने ढाई वर्ष तक विरजानन्द जी के पद-पद्मों में बैठकर अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्त सूत्र तथा अन्य अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया। इतने काल का गुरु-सत्संग स्वामी महाराज के लिए सुवर्ण और सुगन्धि का योग हो गया। अपने आपको विद्या से भर-पूर कर लेने के पश्चात् उनकी इच्छा हुई कि गुरु-महाराज का आदेश लेकर देशाटन करें। श्री विरजानन्द जी एक तो अपने विद्यार्थियों से द्रव्य लेना ही उचित न समझते थे, और दूसरे श्री स्वामी दयानन्द जी के पास द्रव्य था भी नहीं। स्वामी जी ने विदा होने के समय, पुरातन आर्य मर्यादा के अनुसार गुरुजी के समीप रीते हाथ जाना उचित न समझा। जाते हुए कुछ लौंग ले गये। लौंग निकट रखकर गुरु महाराज के चरणों को स्पर्श करके नमस्कार किया और कहा—"महाराज! आपने मुझ पर असीम कृपा करके मुझे विद्या-दान दिया है। उसके लिए मेरा रोम-रोम आपका धन्यवाद करता है। प्रभो, अब आपका आज्ञाकारी आपसे देशाटन की आज्ञा ग्रहण करना चाहता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आपकी भेंट कर सकूँ; परन्तु सेवक के पास ये कुछ लौंग हैं, जो सम्मानपूर्वक श्री-सेवा में समर्पित हैं।"

सच्चे गुरुओं के समीप सच्चे शिष्य किसी अवस्था में, सन्तान से भी अधिक स्नेह के पात्र हुआ करते हैं। महात्मा विरजानन्द जी ने तो सन्तान-स्नेह का आस्वादन ही न किया था, उनके लिए तो शिष्य से परे इस संसार में स्नेह-पात्र और कोई दूसरा सम्बन्ध ही न था। शिष्यों में भी वह शिष्य, जिसे सम्पूर्ण शास्त्रीय भेद बताये, जिसके आगे हृदय खोलकर रख दिया,

जिससे कुछ भी छिपा न रक्खा, जो स्वयं उज्ज्वल-ज्वलन्त बुद्धि का धनी था, आज पृथक् होता है, यह जानकर उनका जी भर आया। पाँव में, नम्रीभूत शिष्य के सिर को हाथ से स्पर्श करके कहा—'वत्स ! मैं आपके लिए मंगल-कामना करता हूँ। ईश्वर आपकी विद्या को सफलता प्रदान करें। परन्तु गुरु-दक्षिणा में इन लौंगों से भिन्न वस्तु माँगता हूँ। वह वस्तु तुम्हारे पास है भी।"

स्वामी जी ने निवेदन किया—"गुरुदेव ! यह सेवक अपने मन सहित तन को आपके चरणों में अर्पण किये हुए है। श्री-मुख से जो भी आदेश होगा, उसे शिरोधार्य्य करूँगा—प्राजीवन निभाऊँगा। गुरु महाराज ! आज्ञा कीजिए।" अपने प्यारे शिष्य से प्रोत्साहनपूर्ण वाक्य सुनकर विरजानन्द जी का रोम-रोम हर्षित हो गया, उनके हृदय में शिष्य-स्नेह का स्रोत प्रबलता से प्रवाहित होने लगा। उन्होंने फिर आशीर्वादपूर्वक स्वामी जी को कहा—"वत्स ! भारत देश में दीन-हीन जन अनेकविध दुःख पा रहे हैं; जाओ उनका उद्धार करो। मत-मतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गई हैं उन्हें निवारण करो। आर्य-जनता की बिगड़ी हुई दशा को सुधारो। आर्य-सन्तान का उपकार करो। ऋषि-शैली प्रचलित करके वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ। गङ्गा-यमुना के निरन्तर गतिशील प्रवाह की भाँति लोकहित-कामना से क्रियात्मक जीवन बिताओ। प्रिय पुत्र ! गुरु-दक्षिणा में यही वस्तु मुझे दान करो। अन्य किसी सांसारिक पदार्थ की मुझे चाह नहीं है।"

स्वामी दयानन्द जी ने गुरुदेव के एक-एक वचन को स्वीकार किया और गद्गद कण्ठ से कहा कि "श्री महाराज देखेंगे कि उनका प्रिय शिष्य इन आज्ञाओं का किस प्रकार प्राणपण से पालन करता है।" श्री विरजानन्द जी ने पुलकित-गात्र होकर अन्त में फिर नतशिर शिष्य के सिर पर हाथ रक्खा, और भूयोभूयः आशीर्वाद देकर कहा, "बहुत अच्छा, दयानन्द जी जाइए। ईश्वर आपको सुख-सफलता सम्पन्न करे ! आप सफल-मनोरथ, सिद्ध-काम होवें।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी गुरु-चरण-कमलों का गाढ़ आलिंगन करके वहाँ से विदा हुए और आगरे को जाने की तैयारी करने लगे। पृथक् होते

समय शिष्य को विरजानन्द जी ने जो अन्तिम बात कही वह यह थी—'दयानन्द ! स्मरण रखना, मनुष्यकृत ग्रन्थों में परमात्मा और ऋषि-मुनियों की निन्दा भरी पड़ी है, परन्तु आर्ष ग्रन्थों में इस दोष का लेश भी नहीं है। आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों की यह बड़ी परख है। इस कसौटी को कभी न छोड़ना।"

[वैराग्य काण्ड समाप्त]



गंगा काण्ड

: १ :

परम योगी का कार्य-क्षेत्र में अवतरण

पूर्व समय में, लोकहितार्थं मृत्यु को भी वश में करने वाले महा-योगी, महात्मा अगस्त्य के आश्रम से जैसे श्रीराम जी दिव्य-अस्त्र-संपन्न होकर जन-कल्याण के लिए अग्रसर हुए थे, वैसे ही महात्मा विरजानन्द जी की कुटी से महाराज दयानन्द विद्या के अलौकिक अस्त्रों से सुसज्जित होकर कार्य-क्षेत्राभिमुख हुए। श्री कृष्ण से प्रोत्साहन को पाकर जैसे श्री अर्जुन की नाड़ी-नाड़ी और नस-नस में वीरता का रक्त खौलने लग गया था, ऐसे ही विरजानन्द जी की वचन-विद्युत् ने श्री दयानन्द जी की काया में क्रियात्मक जीवन की कल्पनातीत गति उत्पन्न कर दी। वे एक सुशिक्षित, निपुण सेनापति की भाँति अति साहस से उस क्षेत्र में उतर आये, जहां मत-मतान्तरों का घोर सग्राम हो रहा था, ईर्ष्या-द्वेष के धूम्र से लोगों के साँस घुटे जाते थे, आँखें बन्द हुई जाती थीं; पैशुन्य, निन्दा और लांछना की जहाँ धूल उड़ रही थी; और जहाँ बड़े-बड़े वीरों ने भी स्वार्थ-पाठ का ही सबसे अधिक माहात्म्य मान रखा था।

स्वामी महाराज के पास परहित-साधना और परमार्थोपदेश रूपी दो वरुणास्त्र थे। इन्हीं को लेकर, वे रण-रङ्ग में अपनी वीरता का परिचय देकर साम्प्रदायिक सैनिकों के उत्पन्न किये हुए धुँए-धूल को उपशमन करने में प्रवृत्त हुए।

महाराज वैशाख संवत् १९२० के अन्त में आगरा नगर में पधारे। यह नगर उस समय बड़ी रौनक पर था। हाईकोर्ट वहाँ होने से इस नगर की बड़ी शोभा थी। स्वामी जी ने वहाँ यमुना के किनारे भैरव मन्दिर के निकट लाला गल्लामल रूपचन्द अग्रवाल के बगीचे में अपना आसन किया। उसी उद्यान में एक और साधु निवास करता था। वह स्वामी जी के दर्शनों से ही उनका

श्रद्धालु भक्त बन गया और उसने पोस्टमास्टर जनरल के कार्यालय में रायबहादुर पंडित सुन्दरलाल जी को और नगर में अनेक सद्गृहस्थों को जाकर समाचार दिया कि अमुक उद्यान में एक बड़े विद्वान् परमहंस पधारे हैं। उनका उपदेश तो पृथक् रहा, उनके दर्शनों से ही शान्ति प्राप्त हो जाती है।

अब स्वामी जी के पास बहुत से नगरवासी आने लगे। पं० सुन्दरलाल जी ने दर्शन करके अति तृप्ति प्राप्त की। उन्हीं दिनों में एक कैलाश-पर्वत नामक संन्यासी उसी उद्यान में आकर ठहरे। स्वामी जी से भी उनका मेल-जोल हो गया। एक दिन कैलाश स्वामी जी से किसी भक्त ने पूछा "महाराज! गीता के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस पद का अर्थ समझाइए।" कैलाश स्वामी जी ने जो अर्थ किया उससे लोगों को सन्तोष न हुआ। उनमें से एक भक्त ने वही निवेदन स्वामी दयानन्द जी से जा किया। स्वामी जी ने कहा कि इस पद में जो समास है उसमें अकार का लोप हुआ है, इसलिए "सर्व अधर्मों को छोड़कर" अर्थ करना चाहिए।

यह सुनकर लोग परम सन्तुष्ट हुए और धन्य-धन्य करने लगे। इस यशोगान में कैलाश जी ने भी भाग लिया। उन्होंने लोगों से यह भी कहा, "वास्तव में दयानन्द बहुत बड़े विद्वान् हैं। यदि आप में से किसी को कुछ पढ़ना हो तो उन्हीं से पढ़ना चाहिए।" इस वृत्तान्त ने नगर में बड़ा विस्तार प्राप्त किया, जिससे श्री स्वामी जी की धवल-कीर्त्ति, पूर्णमासी के चाँद की चाँदनी की भाँति सारे नगर में चमकने लगी और धर्म-जिज्ञासुओं की मण्डलियाँ उनके पास आने लगीं।

कैलाश स्वामी तो दस दिन पर्यन्त उद्यान में रहकर भरतपुर चले गये, परन्तु स्वामी जी वहीं रहे। उन्होंने भगवद्गीता की कथा करना आरम्भ कर दिया। उनकी गीता के अर्थों को वर्णन करने की शैली मनोरंजक और अपूर्व थी। उनके श्लोक-उच्चारण पर, अर्थ-वर्णन पर, व्याख्या-आलपन पर, रस-सम्पादन पर, और वचन-माधुर्य पर श्रोता-जन मोहित हो जाते थे। प्रायः घरों को लौटते समय यह कहते जाते थे, "गीता का ऐसा रसीला और सार-गर्भित व्याख्यान हमने पहले कभी नहीं सुना।" यह कथा एक मास से अधिक काल तक, प्रतिदिन रात को दो घण्टे पर्यन्त होती रही। स्वामी जी ने लोगों के कहने पर कुछ दिन पंचदशी की भी व्याख्या की। परन्तु पढ़ते हुए एक दिन

उसमें यह पद आया कि कदाचित् ईश्वर को भी भ्रम हो जाता है। इस पर उन्होंने उसे भ्रममूलक समझकर पटक दिया। स्वामी जी के सत्संग में नगर के साधारण और गण्य-मान्य सभी लोग आते थे। पण्डितवर भी प्रायः उपस्थित हुआ करते थे।

एक बार आदित्यवार के दिन पं० सुन्दरलाल जी ने स्वामी जी से निवेदन किया—"संस्कृत भाषा तो अब मृत मानी जाती है, कहीं व्यवहार में काम नहीं आती तो आपने इस पर इतना परिश्रम क्यों किया ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"इससे अपना परलोक सुधारेंगे और यदि कोई अन्य पुरुष भी स्वकल्याण करना चाहे तो साहाय्य देने के लिए उद्यत हैं।" इस उत्तर से प्रेरित होकर पं० सुन्दरलाल जी और बालमुकुन्द जी ने अष्टाध्यायी अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। पं० सुन्दरलाल के मस्तक में कोई दोष था, जिससे सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान उन्हें नहीं होता था। स्वामी जी ने नेती, धोती, और न्योली कर्म विधिपूर्वक कराकर उन्हें स्वस्थ कर दिया और उनका वह दोष सर्वथा दूर हो गया। अन्य भी अनेक जन स्वामी जी से योग-क्रियायें सीखने लग गये थे। कुछ एक ने अच्छी उन्नति भी कर ली थी, परन्तु जब स्वामी जी वहाँ से चलने लगे तो नेती आदि कर्म उनसे छुड़वा दिये, क्योंकि गृहस्थ होने के कारण वे निभा नहीं सकते थे।

आगरे में रहते हुए स्वामी जी की देह पर फुंसियाँ निकल आईं। एक दिन कुछ मनुष्यों के साथ वे यमुना के राजघाट पर गये और वहाँ उन्होंने वस्ती-कर्म की विधि से तीन-चार बार मूलाधार से अंतड़ियों में जल भरकर न्योली-कर्म-विधि से नाभि-चक्र को घुमाकर जल को बाहर निकाल दिया। फिर स्नान करके स्वस्थान पर आ गये। उस दिन उन्होंने केवल दाल-भात ही ग्रहण किया। स्वामी जी कहते थे कि यह क्रिया उन्होंने नर्मदा के समीप विन्ध्याचल पर रहने वाले एक कन-फटे नाथ के पास कई दिन रहकर सीखी थी। इस क्रिया से उनकी फुंसियाँ शान्त हो गईं। उन्होंने वहाँ यह भी कहा था कि हम जल में बहुत देर तक बैठकर तप करते रहे हैं इसलिए सिर पर शीत का अधिक प्रभाव हो गया है। उसके निवारणार्थ कभी-कभी अभ्रक भस्म का सेवन कर लिया करते हैं। पं० सुन्दरलाल जी ने स्वामी जी से अभ्रक-भस्म-विधान भी सीखा था।

आगरे में श्री स्वामी जी ने सन्ध्या की एक पुस्तक का सम्पादन किया था। उसके अन्त में 'लक्ष्मी-सूक्त' रक्खा गया था। महाशय रूपलाल जी ने डेढ़ सहस्र रुपये लगाकर उस पुस्तक की तीस सहस्र प्रतियाँ छपवाई थीं। उसमें विनियोग न होने से अनेक पंडितों ने पहले आक्षेप किया, परन्तु अन्त में सबने उसे क्रय कर लिया। स्वामी जी तीनों वर्णों के लिए सन्ध्या करना शास्त्र-सम्मत बताते थे।

उसी समय स्वामी जी प्रतिमा-पूजन का खण्डन किया करते थे। इस पर प्रसिद्ध पण्डित चेतूलाल और कालीदास जी के साथ बातचीत भी हुई। वे दोनों स्वामी जी के साथ सहमत तो हो गये, परन्तु कहने लगे कि गृहस्थ होने से हम स्वतंत्र नहीं,इसलिए इसके विरुद्ध नहीं कह सकते। कहतेहैं कि स्वामीजी के उपदेश से पं० सुन्दरलाल जी ने भी शिव-पूजन छोड़ दिया था। स्वामी जी भागवत का बड़ा कड़ा खण्डन किया करते और महाभारत को विचारा करते थे।

एक मथुरावासी पण्डित, घासीराम आगरे में आया। वह स्वामी जी के सत्संग से इतना प्रभावित हुआ कि मूर्ति-पूजा से उसे अति घृणा हो गई।

एक अपढ़ ब्राह्मण वहाँ आया। वह योग के चौंसठ आसन लगाना जानता था। स्वामी जी ने उसे वस्त्रादि धोने के कार्य पर पास रख लिया। वह था जितेन्द्रिय और सदाचारी। कभी-कभी विनोदवश उससे आसन लगवाकर देखा करते थे। एक ब्रह्मचारी भोजन बनाने वाला उनके साथ था। लिहाफ के बिना दूसरा कोई सिला हुआ वस्त्र नहीं पहरते थे। महाभाष्य आदि पुस्तकें उनके पास थीं। उन्हीं दिनों भागवत खण्डन पर एक 'पाखण्ड-खण्डन' नामक पुस्तक उन्होंने संस्कृत में लिखी थी। वेद को विचारने का आपका बहुत विचार था। कालीदास जी वेद के पत्रे आपके पास लाये, पर उनसे काम न चला। कहा जाता है कि पं० सुन्दरलाल जी ने जयपुर से वेद मँगवाकर स्वामी जी को दिया था। यदि किसी विषय में सन्देह हो जाता तो स्वामी जी पत्र-व्यवहार द्वारा अथवा स्वयं जाकर गुरु जी से निवारण करा लेते थे।

स्वामी जी उन दिनों समय-नियम से योगारूढ़ हुआ करते थे। किसी-

किसी दिन पहरों अचल भाव से ध्यानावस्थित रहते थे। आगरे में लोगों ने उनको अठारह घण्टों तक भी समाधिस्थ देखा था।

आगरे से वेदों के अन्वेषण में चलकर श्री स्वामी जी धौलपुर पधारे। वहाँ पन्द्रह दिन तक ठहरकर फिर आबू पर्वत पर चले गये।

माघ वदी १२ संवत् १९२१ को स्वामी जी महाराज ग्वालियर में आये। उस समय उनके साथ चार विद्यार्थी थे। वहाँ उन्होंने रामकुई बापू आपाड़ जरनैल के गङ्गा-मन्दिर में डेरा किया। उन दिनों महाराजा जी ने राजधानी में भागवत का सप्ताह बड़ी धूम-धाम से बिठलाया था। दूर-दूर के पण्डित लोग बुलाये गये थे। श्री महाराज ने अपने कर्मचारियों द्वारा भागवत-सप्ताह का माहात्म्य श्री स्वामी जी से भी पुछवाया। उत्तर में श्री स्वामी जी महाराज ने कहा—"ऐसे कार्यों के फल कष्ट-क्लेश से भिन्न कुछ नहीं हुआ करते। विश्वास न हो तो करके देख लो।" यह सुनकर महाराजा हंस कर बोले, "स्वामी जी संन्यासी हैं, इसलिए चाहे जो कह सकते हैं, परन्तु हम गृहस्थ हैं। हमें तो सब कुछ करना ही पड़ता है। अब तो वैसे भी सप्ताह की सामग्री का उद्योग पूर्ण कर लिया गया है।" अन्त में स्वामी जी को महाराजा की ओर से कथा में सम्मिलित होने के निमित्त निमन्त्रण आया। उसके उत्तर में स्वामी जी ने कहला भेजा—"गायत्री का पुरश्चरण होना चाहिए। भागवत के सप्ताह में हम सम्मिलित नहीं होंगे।" इस विषय में भी राजा ने यही कहा कि भागवत सप्ताह का तो अब पूर्ण रीति से उद्योग हो चुका है। ऐसे समय में गायत्री पुरश्चरण कैसे किया जा सकता है।

सम्पूर्ण राज्य में प्रसन्नता का सागर उमड़ा पड़ा था। सारा नगर स्वच्छ, सुसिक्त और सुसज्जित था। काशी के, कलकत्ते के, दक्षिण के, तथा अन्यान्य स्थानों के अनेक शास्त्री-शिरोमणि निमन्त्रित होकर आये थे। आस-पास के राज्यों के सुप्रतिष्ठित सज्जन और राजा लोग तथा राजबन्धु वर्ग आकर स्ववेष-भूषा से नगर की शोभा बढ़ा रहे थे। समग्र राज्य की विभूति वहाँ एकत्रित हो रही थी। उत्तुङ्ग राज-प्रासाद से लेकर एक घसियारे की पर्ण-कुटी तक, सब कहीं यह उत्सव मनाया जा रहा था। घर-बाहर, हाट-बाट, जहाँ देखो भागवत-कथा की चर्चा चल रही थी। उसी समय श्री स्वामी जी महाराज ने राम-कुई पर भागवत-खण्डन पर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। उन

निर्भय परमहंस जी के व्याख्यानों में भी भारी भीड़ होने लगी। स्वामी जी की अभयता ने नगरनिवासियों को भी निडर बना दिया। वे उत्साह से भागवत-खण्डन सुनते और स्वामी कथन की सत्यता को स्वीकार करते थे। स्वामी जी यह भी कहते थे कि लश्कर में बड़ा भारी विघ्न होने वाला है। महा उपद्रव उपस्थित हुआ है।

सप्ताह-समाप्ति पर सारी राजधानी में प्रसन्नता के बाजे बजे, परन्तु तुरन्त ही जब लोगों ने सुना कि—'महारानी का पंच मासिक गर्भ गिर गया है, तो सारी प्रसन्नता एकाएक शोक-सागर में डूब गई! उसी मास विशूचिका महारोग भीषण रूप से नगर में फैला। छोटे राजकुमार, जिनकी दीर्घायु की कामना से कथा बिठलाई गई थी और जिस कुमार को सप्ताह-समाप्ति पर पण्डितों ने आशीर्वाद दिया था, उसका देहान्त हो गया! इससे नगरी-सहित सारे राज्य में हाहाकार मच गया।

स्वामी जी नित्यप्रति व्याख्यान में पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते रहे, विज्ञापनों द्वारा भी निमन्त्रित करते रहे। परन्तु इतने विख्यात विद्वानों में से एक ने भी उनके सम्मुख आने का साहस न किया। विषूचिका के कारण रामकुई पर बहुत रोना-पीटना होने लगा, इसलिए स्वामी जी वहां से डेरा उठाकर बाबा जी के उद्यान में चले गये।

: २ :

शैव-वैष्णव शास्त्र-समर में वीरवर दयानन्द

ग्वालियर से चलकर श्री स्वामी जी अन्तिम मई के लगभग करौली में पधारे। वहाँ श्री राजा जी के साथ धर्म-विषय पर वार्त्तालाप होता रहा। पण्डितों से भी कुछ थोड़ी बहुत शास्त्र-चर्चा चलती रही। उस स्थान में स्वामी जी वेदाभ्यास में विशेष समय लगाया करते थे। करौली में स्वामी जी ने कई मास तक निवास किया।

करौली से प्रस्थान कर आश्विन, १९२२ में आप जयपुर आये। वहाँ रामकुमार और नन्दराम मोदी के उद्यान में डेरा किया। उस समय उनके साथ सच्चिदानन्द, चेतराम और एक ब्रह्मचारी, ये तीन विद्यार्थी थे। सच्चिदा-

नन्द ने स्वामी जी से गायत्री का उपदेश लिया था, और प्रतिदिन सायंकाल सूर्याभिमुख खड़े होकर जप किया करता था। घाट में एक गोपालानन्द नामक परमहंस निवास करता था। उसने जीव-ब्रह्म विषयक कुछ प्रश्न स्वामी जी की सेवा में भेजे। स्वामी जी ने उनका उत्तर ऐसा उत्तम और पांडित्यपूर्ण दिया कि वह उसे पढ़कर स्वामी जी की विद्वत्ता पर लट्टू हो गया। यहाँ तक कि अपना स्थान छोड़कर स्वामी जी के समीप ही आकर ठहर गया और रात-दिन अपने सन्देह निवृत्त करता रहा।

श्रवणनाथ के शिष्य, लक्ष्मणनाथ जी वहाँ निवास करते थे। उनको महाराज रामसिंह जी जोधपुर से लाये थे। उन्होंने स्वामी जी के साथ व्रजनन्दन जी के मन्दिर में सम्भाषण किया। उन्हें निश्चय हो गया कि ये सकलशास्त्र-ज्ञाता और योगीजन हैं। स्वामी जी से उन्होंने निवेदन किया—"कृपा करके श्रीमन्त इसी मन्दिर में विराजें। हमारा साम्प्रदायिक लोगों के साथ एक शास्त्रार्थ होने वाला है। दया कर उसमें सहायता दीजियेगा।" स्वामीजी ने कहा—"यदि शास्त्रार्थ में मुझे बुलाना चाहते हो तो स्मरण रखिए, मैं वहाँ जो कुछ कहूँगा अपने निश्चय के अनुकूल ही कहूँगा।" नाथ जी ने यह बात स्वीकार कर ली। जयपुर में स्वामी जी ने व्याकरण-सम्बन्धी पन्द्रह प्रश्न लिखकर पण्डितों के पास भेजे। पण्डित-प्रवरों ने उत्तर में गाली प्रदान करना ही पर्याप्त समझा! स्वामी जी ने उनके लेख में आठ प्रकार के दोष निकाल कर हरिश्चन्द्र आदि भद्र पुरुषों के पास पत्र भेजा। उन्होंने स्वामी जी के पक्ष की पुष्टि करते हुए पण्डितों के व्यवहार की अति निन्दा की। स्वामी जी ने पण्डितों के पास जो प्रश्न भेजे थे उनमें दो ये भी थे—१. "कल्म च किं भवति!" २. "येन कर्मणा सर्वे धातवः सकर्मकाः किं तत्कर्म ?"

एक दिन सब पण्डित मिलकर व्यास बक्षीराम जी के निकट गये और बोले—"किसी प्रकार आप स्वामी दयानन्द जी से हमारा शास्त्रार्थ करा दीजिए।" पण्डितों की प्रेरणा से, व्यास जी ने स्वामी जी को महलों में निमन्त्रित किया। पण्डित भी वहाँ एकत्रित हो गये। सब पंडितों की ओर से एक पण्डित ने स्वामी जी से पूछा, "क्या पन्द्रह प्रश्न और आठ प्रकार के दोष आपने ही लिखकर भेजे थे ?" स्वामी जी ने कहा—"हाँ, मैंने भेजे थे।" तत्पश्चात् पण्डित ने 'कल्म' शब्द की व्याख्या की। स्वामी जी ने उसका

तुरन्त खण्डन कर दिया। इस पर पण्डित लोग अति विस्मित हुए और कहने लगे, "अच्छा, इसका अर्थ आप ही कीजिए।" स्वामी जी ने कहा कि जो कुछ परस्पर कथन हो वह लिखा जाना चाहिए, परन्तु पण्डितों ने स्वीकार न किया। तब स्वामी जी ने 'कलम' शब्द की बड़ी योग्यता से व्याख्या की। अन्य पण्डित तो चुपचाप सुनते रहे, परन्तु एक मैथिल पण्डित ने आक्षेप करते हुए कहा, "यह अर्थ कहाँ लिखा है ?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया "जो मैंने वर्णन किया है उसका तात्पर्य महाभाष्य के अनुकूल है।" मैथिल पण्डित जी ने कहा, "महाभाष्य तो व्याकरण ही नहीं।" यह सुनकर स्वामी जी ने उसे, यही बात कि महाभाष्य की गिनती व्याकरण में नहीं है, लिख देने के लिए बाधित किया, परन्तु वे पण्डित यह कहते हुए "अब जाने दो रात बहुत बीत गई, आपको भी नगर से बाहर उद्यान में जाना है, द्वार बन्द हो जायँगे, फिर आपको कष्ट होगा।" वहाँ से उठ खड़े हुए। स्वामी जी ने उठते हुए कहा—"यह एक विलक्षण सभा है, जिसमें महाभाष्य व्याकरण नहीं माना जाता और यह पण्डित जी भी एक विचित्र बुद्धि के धनी हैं, जो भाष्य की गणना व्याकरण में नहीं करते।"

तदनन्तर एक जैन-गुरु ने स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी ने उत्तर भिजवा दिया कि, "जब आपका जी चाहे पधारिए, मैं वार्त्तालाप के लिए उद्यत हूँ।" जैन-यति ने कहलवा भेजा कि "किसी के स्थान पर जाने से हमारे नियमों में बाधा पड़ती है। परन्तु यदि कहीं आते-जाते उद्यान आदि में मिलाप हुआ तो धर्म-चर्चा करेंगे।" स्वामी जी ने यह कहकर कि जब ऐसा मिलाप होगा तो देखा जायगा, १५ प्रश्न लिखकर जैन-यति के पास भेज दिये। प्रश्नों का उत्तर तो यति जी की समझ में ही नहीं आया, परन्तु स्वमतानुसार आठ प्रश्न लिखकर स्वामी जी की सेवा में पहुँचवा दिये। उनका उत्तर तत्काल प्राप्त करके, यति जी मौनावलम्बी हो गये।

अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंह जी एक सत्संगी पुरुष थे। साधु-सन्तों में उनकी बड़ी भक्ति थी। वे राधाकृष्ण नाम का जप करते और इसी के उपासक थे। बीकानेर राज्य के निवासी ठाकुर दमीरसिंह, किसी मुकदमे में जयपुर

आये हुए थे। वे स्वामी जी से भी परिचित थें। मूर्तिपूजा में अनास्थावान् थे। एक दिन उन्होंने अचरौल के ठाकुर जी को समझाया, "आप पूजा-पाठ के किस मिथ्याडम्बर मे खचित हो रहे हैं? यदि अन्तःकरण में आत्मिक कल्याण की कामना है तो सन्मार्ग का अवलम्बन कीजिए।"

श्री रणजीतसिंह जी अपने मित्र के वचनों को सुनकर विस्मय के साथ बोले,—"तो इस पूजा-पाठ को छोड़कर हम किससे सदुपदेश ग्रहण करें?" तब ठाकुर दमीरसिंह जी ने कहा, "इस समय सद्गुरु स्वामी श्री दयानन्द जी महाराज हैं। उनके उपदेश से सत्य का बोध हो जाता है और सौभाग्यवश वे आजकल जयपुर में ही विराजमान हैं।" इन शब्दों ने ठाकुर जी के हृदय में स्वामी जी के प्रति श्रद्धा का स्रोत खोल दिया। वे स्वामी जी के दर्शनार्थ जयपुर आये और अचरौल पधारने के लिए अतिशय सम्मानपूर्वक निमन्त्रण दे गये। स्वामी जी को लिवा लाने के लिए अगले दिन उन्होंने एक मझोली भिजवाई, परन्तु वे पैदल ही चल कर वहाँ पहुँच गये। स्वामी-सत्संग से ठाकुर जी को बड़ा लाभ हुआ। उनके सारे भ्रम मिट गये; सम्पूर्ण संशय-निवृत्ति होकर उन्हें सन्मार्ग का ज्ञान प्राप्त हो गया, और उनकी मूर्ति-पूजा से धारणा उठ गई।

प्रथम चार दिवस तो स्वामी जी का आसन राजमन्दिर में ही लगा रहा, परन्तु स्वामी जी एकान्तसेवी थे, इसलिए उनकी आज्ञा से, एक विविक्त प्रदेश में ठाकुर जी ने एक स्वच्छ पर्ण-कुटी प्रस्तुत करा दी। वह पर्णकुटी बारहदरी के आकार पर निर्मित हुई थी। वहाँ प्रतिदिन ठाकुर जी तथा अन्य अनेक सत्संगी सज्जन श्री स्वामी-सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। स्वामी जी मनुस्मृति, उपनिषद् और गीता आदि ग्रन्थों के प्रकरण सुनाकर कृतार्थ किया करते थे। बहुत से विद्यार्थी भी स्वामी जी के पास जाते थे। उन्हें वे ब्रह्मचर्य आदि का उपदेश देते थे। एक दिन का वर्णन है कि ठाकुर जी का कार्यकर्त्ता, हीरालाल कायस्थ मदिरा-पान किये हुए उसी मार्ग से जा रहा था, जिसके समीप स्वामी जी की कुटी थी। उसे वहाँ पहुँचकर स्मरण हो आया कि स्वामी जी को श्री ठाकुर जी ने बुलवाया है। उनके पास भी चलना चाहिए। वह स्वामी जी के पास चला गया और नमस्कार करके विनीत भाव से पास बैठकर सुनने लगा। उस समय स्वामी जी मनुस्मृति का

प्रायश्चित्ताध्याय सुना रहे थे । गोवध, सुवर्ण-चोरी, सुरापान आदि पापों के फल अगले जन्म में मिलते हैं, उनका व्याख्यान स्वामी जी ने कुछ ऐसे शब्दों में, कुछ ऐसे भाव में, कुछ ऐसे ढंग से किया कि हीरालाल का भय के मारे हृदय काँप उठा; वह रोमांचित हो गया। पूर्वकर्मों पर पश्चात्ताप के अश्रुपात करते हुए उसने वहीं यह व्रत धारण किया कि भविष्य में दुराचरण कदापि नहीं करूँगा । उस दिन के अनन्तर भ्रमण करने जाते समय, वह प्रतिदिन स्वामी-शरण में जाया करता था ।

स्वामी जी चार मास के लगभग वहां टिके । नित्यप्रति उपनिषदों और गीता की कथा सुनाया करते थे । प्रतिमा-पूजन का खण्डन करते थे और कहते थे कि ध्यान भीतर करना चाहिये । उस समय उन्होंने भागवत-खण्डन में एक पत्र भी छपवाया था । एक पत्र 'तत्वबोध' के नाम से लिखकर ठाकुर जी को दिया था । स्वामी जी 'शिव' की व्याख्या में निराकार ईश्वर का वर्णन करते थे । पार्वती के पति, पौराणिक शिव का उनके कथन में कोई संकेत न होता था ।

उन्हीं दिनों में महाराजा रामसिंह जी, वैष्णवों और शैवों के शास्त्रार्थ-संग्राम का उद्योगपर्व करा रहे थे । दोनों सम्प्रदायों के सन्त-महन्त, प्रवर पण्डित एकत्रित हो रहे थे । इस समर के सूत्रपातकर्त्ता शैव सम्प्रदाय के सेनापति लक्ष्मणनाथ जी थे । यद्यपि नाथ जी के कारण शैव प्रबल थे, परन्तु शास्त्र-वाद में जीतने का भरोसा वे अपने किसी भी पण्डित पर न रखते थे । व्यास बक्षीराम और उनके भाई कनीराम, ये दोनों शास्त्रार्थ-सम्बन्धी प्रबन्ध के अधिष्ठाता थे । स्वामी महाराज के विद्याबल और अतिशय बुद्धि-शक्ति का ये लोग, पण्डितों के प्रथम संवाद में परिचय पा ही चुके थे । वे जानते थे कि दयानन्द के समक्ष खड़े होने का साहस कोई विरला ही कर सकता है, उसे जीतना नितान्त असम्भव है । अपनी विजय को निश्चित बनाने के लिए व्यास बक्षीराम आदि शैव पण्डितों ने, साम्प्रदायिक-संग्राम में, अपनी ओर से स्वामी जी को सेनापति नियत करने का निश्चय कर लिया । इस विषय में वार्त्तालाप करने के लिए व्यास बक्षीराम जी स्वामी जी के पास भी गये और महाराजा जी से मिलने के लिए भी कहा । पर स्वामी जी ने इसे उपेक्षा भाव से सुना । बक्षीराम जी ने फिर महाराजा रामसिंह जी से निवेदन किया कि

स्वामी दयानन्द जी अखण्ड ब्रह्मचारी और अद्वितीय विद्वान् हैं। आगामी शैव-वैष्णव संग्राम में वे वैष्णव-मत-निराकरण करने के लिए शैव-सम्प्रदाय की ओर ही खड़े होंगे। आप उनके दर्शन अवश्य करें। महाराजा के हृदय में स्वामी दर्शन-लालसा का भाव जागृत हो गया। उन्होंने ठाकुर रणजीत सिंह द्वारा स्वामी जी को राजभवन में लाने के लिए यत्न किया। प्रातःकाल वही कनीराम व्यास स्वामी जी के पास आ गया। दिन के दस बजे स्वामी जी पीनस पर आरोहण करके राजराजेश्वर के मन्दिर में जा विराजे।

स्वामी जी के जीवन में, शिवरात्रि की घटना के अनन्तर, प्रतिमा-पूजन के भाव का लेशमात्र भी शेष न रह गया था। इसलिए मन्दिर में प्रवेश करते समय उन्होंने मूर्त्तियों के लिये कोई सम्मान प्रदर्शित न किया। व्यास वक्षीराम जी, स्वामी जी को यह कह कर कि मैं आप के शुभागमन की सूचना महाराजा को देता हूँ, वहाँ से चल पड़े। परन्तु किसी मनुष्य ने व्यास जी को समझाया कि स्वामी जी तो सब देवताओं की मूर्त्तियों का खण्डन करते हैं, यदि इनका मेल-मिलाप श्री महाराजा जी से हो गया तो तुम्हारी बात बिगड़ जायगी, वर्षों की जमी हुई पटड़ी सदा के लिए उखड़ जायगी। इससे व्यास के हृदय में भी स्वार्थवश आशङ्का उत्पन्न हो गई। अन्त में कोई बहाना बनाकर संन्यासी-राज के मिलाप से महाराजा को वंचित रक्खा गया।

दो जातियों के संग्राम के समय जैसे किसी निरपेक्ष जाति का वीर सेनानी समर-रस से सचालित होकर, स्वजाति से अपेक्षाकृत अधिक सम्बन्ध-सूत्र-आबद्ध जाति के पक्ष में संग्राम-भूमि में उतर आवे, ठीक उसी प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक समीपवर्ती शैव-सम्प्रदाय के पक्ष को अवलम्बन करके, शास्त्रीय रण-रंग-रसिक, स्वामी दयानन्द वैष्णवाचार्यों के साथ भिड़ गये। उनका प्रतिपक्षी, वैष्णव-सम्प्रदाय का परम पण्डित श्रीयुत हरिश्चन्द्र था। स्वामी जी को यह सिद्ध करना था कि वैष्णव सम्प्रदाय बहुत आधुनिक है, काल्पनिक है, निर्मूल है, और भद्र भी नहीं है। स्वामी जी ने जब वैष्णव धर्म की पुस्तकों से प्रमाण दे देकर इस सम्प्रदाय की समालोचना की तो जहाँ वैष्णवों को लज्जा और पराजय ने अभिभूत कर लिया वहाँ शैवों की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही! मारे हर्ष के शैव उछल रहे थे। उनके मुख-मण्डल प्रफुल्ल कमल बन रहे थे। उस विजय से प्रभावित होकर

लोग धड़ाधड़ शैव बनने लगे। कण्ठियों का स्थान रुद्राक्ष की मालायें लेने लगीं। महाराजा रामसिंह ने भी शैव सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया। इससे राजकीय हाथियों और घोड़ों के गले में भी रुद्राक्ष की मालायें पड़ गईं। स्वामी जी के हाथ से भी मालायें वितरण कराई गईं।

वैष्णव सम्प्रदाय के दिग्गज को जीतने से स्वामी-केसरी की कीर्ति दसों दिशाओं में विस्तृत हो गई। उनके पाण्डित्य का सिक्का पण्डितमात्र पर बैठ गया। इस प्रकार साढ़े चार मास स्वामी जी ने जयपुर में निवास किया। उस राज्य के अनेक ठाकुर उनके भक्त हो गये। बगरु के ठाकुर जी ने अपने ग्राम में पधारने के लिए स्वामी जी से बहुत प्रार्थना की। इस प्रार्थना को स्वीकार कर श्री महाराज वहाँ गये और दो दिन विराजकर फिर दूदू को चले गये। दूदू के ठाकुर इन्द्रसिंह जी ने दो दिन तक स्वामी जी के उपदेश श्रवण किये और वे भक्ति-भाव से स्वामी जी के शिष्य बन गये। तत्पश्चात् श्री स्वामी जी कृष्णगढ़ में जाकर दो दिन रहे। वहाँ से अजमेर पधारे और राय दौलतराम जी के उद्यान में चार दिन ठहरे। इसके पश्चात् आप पुष्करराज चले गये।

: ३ :

पुष्कर महा मेले में : गुरुडम की प्रतीक कण्ठियाँ उतरने लगीं

स्वामी जी महाराज चैत्र कृष्णपक्ष ११ संवत् १९२२ को पुष्कर पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपना डेरा ब्रह्मा के मन्दिर में किया। मन्दिर के बाहरी भाग के द्वार से भीतर जाने पर दाहिने भाग में स्वामी जी का निवास था। वहाँ आकर उन्होंने प्रतिमा-पूजन का खण्डन बड़े बलपूर्वक करना आरम्भ कर दिया। बहुत से ब्राह्मण चिढ़कर स्वामी जी के पास शास्त्रार्थ के लिए आये; परन्तु वहाँ पहुँचकर उनमें से किसी को भी स्वामी जी का सामना करने का साहस न हुआ। वे सब मिलकर व्यंकट-शास्त्री के समीप गये। यह पण्डित बालशास्त्री के समान विद्वान् था। तर्कशास्त्र में अति निपुण था। नाग पर्वत की एक कन्दरा में रहा करता था। उनका गुरु एक अघोरी था। व्यंकट-शास्त्री ने प्रथम तो स्वामी जी के समीप जाकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार

कर लिया, परन्तु अन्त में वह आने से टल गया। उसे टलता हुआ जान श्री स्वामी जी स्वयं उसके पास जा खड़े हुए। उस समय कोई तीन-चार सौ ब्राह्मण वहाँ एकत्रित हो गये थे। वाद का विषय नियत हुआ, 'भागवत'। शास्त्री जी ने भागवत का मण्डन किया, परन्तु स्वामी जी ने अपने समय में उसका खण्डन इतनी प्रवल युक्तियों से, इतने प्रबल प्रमाणों से किया कि व्यंकट जी को अपना बचाव उस विषय से किनारा खींचने में ही सूझा, वह एक शब्द के शुद्धाशुद्ध उच्चारण पर वाद करने लगा। स्वामी जी उस शब्द को "दैवासुर" कहते थे और वह "देवासुर" कहता था। अन्त में उसने स्वामी-पक्ष को स्वीकार करते हुए कहा—'स्वामी जी की विद्या बड़ी प्रबल है।" स्वामी जी ने शास्त्रीजी से व्याकरण पर भी घण्टाभर वाद किया और विजयी हुए। शास्त्री जी ने स्वामी जी की विद्या की प्रभूत प्रशंसा की और उन्हें अपने अघोरी गुरु जी से भी मिलाया। वह अघोरी अति हृष्ट-पुष्ट, बड़ा लम्बा-चौड़ा मनुष्य था। जो कोई उसके पास जाता उसे वह पत्थर उठा-उठाकर मारा करता था, गालियाँ भी दे दिया करता था। मृतकों की देहों को चिताओं पर से उठाकर खा जाया करता था। परन्तु संस्कृत भाषा का एक अच्छा विद्वान् था। स्वामी जी महाराज उसके साथ देर तक बातें करते रहे। समाप्ति पर उसने सबको अभिमुख करके संस्कृत में कहा—"दयानन्द जी का कथन सत्य है; इनसे झगड़ा न करो।" फिर उन्हीं शब्दों को व्यकट जी ने आर्य भाषा में सब उपस्थित जनों को सुनाते हुए कहा—"स्वामी दयानन्द जी का पक्ष सर्वथा सत्य है। इनसे व्यर्थ की कलह न करो।" यह सुन, सब ब्राह्मण उदासीन मुख होकर वहाँ से चले गये। व्यकट शास्त्री जी का उतने ही समय में स्वामी जी के साथ इतना सख्यभाव हो गया कि स्वामी जी को उसने कहा—"जब कभी आपको शास्त्रार्थ में सहायता की आवश्यकता पड़े तो मुझे स्मरण कीजिएगा। मैं बिना विलम्ब उपस्थित हो जाऊँगा।"

मेले की बड़ी धूमधाम थी। उधर स्वामी जी महाराज भी कुरीतियों का धुँआधार खण्डन कर रहे थे, जिससे उस महा मेले में एक भारी हलचल मच गई थी। साम्प्रदायिक-सागर, श्री दयानन्द जी के वाणी-वायु से विचलित होकर, संशय के झकोले खाने लगा था। स्वामी जी महाराज के उपदेशों से लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कण्ठियाँ उतार-उतार कर ब्रह्माजी के

मन्दिर के एक कोने में ढेर लगा दिया। ब्राह्मण लोग भागते हुए, फिर व्यंकटशास्त्री के समीप गये। उसने कहा "हम उनसे क्या वाद-विवाद करें? जो कुछ वह कहता है सब सत्य कहता है, परन्तु इतना अवश्य है कि उसकी चलेगी तब, जब कोई राजा-महाराजा उसका शिष्य बन जायगा।"

एक दिन स्वामी जी ने पण्डित नानूराम नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को कहा कि, "आप इस कण्ठी का क्या बखेड़ा गले में डाले हुए हैं? इस अवैदिक चिह्न को उतार क्यों नहीं डालते?" उसने उत्तर दिया कि "यदि आप लोगों में अब्राह्मण संन्यासी न बने तो मैं भी कण्ठी बाँधना छोड़ दूंगा।" स्वामी जी ने कहा—"हम क्या करें? यहाँ तो आकाश ही बदला पड़ा है। यदि मुझसे हो तो मैं स्पष्ट कहता हूँ कि विद्वान् ब्राह्मण के बिना अन्य किसी को भी भी संन्यास लेने का अधिकार नहीं है।"

ब्रह्माजी के मन्दिर के महन्त मानपुरी जी थे। वे बड़े सज्जन पुरुष थे। पहले-पहल, एक बार जब मूर्तिभोग के अनन्तर स्वामी जी को उन्होंने दूध दिया तो स्वामी जी ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि पत्थरपूजा का मैं दूध नहीं पीता; उस समय मानपुरी जी रुष्ट हो गये और स्वामी जी को दूध देना बन्द कर दिया, परन्तु पीछे से प्रसन्न होकर उनके सहायक बन गये। स्वामी जी के साथ उनका सौहार्द भी हो गया। स्वामी जी विनोद में कभी-कभी उन्हें कह दिया करते थे—"पुरी जी! आपको तो यह ढाई मन की मूर्त्ति पारसपत्थर मिल गया है। इससे जितनी सुवर्ण-सिद्धि करो वह साधु-संन्यासियों को लड्डू आदि से समार्चन करने में समर्पण कर दिया करो। भाँड-धूर्त्त लोगों के लिए कुत्सित व्यय न किया करो।" महन्त मानपुरी जी सुदृढ़-अङ्ग और बलवान् थे। वे स्वामी जी की सहायता के लिए बद्धपरिकर रहते थे।

एक दिन का वर्णन है कि, बहुत से ब्राह्मणों ने ऐक्य करके स्वामी जी को शास्त्रार्थ करने के लिए गौ-घाट पर आह्वान किया। वे तो सदा ही सन्नद्ध रहते थे। समाहूत होने पर तुरन्त वहाँ पहुँच गये। शास्त्रार्थ थोड़ी देर ही चला था कि पण्डितों के पैर उखड़ गये। निरुत्तर होकर लगें दायें-बायें झांकने। इतने में कई लठैत बीच में आ कूदे, और स्वामी जी को अवाच्य बकने लगे। वे लोग उस समय ऊधम मचाना ही चाहते थे कि मानपुरी जी

वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने डाट-डपटकर उन लोगों को वहाँ से खदेड़ दिया। उसी समय सैकड़ों मनुष्यों ने कण्ठियाँ उतार कर पुष्करार्पण कर दीं।

स्वामी जी ने वहाँ रामानुजियों को भी शास्त्रार्थ के लिए पत्र लिखा, परन्तु उन्हें शास्त्रार्थ का साहस न हुआ। स्वामी जी महाराज इस सम्प्रदाय के भ्रममूलक विचारों का खण्डन करते हुए कहते थे—"तप्ततनूः स्वर्गं गच्छति" यह श्लोक ही ठीक नहीं। और यदि इसे मान भी लिया जाय तो इसका अच्छा अर्थ यह है कि शम-दम, जप-तप, स्वाध्याय आदि तपस्या से तप्त तन वाला स्वर्ग को जाता है। तप्त का अर्थ 'जलाना' करना भूल है।

एक पण्डा स्वामी जी को कहने लगा—"मैं संन्यासियों का पुरोहित हूँ। आगे कई संन्यासियों ने मुझे श्लोक बना दिये हैं, आप भी बना दीजिए।" स्वामी जी ने हँसकर कहा कि अरे तू हमारा भी पुरोहित बनता है। उन्होंने श्लोक तो न बनाकर दिया, परन्तु उपदेश करके उसके कण्ठ से कण्ठी उतरवा दी।

उन्हीं दिनों में एक द्रविड़ संन्यासी चन्द्रघाट पर आकर ठहरा था। वह पुराणों की कथा कराकर ब्रह्मभोज कराया करता था। उसके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए, कोई दो सौ ब्राह्मण, स्वामी जी को वहाँ ले गये परन्तु द्रविड़ संन्यासी सम्मुख नहीं हुए।

शिवदयाल नाम का एक पुजारी ब्रह्मा की पूजा किया करता था। स्वामी जी ने उसे कहा—'शिवदयाल जी ! क्या आप का देव आप से वार्त्तालाप भी किया करता है ?" जब वह नक्कारा बजाता तो महाराज उससे कहते कि चमड़ा कूटने से क्या लाभ है ? झाँझ बजाने से भी उसे रोकते थे। शिवदयाल ने प्रार्थना की कि मुझे ईश्वर का नाम बताइये। स्वामी जी ने उसे ईश्वर का नाम 'सच्चिदानन्द' बताया, उसने स्वामी जी से उपदेश लेकर कण्ठी उतार दी, मूर्ति-पूजन छोड़ दिया और घाटों पर अन्य पण्डों की भाँति माँगने जाना भी त्याग दिया। डाक-घर में नौकरी करके निर्वाह करने लगा।

एक दिन, एक वृद्धा देवी ब्रह्माजी के मन्दिर में मूर्ति-दर्शन करके लौटते समय स्वामी जी के दर्शनार्थ भी पधारी। स्वामी जी ने पूछा—"माता कहाँ से आ रही हो?" उसने कहा—ब्रह्माजी के दर्शन करके आई हूँ।" स्वामी जी

बोले—"क्या ब्रह्माजी ने आप को कोई उपदेश भी दिया है ?" वृद्धा ने कहा—हाँ, दिया है।" तब स्वामी जी तुरन्त अपने आसन से उठ खड़े हुए और उसी वृद्धा देवी को साथ लेकर ब्रह्माजी की प्रतिमा के समीप जा उपस्थित हुए और उस वृद्धा को बोले—'माता! अब मेरे सम्मुख इस मूर्ति को कहो कि बोलो। उस वृद्धा ने हँसकर कहा—"स्वामी जी! यह मूर्ति तो क्या आपके सामने सभी चुप हो जाते हैं। जो बोलता है आपकी पीठ पीछे ही बोलता है।"

एक दिन एक सेठ ने स्वामी जी से आकर पूछा—"महाराज! मैं मन्दिर बनवाना चाहता हूँ। इसमें आप क्या सम्मति देते हैं?" महाराज ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—"सेठ जी! किसी अन्य धर्म्म-कार्य में धन व्यय करो, जिससे अपना और दूसरों का कल्याण हो। मन्दिर बनाना तो सन्तति के लिए अविद्या का एक गहरा गड्ढा खोदकर छोड़ जाना है।" स्वामी जी का उपदेश सुन कर उस सेठ ने मन्दिर बनाने का विचार छोड़ दिया।

स्वामी जी प्रायः कहा करते थे कि अनेक स्तोत्र जो आचार्यों के नाम से प्रचलित हैं वास्तव में पण्डितों ने बनाकर उनके नाम से विख्यात किये हैं। भागवत भी व्यासकृत नहीं, किन्तु बोपदेव का बनाया हुआ है। वे पण्डे-पुरोहितों को कहा करते थे कि सत्य के प्रचार से इसलिए न हिचकिचाओ कि आजीविका जाती रहेगी। खीर-पूड़ी आदि प्रारब्ध-जन्य भोग तुम्हें सत्य-प्रचार से भी पुष्कल प्राप्त होते रहेंगे। यहाँ रंगाचार्य के एक शिष्य ने भी स्वामी जी से गीता के एक श्लोक पर कुछ वार्त्तालाप किया था, परन्तु वह अत्यन्त हठीला था।

एक जन के पूछने पर स्वामी जी ने कहा—"शिव, कल्याणकारी परमेश्वर का नाम है, उसे मैं मानता हूँ, परन्तु पार्वती के पति में मैं विश्वास नहीं रखता।"

स्वामी जी के सन्तोष का, क्षमा का, शान्ति का, सरलता का सभी सन्त लोग यश गाते थे। उनकी विद्वत्ता का लोहा सारी पण्डित-मण्डली ने मान लिया था। उनके विजय-नाद की गम्भीर ध्वनि से पुष्कर से लेकर मरुभूमि के दूर-दूर के प्रदेश गुंजायमान हो गये थे। अनेक सज्जनोंने स्वामी जी को अपने-

अपने नगरों में पधारने के लिए निमन्त्रण भी दिये। जोधपुर के एक वकील महाशय भी आये और अपने नगर में पधारने के लिए आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने लगे। स्वामी जी स्वयं भी मारवाड़ की यात्रा के इच्छुक थे। परन्तु अचरौल के ठाकुर के भेजे हुए जोशी रामस्वरूप स्वामीजी को अचरौल लिवा ले जाने के लिए वहाँ बहुत दिनों से डेरा डाले बैठे थे। उनके अत्याग्रह से स्वामी जी ने अपनी यात्रा का पथ-परिवर्तन कर लिया।

पुष्कर से तीन कोस पूर्व की ओर मार्कण्डेय की एक गुफा है। पुष्कर-निवास के दिनों में स्वामी जी वहाँ से विभूति मँगाकर रमाया करते थे। उनके कण्ठ में रुद्राक्ष की माला थी। उसके बीच-बीच में एक-एक दाना श्वेत काँच का भी था। स्वामी जी उन दिनों में उपनिषदों का अनुशीलन किया करते थे। इस प्रकार २२ दिन पुष्कर में निवास करके श्री स्वामी जी ने अजमेर की ओर प्रस्थान किया।

: ४ :

ईसाइयों से संवाद : दो महात्माओं की परीक्षा

द्वितीय ज्येष्ठ वदी प्रथमा १९२३ को स्वामी जी अजमेर में पहुँचे और वंशीलाल जी के उद्यान में उतरे। उस समय स्वामी जी के साथ पाँच मनुष्य थे; जिनमें से एक ६० वर्ष का वृद्ध ब्रह्मचारी संस्कृत का विद्वान् था। उनके आतिथ्य का प्रबन्ध सेठ कृष्णचन्द्र जी करते थे।

स्वामी जी ने आते ही सारे नगर में विज्ञापन लगवा दिये कि मूर्ति-पूजन आदि विषयों पर किसी को शंका हो तो आये, समाधान किया जायगा; कुछ लोग इधर-उधर की बात बनाते रहे परन्तु सम्मुख कोई न हुआ। पण्डितों ने प्रश्न लिखकर स्वामी जी के समीप भेजे कि, संन्यासी को तीन दिन से अधिक किसी ग्राम में ठहरना उचित नहीं है। बग्घी आदि यान पर आरोहण करना नहीं चाहिए। स्वामी जी ने उत्तर में लिख भेजा कि उपकार के लिए, संन्यासी को, एक स्थान में अधिक काल ठहरने में कोई दोष नहीं है। शुभ वृत्ति में, यदि यानारोहण करना पड़े तो वह निर्दोष है। महाराज ने उनके पत्र में बहुत सी अशुद्धियाँ भी प्रदर्शित कीं। मन्दिर को वे अड्डा कहा करते

थे। बहुत मनुष्यों ने उनसे भागवत की भूलों के विषय में पूछा, तो उन्होंने तीन-चार पन्ने अपने हाथ से लिखकर लोगों को दिये। वहाँ उन्होंने शैव सम्प्रदाय का भी बहुत खण्डन किया।

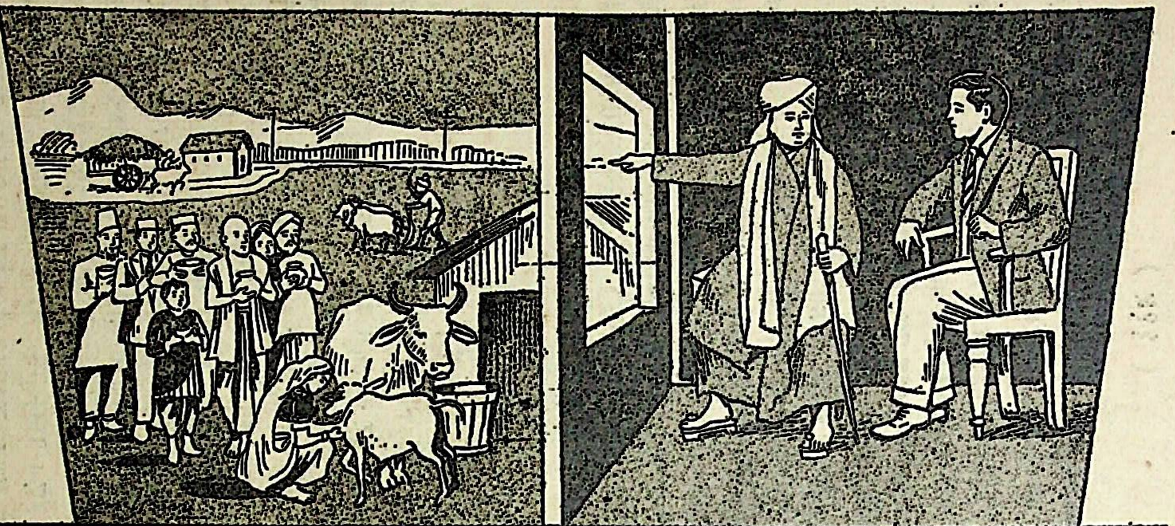
अजमेर में स्वामी जी का पादरी राबिन्सन, ग्रे और शूलब्रेड के साथ जीव, ईश्वर, सृष्टि-क्रम और वेद विषय पर, तीन दिन तक संवाद होता रहा। स्वामी जी बड़ी योग्यता से उत्तर देते रहे। चार दिन, ईसा का ईश्वर होना, मरकर जी उठना, फिर आकाश पर आरोहण करना इत्यादि बातों पर स्वामी जी ने प्रश्न किये। इनका पादरियों से कोई उत्तर न बन आया। इस पर लड़कों ने ताली पीट दी, परन्तु स्वामी जी ने उनको ऐसा करने से रोक दिया। उस शास्त्रार्थ में पादरियों ने एक वेद-मंत्र का नाम लेकर कुछ पाठ पढ़ा। परन्तु स्वामी जी ने जब उसका पता पूछा, तो वे कुछ न बता सके। अगले दिन संवाद के लिए पादरी नहीं आये। कहते हैं कि बाद में, किसी आक्षेप के कारण चिढ़कर, पादरी शूलब्रेड ने स्वामी जी से कहा कि ऐसी बातों से आप कभी कारावास में चले जायँगे। स्वामी जी ने बड़ी गम्भीरता से मुस्कराते हुए कहा, "सत्य के लिए कारावास कोई लज्जाजनक वार्त्ता नहीं है। धर्म्म-पथ पर आरूढ़ होकर, मैं ऐसी बातों से सर्वथा निर्भय हो गया हूँ। प्रतिपक्षी लोग, यदि अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलायेंगे, तो जहाँ कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक की कोई तरंग भी न उत्पन्न होगी, वहाँ मैं अपने प्रतिपक्षियों की अकल्याण-कामना भी कभी नहीं करूँगा। पादरी जी! मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी लोगों ने फाँसी पर लटका ही तो दिया था।"

बड़े पादरी राबिन्सन के निमन्त्रण पर, स्वामी जी उनसे मिलने गये। शिष्टाचार के अनन्तर पादरी जी ने पूछा कि, ब्रह्माजी ने जो अपनी पुत्री से व्यभिचार किया था उसका आप क्या समाधान करते हैं? स्वामी जी ने तुरन्त उत्तर दिया कि एक नाम के अनेक मनुष्य हुआ करते हैं। इसमें कोई प्रमाण नहीं कि यह वही ब्रह्मा थे। महर्षि ब्रह्मा तो अत्यन्त पवित्र थे। स्वामी जी के कथन पर पादरी अति प्रसन्न हुए और उनको अपने हाथ से लिखकर एक पत्र दिया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदों का एक विख्यात विद्वान् है। मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन में इन जैसा संस्कृत का पण्डित दूसरा

नहीं देखा। ऐसे महापुरुष संसार में बहुत थोड़े होते हैं। इनसे जो भी मिलेगा लाभ ही उठायेगा, जो सज्जन इनसे मिले इनका सम्मान करे।

मेजर ए. जी. डेविडसन महाशय से मिलने के लिए भी स्वामी जी गये थे। वार्त्तालाप के क्रम में स्वामी जी ने कहा, "राजा प्रजा के लिए पितावत् होता है और प्रजा राजा के निकट पुत्र तुल्य होती है। यदि कोई पुत्र विपरीत मार्ग पर चले तो पिता का कर्त्तव्य है कि उसे सन्मार्ग पर लाये। आप भी एक प्रकार के राजा हैं। देश में अन्धकार फैल रहा है। आप के शासन में मत-मतान्तरों के लोग भोली प्रजा को नोच-नोचकर खा रहे हैं। इससे भारतीय प्रजा में अगणित दुःखों की सृष्टि हो गई है। आपका धर्म है कि इसका कोई प्रबन्ध करके प्रजा का रक्षण करें।" कमिश्नर महाशय ने उत्तर दिया— "यह विषय धर्म से सम्बन्ध रखता है। शासक लोग इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। यदि किसी अन्य प्रकार की सहायता आपको चाहिए तो वह दी जा सकती है।" इसके पश्चात् आप सहायक कमिश्नर, रेपटन महाशय से भी मिले।

उन दिनों, कर्नल ब्रुक महाशय गवर्नर जनरल के एजण्ट थे। वे गेरुए कपड़ों वालों से बहुत चिढ़ा करते थे। एक दिन का वर्णन है कि वे लाला वंशीलाल के उद्यान में आ गये। स्वामी जी उस समय कुरसी पर बैठे थे। समीप उपस्थित लोगों ने दूर से कर्नल ब्रुक को आते देखा तो स्वामी जी को कुरसी हटा लेने के लिए कहा, परन्तु स्वामी जी ने उलटा कुरसी और भी आगे बढ़ा ली। कर्नल महाशय भीतर प्रवेश कर आये। उस समय लोग और भी अधिक घबराने लगे, परन्तु स्वामी जी ने उन्हें कहा कि डरो नहीं, शान्त रहो। जब वे समीप आये तो स्वामी जी कुरसी से उठकर टहलने लग गये। समीप आते ही श्री कर्नल महाशय टोपी उतारकर स्वामी जी की ओर बढ़े। स्वामी जी भी सम्मुख हुए और दोनों ने हाथ मिलाकर परस्पर सम्मान प्रदर्शन किया। फिर दोनों आमने-सामने कुरसियों पर बैठकर शिष्टाचार के वार्त्तालाप में प्रवृत्त हुए। तत्पश्चात् श्री स्वामी जी ने कहा कि, आप धर्म की स्थापना करते हो अथवा उत्थापन ? कर्नल महाशय ने उत्तर दिया कि धर्म की स्थापना को तो हम भी अच्छा समझते हैं, परन्तु जिसमें लाभ होता है वही किया जाता है। स्वामी जी ने कहा कि मैं तो यही कहूँगा कि आप



राजस्थानके पोलिटिकल एजेन्ट कर्नल ब्रुक्स से गौ रक्षा पर वार्तालाप

लोग लाभ का काम नहीं करते, किन्तु हानि का करते हैं। उन्होंने पूछा, भला कैसे ? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि यह तो आप भी मानते होंगे कि एक गाय के जीवन से कितना बड़ा लाभ होता है और उसे मारकर खा जाने से कितनी भारी हानि है। एजण्ट महाशय ने स्वीकार किया कि गोवध से हानि अवश्य होती है। तब स्वामी जी ने कहा कि फिर आप गोवध क्यों करते हैं ? एजण्ट महाशय ने कहा, "आपकी यह बात हम मानते हैं। आप कल हमारे बंगले पर आइयेगा। उस समय फिर वार्त्तालाप करेंगे।" अगले दिन श्रीमान् कर्नल ब्रुक के यहाँ से स्वामी जी के लिए गाड़ी आ गई। स्वामी जोशी रामस्वरूप सहित गाड़ी में बैठ बंगले पर पहुँच गये। कोई पौन घण्टा भर गो-रक्षा विषय पर वार्त्तालाप होता रहा। जब कर्नल महाशय ने गो-रक्षा से लाभ और वध से हानि स्वीकार कर ली तो स्वामी जी ने कहा कि आप यत्न करके गोवध बन्द करा दीजिए। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि स्वामी जी महाराज ! गोवध बन्द कराना मेरे अधिकार में नहीं है। मैं आपको चिट्ठी देता हूँ, आप लाट महाशय को मिलें। अन्य भी जिस राजकर्मचारी को आप मेरी चिट्ठी दिखायेंगे वह आपको अवश्य सम्मानपूर्वक मिलेगा। वह चिट्ठी लेकर स्वामी जी स्व-स्थान को चले आये।

श्रीमान् कर्नल ब्रुक ने स्वामी जी से जयपुर का समाचार सुनकर एक पत्र महाराजा रामसिंह जी को भी लिखा था कि शोक आपने एक अपूर्व पण्डित के साथ सम्भाषण न किया। उस पत्रको पढ़कर महाराजा जी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और अचरौल के ठाकुर जी द्वारा स्वामी जी के दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे।

एक दिन साँवले रङ्ग के दो युवक तपस्वी, नाग-पर्वत के जङ्गल से, स्वामी जी के मिलापार्थ वहाँ आये। स्वामी जी ने उन्हें बड़े आदर-सत्कार से बिठलाया। वे संस्कृत के बिना किसी दूसरी भाषा में बात-चीत नहीं करते थे। कुछ काल तक योग-सम्बन्धी चर्चा होती रही। चलते समय वे कहने लगे—"स्वामी जी ! हम तो अब तृप्त हैं, पूर्ण शान्त हैं।" स्वामी जी ने कुछ हँसकर कहा, "नहीं, महात्माजी ! अभी अहंकार जीतना शेष है।" उन्होंने कहा, "हमने अहंकार सर्वथा जीत लिया है।" तपस्वी अभी भीतर से निकलकर बाहर गये ही थे कि स्वामी जी के संकेत से, एक ब्रह्मचारी ने

उनसे कलह करना आरम्भ कर दिया। वह झगड़ा इतना बढ़ा कि दोनों तपस्वी और ब्रह्मचारी, आपस में गुत्थम-गुत्था हो गये और एक दूसरे को पटकते हुए ऊपर-नीचे होने लगे। कलह का कलकल नाद सुनकर भीतर बैठे हुए सब मनुष्य स्वामी जी सहित बाहर आ गये और उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया। फिर स्वामी जी महाराज ने उन तपस्वियों को भीतर ले जाकर समझाया कि आप हमारा कहना नहीं मानते थे; परन्तु अब परीक्षा से सिद्ध हो गया कि आप में अहङ्कार की कला अभी मन्द नहीं हुई। मुनियों को और विशेषतः अभ्यासियों को अभिमान कदापि नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

कलश पूर्ण छलके नहीं, घोषण होवे ऊन,
ज्ञानी जन में गर्व नहिं, अज्ञ दम्भ परिपूर्ण।
गरजे बहु, वरसे नहीं ओछे में अहंकार,
बजे घना थोथा चना कह गये ज्ञानी सार।

उन दोनों तपस्वियों ने महाराज से क्षमा-याचना की और 'नमो नारायण' कहकर चले गये। वे तपस्वी स्वामी जी के दर्शनों को दो बार आये।

उन दिनों अजमेर में रामस्नेहियों के सबसे बड़े महन्त आये हुए थे। स्वामी जी ने उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिये आहूत किया। उन्होंने उत्तर दिया कि हमारा, आपसे शास्त्रार्थ नहीं हो सकता; क्योंकि हम किसी के स्थान पर नहीं जाते और यदि कोई हमारे स्थान पर आये, तो हम अपनी गद्दी से उतरकर उसका अभ्युत्थान आदि आदर-सत्कार नहीं करते। जब स्वामी जी को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने कहला भेजा कि मुझे आवभगत की कोई आवश्यकता नहीं, आप सुखपूर्वक अचल आसन से गद्दी पर बैठे रहिए, परन्तु शास्त्रार्थ कीजिए। जब महन्त ने देखा कि वह मानादि का कोई ध्यान न करके, यहाँ ही आना चाहते हैं तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि, भाई हम तो राम-राम रटते हैं और भोजन आदि पाकर सुख से समय बिताते हैं। हमें शास्त्रार्थ आदि कुछ नहीं आता। इस पर स्वामी जी ने संस्कृत में एक पत्र लिखकर उस महन्त के पास भेजा। उसमें रामस्नेही मत पर प्रश्न थे। "इसका कल उत्तर देंगे" यह कहकर महन्त जी ने वह प्रश्न-पत्र रख लिया, परन्तु अगले दिन प्रातःकाल ही वहाँ से अपना अस्त्र-वस्त्र समेटकर भाग गये।

पण्डित हरिश्चन्द्र के गुरु-भाई देहली निवासी अजमेर में आये। स्वामी जी से उपनिषदों और मनुस्मृति पर संवाद करते रहे और सन्तोष पाकर अति प्रसन्न हुए।

धन्नालाल नामक एक जैन श्रावक, अपने मत की एक पुस्तक लेकर स्वामी जी के निकट आया। उसने कुछ प्रश्न भी किये। स्वामी जी ने उनका यथा-योग्य उत्तर देकर, उसके हाथ से पुस्तक ले ली और अपने पास रख ली। साथ ही कहा कि फिर यहाँ आइएगा, आपका समाधान भली-भाँति कर दिया जायगा। वह उस समय तो चला गया, परन्तु घर जाकर उसके हृदय में न जाने क्या विचार उत्पन्न हुआ, स्वामी जी के समीप उस पुस्तक के रह जाने से न जाने किन गुप्त भेदों के प्रकट हो जाने का भय उसे प्रतीत होने लगा, उसने कमिश्नर को प्रार्थना पत्र देकर अपनी पुस्तक, स्वामी जी से मंगा ली।

एक दिन बहुत-सी देवियाँ स्वामी जी के समीप आईं। स्वामी जी ने पूछा, "बहिनो ! कहाँ से आई हो ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "महाराज, साधुओं के पास मे होकर यहाँ आई हैं।"

स्वामी जी बोले, "साधुओं के पास क्यों गई थीं ?"

"आप कहें तो आपके पास आ जाया करें।"

"हमारे पास आने का क्या प्रयोजन है ?"

"महाराज हम उपदेश लेना चाहती हैं।"

"यदि यही प्रयोजन है तो हम स्त्रियों को उपदेश नहीं दिया करते। अपने पतियों को हमारे पास भेज देना। वे यहाँ से उपदेश सुनकर आपको भी सुना देंगे।"

यह सुनकर वे चली गईं और फिर कभी नहीं आईं।

यहाँ भी बहुत से लोगों ने कण्ठियाँ उतार दीं। सावर के ठाकुर जी स्वामी जी के उपदेश सुनने आये और प्रभावित होकर गये।

जयपुराधीश महाराजा रामसिंह जी ने, लाट महोदय के मिलापार्थ आगरे

जाना था। उन्होंने सोचा कि मथुरा में उतरने पर, यदि रङ्गाचार्य से शास्त्रार्थ हो गया तो बड़ी कठिनाई होगी। वे यह भी जानते थे कि स्वामी दयानन्द जी को छोड़कर, उसको निश्चित रूप से परास्त करने वाला दूसरा कोई भी नहीं। इसलिए उन्होंने अचरौल के ठाकुर द्वारा, स्वामी जी की सेवा में जयपुर पधारने के लिए, अजमेर में फिर निवेदन किया।

स्वामी जी को दो-एक भक्त कृष्णगढ़ ले गये और शुभसागर के तीर पर उनका उतारा कराया। यहाँ के सुयोग्य पण्डित कृष्णवल्लभ जोशी और महेशदास ओसवाल स्वामी जी से अति प्रेम करते थे। महेशदास ने स्वामी जी का आतिथ्य भी किया। कृष्णगढ़ के राजा वल्लभकुलसेवक थे, जब उन्होंने सुना कि एक स्वामी भागवत पर तीव्र आलोचना करता है, तो अनेक पण्डितों के साथ, ठाकुर गोपालसिंह जी को विघ्न-बाधा करने के लिए भेजा। मनुष्यों के अन्तरङ्ग को जानने वाली दृष्टि से स्वामी जी ने उनके गुप्त भावों को लख लिया। स्वामी जी, शौच, स्नानादि से निवृत्त होकर, तन पर विभूति रमा काष्ठ के आसन पर आ बैठे। महाराज ने उस मण्डली से वहाँ आने का कारण पूछा। उस समय एक ब्राह्मण ने कुछ पत्रे उथल-पुथल कर स्वामी जी के आगे रक्खे। महाराज ने कहा, "तुम स्वयं पढ़ो।" तब पण्डित ने पत्रे पढ़े। उनका तात्पर्य यह था कि वल्लभमत ही सर्वोत्तम है। यह सुनकर स्वामी जी ने उसका बहुत ही खण्डन किया। इसका उत्तर तो उनसे कुछ न बन पड़ा, परन्तु हल्ला-गुल्ला करने पर उतारू हो गये। उनके इस गड़बड़ाध्याय को देख, स्वामी जी महाराज अपने काष्ठासन पर खड़े होकर, गम्भीर-गर्जनापूर्वक बोले, "मुझे अकेला समझकर आगे हाथ न बढ़ाना। अकेला तो मैं अवश्य हूँ, परन्तु तुम सबकी हेकड़ी तोड़ने के लिए पर्याप्त हूँ। यदि शास्त्रार्थ करना हो तो कटिबद्ध हूँ, परन्तु यदि 'शस्त्रार्थ' ही करना चाहते हो तो भी पीछे नहीं हटूँगा, तुम्हारा मान-मर्दन करने को सुसज्जित हूँ।"

इतने में श्रीमाली वंश के ब्राह्मण, तीस-चालीस की संख्या में स्वामी जी की सहायता के लिए आ पहुँचे, और उसी समय कलह-प्रिय लोग वहाँ से भाग गये।

यथा शृगाल-समूह का रव सुन सिंह-सुवीर,
हस्ति-यूथ को देखकर होवे नहीं अधीर।

वैसे साहस सत्त्वयुत डरे न पुरुष प्रधान,
क्षुद्र मनुज मिलकर करें भले विरोध महान।

: ५ :

गुरुराज के चरणों का अन्तिम स्पर्श

कृष्णगढ़ से चलकर, स्वामी जी महाराज दूदू पधारे और राज-मन्दिर में ठहरे। यहाँ तीन दिन उपदेश हुए। फिर एक रात बगरू में ठहर कर जयपुर चले गये। अचरौल के ठाकुर जी ने श्री स्वामी जी के पधारने का समाचार महाराजा को दे दिया। उन्होंने व्यास वक्षीराम को स्वामी जी की सेवा में भेजकर निवेदन किया कि कृपया राजमन्दिर में पधार कर कृतार्थ कीजिए। स्वामी जी ने व्यास जी को कहा कि आप भली-भाँति जानते हैं कि राजमन्दिर में जाने की मुझे कुछ भी आकांक्षा नहीं है। यदि महाराजा जी कुछ वार्त्तालाप करना चाहते हैं तो किसी समय वे यहीं आ जायें। व्यास जी ने यही बात महाराजा जी से जाकर निवेदन कर दी। तत्पश्चात् महाराजा जी ने ठाकुर रणजीतसिंह जी को कहा कि आप किसी प्रकार श्री स्वामी जी को यहाँ लाकर मुझे दर्शन करायें। ठाकुर श्री रणजीतसिंह जी ने अन्य अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों को साथ ले, श्री स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हो, राज-मन्दिर में पधारने के लिए बड़ी अनुचय-विनय की। अत्याग्रह पर स्वामी जी ने स्वीकार कर लिया, और वे वहाँ से आकर मौज मन्दिर में विराज-मान हुए।

उस समय पण्डित लोग भी बड़े समारोह से वहाँ एकत्रित हुए थे। कारणवश महाराजा रामसिंह अन्तःपुर में गये हुए थे, इसलिए चेले ने आकर कहा कि इस समय महाराजा जी का आना न हो सकेगा। यह सुन, सब उठ-कर चले आये। उसके पश्चात् महाराजा रामसिंह ने बहुत प्रयत्न किया कि श्री स्वामी जी राजमन्दिर में पधारें, परन्तु स्वामी जी सर्वथा अस्वीकार करते रहे। इस बार स्वामी जी वहाँ आश्विन मास के आध तक ठहरे। जब वहाँ से आगरे जाने लगे तो ठाकुर रणजीतसिंह जी तथा उनके कार्य-कर्त्ता राम-दयाल जी को रुलाई आ गई। उनको अश्रुमोचन करते देख स्वामी जी ने कहा

कि हमने जो उपदेश आपको दिया है वह हँसाने वाला है, न कि रुलाने वाला। फिर प्रतिष्ठित पुरुषों ने अतिशय सम्मान से स्वामीजी को विदा किया।

कार्तिक वदी नवमी संवत् १९२३ को श्री स्वामी जी आगरे में पधारे। वहाँ बड़े समारोह के साथ एक भारी दरबार होने वाला था। दूर-दूर से राजे-महाराजे बुलाये गये थे। उस समय वहाँ एक अद्भुत सज-धज और ठाठ-बाट था। स्वामी जी महाराज ने भी धर्म्मोपदेश के लिए ऐसे समय को उपयोगी समझा। मौखिक उपदेशों के अतिरिक्त, सात-आठ पृष्ठ की एक छोटी-सी पुस्तक भागवत-खण्डन पर लिखी। इसकी कई सहस्र प्रतियाँ छपवाकर, वहाँ वितीर्ण करा दीं और कई सहस्र हरिद्वार पर बाँटने के लिए, मथुरा जाते हुए, साथ ले गए।

पाँच विद्यार्थियों सहित स्वामी जी अपने गुरु की चरण-शरण में गये और नम्रीभूत होकर गुरुराज को नमस्कार किया। एक सुवर्णमुद्रा और एक मलमल का थान भेंट किया। भागवत-खण्डन पुस्तक का परिचय भी कराया। गुरुदेव अपने कृपापात्र, सुयोग्य और विजयी शिष्य को मिलकर अति प्रसन्न हुए। कृपा-हाथ सिर पर फेर कर भूरि-भूरि आशीर्वाद प्रदान करने लगे। उनका हृदय हर्षोत्कर्ष के पूर से भर गया और उन्हें यह जानकर पूर्ण सन्तोष हुआ कि उनके लगाए हुए पेड़ पर मनोवाञ्छित फल आया है, उनका उद्देश्य भली-भाँति सिद्ध हो रहा है।

स्वामी जी महाराज कई दिन तक गुरु-सेवा में रहकर संदेहास्पद विषयों को पूछते रहे, शास्त्रीय तत्त्वों को समझते रहे, और फिर हरिद्वार का कुम्भ-मेला समीप आया जान, वहाँ जाने के लिए उन्होंने गुरुदेव से अनुमति की प्रार्थना की। गुरु-महाराज का आदेश उपलब्ध कर विनीत नमस्कार पूर्वक, वे गुरु-चरणों से विदा हुए। आदर्श-गुरु और आदर्श-शिष्य का यह अन्तिम ही मिलाप था।

मथुरा से चलकर श्री स्वामी जी मेरठ में आए और एक देवी के मन्दिर में आसन किया। उस समय उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी था। स्वामी जी दोशाला ओढ़ते थे, पांव में जुराब रखते थे, और उनके गले में स्फटिक की एक माला भी होती थी। गङ्गाराम नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति से उनका साक्षात् हो गया। स्वामी जी ने उससे कहा कि गो-रक्षा और वैदिक शिक्षा

का प्रचार इस समय बड़ा आवश्यक कार्य है। उन्होंने यह भी कहा कि इस शुभ कार्य में सुयोग देने के लिए, आगरा दरबार में सम्मिलित हुए राजाओं ने हमें अभिवचन दिया है। गङ्गाराम जी ने कहा यदि राजा लोग सहायतार्थ अग्रसर हुए, तो हम लोग अति प्रसन्नता से सम्मिलित हो जायेंगे।

गङ्गाराम जी ने एक दिन अभ्रक भस्म की चर्चा चलाई। स्वामी जी ने कृष्ण अभ्रक के भस्म की एक पुड़िया उसे दी। उसने सारी भस्म भी देखनी चाही। स्वामी जी ने वह भी उसे दिखा दी। गङ्गाराम ने कहा, "स्वामी जी! अभ्रक तो बड़ा वाजीकरण औषध है। इसका सेवन करके सबको वशीभूत कर लेने वाले कामदेव से आप कैसे बच गये हैं?" स्वामी जी ने उत्तर दिया, "काम-वासना जीतने का यह विधान है कि एकांत स्थान में रहे, नाच आदि कभी न देखे। अनुचित स्वरूप का देखना, अनुचित शब्द का सुनना और अनुचित वस्तुओं का स्मरण करना परित्याग कर देवे। स्त्रियों की ओर न निहारे। नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इन साधनों से वासना मन्द हो जाती है। मनुष्य जितना वासना की तृप्ति का यत्न करेगा वह शान्त न होकर उतनी ही बढ़ती चली जायगी। इसलिए विषय-वासना का चिन्तन भी न करे। जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को, रात-दिन प्रणव का जप करना चाहिए। रात को यदि जप करते हुए आलस्य बहुत बढ़ जाय तो दो घण्टा भर गाढ़ निद्रा लेकर उठ बैठे और पूर्ववत् पवित्र प्रणव का जप करना आरम्भ कर दे। बहुत सोने से स्वप्न अधिक आने लग जाते हैं, ये जितेन्द्रिय जन के लिए अनिष्ट हैं। प्रातःकाल मालकंगनी के पाँच दाने खा लिया करे। इस प्रकार जप आदि साधनों से काम-वासना जीत ली जाती है।

विषय का विषधर जब डसे ओम् जड़ी ले चाब,
नाग-दमन की ओषधी ढूँढन दूर न जाव।
उपशम होवे वासना मनके मिटें विकार,
यदि विधि से नित लीजिए नाम अमोल अपार॥

स्वामी जी यहाँ कई दिन निवास करने के पश्चात् हरिद्वार को चल पड़े।

इतने चिर से खण्डन के क्षेत्र में उतर कर महाराज ने मूर्तियों का खण्डन किया; वैष्णव, शैव, और शाक्त आदि सम्प्रदायों को अमूलक प्रमाणित किया; वाम आदि कु-पथों की पोल खोली; कण्ठी, तिलक, छाप, माला का निराकरण

किया; अवतारवाद और पुराण-उपपुराण वेद-विरुद्ध सिद्ध किये; गङ्गादि नदियों के स्नान और एकादशी आदि व्रतों के माहात्म्य को अलीक ठहराया और वेद तथा आर्ष ग्रन्थों को प्रामाणिक बताया।

: ६ :

पाखण्ड-खण्डिनी पताका : आत्म-बल के लिये साधना

हरिद्वार का कुम्भ-मेला, समस्त आर्यावर्त में एक अद्भुत और अतुल मेला होता है। साधु-सन्त, जपी-तपस्वी, और चारों वर्णों के उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट कोटि के गृहस्थ लाखों की संख्या में, दूर-दूर से यहाँ एकत्रित होते हैं। संन्यासियों तथा गुसांइयों के मठ, उदासियों और निर्मलों के अखाड़े, साधु-सन्तों से भर जाते हैं। वैरागी लोग सहस्रों की संख्या में वहाँ रहते हैं। अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदायों के लोग भी अपनी-अपनी टोलियाँ बनाकर वहाँ निवास करते हैं। मण्डलेश्वर साधु-महात्मा मण्डलियों सहित विविक्त प्रदेशों में पर्ण-कुटियाँ डालकर, कथा-वार्त्ता करते और शिष्यों से परस्पर वाद-वितण्डा कराते हुए, अति गौरवसूचक ढङ्ग से कालयापन करते हैं। परन्तु विरक्त सन्त इस कोलाहल-आकुल स्थान से अति दूर, एकान्त-शान्त भू-भाग में रहकर, आत्माकार वृत्ति में निमग्न संन्यास-धर्म का एक ज्वलन्त उदाहरण दिखाई पड़ते हैं। राजे-महाराजे, सेठ-साहूकार वहाँ आकर, अपनी उदारता का द्वार खोल देते हैं। जप-तप, भजन-पाठ, पूजन-आराधन, ज्ञान-ध्यान और दान-पुण्य करते हुए सहस्रों नर-नारी, उस समय उस स्थान के वायु-मण्डल को बदल देते हैं। सर्वत्र एक अपूर्व शोभा छा जाती है।

स्वामी दयानन्द महाराज ने ऐसे समय को अपने उद्देश्य की उद्घोषणा के लिए बहुत अनुकूल समझा। इसलिए कुम्भ-संक्रान्ति के एक मास पूर्व, चैत्र संवत् १९२४ के आरम्भ में तदनुसार फाल्गुन सुदी ७ सं० १९२३ को वे हरिद्वार पधारे। वहाँ भीमगोड़े के ऊपर, सप्तस्रोत पर एक बाड़ा बाँध, कुछ पर्ण-कुटियाँ निर्माण कर, वहाँ, शंकरानन्द जी आदि पाँच-छः जनों के साथ रहने लगे। महाराज ने सत्य के प्रचार के स्थान पर एक "पांखण्ड-खण्डिनी"

नामक पताका स्थापित कर दी और प्रतिदिन सत्य का उपदेश करना आरम्भ कर दिया। जिस दिन, साम्प्रदायिक धर्म की राजधानी में, पौराणिक धर्म के केन्द्र में, एक निर्भय आत्मत्यागी महात्मा ने सत्य का नाद बजाया वह दिन धर्म के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। पौराणिक धर्म के उस गढ़ में उन्होंने वैदिक धर्म की घोषणा की। साम्प्रदायिक सघन वन पर समालोचना के कठोर कुठाराघात किये। पौराणिक कथा और माहात्म्य की कोमल, ललित लताओं पर तीव्र खण्डन का प्रखर खड्ग-प्रहार किया। स्वामी जी महाराज के आश्रम पर झूलते हुए, निराले झण्डे को देखकर लोग शत-शत संख्या में भीतर चले जाते और उनमें से बहुतेरे स्वामी जी के कथनों को स्वीकार कर लेते थे। उस सारे महा-मेले में, जहाँ सुनो श्रीमद्दयानन्द जी के प्रबल प्रचार की ही चर्चा सुनाई देती थी। आज तक लोगों ने एक संन्यासी के मुख से मूर्ति-पूजन का खण्डन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का अमूलकपन, पुराणों तथा उप-पुराणों का काल्पनिक होना और पर्व-स्नान-माहात्म्य का मिथ्यात्व नहीं सुना था। इसलिए कई लोग इस नवीन दृश्य को अति विस्मय से देखते थे। कई एक इसका दोष कलिकाल के माथे मढ़ते थे। और फिर कितने ही पण्डित, संन्यासी को 'नास्तिक' कहकर अपने शिष्यों, सेवकों और यजमानों का मुँह मूँदने की चेष्टा करते थे। पण्डितों और साधुओं ने स्वामी जी के विरुद्ध व्याख्यान देना भी आरम्भ कर दिया, उनके प्रति कुवाच्य कहने में भी उन्होंने कोई त्रुटि उठा न रक्खी। परन्तु वहाँ तो इतना भारी भूकम्प हो रहा था कि देवमाला रूपी गिरिमाला उसके धक्के से, बार-बार हिल-हिल जाती थी। बहुत से ब्राह्मण और साधु स्वामी जी की कुटी पर शास्त्रार्थ करने जाते और दो-एक प्रश्नोत्तर में ही निरुत्तर हो जाते थे।

एक दिन सन्त अमीरसिंह निर्मले ने चित्सुखी की एक पंक्ति स्वामी जी से पूछी। स्वामी जी ने उसे उत्तर देते हुए कहा कि आपके लिए मैं इसका अर्थ कर देता हूँ, परन्तु यह अनार्ष ग्रन्थ है इसे प्रमाण-कोटि में नहीं मानना चाहिए।

स्वामी महानन्द जी संस्कृत-पठित थे। उन्होंने अपने जीवन में पहिली ही बार वेदों के दर्शन श्री स्वामी जी के पास किये। कनखल पाठशाला के प्रसिद्ध पण्डित वस्तीराम जी ने स्वामी जी से व्याकरण पर संवाद किया।

अन्य भी अनेक विद्वान् और वादीजन श्रीसंगति में जाते रहे। जो सन्त-महन्त, अपनी गद्दी के गौरव से कहीं आते-जाते नहीं थे वे अपने शिष्यों को भेज स्वामी जी की बातें सुनते थे। कुछ एक राजे-महाराजे भी संन्यासीराज के दर्शनों को पधारे थे।

काशी के सुप्रसिद्ध पण्डित, स्वामी विशुद्धानन्द जी ने एक दिन "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" इस मन्त्र का अर्थ यह किया कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य ऊरु से, और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं। स्वामी जी ने विशुद्धानन्द जी के अर्थों पर कटाक्ष करते हुए श्रोताओं को सदर्थ सुनाया कि चतुर्वर्ण-युक्त मनुष्य-समाज में ब्राह्मण मुख हैं, अर्थात् मुख-सदृश हैं, क्षत्रिय भुजा हैं, वैश्य ऊरु हैं और शूद्र पाँव हैं।

उन्हीं दिनों में, गुसांइयों और स्वामी विशुद्धानन्द में परस्पर खटपट हो गई, जिससे गुसांइयों ने स्वामी विशुद्धानन्द पर अभियोग चला दिया। गुसाईं स्वामी जी के समीप जा सहायतार्थ प्रार्थी हुए। स्वामी जी ने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि इस विषय में तुम दोनों हमारे लिये समान हो। इसलिए हम किसी एक की सहायता नहीं कर सकते।

उस महा-मेले पर स्वामी जी ने बहुत से व्याख्यान दिये। अनेक शास्त्रार्थ किये। बीसियों वादियों को जीता। सैकड़ों जिज्ञासुओं को समझाया और भागवत-खण्डन की सैकड़ों पुस्तकें बाँटीं, परन्तु अन्त को उनके निर्मल चित्त-चन्द्र में उदासीनता की एक रेखा उभर आई। स्वामी दयानन्द जी ने अकाल-पीड़ित प्राणियों के करुण क्रन्दन को अपने कानों सुना था। अवध आदि प्रान्तों में भ्रमण करके वहाँ दीन-दुर्बल दुःखियों की हृदय-विदारक दशा को अपनी आंखों देखा था। विन्ध्याचल आदि प्रदेशों की यात्रा करते हुए कोल, भील, और संथाल आदि भारत माता के पुत्रों को अमानुष अवस्था में अव-लोकन किया था। उन्होंने क्षत्रियों की तेजोहीन क्षीण देहों को, उनके ऐतिहासिक स्थानों में जाकर दृष्टिगोचर किया था। वैश्यों की अवस्था भी उनसे छिपी न थी। सत्य धर्म के सूर्य को साम्प्रदायिक राहु ने ग्रस लिया है, यह वे जानते ही थे। ईसाई धर्म की बढ़ती हुई बाढ़, किस प्रकार अबोध ग्रामीण प्रजा को प्लावित किये जा रही है, यह उन्हें विदित हो ही गया

था। मिथ्या संस्कारों का विषम विषैला कीड़ा, जातीय जीवन की जड़ों में किस प्रकार घुसा जाता है, यह उन्हें ज्ञात हो चुका था। वे यह भी जानते थे कि पश्चिमी विचार, पुरातन आर्यसभ्यता को, आर्य-संस्कारों को, आर्य धर्म-कर्म को और रीति-नीति को, किस प्रकार घुन के सदृश खोखला किये जा रहे हैं। इसी कारण उनके अन्तःकरण में ऊष्मा बढ़ गई थी, हृदय-स्रोत से भूत-दया का प्रबल प्रवाह प्रवाहित हो गया था। मस्तिष्कतन्तु-जाल में एक विचित्र संचालन उत्पन्न हो आया था, और काया में क्रियात्मक जीवन की एक अद्भुत उत्तेजना का प्रादुर्भाव हुआ। किसी भी महान् कार्य का एकाकी सिद्ध करना सुगम नहीं। इसलिए सहायतार्थ स्वामी जी ने पहले आर्य जाति के सिर को हिलाया। ब्राह्मणों को जगाने में वे यत्नशील हुए। उन्होंने पंडितों-पुरोहितों को बहुतेरा उकसाया, उत्तेजित किया, प्रोत्साहन दिया, परन्तु ऋषि-मुनियों के वंशजों के, पुरातन आर्य सन्तानों के अङ्ग, इतने शिथिल होगये थे, उनके मस्तिष्क-मज्जातन्तु इतने मन्द पड़ गये थे कि उनमें गति उत्पन्न होने में ही न आई। उनके चित्त, काल-चक्र की विचित्र पेचीली चाल से सचेत न हो सके। आगरा, ग्वालियर, जयपुर, पुष्कर और अजमेर आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए उन्हें प्रत्यक्ष हो गया था कि ये पण्डित-पुरोहित जन, अपने पुरातन पुरुषों के पौरुष को खो चुके हैं। ये तो अब इतने असमर्थ हो गये हैं कि परोपकार के लिए एक साधारण सी सामयिक स्वार्थ-शृङ्खला को तोड़ने का भी साहस नहीं करते। विरोध के घनघोर घटाटोप सहित निराशा और हताशा की महातमोमयी अमावस्या की रात्रि में उन्हें अति दूर पर, आशा का एक टिमटिमाता हुआ दीपक दिखाई दिया, और वह हरिद्वार के द्वादशवर्षीय कुम्भ पर साधु-संन्यसियों का सम्मिलन था। स्वामी जी के हृदय-कमल में आशा की ऐसी सुगन्ध का उद्भव होना स्वाभाविक था कि साधु-संन्यासी लोग, घर-बार त्यागी हैं, विरक्त हैं, भिक्षामात्रोपजीवी होने से स्वार्थ-कीचड़ से पार पा गये हैं, ब्रह्मचिन्तन के कारण आत्मज्ञानी और समदृष्टि हैं, लोभ-मोह के बन्धन तोड़ बैठे हैं। यदि ये जागृत हो जायँ, सत्य के सहायक बन जायँ, भूतदया के प्रभाव से प्रभावित हो जायँ, परहित-कामना से कटिबद्ध होकर कार्य-क्षेत्र में उतर आयें तो आर्य-सन्तान के सिर पर से दुःख-दारिद्रय के दिन दूर होते देर न लगेगी। इसके भाग्य का

पूर्ण चन्द्रमा, उन्नति के विशाल, विमल नील नभ में फिर से चमकने लग जायगा। आर्य धर्म का प्रचार, आर्यावर्त में ही क्यों, देश-देशान्तरों में भी हो जायगा। सर्वत्र ही आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रवृत्त हो जायगा, परन्तु सारा बल लगाने पर भी, वहाँ महा-मेले में एक भी सत्य का सहायक साधु-संन्यासी न मिला, हिमालय के चरणों में उन्होंने एक भी ऐसा यति न देखा जो राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित हुआ हो, जो पर-पीड़ा के लिए अनुकम्पा-भाव रखता हो। एक ब्रह्मज्ञानी कर्मवीर भी, जागतिक हित की जोत जगा कर सब ठौर चांदना कर देता है, परन्तु वहाँ सैकड़ों ब्रह्मज्ञान का अभिमान करने वालों में किंचित् भी क्रिया-धर्म और पराक्रम न पाया। गङ्गा के निर्मल नीर के तीर पर एक भी भगवद्भक्ति और प्रजा-प्रेम की इकठ्ठी माला जपता हुआ न मिला। वेष था, नाम था, आकृति थी, परन्तु उस सारे मेले में वह आत्मा नहीं था जो अनुभव करता, जो सत्यपरायण होकर स्वामी जी का संगी-साथी बन जाता। उस समय सचमुच, महाराज ने अपने आपको अकेला अनुभव किया।

जिसमें नहिं जातीय हित, पर सुधार उपकार,
धर्म-भावना रहित जो, सो नर देह असार।
जीना परहित-शून्य का, ऐसा जग में जान,
ज्यों लुहार की धौंकनी, सांस लेइ, नहिं प्राण।
सत्य हेतु जो नर जिये, करे सत्य व्यवहार,
पर हित में भी रत रहे, वह प्रणम्य शत बार।

उन्होंने सोचा कि परोपकार एक महायज्ञ है। इसी को पूर्ण करने के लिए मैं दीक्षित हुआ हूँ। परन्तु यह सर्वोपरि यज्ञ तब तक सिद्ध न होगा जब तक इसकी पूर्णाहुति में सर्वस्व स्वाहा न किया जायगा। स्वामी जी ने सारे उपकरण वहीं त्याग दिये, और महाभाष्य की एक पुस्तक, एक स्वर्णमुद्रा, और मलमल का एक थान श्री गुरुदेव की सेवा में मथुरा भेज दिया। कैलाश-पर्वत जी ने पुस्तकें आदि त्यागते देखकर स्वामी जी से पूछा कि यह क्या करने लगे हो? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि जबतक आवश्यकतायें अल्प न की जायें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती और प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो सकता। मैं सब पन्थाइयों के विरुद्ध स्पष्ट कहना चाहता हूँ। इसके लिए निर्द्वन्द्व होना परमावश्यक है।

स्वामी जी पुस्तकें आदि सब त्याग कर सारे तन पर राख रमा, एक कौपीनमात्रधारी, मौनावलम्बी हो गये। व्याख्यान देना और वाद-विवाद करना तो दूर, वाणी का व्यापार भी बन्द करके, केवल अपनी कुटी में ही रहने लगे। जो केसरी अपने गम्भीर नाद से सारे मठों को हिला रहा था, अखिल अखाड़ों को कंपा रहा था, जिसकी गर्जना से सब सम्प्रदायी थर्राते थे, वही स्वदेशवासियों की अकर्मण्यता के कारण मौन धारण करके चुप हो गया। वाणी का सर्व-व्यापार निरोध कर, अपनी कुटी ही में काल काटने लगा।

परन्तु जिस महात्मा ने "मौनात्सत्यं विशिष्यते" अर्थात् "चुप्पी साधन से सत्य बोलना बढ़िया है" यह पाठ पढ़ा हो, वह भला कब तक मौन रह सकता है? हरिद्वार में ही एक दिन किसी मनुष्य ने स्वामी जी के कुटी-द्वार पर आकर यह वाक्य उच्चारण किया "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" वेद से भागवत उत्तम है। असत्य का सम्मान और सत्य का हनन स्वामी जी से कैसे सहन हो सकता था? उन्होंने यह वाक्य सुनते ही मौन-व्रत छोड़कर भागवत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया।

स्वामी जी के कुटी-स्थान से ठीक उत्तर को, सप्तस्रोत से ऊपर की ओर, हिमालय की अनेक ऊँची चोटियाँ दिखाई देती हैं। ये वास्तव में परोपकार, परहित और तप की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। ये ही हैं, जो सागर से उत्थित आकाश-विहारी अर्णव को, तिब्बत में जाकर बरसने से रोक, भारत को लौटा देती हैं; आकाश-सागर के असंख्य धक्के सहन कर लेती हैं, परन्तु उसे सीमा का उल्लंघन नहीं करने देतीं; जो वेगवान् तरङ्ग उनके सिर के ऊपर से उछलकर पार जाना चाहते हैं, उन्हें ये घनीभूत हिम बनाकर अपने ऊपर बैठा लेती हैं; हिमके लाखों मन बोझ से दिनों-दिन जर्जरीभूत हो रही हैं, परन्तु भारत भूमि की रक्षा में सदा तत्पर हैं। इन्हीं के तपोबल से वर्षा है; इन्हीं के प्रताप से गङ्गा आदि नदियों की सृष्टि है; लाखों एकड़ भूमि सिंचन होती है और करोड़ों प्राणी पालन पाते हैं। यदि ये न होतीं, तो सारा आर्यावर्त मरुस्थल बन जाता। स्वामी जी के अति समीप कलकल ध्वनि करता हुआ गङ्गा जी का प्रवाह बह रहा था; जो शीत में, ग्रीष्म में, वर्षा में, रात में, दिन में निरन्तर बहा करता है। यह कुम्भ-मेले की महा-पूजा से न तो प्रसन्न और

इसके अङ्ग-भङ्ग करके नहर निकालने से न कुछ उदास होता है। यद्यपि गङ्गाजल स्वच्छ है, शीतल है, कोमल है, पतला है, परन्तु इसके विश्राम रहित अश्रान्त कर्मयोग ने, पर्वत-मालाओं के वक्षस्थलों को घोल-घोलकर अपना मार्ग बनाया है। गति में बाधक चट्टानों को चूर-चूर करके बालू में बदल दिया है। निरन्तर गति से, निरन्तर कर्म से, क्या-क्या नूतन परिणाम निकलते चले जाते हैं इसका ज्वलन्त उदाहरण गङ्गा जी का प्रवाह, स्वामी जी के सम्मुख उपस्थित था।

प्रकृति के पुस्तकालय में स्वाध्याय करने वाले, श्री स्वामी जी ने प्रण कर लिया कि ईश्वर-कृपा से जितना ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है, धर्मप्रचार और लोकहित करते हुए उसे सफल बनाऊंगा। देववाणी में वार्त्तालाप करता हुआ कुछ काल के लिए गङ्गा के किनारे-किनारे भ्रमण करूंगा। क्रियात्मक जीवन के ज्योति-स्तम्भ, कर्मयोग के उच्च आदर्श, भगवान् दयानन्द सप्तस्रोत से उठकर हृषीकेश चले गये। फिर पाँच-छः दिन के अनन्तर वहाँ से लौटकर हरिद्वार, कनखल होते हुए लण्ढौरा में आ विराजे। यहाँ वे तीन दिन से निराहार थे। भूख ने जब बहुत बाधित किया तो उन्होंने गङ्गातीर के समीपवर्ती खेत के स्वामी से बैंगन माँगे, और उससे तीन बैंगन लेकर क्षुधा-वेदना को शान्त किया। वहाँ से चलकर शुक्रताल और परीक्षितगढ़ होते हुए वे गढ़मुक्तेश्वर में पहुँचे। यहाँ पन्द्रह दिन निवास किया। उन दिनो में, स्वामी जी एक मांझी की कुटी के समीप, रात दिन रेत में पड़े रहते थे। जो कोई पास आता उसे संस्कृत ही में उपदेश देते थे। वहाँ पण्डितों से भी कुछ वार्त्तालाप हुआ था। वहाँ भी आप तीन दिन तक निराहार पड़े रहे। चौथे दिन जब माँझी की रोटी आई तो उसने विचारा कि यह परमहस तीन दिन से यहीं पड़ा है। न तो उसके पास कोई अन्न लाया है और न ही यह माँगने गया है। निरन्न पेट है। उसने स्वामी जी के पास जाकर अपनी रोटी में से आधी तोड़कर आदर से उन्हें दी, जिसे स्वामी जी ने ग्रहण कर लिया।

: ७ :

पुनः कर्त्तव्य-क्षेत्र में

इसके पश्चात् मीरीपुर, चासी आदि स्थानों में होते हुए कर्णवास आये। यहाँ एक दिन गङ्गा के पुलिन पर आसन लगाये बैठे थे कि दो विद्यार्थी एक-दो सज्जनों के साथ वहाँ आ निकले। उन्होंने देखा कि एक परमहंस बालू पर विराजमान हैं। समीप जाकर वे उनके तन पर गङ्गा-रज लगाने लगे। स्वामी जी ने विद्यार्थियों को अष्टाध्यायी, उपनिषद् और मनुस्मृति अध्ययन करने का उपदेश दिया। फिर क्रमशः विचरते हुए ज्येष्ठ १९२४ में फर्रुखाबाद पहुँचे और विश्रान्त-घाट पर ठहरे। एक दिन बहुत से सज्जन स्वामी जी के दर्शनार्थ गये। उससमय स्वामी जी ध्यानावस्थित थे, इसलिए वे लोग चुपचाप बैठे रहे। जब उन्होंने समाधि खोली तो पण्डित मणिलाल ने पूछा—"महाराज! गङ्गा और सूर्य क्या वस्तु हैं?" स्वामी जी ने कहा कि ये जड़ पदार्थ हैं।

फर्रुखाबाद में दो-तीन दिन निवास करके स्वामी जी फिर विचरते हुए चासी आये। यहाँ पर पण्डित नन्दराम ने लोगों को शंख-चक्र आदि से दीक्षा देकर वैरागी बनाने का बड़ा कोलाहल मचा रक्खा था। इसका वर्णन यहाँ के छत्रसिंह नामक जाट ने स्वामी जी से कर्णवास में भी किया था, और यह भी निवेदन किया था कि कभी चासी में पधार कर उपदेश दीजिएगा। छत्रसिंह ने सबको कह दिया कि स्वामी दयानन्द जी इस समय सर्वोत्तम पण्डित हैं। यदि वे कह दें कि वैरागी धर्म ग्रहण कर लो तो मुझे स्वीकार है। कोई बीस-पच्चीस सुपठित ब्राह्मण और जाट मिलकर पण्डित नन्दराम को साथ लिये स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए। नन्दराम को जब स्वामी जी का पूरा परिचय प्राप्त हुआ तो वह वहाँ से, आते ही चुपका खिसककर परली धारा की ओर चला गया। जब बुलाने के लिए वहाँ मनुष्य भेजा गया तो वहाँ से भाग कर अहार में जा पहुँचा। चाहे नन्दराम ने शास्त्रार्थ न किया, परन्तु भागने से ही उसकी पूरी पोल खुल गई। सारे जाट, वैरागी मत से बच गये। यहाँ महाराज १५ दिन तक उपदेश देकर लोगों को कृतार्थ करते रहे।

चासी से चलकर, श्री महाराज थारपुर गये और फिर रामघाट में आकर

एक पर्ण-कुटी में निवास करने लगे। रामघाट में टीकाराम नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह वास्तव में कर्णवास का निवासी था। आषाढ़ सुदी ५ सं० १९२४ का वर्णन है कि टीकाराम बिना 'नमो नारायण' कहे स्वामी जी कुटिया के पास से चला गया। उसे क्या मालूम था कि इस कुटी में विराजमान, महात्मा एक दिन अपने धर्म्म-गुरु बनेंगे। जब वनखण्डी में उसने केशवदेव ब्रह्मचारी से स्वामी जी के गुण सुने तो ब्रह्मचारी को साथ लेकर श्री स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुआ और 'नमो नारायण' निवेदन करके बैठ गया। स्वामी जी ने पूछा, "कौन होते हो ?" उसने कहा, "ब्राह्मण हूँ।"

"क्या सन्ध्यादि पढ़ा है ?"

"नहीं महाराज, परन्तु गायत्री कण्ठाग्र है।"

"अच्छा सुनाओ।"

"किसी के सम्मुख गायत्री का पाठ करना, गुरु ने विवर्जित किया है।"

"भद्र ! संन्यासी, ब्राह्मणों का भी गुरु होता है, इसलिए हमारे सामने पढ़ते हुए कोई संकोच न करो।"

ब्रह्मचारी ने भी टीकाराम को गायत्री सुनाने के लिए प्रेरित किया। उसके मुख से गायत्री का शुद्धोच्चारण सुनकर स्वामी जी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रोत्साहित करके सन्ध्यादि कर्मों में उसकी रुचि उत्पन्न कर दी। स्वामी जी ने उसे सन्ध्या का सारा पाठ अपने करकमलों से लिख कर दिया।

टीकाराम ने सिद्धान्तकौमुदी पर कुछ वार्त्तालाप किया, परन्तु स्वामी जी की विद्या को अथाह देखकर शान्त हो गया। प्रतिदिन के सत्संग और प्रश्नोत्तरों से उसके सारे सन्देह मिट गये। श्री उपदेशों से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने विष्णु-सहस्रनाम, गङ्गालहरी आदि सभी स्तोत्र, एक रुद्री को छोड़कर गङ्गा-अर्पण कर दिये। अपने ठाकुरों को भी उसी महानद में स्थापित कर दिया। अन्य भी अनेक पण्डित स्वामी-सेवा में आते रहे और उनके कथनों को सुनकर स्वीकार करते रहे। स्वामी जी के विद्या-बल की सभी ब्राह्मण प्रशंसा करते थे। प्रति सायं, चार बजे सैकड़ों मनुष्य सत्संग करने आते थे। गुसांई शम्भुगिरि जी आते हुए तुलसीदल ले आते और स्वामी जी को समर्पण करके विनोद में कहते कि स्वामी जी महाराज, हमारे तो आप ही शालिग्राम हो।

श्री पण्डित टीकाराम जी स्वामी जी से उपदेश लेकर अपने पुराने पूजा-पाठ के कामों से विरक्त हो गये। नवीन विचारों की उत्तेजना भी कुछ कम न थी। वे सीधे कर्णवास आये और ठाकुर गोपालसिंह, जयरामसिंह आदि यजमानों को एकत्रित करके कहने लगे कि रामघाट में एक स्वामी ठहरे हुए हैं। वे अद्वितीय विद्वान् और महात्मा जन हैं। उनके सत्संग से मुझे विश्वास हो गया है कि कण्ठी, तिलक आदि चिह्न पन्थाइयों के मनघड़न्त हैं, अशास्त्रीय हैं। वेद-शास्त्र में प्रतिमा-पूजन का विधान नहीं है। पुराण, तीर्थ, व्रत-माहात्म्य ये सब कल्पित हैं। तीनों वर्णों के लिए एक ही गायत्री है। भाई! मेरा निश्चय परिवर्तित हो गया है, इसलिए मैं अब आपके मन्दिर की पूजा नहीं करूंगा। अच्छा तो यही है कि आप भी गुरु महाराज के दर्शनों से अपने भ्रम नाश करके यज्ञोपवीत धारण कर लें, मूर्ति-पूजा आदि अमूलक कार्यों का परित्याग कर दें।

अपने पुरोहित की नूतन वार्ता को सुनकर सारे ठाकुर एक बार तो आश्चर्य-निमग्न हो गये, परन्तु तुरन्त ही, एक ऐसे महापुरुष के दर्शनों की लालसा से लालायित होकर ठाकुर धर्मसिंह और गोपालसिंह जी ने टीकाराम जी को भेजकर स्वामी जी को कर्णवास में लिवा लाने का प्रस्ताव किया। उधर प्रस्ताव अभी होने ही पाया था कि स्वामी जी स्वयं कर्णवास में आ विराजे। उन्होंने नागा बाबा की मढ़ी के आगे बसेंदू वृक्ष के तले आसन लगाया। अगले दिन टीकाराम रामघाट से लौट आये, और उन्होंने स्वामी जी के पधारने का समाचार ठाकुरों को दिया। फिर सब मिलकर श्री-दर्शनों को गये। ठाकुर गोपालसिंह जी ने नीचे बिछाने के लिए घास लाकर दी।

ठाकुर धर्मसिंह कुछ संस्कृत भी जानते थे। उन्होंने स्वामी जी के समीप जाकर संस्कृत में अपना नाम, गोत्र आदि उच्चारण करके उनको नमस्कार किया। प्रत्युत्तर में आशीर्वाद देकर स्वामी जी ने जान लिया कि ये क्षत्रिय हैं, और कुल की रीति के कारण अभी तक यज्ञोपवीत विहीन हैं। स्वामी जी ने सशोक कहा कि यहाँ के पण्डित-पुरोहितों ने लोगों में भ्रष्टाचार फैलाया हुआ है। भला इससे बढ़कर अनाचार और कु-रीति और क्या होगी कि क्षत्रियों के पुत्रों के डाढ़ी-मूँछ मुँह पर निकलने लगी है, परन्तु अभी तक यज्ञोपवीत नहीं हुआ। इन्हीं अधर्माचरणों के कारण यह देश दिनों-दिन

अधोगति को प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार स्वामी जी ने युवकों को उपनयन के लिये बड़ा उत्तेजित किया।

एक दिन एक पण्डित ने स्वामी जी को निमन्त्रित किया और ठाकुर को भोग लगाकर उन्हें देने लगा। स्वामीजी ने यह कहकर कि हम उच्छिष्ट नहीं खाया करते, उसे ग्रहण नहीं किया।

कर्णवास से प्रस्थान कर श्री स्वामीजी महाराज अनूपशहर में सुशोभित हुए। पहले एक सप्ताह तक बाँसों के टाल के निकट एक कुटिया में निवास किया। उस समय स्वामीजी कुछ रुग्ण हो गये थे। इसलिए टाल के अधिपति लाला गौरीशंकरजी ने तुलसी के पत्ते काली मिर्चों के साथ घोट कर पिलाये और सोंठ डाल कर मूंग की दाल का पथ्य दिया। इससे स्वामी जी स्वस्थ हो गये। बूँदी के राजा के गुरु रामदास वैरागी वहीं रहते थे। वे बड़े सज्जन पुरुष थे और मूर्त्तिपूजन नहीं करते थे। स्वामीजी उनसे बड़े प्रसन्न थे। एक दक्षिणी स्वामी भी यहाँ रहा करता था। वह सूर्यपुरी को स्वामी जी के पास प्रश्न पूछने के लिए बार-बार भेजा करता था। एक दिन सूर्यपुरी ने उनसे एक ऐसा प्रश्न पूछा जो उसकी अपनी समझ की पहुँच से परे था। महाराज ने कहा यदि कोई विचारवान् जिज्ञासु होता तो हम उसे इसका तात्पर्य समझा देते, परन्तु आप तो सीखे हुए प्रश्न पूछते हो। आपकी स्थूल बुद्धि इसके सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकती। बालू में मिश्रित चीनी के कण चिउँटी निकाल सकती है, परन्तु हाथी की सूँड में नहीं आ सकते।

स्वामीजी टाल से उठकर नगर की दूसरी ओर निवास करने के विचार से जब चलने लगे तो रामदासजी ने कहा, "भगवन्! नगर में आजकल भागवत की कथा बड़ी धूमधाम से हो रही है और आप भागवत का तीव्र खण्डन करते हैं। कहीं ऐसा न हो कि नगर में मांगी मधूकड़ी भी न मिले।" स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा "इसकी कोई चिन्ता नहीं। हमारा प्रारब्ध हमारे साथ है।"

१० भाद्रपद १९२४ को स्वामीजी अनूपशहर के निकट लालाबाबू की कोठी में एक सप्ताह पर्यन्त रहे। इसके पश्चात् नर्मदेश्वर के मन्दिर के समीप सती की मढ़ी में निवास किया। सती की मढ़ी से कोई दस-बारह

पैर के अन्तर पर नवलजङ्ग नामक महामल्ल का अखाड़ा था। कहा जाता है कि उसकी जन्मभूमि पञ्जाब थी। वह सारस्वत ब्राह्मण था और किसी कारण से वहाँ आकर रहने लगा था। वह बारह मासों में ही; जब चाहे तैरकर गंगा पार कर जाता था ! बड़ा सदाचारी और सुशील था। उसकी एक ब्रह्मचारिणी बहिन भी थी। वह भी ऐसी शक्तिमती थी कि वर्षाऋतु में एक हाथ में तलवार लेकर तैरती हुई गंगा को पार कर जाया करती थी ! नवलजङ्ग श्रीस्वामी-चरणों का प्रिय भक्त बन गया था। वह प्रति-दिन प्रातःकाल उठकर स्नानादि करके गङ्गा की शुद्ध मिट्टी लाता और अति प्रीति से चन्दन की भाँति रगड़कर स्वामीजी के सम्पूर्ण शरीर पर रमा देता। श्री स्वामीजी अपने कार्य कदाचित् ही किसी से कराते थे, परन्तु भक्त की भावना के वशीभूत होकर उन्हें इस सेवा का सौभाग्य नवलजङ्ग को देना ही पड़ा था।

एक दिन ऐसा हुआ कि अकस्मात् छः सात वामी हाथ में मदिरा की बोतल लिये, मुख से ऊट-पटाँग बकते, स्वामीजी के आसन की ओर आये। वे यह भी कह रहे थे कि आज हम दयानन्द को वारुणी-स्नान कराकर ही छोड़ेंगे। समीप आते ही उन्होंने चिल्लाकर पुकारा, "अरे दयानन्द, निकल बाहर, तुझे शुद्ध करें, वीर बनायें। अब हम तुझे यह बताकर ही जायेंगे कि शाक्त-धर्म-खण्डन का फल कितना मीठा है।" स्वामीजी ने जब देखा कि दुष्ट-जन मद्य में मत्त—बौड़ाते, बड़-बड़ करते हुए सीधे मढ़ी की ओर चले आ रहे हैं तो उन्होंने पुकारकर कहा—"नवलजङ्ग, भाई ये मदिरा में मतवाले वामी कोलाहल कर रहे हैं। आगे आकर इनका मद उतारना।" स्वामीजी के वचन सुनकर भक्त नवलजङ्ग उन मदान्ध, पामर वामियों पर ऐसे दौड़ा, जैसे मदोन्मत्त हाथियों पर शार्दूल दौड़ता है। नवलजङ्ग को आते देख वे वामी तुरन्त पिछले पाँव भाग गये और फिर कभी नहीं आये। उसके पश्चात् नवलजङ्ग बड़ी सावधानी से स्वामी-रक्षण में तत्पर रहता था।

एक मथुरा निवासी पण्डित वहाँ भागवत की कथा करने आया। उसका साक्षात् होने पर स्वामीजी ने उससे एक पद पूछा। उसका वह उत्तर तो न दे सका, परन्तु कुपित होकर लगा स्वामीजी को कोसने ! स्वामीजी तो

उसकी बाल-बुद्धि पर हंसते ही रहे, परन्तु लोगों ने उस कथक्कड़ को लज्जित करके शान्त कर दिया।

पण्डित अम्बादत्तजी से स्वामीजी का बड़ा मनोरंजक शास्त्रार्थ हुआ। उस दिन पण्डितों का समारोह स्वामी-स्थान पर उमड़ आया था। वार्त्तालाप में जब स्वामीजी ने युक्ति और प्रमाणों की झड़ी लगा दी तो जहाँ अन्य पण्डित आश्चर्य-सागर में डूब गए वहां अम्बादत्तजी का हृदय उखड़ गया। उनमें किंकर्त्तव्य-विमूढता छा गई। सांस फूल गया और लगे हाँपने। स्वामीजी ने धैर्य और आश्वासन देकर कहा कि घबड़ाइये नहीं। आप वृद्ध भी हैं और सम्भवतया आपको अधिक बोलने का अभ्यास भी न हो।

जब अम्बादत्तजी का श्वास-प्रश्वास ठिकाने आया और हृदय का धड़कना भी बन्द हो गया तो फिर महादेव की पूजा का प्रकरण चलाया गया। स्वामीजी ने इस पर समालोचना की कि जब महादेव अपनी ही रक्षा करने में समर्थ नहीं तो उसकी पूजा से मनुष्यों को क्या लाभ होगा? तुम यह भी कहा करते हो कि महादेव कैलाश पर निवास करते हैं और विष्णु वैकुण्ठ में, इससे भी यह परिणाम निकलता है कि वे दोनों देव यहाँ मन्दिरों में नहीं हैं। जब वे यहाँ हैं ही नहीं तो फिर पूजा किसकी सिद्ध करना चाहते हो। अन्त में अम्बादत्तजी स्वामीजी के साथ सहमत हो गये।

इस शास्त्रार्थ का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिससे भगवान्वल्लभ वैद्य और पण्डित रविशंकर आदि सज्जनों ने अपने शालिग्राम गङ्गा में प्रभावित कर दिये, कण्ठियां तोड़ डालीं।

उसी नगर में, 'बुद्धा' नामक, संस्कृत का एक धुरन्धर विद्वान् वास करता था। वह भी स्वामीजी से वाद करने के लिए आया और बड़ी देरी तक धारा-प्रवाह संस्कृत बोलता हुआ शास्त्रार्थ करता रहा। अन्त में स्वामी-सिंह के सम्मुख स्व-सामर्थ्य को अति तुच्छ समझ कर नम्र-शिर हो गया। उसने स्वामीजी के कथनों को स्वीकार कर लिया। वह प्रबल बुद्धि का धनी स्वामी-प्रेमियों में प्रथम समझा जाने लगा। स्वामीजी भी उस पर अति प्रसन्न थे, और वत्सलता से उसे 'बुद्धिसागर' नाम से पुकारा करते थे।

अनूपशहर में स्वामीजी ने रामलीला का भी खण्डन किया। वे कहा करते थे कि श्रीराम जैसे महाराजों और जानकी ऐसी देवियों के स्वांग बनाकर

गली-बाजारों में घुमाते फिरना एक अपमानजनक और लज्जास्पद कर्म है। इस कथन का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और आगामी वर्ष, वहां उन्होंने रामलीला नहीं की।

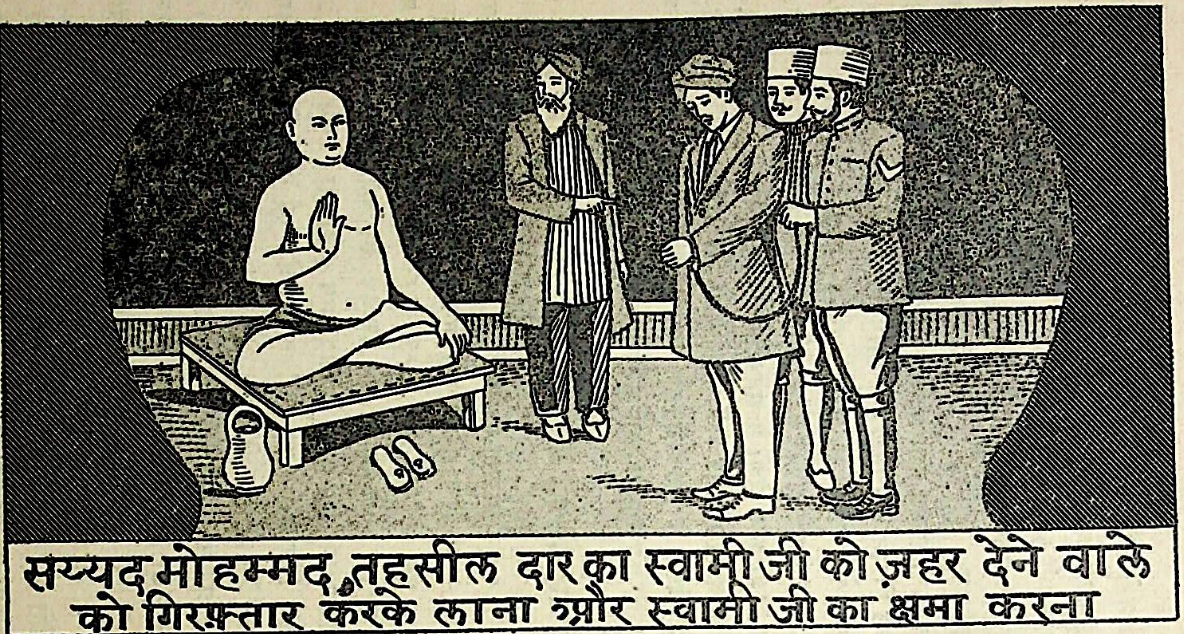
राजा जयकृष्ण जी स्वामीजी के दर्शनों से, पहले पहल, अनूपशहर में ही कृतार्थ हुए। एक रात स्वामीजी की सेवा में रहकर फिर चले गये।

उन दिनों सय्यद मोहम्मद वहाँ के तहसीलदार थे। वे अरबी-फारसी के एक अच्छे विद्वान् थे। नित्यप्रति स्वामीजी के समीप आया करते थे। स्वामी जी के सत्संग के प्रभाव से, उनके कथन के माधुर्य से, और विद्या-बल से मोहित होकर वे,एक प्रकार से, स्वामीजी के भक्तों में ही सम्मिलित हो गये थे।

स्वामीजी के उपदेशों से अनेक लोग बहुत चिढ़ गये थे। उनको नाना विध विघ्न-बाधाओं और विविध वेदनाओं से पीड़ित करने में भी आगा-पीछा नहीं देखते थे। शत्रु बनकर, मित्र बनकर, जैसे भी हो, कभी-कभी उस कल्पतरु को समूलोच्छेदन करने पर तुल जाते थे।

मैं मनुष्यों को बँधवाने नहीं, किन्तु छुड़वाने आया हूं

एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी के समीप आया। विनयपूर्वक नमस्कार करके उसने स्वामीजी के सामने पान निवेदन किया—"महाराज ने सहज स्वभाव से वह पान मुख में रख लिया, परन्तु उसका रस लेते ही वे जान गये कि यह विष युक्त है। पर उन्होंने उस नराधम को कहा-सुना कुछ नहीं, परन्तु वस्ती और न्योली कर्म करने के लिए आप गङ्गा पार चले गये। देर तक क्रिया करके फिर आसन पर आ विराजे। जैसे रुई में लपेटी हुई आग छिप नहीं सकती ऐसे ही पाप भी छिपा नहीं रहता। स्वामीजी को विष देने का भेद किसी प्रकार तहसीलदार महाशय को भी ज्ञात हो गया। स्वामी-चरणों में श्रद्धा होने के कारण, अति कोपाविष्ट होकर उसने तुरन्त उस पापिष्ठ पामर को पकड़ मंगवाया और बन्दीगृह में डाल दिया। तत्पश्चात् स्वामीजी के दर्शनार्थ चला। मार्ग में प्रसन्नता से उसके हृदय में ये विचार उत्पन्न होते थे कि आज मैंने स्वामीजी के शत्रु को दण्ड देकर उनका बदला लिया है, इसलिए सम्मुख जाने पर वे प्रफुल्ल वदन से आशीर्वाद देंगे। परन्तु निकट जाने, पर जब स्वामीजी ने उसे देखकर दृष्टि हटा ली और बोलना तक



सय्यद मोहम्मद, तहसील दार का स्वामी जी को ज़हर देने वाले को गिरफ़्तार करके लाना और स्वामी जी का क्षमा करना

बन्द कर दिया तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही। बड़ी प्रार्थना से तहसीलदार महाशय ने स्वामीजी से उनकी अप्रसन्नता का कारण पूछा। स्वामीजी ने कहा, "मैंने सुना है कि मेरे लिए आज आपने एक मनुष्य को आबद्ध किया है, परन्तु मैं मनुष्यों को बँधवाने नहीं आया हूँ, किन्तु छुड़वाने आया हूँ। यदि दुष्ट अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ते तो हम क्यों स्व-श्रेष्ठता का परित्याग करें?" ये शब्द सुनकर तहसीलदार के रोमाँच हो आये। उसने आज तक क्षमा का ऐसा धनी, प्रशान्त पुरुष, दूसरा न देखा था। वह महाराज को कर जोड़ नमस्कार करके चला गया। उसने जाते ही उस ब्राह्मण को स्वतन्त्र कर दिया।

स्वामीजी महाराज आधा मास से अधिक काल तक सती की मढ़ी में रहे और फिर वहां से रामघाट को प्रस्थान कर गये।

: ८ :

मूर्तियों का जल विसर्जन : राजपूतों को यज्ञोपवीत

मार्गशीर्ष संवत् १९२४ में स्वामीजी रामघाट में आकर गङ्गा की बालू पर आसीन हो गये। बैठे-बैठे जब सायंकाल हो गया तो क्षेमकरण नामक एक ब्रह्मचारी अपने मित्रसहित उधर आ निकला और पद्मासन स्थित एक संन्यासी को अवलोकन कर सोचने लगा कि सम्भव है ये सवेरे से निराहार बैठे हों। उस समय उसने "ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन:" यह पद गान किया। इसे सुन स्वामीजी ने मुस्कराकर 'हूँ' कहा। फिर उनके निवेदन से स्वामीजी वनखण्डी महादेव में चले गये, और वहाँ रामचन्द्रजी ने उनका आतिथ्य किया। अनेक पण्डित वहाँ आये, परन्तु स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का किसी को भी साहस न हुआ।

स्वामी कृष्णानन्द नामक एक संन्यासी स्वामीजी से थोड़े अन्तर पर ठहरा हुआ था। बहुत से ब्राह्मण मिलावर उसके पास गये और कहा कि दयानन्द जी यहाँ आये हुए हैं। वे भागवत आदि सब पुराणों का खण्डन करते हैं। देवता और देव-मूर्त्तियों के विरुद्ध बोलते हैं। इसलिये, आप चलिए और शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त कीजिए, परन्तु वह समुद्यत न हुआ। स्वामीजी ने भी उसे आहूत किया परन्तु निष्फल। अन्त में, लोगों के अत्यन्त

विवश करने पर आज-कल करते हुए, वह तीसरे दिन स्वामीजी के समीप आकर इस बात पर अड़ गया कि पहले कोई मध्यस्थ नियत करो। स्वामी जी ने कहा कि शास्त्र ही मध्यस्थ हैं। बड़ी कठिनता से कृष्णानन्दजी ने इस बात को स्वीकार किया। वाद का विषय वेदान्त था। कृष्णानन्दजी ने कहा कि जगत् ऐसा ही मिथ्या है जैसे रज्जु का सर्प। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि सच्चे सर्प का ज्ञान मनुष्य के अन्तःकरण में विद्यमान होता है। केवल भय के कारण रज्जु को तदाकार देखकर सर्प मान लेता है। परन्तु ज्योंही सच्चे सर्प के लक्षणों को रज्जु के साथ मिलाने लगता है उसी समय भय निवृत्त हो जाता है। अब आप बतावें कि सच्चे सर्प की तरह वह सत्य जगत् कौन-सा है, जिसकी सदृशता की भ्रान्ति इस जगत् में हो रही है ?

इतने में एक वैरागी ने स्वामीजी को कुवचन कहना आरम्भ कर दिया। टीकाराम जी ने उसे डाँट-डपट कर ठण्डा कर दिया। तीन दिन तक, प्रति सायं कृष्णानन्दजी और स्वामीजी का शास्त्रार्थ होता रहा। एक दिन शास्त्रार्थ के समय किसी ने कृष्णानन्द जी से कहा—"महाराज! महादेव पर जल चढ़ा आऊँ ?" स्वामीजी ने बीच में कह दिया कि यहाँ तो पत्थर है, महादेव नहीं। इससे चिढ़कर कृष्णानन्दजी ने साकारवाद का अवलम्बन किया और इसी पर शास्त्रार्थ चलाया। स्वामीजी का तो यह मन चाहता विषय था। उन्होंने धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हुए निराकार सिद्धान्त पर वेदों और उपनिषदों के प्रमाणों की एक लड़ी पिरो दी, और कृष्णानन्दजी को उनका अर्थ मानने के लिए बाधित किया। कृष्णानन्द कोई प्रमाण न दे सका। केवल गीता का यह श्लोक "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" लोगों की ओर मुँह करके पढ़ने लगा। स्वामीजी ने गर्जकर कहा कि आप वाद मेरे साथ करते हैं, इसलिए मुझे ही अभिमुख कीजिए। परन्तु उसके तो विचार ही उखड़ गये थे, वह चौकड़ी ही भूल चुका था। मुख में झाग आ गये। गले में घिग्घी बंध गई। चेहरा फीका पड़ गया। किसी प्रकार लाज रहजाय, इससे उसने तर्क-शास्त्र की शरण लेकर स्वामीजी को कहा कि अच्छा, लक्षण का लक्षण बताइए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि जैसे कारण का कारण नहीं वैसे ही लक्षण का लक्षण भी नहीं है। लोगों ने अपनी हँसी से कृष्णानन्द जी की हार प्रकाशित कर दी और वह घबराकर वहाँ से चलता बना।

क्षेमकरणजी के पास नाना देवताओं की मूर्तियाँ थीं। वह बहुत-सा समय उन्हीं के पूजनार्चन में बिताया करता था। परन्तु स्वामीजी के सत्संग से, उसे यह सब पाखण्ड मालूम होने लगा। वह रुद्राक्ष की मालायें भी रक्खा करता था। उनके धारण करने से स्वामीजी वर्जा करते थे। परन्तु वह उन्हें त्यागने से झिझकता था। स्वामीजी का भक्त जानकर एक दिन कृष्णानन्द ने उसे चिढ़ाया। इससे उसने वह सारा पाखण्ड परित्याग कर दिया।

यहाँ पण्डित बालमुकुन्द जी आदि अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य श्री स्वामी जी के पास आते और अपने संशय निवारण कराते थे। प्रायः सभी लोग स्वामी जी के उपदेशों की सत्यता को तो स्वीकार कर लेते, परन्तु आजीविकावश, वेद-विरुद्ध कर्मों को त्यागने का साहस नहीं करते थे। इस पर भी बीसियों वीर ऐसे निकल आये थे, जो निर्भय होकर मूर्त्तियों को जलार्पण करने में किंचित् भी संकोच न करते थे। नन्दकिशोर ब्रह्मचारी आदि अनेक विवेकियों ने, आस्था उठ जाने पर मूर्त्तियों को जल में विसर्जन कर दिया।

स्वामी जी यहाँ लोगों को सन्ध्योपासना और पंचमहायज्ञों के करने का बलपूर्वक उपदेश देते रहे। उन्होंने सहस्रों वर्षों की आयु का होना वेद विरुद्ध बताया। रामघाट के स्वामी-भक्तों में भैरवनाथ जी भी बड़े श्रद्धालु थे। वे विशुद्धानन्द आदि सभी पण्डितों से स्वामी जी की विद्या कहीं अधिक मानते थे। भोजन के अनन्तर स्वामी जी तुलसी के पत्ते चबाया करते थे और कहा करते थे कि इससे मुख शुद्ध हो जाता है। घर के आँगन में तुलसी का पेड़ हो तो घर का पवन भी पवित्र रहता है।

रामघाट के लोगों को कृतार्थ करके स्वामी जी विचरते-विचरते बेलौन आये और खेरा के स्थान पर पीपल के नीचे आसन लगाया। लोगों ने स्वामी जी के आसन के ऊपर के स्थान को सिरकियों से आच्छादित कर दिया।

श्रीकृष्ण नामक पण्डे ने श्रीरामजी तथा श्रीकृष्णजी के विषय में पूछा। इस पर स्वामी जी ने कहा कि वे अवतार नहीं थे, किन्तु प्रतापी राजे थे। साथ ही कहा कि रास-लीला से तो कृष्ण जी का गौरव घट जाता है।

जो भी कोई श्रीसंगति में आता उसे नित्यकर्म करने के लिए बल देते। पूछने पर जो यह कहता कि मुझे गायत्री-पाठ नहीं आता तो उसे स्वयं सिखाने

लग जाते । पण्डित इन्द्रमणि नामक एक सम्भ्रान्त व्यक्ति वहाँ रहते थे। उन्होंने गायत्री की अनेक प्रतियाँ लिखकर स्वामी जी के निकट रख दीं। स्वामी जी उन्हें लोगों में बाँटते थे। उनके नीचे सहस्र का अङ्क होता था, जिसका तात्पर्य यह था कि सहस्र बार इसका जप करना चाहिए। स्वामी जी ने वहाँ कोई पचास मनुष्यों को गायत्री-पाठ सिखाया होगा। वहाँ के अनेक सज्जन महाराज के प्रेमी बन गये थे।

एक जन ने पूछा, स्वामी जी, आप देह पर गङ्गा की मिट्टी क्यों लगाते हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि ऐसा करने से शरीर पर मच्छर-काटने का प्रभाव नहीं होता।

एक सज्जन ने समीप आकर कहा—"स्वामी जी, दण्डवत्।"

स्वामी जी ने हँस कर कहा, "दण्डवत् तुम ही होओ।"

यहाँ महाराज केवल तीन-चार दिन ही रहे।

बेलौन से प्रस्थान कर स्वामी जी कर्णवास पधारे। उनके आते ही पण्डितों ने शास्त्रार्थ करने का कोलाहल मचाया और पण्डित अम्बादत्त, अनूपशहर-निवासी को इस कार्य में कुशल समझकर बुला भेजा। वह तो पहले ही, अनूपशहर में स्वामी-वचनों के सामने सिर झुका चुका था। इसलिए कर्णवास में थोड़े से वार्तालाप के पश्चात् ही स्वामी जी के कथनों को 'सत्य है' कहकर नम्रीभूत हो गया। स्वामी जी की इस विजय से ठाकुरों के उत्साह चौगुने बढ़ गए; और वे यज्ञोपवीत परिग्रहण करने का दृढ़ संकल्प करके स्वामी जी से पूछने लगे कि यज्ञोपवीत ग्रहण करने के समय क्या-क्या कर्म कर्त्तव्य हैं? महाराज ने उन्हें सम्पूर्ण विधि बता दी। उसके अनुसार बड़ी आयु वालों को प्रायश्चित्त कराना निश्चित हुआ। अनूपशहर, दानपुर, अहमदगढ़, रामघाट, जहाँगीराबाद और कर्णवास के पण्डित गायत्री-जप के लिए निमन्त्रित होकर अनुष्ठान करने लगे। यह गायत्रीपुरश्चरण आधे शुक्ल पक्ष में समाप्त हो गया और स्वामी जी की कुटिया पर एक बृहद् हवन हुआ। उसमें होता, उद्गाता, और ऋत्विज् कर्णवास के ही पण्डित थे। इसके अनन्तर, श्री स्वामी जी ने टीकाराम के छोटे भाई को और गोपालसिंह, भूमसिंह जी आदि दस-बारह क्षत्रिय युवकों को यज्ञोपवीत देकर दीक्षित किया और श्रीमुख से गायत्री का उपदेश दिया। यज्ञ की समाप्ति पर सब उपस्थित जनों में यज्ञ-

शेष बाँटा गया, जप और यज्ञ के कर्त्ताओं को भी सामर्थ्यानुसार दक्षिणा द्वारा सन्तुष्ट किया गया। ठाकुरों के इस यज्ञ की चर्चा कर्णवास के आस-पास सर्वत्र फैल गई। इस शुभ कर्म का सभी यश गाते थे। उसका लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य टोलियां बना कर जाह्नवी के तट पर श्रीमद्दयानन्द जी के पास आते और उनके शुभ कर-कमल से जनेऊ ग्रहण करते। ठाकुरों में यह कार्य नूतन था, और कर्णवास के ठाकुरों की प्रतिष्ठा भी बहुत थी। इसलिए, राजपूतों में इसका प्रभाव बड़ी उत्तेजना के साथ फैलता चला गया। कोई दो-दो सौ कोस के राजपूतों ने आकर स्वामी-जी के हाथ से उपवीत लिये। जो राजपूत गङ्गा-स्नान करने आते थे, वे साथ ही यह भी एक माहात्म्य समझते थे कि स्वामी दयानन्द जी से दीक्षा लेकर गायत्री का उपदेश ग्रहण किया जाय। चालीस-चालीस, पचास-पचास राजपूत पंक्ति बाँध गङ्गा के किनारे खड़े हो जाते और स्वामी दयानन्द जी महाराज उन्हें यज्ञोपवीत देकर पतितपावनी त्रिलोकतारणी, भगवती, गायत्री का उपदेश देते। गङ्गा-तीर पर विचरते हुए भगवान् दयानन्द ने इस प्रकार सावित्री के उपदेश से सहस्रों मनुष्यों का कल्याण किया।

कर्णवास में तो इस यज्ञ का विलक्षण प्रभाव पड़ गया था। प्रायः सभी छोटे-बड़े स्वामी जी से दीक्षित हो रहे थे। घरों में, गलियों में, बाजारों में, हाटों पर, घाटों पर, जिधर जाओ नर-नारी यही कथा कहते थे, देव दयानन्द ही के गीत गाते थे।

वहाँ एक ९० वर्ष की वृद्धा, बाल-विधवा हंसा ठकुरानी रहा करती थी। यह देवी ठाकुर गोपालसिंह की ताई थी। यद्यपि वह पाँच-छः ग्रामों की स्वामिनी थी, परन्तु उसका भोजन था जौ की रोटी और मूँग की दाल। और वह इसे बनाती भी अपने हाथ से ही थी। ठाकुरों के परिवारों में उसका बड़ा आदर था। छोटी-बड़ी सभी बहू-बेटियाँ उसको मानती थीं और माँ कहकर पुकारा करती थीं। जब सब ठाकुर एक-एक करके श्री स्वामी जी के शिष्य हो गए तो उस देवी ने भी स्वामी-दर्शनों की लालसा प्रकट की। ठाकुर गोपालसिंह के पूछने पर स्वामी जी ने उसको आने की आज्ञा दे दी। वह वृद्धा स्वामी जी के समीप आई। उसने अतिशय श्रद्धा से भूमि के साथ सिर लगाकर स्वामी जी को नमस्कार किया। हाथ जोड़कर स्वकल्याण का,

जन्म-सुधार का पथ पूछा। महाराज ने उसे ठाकुर-पूजा छोड़ देने को कहा और गायत्री मन्त्र का उपदेश किया। साथ ही ओम् पवित्र का जप करते रहने की शिक्षा दी। चिरकाल पश्चात्, यह प्रथम समय था जब दयालु, दयानन्द जी द्वारा एक स्त्री को गायत्री जप करने का अधिकार उपलब्ध हुआ। हंसा देवी, इस प्रकार श्री-उपदेश से निहाल होकर स्वगृह को लौट आई और अन्तिम दिन तक स्वामी-वचन-परायण रही।

पण्डित हीरावल्लभ भी एक बड़ा विद्वान् था। ऋग्वेद और यजुर्वेद उसे कण्ठाग्र थे। दर्शनों में भी वह निपुण था। व्याकरण में तो वह प्रसिद्ध पण्डित माना ही जाता था। एक दिन अन्य अनेक पण्डितों सहित वह अनूपशहर से स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए कर्णवास में आया। यह पौष का मास था। जिस समय हीरावल्लभ जी स्वामी जी के समीप आये उस समय वहाँ कोई दो सहस्र मनुष्यों की भीड़-भाड़ हो गई थी। उन्होंने आते ही सभा-स्थल के मध्य में एक छोटे से सुन्दर सिंहासन पर गोमती चक्र, बालमुकुन्द, और शालिग्राम आदि मूर्तियाँ स्थापित करके ऊँचे स्वर से प्रतिज्ञा की कि अब मैं यहाँ से तब उठूँगा जब स्वामी जी के हाथ से इन्हें भोग लगवा लूँगा! पहला दिन तो अविराम संस्कृत भाषण में ही बीता। अगले दिन फिर शास्त्र-संग्राम प्रारम्भ हो गया। हीरावल्लभ को, उसके साथी भी पर्याप्त सहायता देते थे परन्तु वह प्रत्येक दिवस उदासीन ही लौटा करता था। यह वाद लगातार छः दिन तक चलता रहा। एक दिन तो नौ घण्टों तक विराम-विश्राम रहित वाद होता रहा। 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इस सूत्र पर भी वाद चला, परन्तु स्वामी जी के महाभाष्य के प्रमाणों को सुनकर हीरावल्लभ पराभूत हो गया। उसमें आगे बोलने का साहस न रहा। सारी सभा के समक्ष उसने कहा, "स्वामी जी जो कुछ कहते हैं वह सब सत्य है, प्रामाणिक है। इनकी विद्या अगाध है। इनका शास्त्रानुशीलन अपार है।" और उसने उसी समय, मूर्तियों को सिंहासन पर से उठाकर गङ्गा में फेंक दिया और उनके स्थान सिंहासन पर वेद स्थापित कर दिये।

स्वामी जी ने हीरावल्लभ जी के सारग्राही होने की प्रभूत प्रशंसा की। हीरावल्लभ के परास्त होने से प्रतिमा-पूजन से अनेक सज्जनों की आस्था उठ गई। उन्होंने भी पण्डित-प्रवर का अनुकरण करते हुए अपने शालिग्राम

जलतल में लीन कर दिये।

वहां कृष्णवल्लभ से भी वार्तालाप हुआ। स्वामी जी महाराज ने उसे अंगद नाम के एक पण्डित की भूलें प्रदर्शित कीं। नन्दकिशोर पुजारी को महाराज ने कहा कि मन्दिर में जाकर टन-टन पूं-पूं करने से कोई लाभ नहीं। पुजारी ने कहा कि महाराज हम तो इसी पूजा-पाठ के प्रताप से सात सहस्र के स्वामी बन गये हैं। इस पर स्वामी जी ने उपदेश दिया कि जो कुछ तुम्हें मिल रहा है वह तुम्हारा प्रारब्ध है; पूर्वार्जित भोग है। वह जितना नियत है पाखण्ड-परित्याग करने पर भी उतना मिलकर ही रहेगा।

यहाँ से स्वामी जी ने एक विद्यार्थी को प्रेरित करके मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी के पास अध्ययनार्थ भिजवाया।

दारोगा अलफखाँ ने कुरान के सम्बन्ध में कुछ बातचीत की, परन्तु स्वामी जी के उत्तर सुनकर वे फिर न बोले। धर्म्मपुर के नवीन अधिपति मुसलमान ने स्वामी जी से पूछा कि क्या मैं भी किसी प्रकार शुद्ध हो सकता हूँ ? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि हाँ, वेदानुकूल आचार-व्यवहार करने से आप अवश्य शुद्ध हो सकते हैं।

: ६ :

आठ गप्पों का खण्डन : तपस्वी का प्रभाव

माघ वदी १५ संवत् १९२४ को सूर्य-ग्रहण था। इसलिए सहस्रों नर-नारी स्नानार्थ कर्णवास आ रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि आज जन-सागर में ज्वार-भाटा आ रहा है। स्वामी जी महाराज भी उस सुसमय को अनुकूल समझ कर अपने भोले-भाले भारतवासी भाइयों को विवेकदान देने लगे। उनके चरित्र-चन्द्र की चटकीली चाँदनी पहले ही दूर-दूर तक छिटक रही थी; इसलिए मनुष्यों के झुण्ड के झुण्ड दर्शनों को आते, प्रश्न पूछते, संशय निवारण कराते, और उपदेश सुनकर धन्य-धन्य करने लग जाते थे। उस महा मेले में लोगों के लिए कोई चित्ताकर्षक वस्तु थी तो आनन्दकन्द श्री दयानन्द; कोई दर्शनीय सुन्दर आकृति थी तो दयानन्द की मनोमोहिनी मधुरिमामयी मूर्ति; कोई श्रोतव्य वचन थे तो श्री दयानन्द जी महाराज के सारगर्भित रसीले

सत्योपदेश । सारांश यह कि सारा मेला उन्हीं की ओर झुका पड़ा था।

महाराज बसेन्दू के नीचे बैठे हुए धर्म्म-कर्म और आचार-विचार का उपदेश करते थे। साथ ही वे इन आठ गप्पों का भी खण्डन करते थे—

१. प्रथम गप्प, अठारह पुराण व्यासकृत हैं।

२. मूर्त्ति-पूजन।

३. शैव, शाक्त और रामानुजादि वैष्णव सम्प्रदाय।

४. तन्त्र ग्रन्थ, वाममार्ग आदि।

५. मदिरा, भाँग इत्यादि मादक वस्तुयें।

६. व्यभिचार।

७. चोरी करना।

८. छल, कपट, अभिमान, झूठ इत्यादि।

इन आठों गप्पों का मनुष्यों को परित्याग करना चाहिए। इस मेले में भी सैकड़ों मनुष्यों ने स्वामी जी से गायत्री का उपदेश लिया।

डिबाई निवासी शिवदयाल जी सूर्य्य-ग्रहण के अवसर पर वहाँ आये हुए थे। उन्होंने स्वामी जी से पूछा कि ग्रहण लगा हो तो भोजन किस समय करना चाहिए? महाराज ने उत्तर दिया कि जब भूख लगे खा लेना चाहिए।

शिवदयाल ने यज्ञोपवीत के विषय में पूछा कि इसका किसको अधिकार है? इसके न धारण करने से क्या दोष हैं और धारण करने में क्या गुण हैं? स्वामी जी ने कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के बालकों को जनेऊ लेने का अधिकार है। जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया, वह वैदिक कर्म करने का अधिकारी नहीं हो सकता। यह सूत्र आर्य्यों का धार्मिक-चिह्न है और कर्त्तव्य-चिह्न है।

शिवदयाल जी ने संस्कारों के लाभ पूछे, जिस पर स्वामी जी ने वर्णन किया कि संस्कारों से जाति प्रबल हो जाती है; जैसे एकीकरण से सूत्र के तारों में बल आ जाता है, जैसे वस्त्रों को धोने से उनमें श्वेतता तथा दृढ़ता का आविर्भाव हो जाता है, और जैसे औषधियों को पुट और भावना देने से उनका प्रभाव बढ़ जाता है, ऐसे ही संस्कार मनुष्य के जन्म को प्रबल बनाने में कारण हैं।

स्वामी जी संस्कृत ही में उत्तर देते थे, परन्तु जो लोग संस्कृत नहीं जानते थे उनको टीकाराम जी भाषानुवाद करके समझा दिया करते थे।

उस समय लाला इन्द्रमणि जी ने स्वामी जी को कहा कि आप अवधूत होकर इतने खण्डन-मण्डन के झगड़े में क्यों फँस गये हैं ? उन्होंने उत्तर में कहा कि मेरे लिये यह कार्य झगड़ा नहीं हैं, किन्तु ऋषि-ऋण का उतारना है। स्वार्थी लोग इस समय ऋषि-सन्तान को कु-मार्ग पर चलाकर, उसे कुरीतियों के नुकीले काँटों पर घसीट कर छलनी बना रहे हैं। मुझ से आर्य्य-सन्तान की यह दीन-दुर्दशा देखी नहीं जाती। मैंने प्रण कर लिया है कि इसे सन्मार्ग पर लाने का प्राणपण से प्रयत्न करूँगा।

कर्णवास में एक दिन बुलन्दशहर के कलेक्टर महाशय पधारे। स्वामी जी की कीर्ति उन्होंने पहले ही सुन रक्खी थी, परन्तु कर्णवास में आकर जब उन्होंने स्वामी-यश सुना और साथ ही उन्हें यह भी पता लगा कि वह परमहंस महात्मा यहीं टिके हुए हैं तो मिलापार्थ स्वामी-कुटी पर जा पहुँचे। उस समय महाराज कुटिया के भीतर ज्ञान-ध्यान में परायण थे। कुटी से दूरी पर खड़े होकर कलेक्टर महाशय ने एक मनुष्य को स्वामी जी की सेवा में भेजा और दर्शनों की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी ने उत्तर में कहा कि मुझे इस समय अवकाश नहीं। कलेक्टर ने फिर पुछवाया कि आपको अवकाश किस समय होगा ? उत्तर में स्वामी जी ने पूछा कि कलेक्टर महाशय को किस समय अवकाश होगा ? कलेक्टर महाशय ने इसका उत्तर भिजवाया कि मुझे चार घण्टे पश्चात् अवकाश ही अवकाश है। यह वाक्य सुनते ही स्वामी जी कुटी से बाहर निकल आए। शिष्टाचार के पश्चात् वेद-मन्त्रों और मनुस्मृति के श्लोकों से कलेक्टर महाशय को राज-धर्म्म का उपदेश देते हुए बोले, "जिसके सिर पर एक परिवार के भरण-पोषण का भार होता है उसे बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ती है, रातों जागना पड़ता है और सिर खुजलाने का भी अवकाश नहीं मिलता; परन्तु आपके कथन से बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि सहस्रों मनुष्यों का बोझ आपके कन्धों पर है, दीन-दुखियों के संकट निवारण करना आपका कर्त्तव्य है और तिसपर भी आपको चार घण्टों के पश्चात् अवकाश ही अवकाश है।" स्वामी जी के स्पष्ट कथन को कलेक्टर महाशय ने स्वीकार किया और वे प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से विदा होकर चले आए।

स्वामी जी का तेज आगन्तुक को कुछ ऐसा प्रभावित कर लेता था कि उनके समीप आने पर अहङ्कार में ऐंठे हुए बड़े-बड़े अभिमानियों का गर्व भी गल जाता था। रतीराम एक बड़ा प्रसिद्ध पहलवान था। वह अपने बल पर अति घमण्ड किया करता था। एक दिन, वह अभिमानमद में मस्त, झूमता-झामता स्वामी जी के आसन के पास आ निकला। महाराज को देखकर उसने तिरस्कारपूर्वक कहा, "अरे यह बाबा तो बड़ा हृष्ट-पुष्ट है।" यही वाक्य दुहराते-दुहराते जब वह स्वामी जी के बहुत निकट आ पहुँचा तो महाराज ने उस पर एक दृष्टि डाली। उनके नेत्र-स्रोत से उस समय कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति स्रावित हुई कि रतीराम दौड़कर श्रीचरणों में आ गिरा और पद-पद्म-रज बार-बार भाल पर रमाने लगा। इस दृश्य को देखकर सभी दर्शक श्रद्धामय हो गये।

बहुत से पण्डित लोग जब स्वस्थान से स्वामी जी के पास आते तो अपने मन में युक्तियों की मालायें पिरो लाया करते थे—उत्तर-प्रत्युत्तर सब सोच-विचार कर आते थे। परन्तु स्वामी जी के सम्मुख आते ही सब सट्टी-पट्टी भूल जाते थे।

एक दिन का वृत्तान्त है कि अहमदगढ़ के पण्डित कमलनयन और अली-गढ़ के पण्डित सुखदेव, अपने साथी पन्द्रह पण्डितों सहित स्वामी जी के पास आये। उन्होंने पूछने के लिए कुछ अति कठिन प्रश्न चुने हुए थे। विद्या में भी वे कुछ साधारण न थे। जिस समय, वे स्वामी जी के आसन पर पहुँचे उस समय महाराज गङ्गा पर गये हुए थे। स्वल्पकाल के प्रतीक्षण के अनन्तर ही स्वामी जी आते दिखाई दिये। उनके समीप आने पर सबने अभ्युत्थानपूर्वक विनीत नमस्कार किया। महाराज तृणासन पर बैठकर कुछ काल तक अचल भाव से ध्यानावस्थित रहे। फिर आँखें खोलकर सबकी ओर देख उपदेश करने लगे। महाराज के विशाल भाल, मोहक मुखमण्डल, दिव्य, तेजोमयी मूर्ति और वचन-माधुर्य का पण्डित-मण्डली पर ऐसा प्रभाव पड़ा—वे ऐसे विमोहित हुए—कि स्वामी जी के यह कहने पर भी कि आप कोई प्रश्न करना चाहते हैं तो कीजिए, उन्हें कुछ भी पूछने का साहस न हुआ। स्वामी जी के वचनों को सत्य-सत्य कहते हुए कुरीतियों का खण्डन सुनते रहे। दिन बहुत चढ़ आया था, इसलिए वे गङ्गा पर स्नानार्थ चले गये।

वे मार्ग में एक दूसरे से कहने लगे कि घर से चलते समय तो प्रश्नों के बहुतेरे बाँधनू बाँधकर चले थे, परन्तु स्वामी जी का कुछ प्रभाव ही ऐसा है कि उनके सामने आकर एक भी बात न सूझी ! भाई यह स्वामी तो सचमुच कोई सिद्ध पुरुष है ।

स्वामी जी की ज्ञान-दृष्टि कभी-कभी आँखों से ओझल बात का भी पता दे दिया करती थी । इससे स्वामी-भक्त आश्चर्यमय हो जाया करते थे ।

एक दिन नन्दकिशोर उपाध्याय स्वामी जी के समीप आते समय एक खेत से रमास की कुछ फलियाँ तोड़ ले गये और वहाँ पहुँचकर स्वामी जी की भेंट कीं । स्वामी जी ने कहा तुम चोरी कर्म से यह फलियाँ लाये हो, इसलिए हम ग्रहण नहीं करते । उसने कहा—स्वामी जी ! आप यह क्या कह रहे हैं ! मैंने किसी की चोरी नहीं की । स्वामीजी ने हँसकर कहा—अच्छा बताओ, जिस खेत से यह लाये हो, क्या लेते समय तुमने उसके स्वामी से पूछ लिया था ? नन्दकिशोर का सिर नीचा हो गया और वह मन ही मन स्वामी जी के ज्ञान और व्रत की प्रशंसा करने लगा ।

स्वामीजी बड़े तपस्वी थे । उन्होंने भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि सब द्वन्द्व जीते हुए थे । पौष-माघ का शीत पड़ता था, घास-तृण पर हिम दिखाई देने लग जाता था, जोहड़ों का जल जम जाता था, पर कौपीनमात्रधारी परमहंसजी कभी-कभी गङ्गा की अत्यन्त शीतल रेती ही में पद्मासन लगाये सारी-सारी रात बिता देते थे । महाराज को इस दशा में देख कभी कोई भक्त उनके तन पर कम्बल भी डाल जाता तो भी उसे नहीं ओढ़ते थे । यदि वह अपने आप खिसक कर न उतर जाय तो ध्यानादि से निवृत्त होने पर उसे स्वयं उतार देते थे ।

माघ मास का वर्णन है कि एक दिन, प्रातःकाल अत्यन्त शीतल पछवा पवन बड़े वेग से बह रहा था । स्वामीजी महाराज स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर कुटिया से बाहर बद्ध-पद्मासन बैठे थे । और दर्शन को आये हुए ठाकुर लोग श्रीमुख-वचन श्रवण कर रहे थे । यद्यपि उन संपन्न लोगों ने रूई और ऊन के वस्त्र पहन रक्खे थे, परन्तु प्रति शीतपात से उनके अंग ठिठुर रहे थे । तन काँपते थे, नाक से, आँख से पानी बह रहा था । हाथ-पाँव शून्य हुए जाते थे । परन्तु श्रीमद्दयानन्द थे कि निश्चल भाव से उपदेश-कार्य्य में संलग्न

थे। बाणों की भाँति आर-पार करने वाला वायु शरीर को स्पर्श कर रहा था, पर वे अटल थे--अकम्प थे। सारे भक्त अपने भक्ति-भाजन की इस सहनशीलता को अवलोकन कर आश्चर्यनिमग्न थे।

उस समय ठाकुर गोपालसिंहजी ने हाथ जोड़कर पूछा, "भगवन्! घोर शीतपात के कारण हम सबके शरीर सिकुड़ रहे हैं, दाँतों से दाँत बज रहे हैं परन्तु महाराज पर इस महाशीत का किंचित् भी प्रभाव दिखाई नहीं देता इस का क्या कारण है?" स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा, कि "ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इसका कारण है।" उसने कहा, "तो हम कैसे जानें?" उस समय स्वामीजी ने अपने हाथों के अँगूठे घुटनों पर रखकर ऐसे दबाये कि तत्काल ही उनके भाल पर, ओस के कणों की तरह प्रस्वेद विन्दु चमकने लगे, तन पर रमाई हुई सारी मिट्टी भीग गई, बगलों में से पसीना टप-टप करके टपक पड़ा। शीतकाल के भरे यौवन में, इतनी ठण्डी पवन के तीव्र प्रवाह में, शरीर का इस प्रकार पसीना-पसीना हो जाना दर्शकों के लिए एक कल्पनातीत दृश्य था।

स्वामीजी से एक जन ने पूछा कि आप गङ्गा को क्या मानते हैं? महाराज ने कहा कि जो कुछ दीखती है। उसने कहा आपको क्या दीखती है? स्वामीजी ने उत्तर दिया, जो आपको दीखती है परन्तु कहना सत्य ही सत्य। वह बोला मुझे तो जल दीखता है। स्वामीजी ने कहा, सो मैं भी यही मानता हूं।

कर्णवास से प्रस्थान कर स्वामीजी ग्रामानुग्राम विचरने लगे। एक रात, स्वामीजी गङ्गा के दूसरे किनारे आसन लगाए समाधिस्थ थे। अधिक रात हो जाने के कारण गंगा के गरगराने के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द सुनाई न पड़ता था। कभी-कभी बीच में कूलपात की 'धड़ाम' ध्वनि अवश्य सुनाई देती थी। शुक्लपक्ष का चन्द्रमा विस्तीर्ण विमल व्योम की शोभा बढ़ा रहा था। उसकी शुभ्र ज्योत्स्ना में मानो भूमि अपने वनों-उपवनों सहित स्नान कर रही थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो रुपहरे सागर ने उमड़ कर आज भूम्याकाश को एकाकार कर दिया है। रेती पर चाँदनी और भी चमक उठी थी। उसके साथ नीलम की लम्बायमान रेखा के सदृश गङ्गा-धारा अपूर्व सौन्दर्य दिखा रही थी। ऐसे समय में, बदाँयू के कलेक्टर अपने किसी योरु-

पीय मित्र सहित आखेट के लिए गंगातीर पर फिर रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि उस स्थान पर जा पड़ी, जहाँ स्वामी दयानन्द योगारूढ़ आसीन थे। वे साथी सहित समीप जा पहुंचे। चाँदी की विशाल शिला पर जैसे तप्त स्वर्ण की प्रतिमा विराजमान हो उसी प्रकार दीप्तिमान् स्वामी-देह को, उन्होंने बालू पर विराजते देखा। बड़ी देर तक विस्मयोत्फुल्ल लोचनों से संन्यासी के सुन्दर रूप को, समाधिस्थ निमग्नता को, तपश्चर्या को, वे अवलोकन करते रहे। अन्त में जब महामुनि ने नेत्र उन्मीलन किये तो शिष्टाचार-प्रदर्शन में प्रवृत्त हुए। चलते समय कलेक्टर महाशय ने विनयपूर्वक कहा, "हमें बड़ा आश्चर्य है कि इतना शीत पड़ रहा है, नदी का किनारा है, रत्रि का समय है और आप हिमसमान शीतल रेती पर लंगोट मात्र लगाये मग्न बैठे हैं ! क्या आपको पाला नहीं लगता !" स्वामीजी उत्तर देने ही लगे थे कि कलेक्टर महाशय का साथी बीच में बोल उठा, "हृष्ट-पुष्ट मनुष्य है, खाने को अच्छे माल मिलते होंगे, इसे पाला क्या करे ?" स्वामीजी ने हंसकर कहा, "हम दाल-चपाती के खाने वाले क्या माल खायेंगे ? बहुत बल लगाया तो कुछ दूध पी लिया। परन्तु आप माँस-अण्डे आदि पौष्टिक पदार्थ खाते हैं और समय पड़ने पर मदिरा पान में भी कोई अड़चन न होती होगी, इसलिए यदि माल खाकर शीत सहा जाता है तो कपड़े उतार कर आइए और थोड़ी देर मेरे साथ बैठिये।" इस पर वह लज्जित हो गया और विषय बदल कर कहने लगा "अच्छा तो बताइए आपको शीत क्यों नहीं लगता ?" उत्तर में महाराज ने कहा इसका सहज से समझ में आने योग्य एक कारण तो अभ्यास है। आपका मुख सदा नग्न रहता है, इसलिए आपको उसे ढाँपने की आवश्यकता इस समय भी प्रतीत नहीं होती।" कलेक्टर महाशय ने संकेत करके साथी को बहुत बोलने से रोक दिया और वे स्वामीजी को नमस्कार करके चले गये। कहते हैं कलेक्टर का यह साथी कोई पादरी था, जो कारणवश उनके साथ आया था।

: १० :

वेद-प्रचार में सच्चे ब्रह्मानन्द की अनुभूति

स्वामीजी महाराज सैंकड़ों राजपूतों को जनेऊ धारण कराते हुए, सहस्रों मनुष्यों को उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाते हुए, फर्रुखाबाद तक गये और फिर लौटकर विचरते हुए चासी में आ गये।

चासी अहार से कोई ढाई मील के अन्तर पर है। गंगा का तीर है, वनस्थान है, अति एकान्त, शान्त और रमणीक प्रदेश है। वहाँ स्वामीजी एक कुटिया में टिके। उनके पास ग्रामीण लोग आने लगे। वे महाराज का अति सम्मान करते थे। इससे वहाँ रहने वाला एक वैरागी बहुत चिढ़ गया। वह रात-दिन इसी उधेड़-बुन में रहने लगा कि किस प्रकार दयानन्द को यहाँ से चलता किया जाय। स्वामीजी का नियम था कि जो पहले भोजन ला देता वे उसे ही खा लेते। वैरागी ने उसी नियम से लाभ उठाना चाहा। वह सबसे पहले, एक-दो जले-भुने टिक्कड़ स्वामीजी के आगे रख देता और वे वीतराग वही खा जाते। परन्तु कुछ काल के अनन्तर वही वैरागी महाराज का अनुरागी हो गया। उसके पीछे एक जाट महाराज को नियम से भोजन लाकर दिया करता था।

ठाकुर महावीरसिंहजी चांदोख निवासी स्वामीजी के श्रद्धालु भक्त थे। वे आठ दिवस तक चासी वन में स्वामीजी की सेवा में रहे। उन्हें आठ दिन तक श्रीसंगति में रह कर जो लाभ और जो आनन्द प्राप्त हुआ उसका अनुभव उन्होंने अपने जीवन में अन्यत्र कहीं नहीं किया।

जहाँगीराबाद-निवासी, ओङ्कारदास बहुरा गङ्गास्नानार्थ चासी में गया। उस समय श्री स्वामीजी वहीं विराजमान थे। वह जब दर्शनार्थ स्वामीजी के समीप गया तो उनके पवित्र स्वरूप से ऐसा प्रभावित हुआ कि उसके हृदय में स्वामी-श्रद्धा का स्रोत स्रावित हो आया। उसने कुछ भोज्य पदार्थ स्वामीजी को समर्पित किया, जिसे महाराज ने ग्रहण कर लिया। एक दिन तो 'सत्संग में अपने आत्मा की पिपासा को शान्त करूं', इस सङ्कल्प से उसने स्वामीजी की कुटी के निकट डेरा डाल दिया। ओंकारदास व्यायाम करने वाला था। पुष्ट, सुगठित और बलवान् था। सायंकाल होने पर उसके हृदय में इस भाव

का प्रादुर्भाव हुआ कि चलो पाँव दबाकर स्वामीजी की सेवा करें। इससे स्वामीजी के बल का भी ज्ञान प्राप्त हो जायगा। ओंकारदास ने प्रार्थना की कि सेवक को पाँव दबाने की सेवा प्रदान कीजिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हमारे पाँव दबे दबाये हैं। परन्तु अत्याग्रह से वह चरण-सेवा करने लग ही गया। उसने जब महाराज की पिण्डलियों पर हाथ लगाया तो वे उसे लोहे के दण्ड के सदृश कड़ी प्रतीत हुईं। उनमें हाथ न धंसता था, कहीं बल न पड़ता था, सम्पूर्ण बल लगाने पर भी माँस हाथों में न आता था। ओंकारदास थोड़ी ही देर में एड़ी से चोटी तक पसीने से तर होकर हाँपता हुआ पाँव दबाने से पीछे हट गया। उसने स्वामीजी ऐसा बलिष्ठ व्यक्ति अपने सारे जन्म में नहीं देखा था।

पण्डित गङ्गाप्रसादजी भी स्वामीजी के एक श्रद्धालु अनुयायी थे। जिस प्रकार प्रशंसित परमहंस जाटों को, राजपूतों को, वैश्यों को यज्ञोपवीत देते थे, उनका अनुकरण करके गंगाप्रसाद जी उसी प्रकार गाँव-गाँव में विचरण करते हुए जनेऊ धारण कराते थे। उनके इस कार्य से स्वामीजी बहुत प्रसन्न थे। एक दिन गंगाप्रसादजी ने स्वामी-चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया कि महाराज ! मैंने बहुत बड़ी जन-संख्या को जनेऊ धारण कराये हैं। स्वामी जी ने उसके इस कार्य की आशीर्वाद सहित स्तुति करते हुए कहा कि यज्ञोपवीत देते ही जाते हो कि किसी का उतारते भी हो ? उसने विनय की—"भगवन् ! कभी जनेऊ उतारा भी जाता है ?" स्वामीजी ने कहा—हाँ, जो जन धर्म-कर्महीन हो जायँ उनके उपवीत उतार लेने चाहिएँ।

पण्डित गंगाप्रसाद का गुरु प्रायः स्वामीजी के निकट आया-जाया करता था। एक दिन वह स्वामीजी की कुटिया पर अपने वस्त्र रख, गंगा-तीर पर स्नानार्थ जाने लगा। स्वामीजी की दृष्टि उसकी भुजा में धारण किये हुए 'अनन्त' पर जा पड़ी। महाराज ने विस्मयाकार में पूछा कि आपकी भुजा में क्या है ? वह बोला—महाराज, यह 'अनन्त' है। स्वामीजी झट उसके पास चले गये और उङ्गलियों से नाप कर कहने लगे कि यह तो इतने अंगुल का है, अनन्त कहाँ है। उसने लज्जा के मारे वह 'अनन्त' तुरन्त उतार कर गङ्गा में बहा दिया।

स्वामीजी नवीन वेदान्तियों के वचनमात्र के ब्रह्मवाद से घोर घृणा

करते थे। वे कहा करते थे कि आलस्य-निमग्न साधु-पण्डितों ने धर्म-कर्म और लोकहित करने से बचने के लिए मायावाद का ढकोसला बना रक्खा है। ये लोग ब्रह्मसत्ता का अनुभव तो करते ही नहीं, उलटे "अहं ब्रह्म जगन्मिथ्या" कहकर रात-दिन मिथ्या वचन बोलने के भागी बनते हैं।

खन्दोई गाँव का निवासी छत्रसिंह जाट, जो स्वामीजी का प्रेमी तो था परन्तु वैसे था पक्का नवीन मायावादी, एक दिन स्वामीजी के पास आया। नमस्कारादि करके वेदान्त-विषय पर वार्त्तालाप करने लगा। वार्त्तालाप-क्रम में छत्रसिंह ने कहा, "स्वामीजी ! आप चाहे जो कहें, परन्तु यह दृश्यमान जगत् आकाश-पुष्प समान मिथ्या है, स्वप्न-सृष्टि के तुल्य भ्रम मात्र है, वन्ध्या-पुत्र समान कल्पित है, शश-शृङ्गवत् असत्य है, वास्तव में यह है ही नहीं।"

स्वामीजी ने हाथ को थोड़ा सा आगे बढ़ा कर छत्रसिंह के मुख पर एक हलका-सा थप्पड़ लगाया ! चपत खाते ही वह चौंक उठा और कपोल मलता हुआ कहने लगा—"महाराज ! सिद्धान्त भेद होने पर ही, विचार न मिलने पर ही आप ऐसे ज्ञानी जनों को आवेश में आकर थप्पड़ मार देना शोभा नहीं देता।" स्वामीजी ने मन्द मुस्कान सहित कहा, "चौधरीजी, जब आपके निश्चयानुसार ब्रह्म ही एक वस्तु है, दूसरी कोई भी नहीं, और जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब मिथ्या है, तो वह आप से भिन्न दूसरा कौन है जिसने आपके थप्पड़ लगाया है ? आपको मिथ्या की प्रतीति कैसे हो गई ?"

छत्रसिंह ने यह सुनकर स्वामीजी के चरण पकड़ लिए और कहा, "महाराज ! आपने मेरी आँखें खोल दीं, वास्तव में हम लोग अनुभव-शून्य हैं। केवल बौड़ाहे मनुष्य की भांति वेदान्तवाद की बड़-बड़ करने लग जाते हैं।"

एक धुनिया विनयपूर्वक नित्यप्रति, स्वामीजी की सत्संग-गंगा में स्नान करके अपने अन्तरंग को निर्मल बनाया करता था। स्वामीजी ने उस पर अपार दया करके उसे 'ओम्' पवित्र का जप करना सिखाया। एक दिन भक्त धुनिए ने श्री-सेवा में प्रार्थना की कि स्वामीजी ! जप के अतिरिक्त मुझे और क्या कर्म करना चाहिए जिससे मेरा कल्याण हो ? स्वामीजी ने कहा, सदाचारपूर्वक जीवन बिताओ। जितनी रुई किसी से लो धुनकर उतनी

ही उसे पीछे लौटा दो। यही सद्व्यवहार तुम्हारे लिए एक उत्तम कल्याण-कारी कर्म है।"

चासी से स्वामीजी, बीच-बीच में कभी-कभी कर्णवासादि स्थानों में भी हो आया करते थे, परन्तु निवास वहीं रखते थे। महाराज रात्रि का अधिक भाग ध्यान में व्यतीत करते थे। यह स्थान उनके इतना अनुकूल प्रतीत हुआ कि यहां वे चार-पाँच मास पर्यन्त टिके रहे।

चासी से उठकर श्रीमहाराज अनूपशहर पधारे, वहाँ उन्होंने नर्मदेश्वर के समीप सती की मढ़ी में आसन लगाया। प्रत्येक समय बीसियों पण्डितों और अनेक श्रोता-जनों की वहाँ भीड़ लगी रहती थी। स्वामीजी पुराणादि आठ गप्पों का बड़े बल से खण्डन करते थे, परन्तु शास्त्रार्थ का, अब कोई प्रतिपक्षी नाम तक न लेता था। यहाँ भी लोगों ने अपनी देवमूर्तियाँ जल-मग्न कर दीं।

ठाकुर गिरवरसिंह चाँदोख-निवासी यहाँ स्वामीजी की सेवा में आये। उस समय, उनके पास नर्मदा के मंगवाये हुए गोल पिण्ड भी थे। वे उनका प्रतिदिन पूजन कियां करते थे। ठाकुर महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि क्या शिव-पूजा अच्छी है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि इससे तो चिउँटियों की पूजा करना अच्छा है, क्योंकि जो नैवेद्य उस पर चढ़ाया जाता है उसे वह बटिया तो नहीं खा सकती परन्तु चिउँटियों पर चढ़ाओगे तो वे अवश्य खा जायँगी।

ठाकुर महाशय ने फिर ईश्वर-सिद्धि पर प्रश्न किया। इसका उत्तर देते हुए महाराज ने कहा कि कारण के बिना कार्य नहीं होता; इस जगत् में जो गति है इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण ईश्वर है, तीनों गुणों की साम्यावस्था में विषमताजनक वस्तु प्रकृति से भिन्न ही होनी चाहिए, सो वह परमात्मा ही है, सृष्टि में जो नियम दीख पड़ता है उसका नियन्ता सर्वज्ञ परमेश्वर के बिना अन्य कोई भी नहीं हो सकता। ठाकुर महाशय अन्त में स्वामीजी के अनुगामी हो गये। महाराज ने उन्हें कहा कि जब तक आप जनेऊ धारण न कर सकें तब तक यह प्रार्थना किया करो। स्वामीजी ने उन्हें यह प्रार्थना लिखवा दी—"हे परमेश्वर, हे सर्वजगत्पितः, हे नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त स्वभाव, हे सर्वसुहृद्, हे सर्वान्तर्यामिन्

हे धर्मार्थ-काम-मोक्षप्रद, भवत्कृपया धर्मे मे सदा प्रीतिर्भवेत्, नाधर्म्मे कदाचित् । अधर्म्मे बुद्धीन्द्रियाणां च प्रवृत्तिर्न भवेत् ।"

स्वामीजी ने यह जप भी लिखाया—"ओम् नमः परमेश्वराय, सच्चिदानन्दस्वरूपाय सर्वगुरवे नमः ।"

श्री स्वामीजी में दया का भाव बहुत था । दुखित को देख वे कृपा-पूर से प्लावित हो जाया करते थे, और उसके दुःख को दूर करने के लिए भरसक यत्न करते थे । बरौली के राव कर्णसिंह वैष्णव मत की दीक्षा लेकर कुछ ऐसे हठीले पक्षपाती हो गये थे कि अपने अधीन सब को वैष्णव बनाना चाहते थे । उनको इतना रंग चढ़ा था कि नौकर-चाकरों के भी माथे पर तिलक और गले में कण्ठियाँ पड़ गई थीं । यहां तक कि गाय, भैंस और घोड़े तक के माथे पर तिलक विराजता था ।

एक दिन, राव महाशय ने अपने पुरोहित को पकड़ कर, बलात्कार से चक्राङ्कित कर दिया । वह किसी प्रकार वहाँ से छुटकारा पाकर भागता हुआ स्वामीजी के समीप आया और रोदन करके अपने घाव दिखाने लगा । स्वामीजी ने उसे आश्वासन दिया और उसके घाव पर अपने हाथ से औषध आदिक उपचार किया । जब तक उसके घाव पुरा न गये; तब तक महाराज ने उसे अपने पास ही रक्खा ।

स्वामीजी की दृष्टि सम थी । वे आर्यों में छूआछूत के बखेड़े को अति घृणा की दृष्टि से देखते थे और शुद्ध शूद्रों का बनाया हुआ भोजन पा लेने में कोई भी दोष नहीं मानते थे, किन्तु वे कहा करते थे कि पाक-क्रिया का विधान ही शूद्रों के लि.

एक उमेदा नाई अनूपशहर में रहता था । उसके भी हृदय-मंदिर में स्वामी जी का महत्त्व बस गया । एक दिन वह भक्ति-भावना से थाल में भोजन परस कर स्वामीजी की सेवा में लाया । स्वामीजी ने भक्त के भोजन को लेकर भोग लगाना आरम्भ कर दिया । उस समय,वहाँ कोई बीस-पच्चीस ब्राह्मण विद्यमान थे । वे कह उठे —"छि छि छिः ! स्वामीजी क्या करते हो ? यह रोटी तो नाई की है !" महाराज ने हँसते हुए कहा—"नहीं, यह रोटी तो गेहूं की है, इसलिए मैं इसे अवश्य खाऊँगा ।"

स्वामी जी के स्वर में विधाता ने अपूर्व माधुर्य भरा था । उनके कोमल

कण्ठ से निःसृत नाद कोकिल-कूजन का भी तिरस्कार करता था। एक दिन सत्संगियों ने नम्र निवेदन किया कि हम श्री-मुख से साम-गान सुनने के इच्छुक हैं। स्वामी जी ने 'बहुत अच्छा' कह कर साम का आलाप आरम्भ कर दिया। वह गान क्या था आनन्द की वर्षा थी; आत्मा में सुधा का संचार था। उनके स्वर के मिठास से, नाद की मोहिनी शक्ति से और अश्रुतपूर्व संगीत से लोग धीरे-धीरे ऐसे प्रभावित हुए कि सारी सभा, देश और काल के भाव को भूल-कर, संगीत रस-सागर में हिलोरे लेने लग गई। किसी को कुछ पता न रहा कि मैं कहाँ बैठा हूँ। सबकी चित्त-वृत्तियाँ मूर्छित हो गईं। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों नर्मदेश्वर का मन्दिर, सती की मढ़ी, नवलजंग का अखाड़ा, ये सब स्वामी-स्वर का अनुकरण कर रहे हैं; उत्ताल-तरङ्ग संकुल गङ्गा भी अपने कूलों सहित गा रही है। कोई आध घड़ी से अधिक काल तक लोग सङ्गीत-रस-आस्वादन करते रहे। स्वामी जी के गाना बन्द करने के उपरान्त भी, कई पलों तक वही समय बंधा रहा। लोग वैसे ही मौन, निस्तब्ध बने रहे। तत्पश्चात् उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि मानों वे अमृत से सिंचित किये गये हैं, सुख की नींद सोकर अभी उठे हैं।

एक भक्त ने पूछा कि महाराज, पुराकाल में जैसी उत्तम, मनोवाञ्छित, सुपात्र सन्तान हुआ करती थी वैसी अब क्यों नहीं होती? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि, प्राचीन काल में आर्य जन वैदिक संस्कार किया करते थे, वैदिक आचारयुक्त होते थे, इसलिए उनकी सन्तान में ओज होता था, तेज होता था, और शूरवीरता होती थी। परन्तु इस युग में लोग इन्द्रियाराम और विषयानन्द ही को प्रधानता दिये हुए हैं, वैदिक संस्कारों का त्याग कर बैठे हैं। लोगों के गृहों में कुरीतियों की भरमार है, इसीलिए उनकी सन्तान भी निस्तेज, दीन, दुखिया उत्पन्न होती है।

अनूपशहर में सुखानन्द जी ने श्राद्धों पर विचार किया। जिसमें स्वामी जी ने श्राद्धों का बल-पूर्वक खण्डन करके यह सिद्ध कर दिखाया कि श्राद्ध जीवित पितरों का ही होना चाहिए।

अनूपशहर से चलकर महाराज फाल्गुन मास में कर्णवास पधारे। इस बार भी एक महायज्ञ किया। दस दिन तक गायत्री का जप होता रहा और फिर बारह भद्र जनों ने यज्ञोपवीत धारण किये। अब की बार महाराज वहाँ दस-पन्द्रह दिन ही ठहरे।

गढ़िया में स्वामी जी ने चक्राङ्कितों से बातचीत करके उन्हें परास्त किया। अनेक पण्डितों सहित गुसाईं बलदेव गिरि जी स्वामी जी के दर्शनों को गये। उनकी भव्य मूर्ति के दर्शन और वार्तालाप से वे ऐसे विमोहित हुए कि प्रतिदिन स्वामी-सेवा में उपस्थित होने लगे। उन्होंने एक मास तक, स्वामी जी का भावनापूर्वक आदरातिथ्य किया।

स्वामी जी को यहाँ ठहरे एक मास हो चुका था कि एक दिन ओडेसर का ठाकुर चार साथियों सहित वहाँ आया। उनमें से दो के हाथों में खड्ग थे। यह ठाकुर आते ही स्वामी जी के बराबर बैठ गया। गुसाईं जी उपस्थित थे। उन्होंने उसे ऐसा करने से वर्जा कि गृहस्थों को संन्यासियों के समीप समान आसन पर बैठना उचित नहीं है; पर वह कड़ा वैष्णव था। उसने गुसांई जी की एक न सुनी और वहीं अकड़ा बैठा रहा। स्वामी जी ने महाभारत का एक श्लोक पढ़कर उसे समझाया, पर उसने इधर ध्यान ही न दिया। अन्त में, यह सोचकर कि ऐसे मूढ़ से क्या माथा-पच्ची करें स्वामी जी कुटिया के भीतर चले गये। उष्ण काल था, इस लिए गुसाईं जी नङ्गा सिर किए बैठे थे। ठाकुर महाशय का कोप-वज्र उन्हीं पर बरसने लगा। आपने अपने साथियों को आज्ञा दी कि यह नगे सिर वाला क्या कह रहा है? इसे पकड़ कर सीधा करो। गुसांई जी भी सामर्थ्यवान् थे। ज्यों ही ठाकुर के मनुष्य उन्हें पकड़ने के लिए आगे बढ़े उन्होंने एक के हाथ, और दूसरे के पांव को पकड़ कर दूर फेंक दिया! शेष की गत उनके शिष्यों ने बना दी। गुसांई जी को कोई भय था तो यह कि कहीं उनकी इस कोप-क्रीड़ा से स्वामी जी अप्रसन्न न हों। परन्तु स्वामी जी ने उनके साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा करके उन्हें प्रोत्साहन दिया।

दैवयोग से गढ़िया में कैलाशपर्वत जी आ निकले। सायं समय वे गंगा-तीर पर अपना नित्य कर्म कर रहे थे कि उन्हें सिर पर एक संन्यासी खड़ा दिखाई दिया। पूछा, "कौन है?" उत्तर मिला, "मैं दयानन्द सरस्वती हूँ।" यह सुनते ही कैलाशपर्वत जी ने स्वामी जी को समीप बैठा लिया और हरिद्वार के त्याग के पीछे का वृत्तान्त पूछने लगे। सब वृत्तान्त सुनाते हुए महाराज ने कहा—"कैलाशपर्वत जी! मैं आपसे सहायता लेने आया हूँ।" उन्होंने कहा—"सहायता किस प्रकार की?" स्वामी जी ने कहा "रामानुज,

वल्लभ आदि साम्प्रदायिक मतों ने पुरातन धर्म्म-कर्म, रीति-नीति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। सो आप इनके खण्डन में मेरे सहायक बनें।" कैलाश जी ने कहा, "आपका विचार उत्तम है। इन मतों का खण्डन अत्यावश्यक है। मैं आपको प्रत्येक प्रकार की सहायता देने को भी समुद्यत हूँ, परन्तु आप प्रथम मेरी दो बातें स्वीकार कर लीजिए। एक तो मूर्ति-पूजा का खण्डन करना परित्याग कर दीजिए। मन्दिर सर्वत्र बने हुए हैं और इनसे अज्ञानी लोगों को लाभ भी बड़ा है। सैकड़ों की आजीविका लगी हुई है। दूसरे आप पुराणों का खण्डन भी छोड़ दीजिए। यह न कहिये कि ये व्यासकृत नहीं हैं और स्वार्थी लोगों के निर्माण किये हुए हैं।"

स्वामी जी ने कहा, "महात्मन्! इन सम्प्रदायों का आधार-आश्रय यही मूर्ति-पूजा और पुराण हैं। इन्हीं दो की आड़ में मतवाले अपने-अपने मतों का प्रचार करते हैं। इसी टट्टी की ओट में मत-मृगया हो रही है। जब तक इनका खण्डन न होगा आर्ष ग्रन्थों का आदर न हो सकेगा। श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित धर्म्म को लोग नहीं समझ सकेंगे। कृपया आप बद्धपरिकर होकर जयपुराधीश आदि राजाओं को वैदिक धर्म्म पर लाइए। आप संन्यासी हैं, निर्भयता से लोगों में सत्य का प्रचार कीजिए।"

कैलाशपर्वत जी विद्वान् तो थे ही पर साथ ही वयोवृद्ध भी थे। इससे स्वामी जी उनका समादर करते थे। उनके समीप निवास भी कर लिया करते थे। साम्प्रदायिक-संग्राम में सम्मिलित होने की संधि करने के लिए, कैलाशपर्वत जी ने जो दो बातें उपस्थित की थीं उन्हीं का घोर प्रतिवाद करते-करते सारी रात बीत गई और संवेरा हो गया। स्वामी जी एक वृद्ध संन्यासी से निराश होकर स्वस्थान को जाने के लिए प्रस्तुत हुए। कैलाशपर्वत जी ने कहा—"दयानन्द जी! अभी न जाइये। भिक्षा पाकर मध्याह्नोत्तर काल में चले जाइएगा। इतनी क्या शीघ्रता है?" परन्तु स्वामी जी यह कहते हुए वहाँ से चल पड़े, कि "मैं आपके पास कोई भिक्षा का भूखा न आया था। मैं आया था कि आप सत्य में मेरी सहायता करेंगे। सो आपने नहीं की। ऐसी अवस्था में ईश्वर ही सहायता करेगा।"

कैलाशपर्वत जी स्वामी जी के सत्याग्रह से अतिशय प्रसन्न थे। वे कहा करते थे, "दयानन्द जैसा धैर्य का धनी, सुदृढ़-संकल्प संन्यासी, न हमने कहीं

देखा और न ही सुना है। यह अप्रतिम पुरुष है।"

गुसांई बलदेव गिरि का मठ सोरों ही में था। वे नित्य निवेदन करते थे कि स्वामी जी ! सोरों चलिए। वहाँ अत्युपकार होगा। सोरों से कुछ भक्त जन भी स्वामी जी की सेवा में उपस्थित होकर वहाँ पधारने के लिए प्रार्थी हुए। उन सबके आग्रह से स्वामी जी सोरों पधारे। गंगा के तीर पर गुसांई जी के मन्दिर में ठहरे। अगले दिन गुसांई जी ने उन्हें अम्बागढ़ के स्थान में जा टिकाया।

सोरों में स्नान-माहात्म्य का बड़ा भारी मेला था। कोई दस सहस्र तो ब्राह्मण ही वहाँ एकत्रित हुए होंगे। वहाँ बहुत से चक्रांकित पण्डित स्वामी जी के समीप वाद करने के लिए आये, परन्तु आधी घड़ी भी कोई सामने न ठहर सका। वैष्णवों का मुखिया हरगोविन्द था और स्वामी जी का सहायक रामनारायण तिवाड़ी था। चक्रांकित हुल्लड़ बहुत मचाते थे, जिससे विवश होकर रामनारायण और गुसांई जी उन लोगों को झिड़कना-भर्त्संना भी करते थे। जैसे समुद्र के उत्ताल-तरल तरंग प्रबल चट्टान से टक्कर खाकर, हत-प्रतिहत होकर, उपशम हो जाते हैं, पीछे हट जाते हैं, ऐसे ही पौराणिक पण्डित और साम्प्रदायिक वादीगण, बड़े आवेश में स्वामी जी के निकट आते और युक्ति-प्रमाणों से प्रतिहत होकर, प्रत्याघात खाकर शान्त हो जाते अथवा लौट जाते थे।

कुछ-एक उपद्रवी लोगों ने परस्पर मिल, स्वामी जी को विष देकर मार डालने अथवा जलमग्न कर देने का षड्यंत्र रचा। एक रात वे मिलकर आये। उस समय, स्वामी जी के समीपवर्ती स्थान में एक और साधु सुख से सो रहा था। उन्होंने उसी को, दयानन्द समझकर खटिया सहित उठा लिया और ले जाकर गङ्गा की धारा में फेंक दिया ! जब उसने डूबते हुए चिल्लाकर बचाने की याचना की तो उन धूर्तों को ज्ञात हुआ कि यह दयानन्द नहीं है। उस पर वह साधु जल में से निकाल लिया गया।

श्री स्वामी जी, एक दिन, उपदेश दे रहे थे और बीसियों मनुष्य दत्तचित्त होकर श्रवण कर रहे थे। उस समय वहाँ एक हट्टा-कट्टा, डण्डपेल पहलवान सा जाट आ गया। एक मोटा सोटा कन्धे पर रक्खे सभा-सरोवर को चीरता-फाड़ता सीधा स्वामी जी की ओर बढ़ा। उसका चेहरा मारे क्रोध के तमतमा

रहा था। आंखें रक्तवर्ण थीं, भौंवें तन रही थीं और माथे पर त्योरी पड़ी हुई थी। होठों को चबाता और दाँतों को पीसता हुआ वह बोला—"अरे साधु, तू ठाकुर-पूजा का खण्डन करता है, और श्री गङ्गामैया की निन्दा करता है, देवताओं के विरुद्ध बोलता है! झटपट बता, तेरे किस अङ्ग पर यह सोटा मारकर तेरी समाप्ति कर दूँ?" ये वचन सुनकर, एक बार तो सारी सभा विचलित हो गई। परन्तु श्री स्वामी जी महाराज की गम्भीरता में रत्ती भर भी न्यूनता न आई। उन्होंने प्रशान्त भाव से मुस्कराते हुए कहा, कि "भद्र! यदि तेरे विचार में मेरा धर्म-प्रचार करना कोई अपराध है तो इस अपराध का प्रेरक मेरा मस्तिष्क ही है। यही मुझे खण्डन की बातें सुझाता है। सो यदि तू अपराधी को दण्ड देना चाहता है तो मेरे सिर पर सोटा मार, इसी को दण्डित कर।" इन वाक्यों के साथ ही, स्वामी जी ने अपने नेत्रों की ज्योति उसकी आँखों में डाल कर उसे देखा। जैसे, बिजली कौंध कर रह जाती है, धधकता हुआ अंगारा जल-धारा-पात से शान्त हो जाता है, वैसे ही, तत्काल वह बलिष्ठ व्यक्ति ठण्डा हो गया, श्रीचरणों में गिर पड़ा, अविरत अश्रुमोचन करता हुआ अपराध क्षमा कराने की याचना करने लगा। स्वामी जी ने उसे आश्वासन दिया और कहा, "तुमने कोई अपराध नहीं किया। मुझे मारते तो भी कोई बात थी, अब यों ही क्यों रो रहे हो? जाओ, ईश्वर तुम्हें सत्य मार्ग प्रदान करें।"

इस दृश्य को देख लोग स्वामी जी की सहनशीलता की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए आपस में कहते थे कि सोरों में बहुतेरे साधु-सन्त आये; परन्तु ऐसा शान्त, ऐसा निर्भय, ऐसा क्षमावान् कभी कोई न आया होगा।

स्वामी जी विचरते हुए सरदोल में आ विराजे। उनके उपदेशों से यहाँ ठाकुर हुलाससिंह तथा अन्य सज्जन पक्के आर्य-धर्मावलम्बी बन गये।

गढ़ी में वैरागी लोग स्वामी जी का बड़ा विरोध करते थे। इसका कारण यह था कि जिस समृद्ध ठाकुर के स्थान पर स्वामी जी ठहरे हुए थे उसने कण्ठी तोड़ डाली थी, मूर्तिपूजा छोड़ दी थी। वह कई ग्रामों का भूमिहार था। इसलिए वैरागियों को अपनी आजीविका के जाते रहने का भय था। स्वामी जी तो वैरागियों से सदा ही सावधान रहते थे। उन्होंने सुन रक्खा था कि कानपुर से चार कोस के अन्तर पर वैरागियों का एक डेरा है। वहाँ

विरजानन्द नामक एक साधु जा निकला। वैरागियों ने उसे दयानन्द समझकर पकड़ लिया और गङ्गा में धकेल दिया। वह था तैरने वाला इसलिए हाथ-पैर मार कहीं किनारे जा ही लगा।

उदासी साधु मायाराम गढ़ी में स्वामी जी की निन्दा सुन उनके पास आकर कहने लगा कि दयानन्द जी! आप इस खण्डन-मण्डन के झमेले में क्यों पड़ गये? हमारी तरह आनन्द से खा-पीकर सुख में रहा करो। क्यों वैर बढ़ाते हो? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि हम तो ब्रह्मानन्द में रहते हैं, और जो आनन्द वेद-प्रचार में आता है वह तो तुलनातीत है।

: ११ :

निर्भयतामूर्ति देव दयानन्द : कर्ण की तलवार

ज्येष्ठ वदि १३ संवत् १९२५ को स्वामी जी कर्णवास में अपनी पुरातन कुटिया में ही आकर ठहरे। उसी मास में गंगा-स्नान का मेला था। सहस्रों नर-नारी एकत्रित हुए। उस समय राव कर्णसिंह भी स्नानार्थ आए। राव महाशय जब से वैष्णव सम्प्रदाय-अनुयायी, रंगाचार्य के चेले बने थे तब ही से, वे अति पक्षपाती हो गये थे। कर्णवास में उनकी ससुराल भी थी। वे स्वामी जी की कुटिया के थोड़े अन्तर पर ही उतरे थे। रात्रि के समय उनके उतारे पर रास होने लगा। कुछ पण्डित लोग स्वामी जी को भी बुलाने आये। परन्तु स्वामी जी ने कहा कि हम ऐसे निन्दनीय कार्य में कदापि सम्मिलित नहीं हो सकते। तुम लोग जो अपने पुरुषाओं के स्वांग बनाकर देखते हो यह अति लज्जास्पद, शोक की वार्त्ता है। स्वांग भरना स्मृति में दोष वर्णन किया है।

अगले दिन पण्डित लोगों ने स्वामी जी के कथन को, अपनी टीका-टिप्पणी सहित, दुहराकर राव महाशय को बहुत भड़काया। वे भी उत्तेजित होकर पण्डितों और अपने नौकरों को साथ ले स्वामी जी की कुटिया पर चढ़ आये। सायं समय था। महाराज उपदेश कर रहे थे। श्रोतागण एकाग्रचित्त उपदेशामृत-पान करने में निमग्न थे। ऐसे समय में खट-खट करती हुई राव महाशय की सेना आ पहुँची। स्वामी जी महाराज ने 'आइए, बैठिये' इत्यादि शब्दों से उनका सत्कार किया, परन्तु राव महाशय अपनी ग्रीवा की ऐंठन

किंचित् भी न्यून न करके बोले—"कहाँ बैठें ?" स्वामी जी भी उनके ग्रहङ्कार के पारे की चढ़ी मात्रा को ताड़ गये । इसलिए उत्तर में बोले, "जहाँ इच्छा हो बैठ जाइए ।" राव महाशय बोले 'जहाँ तुम बैठे हो वहीं बैठेंगे ।" स्वामी जी ने शीतलपाटी हटा ली और कहा, "ग्राइए, यहीं बैठिये ।"

"आप हमारे यहाँ रास में क्यों नहीं आये ? संन्यासी होकर ऐसा करना अत्यन्त बुरा कर्म है । हमारे स्थान पर जब रास-लीला होती है तो सभी पण्डित-संन्यासी सम्मिलित होते हैं ।"

"आपके सम्मुख आपके पूज्य पुरुषाओं के रूप भरकर मलिन मनुष्य आते हैं, नाचते हैं और आप लोग बैठे-बैठे देखा करते हैं ! उस समय आप लोगों को लज्जा नहीं आती ? आश्चर्य है ! आप कैसे क्षत्रिय हैं ? किसी साधारण पुरुष के माता-पिता, परिजन का स्वरूप भरकर कोई नचावे तो उसे कितना बुरा लगता है ? परन्तु आप कुलीन लोग अपने मान्य महापुरुषों के स्वांग बनाकर नचाते हैं और प्रसन्न होते हैं !"

"हम तुमसे बातचीत करने आये हैं । हमने सुना है कि तुम अवतारों की और गङ्गा जी की निन्दा करते हो । स्मरण रक्खो, यदि मेरे सामने निन्दा की तो मैं बुरी तरह बर्त्ताव करूँगा ।"

"मैं निन्दा नहीं करता हूँ, किन्तु जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कहता हूँ । गङ्गा भी जैसी और जितनी है उसे वैसी और उतनी ही वर्णन करता हूँ ! सत्य के कथन करने में सर्वथा निर्भय हूँ ।"

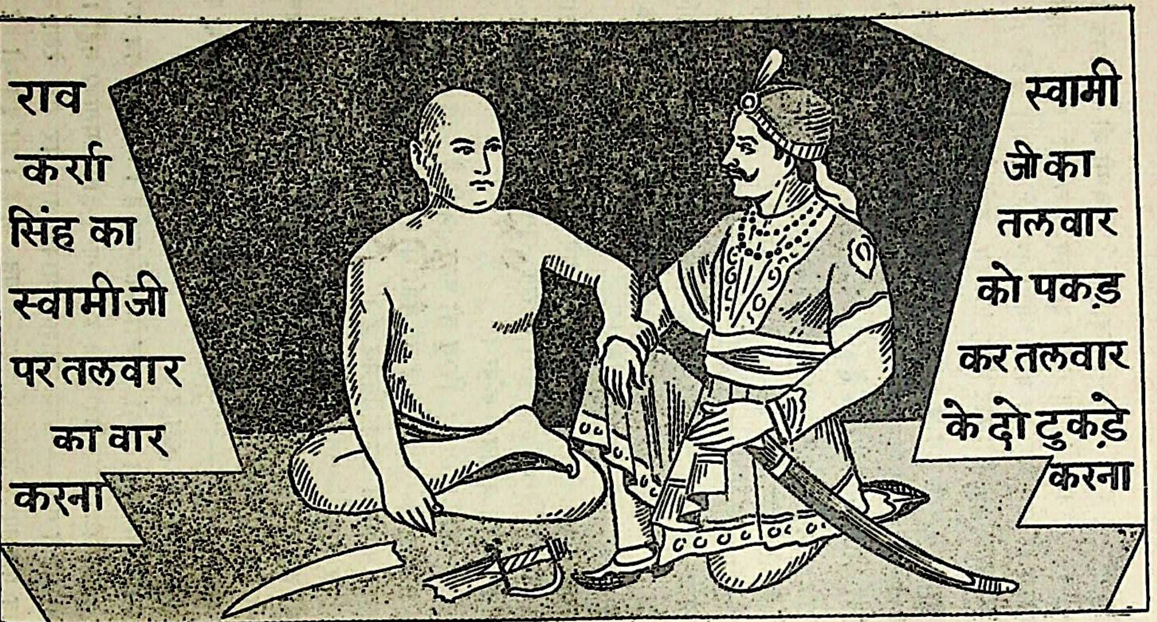
"तो फिर गङ्गा कितनी है ?"

स्वामी जी अपना कमण्डलु उठाकर बोले, "मेरे लिए तो इतना जल उपयुक्त है, सो यह इतनी ही है ।"

राव कर्णसिंह बोला—"गङ्गा गङ्गेति" इत्यादि श्लोकों में नाम, कीर्त्तन, दर्शन, स्पर्श से पाप-नाश कहा है ।"

"ये श्लोक साधारण लोगों के कपोल-कल्पित हैं । माहात्म्य सब गप्प हैं । पाप-नाश और मोक्ष-प्राप्ति वेदानुकूल आचरण से होगी, अन्यथा नहीं ।"

स्वामी जी ने पूछा—"राव महाशय, आपके भाल पर यह रेखा सी क्या है ?" राव महाशय ने उत्तर में कहा—"यह श्री है । जो इस श्री को धारण नहीं करता वह चाण्डाल है ।" "आप कब से वैष्णव हुए हैं ?" "कुछ वर्षों


राव कर्णा सिंह का स्वामीजी पर तलवार का वार करना
स्वामी जी का तलवार को पकड़ कर तलवार के दो टुकड़े करना

से।" 'क्या आपके पिता भी वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे ?"

" नहीं, वे नहीं हुए।"

"तब तो आप ही के कथनानुसार आपके पिता और कुछ वर्षों के पूर्व आप भी चाण्डाल सिद्ध हो गये।"

इस बात पर राव महाशय को क्रोध आ गया और वे तलवार पर हाथ रख कर बोले, "मुँह सम्भाल कर बोलो।" उनके साथी दस-बारह जन भी शस्त्र-सन्नद्ध थे, इसलिए टीकाराम भयभीत हो गये। परन्तु स्वामीजी ने उसे कहा—"डरते क्यों हो ? कोई चिन्ता की बात नहीं। हमने जो कुछ कहा है सत्य कहा है।"

उधर, राव महाशय छड़ी से छेड़े हुए नाग की भाँति कोपावेश में बल खा रहे थे। उनकी आँखों में लहू उतर आया। चेहरा क्रोधानल से लाल हो गया, उसने स्वामीजी पर कुवचन-वर्षा की झड़ी-सी लगा दी। परन्तु स्वामी जी हँसते हुए कहने लगे—"राव महाशय ! यदि शास्त्रार्थ करना अभीष्ट है तो वृन्दावन से रङ्गाचार्य्यजी को मंगाइए। उसमें जो हार जाय वह दूसरे के सिद्धान्त को स्वीकार करेगा, यह प्रतिज्ञा हो जानी चाहिये।" राव महाशय ने कोप में कड़क कर कहा कि तुम रङ्गाचार्य से क्या वादविवाद कर सकते हो ? तुम्हारे जैसे जन तो उनकी जूतियाँ झाड़ते हैं। इत्यादि बातों के साथ राव महाशय गाली भी प्रदान करते जाते थे, और बायें हाथ से थामे हुए खड्ग-कोष की मुट्ठी पर बार-बार दाहिना हाथ रखते थे। इस पर स्वामीजी ने हँसते हुए कहा कि "राव महाशय खड्ग को बार-बार क्यों संचालन करते हो ? शास्त्रार्थ करना हो तो अपने गुरुजी को यहाँ ले आइए, हम कटिबद्ध हैं। परन्तु यदि आपको शस्त्रार्थ करने का चाव है तो संन्यासी से क्यों टकराते हो ? जयपुर-जोधपुर से जा भिड़ो।"

फिर क्या था, राव महाशय आपे से बाहर हो गये। उनकी आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगीं। हाथों की मुठ्ठियाँ ऐंठ गईं। होठ फड़क उठे। भीषण रूप धारण करके, वे उचितानुचित का कोई विचार किये बिना मुख से खरी-खोटी बातें सुनाते, खड्गहस्त, स्वामीजी की ओर लपके। स्वामीजी ने "अरे धूर्त्त" कहते हुए उन्हें हाथ से धकेल दिया। इससे राव महाशय एक बार तो लुढ़क गए, परन्तु फिर सम्भलकर चौगुने कोपावेश में, महाराज पर

तलवार का वार करने के लिए आगे बढ़े। वे तलवार चलाना ही चाहते थे कि महाराज ने झपट कर उसे उनके हाथ से छीन लिया और भूमि के साथ टेक देकर दबाव से उसके दो टुकड़े कर डाले। स्वामीजी ने राव महाशय का हाथ पकड़कर कहा—"क्या तुम यह चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार कर बदला लूँ ?" राव महाशय का मुख पीला पड़ गया, तन पर मूर्छा-सी आ गई। उस समय स्वामीजी ने कहा—"मैं संन्यासी हूँ, तुम्हारे किसी भी अत्याचार से चिढ़कर तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन नहीं करूँगा। जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करें !" महाराज ने तलवार के दोनों खण्ड दूर फेंककर राव महाशय को विदा कर दिया।

जिस समय यह घोर घटना घटित हुई स्वामीजी के समीप कोई पचास मनुष्य बैठे थे। वे सब, राव कर्णसिंह जी के कुकर्म की निन्दा करते हुए, स्वामीजी को सम्मति देने लगे कि राज-कर्मचारियों को सूचना देकर इसका पूरा परिणाम निकलवाना चाहिए। स्वामीजी ने कहा—हम अभियोग कदापि न चलायेंगे। हमारा धर्म्म तो संतोष करना है। यदि वह अपने क्षत्रियत्व का पालन नहीं कर सका तो हम अपने ब्राह्मणत्व से क्यों गिरें ? जो धर्म्म का हनन करता है अन्त को उसका अपना हनन हो जाता है। इस पर स्वामीजी ने मनु का यह श्लोक सुनाकर लोगों को शान्त किया :—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

वहाँ अनेक पण्डितों और स्वामी विशुद्धानन्द, कृष्णानन्द आदि संन्यासियों से धर्म्म-मीमांसा होती रही, और कार्तिक तक महाराज ने वहीं निवास किया।

स्वामीजी सोरों में पधार कर अम्बागढ़ में विराजमान हुए। श्रद्धालुगण और वादीगण प्रत्येक समय आते रहते थे। पण्डित अंगद उस समय न्याय और व्याकरण में तुलनातीत विद्वान् समझा जाता था। कोई भी विद्वान् उसके साथ शास्त्रार्थ करने का साहस न करता था। वह पहले-पहल विरजानन्दजी से कौमुदी पढ़ता रहा था।

रामनारायण पण्डित, जो स्वामीजी के विचारों को, उनके पिछले आगमन में मान चुका था, अंगद शास्त्री के पास गया और कहने लगा कि स्वामी

दयानन्दजी के तेज से सभी पण्डित अभिभूत हो रहे हैं। अब आप चलिए और उनसे शास्त्रार्थ कीजिए।

साम्प्रदायिक धर्म्म की नौका को गंगा में निमज्जित होता देख अंगद जी स्वामीजी के निकट आकर मूर्ति-पूजा सिद्ध करने में प्रवृत्त हुए। स्वामीजी ने शास्त्रीय प्रमाणों की प्रबलता से उसके पक्ष का खण्डन करके भागवतादि की भी तीव्र आलोचना की। स्वामीजी ने भागवत की कविता पर भी ऐसे आक्षेप किये कि जिन्हें अंगदजी ने भी अंगीकार कर लिया। शास्त्री जी ने कुछ देर तक तो अपने पक्ष के पोषण में बहुतेरे हाथ-पैर मारे, परन्तु अन्त में स्वामीजी की शुद्ध, सरल, धारा-प्रवाह संस्कृत-वक्तृता से, ओजस्विनी कथन-शैली से, अकाट्य युक्तियों से, प्रभूत-पुष्ट प्रमाणों से, समयोचित तात्कालिक उत्तर-प्रत्युत्तर प्रदान से और अप्रतिम प्रतिभा-प्रभा से वे ऐसे चकित हुए, ऐसे विमोहित हुए कि मुक्तकण्ठ से कह उठे 'स्वामीजी महाराज! आप जो कुछ कह रहे हैं वह सब सत्य है। अब पुराणपोल अधिक सुनने की आवश्यकता नहीं रही।" शास्त्रीजी ने तत्काल अपनी कण्ठी तोड़ दी, शालिग्राम गंगागत कर दिये और आगे के लिए भागवत-कथा कहने का परित्याग कर दिया। उनके सम्बन्धियों ने भी उनका अनुगमन करते हुए अपनी मूर्त्तियाँ जलमग्न कर दीं। उस समय गुसांई बलदेवगिरिजी को भी आवेश आ गया। उन्होंने भी अपनी प्रतिमायें गंगा के बहाव में विदा कर दीं। अंगद शास्त्री जी उस समय पण्डित-मण्डल में संस्कृत विद्या का सूर्य माने जाते थे। उनकी सर्वत्र धाक थी। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् भी उनके समक्ष आते हुए, दूर ही से पक्ष-परिवर्तन करके निकल जाते थे। जब वही विद्या-दिग्गज परास्त हो गये, उन्होंने हार मान ली तो स्वामीजी महाराज की विजय-वैजयन्ती अनिवार्य रूप से फहराने लगी, उनकी निर्दोष कीर्ति-चन्द्रिका सर्वत्र विस्तृत हो गई, सुगुण-सुमनों की सुगन्ध वायुवेग से दशों-दिशाओं में संचरित हो गई।

रंगाचार्य प्रत्येक वर्ष सोरों आदि स्थानों में आया करता था। लोगों को दीक्षा देता था, चक्राङ्कित करता था। परन्तु अंगदजी के पराजय का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसके सैकड़ों शिष्यों ने कण्ठियाँ तोड़ डालीं, प्रतिमायें बहा दीं, पर जैसे, केसरी की गुहा के समीप जाने से हस्ती भयभीत होता है ऐसे ही रंगाचार्य भी श्री दयानन्दजी के आतङ्क से कम्पित था। इसलिए उस ओर आने का उसने नाम तक न लिया।

सोरों में इतना धर्म्म-प्रचार हुआ कि ब्राह्मणादि कुलों के सैकड़ों लोग कण्ठियाँ त्यागकर, मूर्तियाँ छोड़कर, भागवत-कथा के स्थान महाभारत और मनुस्मृति सुनने लग गये ।

चौवे रामदयाल वैद्य स्वामीजी के दर्शनार्थ वहाँ आये । उस समय महाराज संध्या और गायत्री का वर्णन कर रहे थे । और तो और ब्राह्मण कुलों की यह अवस्था थी कि सहस्रों ब्राह्मणवंशीय यज्ञोपवीत-विहीन, संन्ध्या-गायत्री से शून्य थे ! वैद्यजी स्वामीजी के मनोहर भाषण से प्रसन्न हुए। स्वामीजी ने उन्हें संध्या लिखकर बाँटने की प्रेरणा की ।

स्वामीजी के कथनों के प्रभाव से गंगा के आस-पास के सहस्रों लोग नित्य-कर्मों में परायण हो गये ।

बदरिया निवासी अङ्गद शास्त्री, जिन्होंने स्वामीजी के समीप अपना पराजय स्वीकार कर सब पाखण्ड-जाल तोड़ डाला था, एक अच्छे कवि भी थे । कैलाशपर्वतजी की प्रेरणा से उन्होंने वराह-स्तुति के सौ श्लोक रचे थे । जब वे स्वामीजी के शिष्य बन गये तो उन्होंने स्वामीजी के कार्य के अनुकूल बहुत से श्लोक निर्माण किये ।

पण्डित जगन्नाथ बाँसबरेलीवाले ने स्वामीजी के निकट आने का तो साहस न किया, परन्तु "इतिहासपुराणानि धर्म्मशास्त्राणि श्रावयेत्" यह मनु-वाक्य लिख भेजे । स्वामीजी ने उत्तर में लिखा कि यहाँ पुराण से तात्पर्य पुरातन से है, न कि भागवत आदि से ।

वैद्य रामदयाल ने स्वामीजी से कहा कि ग्वालियर राज्य का रहने वाला एक ब्राह्मण हमें कचुरा में मिला था । वह कहता था कि मेरे पास 'कालीदास चरित संजीवनी' नामक एक पुस्तक है । उसमें कालीदास ने अपने समय में महाभारत के ग्यारह सहस्र श्लोकों और दस पुराणों की विद्यमानता प्रकट की है ।

वंग प्रान्तान्तर्गतः, मकसूदाबाद परगने के, शक्तिपुर नामक ग्राम के निवासी बोपदेव और जयदेव दो भाइयों ने भागवत-पुराण की रचना की थी । श्रीधर तिलक भी इसे बोपदेव निर्मित बताता है । स्वामीजी ने उस पुस्तक को लेने की रुचि प्रकट की, परन्तु रामदयालजी, यत्न करने पर भी उसे न ले सके ।

पीलीभीत निवासी एक पण्डित अङ्गद भी सोरों में आया था। वह भूतल पर अपने समान किसी को न समझता था। जब वह स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए उत्सुक हुआ तो महाराज ने अपने शिष्य बदरिया के अङ्गद शास्त्री को आज्ञा दी। पीलीभीत का पण्डित स्वामीजी के शिष्य ही से परास्त होकर पलायन कर गया।

स्वामीजी महाराज को यदि कभी लहर आ जाती तो झूठे के घर तक पहुँच जाते और अन्त में उसके पैर निकालकर ही पीछे हटते। चिद्घनानन्द नाम के एक संन्यासी मूर्ति-पूजा सिद्ध करने के लिए सोरों में आ गये। स्वामीजी ने उनको शास्त्रार्थ-सम्बन्धी निमन्त्रण-पत्र में लिखा कि सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए कहो तो मैं आपके स्थान पर आने के लिए उद्यत हूँ, नहीं तो आप मेरे आसन पर पधारिये। परन्तु उन तिलों में तेल न था। वह दूर ही से बातें बनाता रहा। न आप सामने आया और न स्वामीजी को ही आहूत किया। एक दिन चार घड़ी दिन रहे वह गङ्गा की ओर निकला। पता लगाने पर श्री स्वामीजी भी उसके पीछे हो लिये। अन्त में पौन कोस के अन्तर पर उसे पकड़ ही लिया। वहीं दोनों बैठ गये। श्री स्वामी जी ने कहा कि चिद्घनानन्दजी! आप प्रतिमा-पूजन सिद्ध करते हो, भला उसकी पुष्टि में कोई मन्त्र प्रमाण तो दो। जो दशा सूर्य्य-तेज से अभिभूत ग्रह-नक्षत्रों की होती है उस समय, चिद्घनानन्दजी की भी ठीक वही हुई। सिंह के पंजे में पड़ा हुआ हिरन अब निकले तो किस प्रकार? वह तो उसी चिन्ता में चूर हो गया। मौन साध कर उसने कुछ भी उत्तर न दिया। जब ऐसे ही बैठे हुए एक घण्टा बीत गया तो स्वामीजी ने कहा—"असत्य ने आपके मुख पर मुहर लगा दी है। यदि आपका पक्ष यथार्थ है, तो फिर मुँह मूँदे क्यों बैठे हो?" पर बोलता कौन? वहाँ तो वह दशा हो रही थी जो राम के बाण को देखकर परशुरामजी की हुई थी। अन्तपर्यन्त उस साधु ने अपनी चुप्पी न खोली। तब स्वामीजी अपने डेरे पर आ विराजे।

कैलाशपर्वतजी को भी शास्त्रार्थ करने के लिये उत्तेजना दी गई। परन्तु वे दो कारणों से स्वामीजी के अभिमुख न हुए। एक तो वे स्वामीजी की विद्वत्ता से भलीभाँति परिचित थे। दूसरे स्वामीजी के कार्यों के साथ गुप्त सहानुभूति भी रखते थे। उनको वराह के मन्दिर से बड़ी भारी आय थी।

राजा-महाराजों में प्रतिष्ठा का भी कोई पार न था। इस कारण यही नहीं कि प्रगट रूप से अनुमोदन न करके वे स्वामीजी के कार्यों के सहायक ही न बनते थे, प्रत्युत लोक-मनोरञ्जन के लिए उन्होंने स्वामीजी के विरुद्ध एक पुस्तक भी प्रकाशित की थी। कैलाशपर्वतजी भीरु भी बहुत थे। चटपट लोगों के डराने और बहकाने में आ जाते थे।

एक दिन, बलदेवगिरि के विरोधियों ने उन्हें जा बहकाया कि, वह मूर्त्तियाँ आदि गङ्गा में फेंक कर दयानन्द का अनुयायी हो गया है। समय पाने पर आपको अवश्य पीट डालेगा। यदि हमें एक सहस्र रुपये दो तो हम बलदेवगिरि को पहले ही पीट कर ठीक कर दें? कैलाशजी सहमत हो गये। बलदेवगिरि के पास और स्वामीजी के स्थान पर आना जाना छोड़ बैठे। भेद ज्ञात होने पर बलदेवगिरि जी स्वयं उनके निकट गये और समझाया कि आपको धूर्त्त लोग यों ही बहकाते हैं। आप और हम में कोई वैर-विरोध तो है नहीं, तो फिर मैं आपको क्यों मारूँगा? और स्मरण रखिये कि यदि आपने धूर्त्तों को मुझ पर आक्रमण करने के लिए भेजा तो उनके पिटने अथवा मेरे मार खाने पर भी आप पकड़े जाओगे—बचे नहीं रहोगे।

कैलाशजी की मति सन्मार्ग पर आ गई और जिस वाटिका में स्वामी जी उतरे हुए थे, वहाँ पूर्ववत् आने-जाने लग गये। स्वामीजी उनकी स्वार्थ-परता, उनकी लोकलाज और भीरुता पर तो प्रसन्न न थे, परन्तु उन्हें विद्वान् और वृद्ध जानकर, उनका आदर-सत्कार ही किया करते थे। कभी-कभी उपहासरस में भी उन्हें पुकार लिया करते थे। एक दिन कुटिया के भीतर कलाशपर्वतजी ने प्रवेश किया तो स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "अहो! इतना बड़ा कैलाशपर्वत इस छोटी-सी कुटी में कैसे आ गया?"

एक दिन, गंगा-तीर पर एक साधु कमण्डलु आदि प्रक्षालन करके वस्त्र धोने में प्रवृत्त था। वह था एक घुटा हुआ मायावादी। दैवयोग से भ्रमण करते हुए स्वामीजी भी वहीं जा पहुँचे। उसने स्वामीजी को सम्बोधन करके कहा—"इतने त्यागी परमहंस'—अवधूत—होकर आप खण्डन-मण्डन रूप प्रवृत्ति के जटिल जाल में क्यों उलझ रहे हो? निर्लेप होकर क्यों नहीं विचरते?" महाराज मुस्करा कर बोले, "हम तो यह सब कुछ करते हुए भी निर्लेप हैं। अब रही प्रवृत्ति की बात, सो शास्त्रीय प्रवृत्ति प्रजा-प्रेम से प्रेरित होकर सबही को करनी उचित है।"

साधु जी ने कहा, 'प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों डालते हो ? आत्मा से प्रेम करो, जिसके लिए कि श्रुति पुकार रही है।" उस समय उसने मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के संवाद के वाक्य भी बोले। तब स्वामीजी ने पूछा, "महात्मन् आप किससे प्रेम करते हैं ?' साधु बोला, "आत्मा से।" स्वामीजी ने पूछा, "वह प्रेममय आत्मा कहाँ है ?" साधु ने कहा, "वह राजा-रंकपर्यन्त हस्ती से लेकर कीट तक सर्वत्र ऊँच-नीच में परिपूर्ण है।" स्वामीजी बोले, "जो आत्मा सब में रमा हुआ है क्या आप सचमुच उससे प्रेम करते हैं ?" साधु ने उत्तर दिया, "तो क्या हमने मिथ्या वचन बोला है ?" तत्पश्चात् स्वामीजी ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "नहीं, आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते। आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्ज्वल बनाने का ध्यान है, अपने भरण-पोषण का विचार है। क्या आपने कभी उन बन्धुओं का भी चिन्तन किया है, जो आपके देश में, लाखों की संख्या में भूख की चिता पर पड़े हुए रात-दिन, बारहों महीने, भीतर-ही-भीतर जल कर राख हो रहे हैं ? सहस्रों मनुष्य आपके देश में ऐसे हैं, जिन्हें आजीवन उदर भरकर खाने को अन्न नहीं जुड़ता। उनके तन पर सड़े-गले मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। लाखों निर्धन, दीन ग्रामीण भेड़ों और भैंसों की भाँति, गन्दे कीचड़ और कूड़े के ढेरों से घिरे हुए, सड़े-गले झोपड़ों में लोटते हुए जीवन के दिन काट रहे हैं। ऐसे कितने ही दीन-दुखिया भारतवासी हैं, जिनकी सार-सम्भार कोई भूले भटके भी नहीं लेता। बहुतेरे कु-समय में राज-मार्गों में पड़े-पड़े पाँव पीटकर मर जाते हैं, परन्तु उनकी बात तक पूछने वाला कोई नहीं मिलता ! महात्मन् ! यदि आत्मा से, और विराट् आत्मा से प्रेम करना है तो अपने अङ्गों की भाँति सबको अपनाना होगा। अपनी क्षुधा-निवृत्ति की तरह उनकी भी चिन्ता करनी पड़ेगी। सच्चा परमात्म-प्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। वह ऊंच-नीच की भेदभावना को त्याग देता है। उतने ही पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख निवारण करता है, कष्ट-क्लेश काटता है, जितने से वह अपने करता है। ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तव में आत्म-प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं।" वह साधु यह सुनकर स्वामी जी के चरणों में गिर पड़ा, और अपने अपराध को क्षमा कराने लगा।

: १२ :

व्याकरण-सूर्य अस्त : परम वीतराग दयानन्द

कासगंज में बहुत से भद्रजन स्वामीजी को अपने नगर में लिवा ले जाने के लिए आये। स्वामीजी ने कहा कि अभी तो मैं गंगा के तीर पर प्रचार कर रहा हूं, इससे दूर जाना नहीं चाहता, परन्तु यदि पाठशाला स्थापित करने का कोई प्रबन्ध हो तो जा भी सकता हूँ। कासगंज के सभ्यों ने स्वनगर में आकर इस बात पर पूर्ण रीति से विचार किया और पाठशाला की योजना करने के लिये समुद्यत हो गये। तत्पश्चात्, पण्डित सुखानन्द जी आदि एकसौ के लगभग, भद्रजन सोरों में स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए, और अपने प्रयत्न निवेदन करके स्वामीजी को बलदेवगिरि जी की बग्गी में ले आये। नगर के समीप पहुंच कर गाड़ी ठहरा ली गई। जब नगरवासी बड़ी भारी सख्या में स्वामीजी के स्वागत के लिए वहाँ पहुंच गये तो महाराज का नगर में शुभागमन अति समारोह के साथ कराया गया। परमहंसराज को आगे करके नगर-निवासी बड़े भक्ति-भाव से पीछे धीरे-धीरे चलते थे। सोरों द्वार से प्रवेश करके बाजार में से होते हुए नगर की दूसरी ओर से निकल पण्डित मुकुन्दराम के उद्यानमें जापहुँचे। वहीं स्वामीजी का निवास कराया गया। उस नगर के सज्जनों ने परस्पर मिलकर चन्दा किया और स्वामीजी के हाथ से पाठशाला स्थापित करा दी। यहाँ स्वामीजी ज्येष्ठ १९२५ में पधारे थे। वहाँ से चले जाने पर भी सोरों और कर्णवास आदि स्थानों से कभी-कभी आकर पाठशाला को देख जाया करते थे।

कासगंज वासियों ने आश्विन वदी १३ संवत् १९२५ को स्वामी विरजानन्द जी महाराज के देहान्त हो जाने का जब समाचार सुना तो वे इसकी सूचना देने के लिए स्वामी दयानन्द जी को ढूँढने लगे। सोरों में उनको पता न लगा। ज्ञात होने पर पण्डित चैनसिंह जी आदि तीन भद्र पुरुष शाहबाजपुर में पहुँचे। नमस्कार के अनन्तर उन्होंने श्री स्वामी जी को महात्मा विरजानन्द जी की मृत्यु का समाचार सुनाया! वज्रपात से मूर्च्छित लता के कोमल पुष्पों की भाँति स्वामी जी का मुखमण्डल तत्काल कुम्हला गया। कुछ देर तक सन्न से चुप रह कर कहने लगे, "आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।" जिस महापुरुष ने स्वाभाविक स्नेह-रस से सने हुए अपने सगे-सम्बन्धियों को,

इष्ट मित्रों को और सम्पत्तिशाली घर-वार को त्यागते हुए कुछ भी चिन्ता नहीं की थी, ज्ञान-गुरु का मरण-समाचार सुनकर, उस दिन, उसके भी चित्त-चन्द्रमा पर शोक-राहु की छाया पड़ गई। वास्तव में आदर्श गुरु-शिष्य का सम्बन्ध एक अलौकिक सम्बन्ध है।

उन दिनों में, स्वामी जी की सचमुच वही अवस्था थी, जो एक आन-बान वाले महावीर सैनिक की संग्राम-स्थल में हुआ करती है। भेद केवल इतना ही था कि महाराज सब मतमतान्तरों से अकेले संग्राम कर रहे थे। उनको धरा-धाम से उठा देने के लिए, स्थान-स्थान पर क्षुद्र जन नाना भाँति के षड्यन्त्र रचते थे, परन्तु वे अपनी धारणा पर अटल थे: शाहबाजपुर में दो वैरागी बावा ठाकुर गंगासिंहजी के पास जाकर कहने लगे कि हम इस गप्पाष्टक दयानन्द को तलवार के घाट उतारना चाहते हैं; इसलिए आप हमें अपना खड्ग दीजिए। ठाकुर महाशय उन साधु-वेष-विडम्बकों की वार्ता सुनकर कहने लगे कि मैंने उन महात्मा जी के श्रीमुख-वाक्य श्रवण किये हैं। वे एक उत्तम सन्त हैं। यदि तुमने फिर ऐसे शब्द कहे तो तुम्हारी दुर्गति की जायगी। जाओ, मेरे स्थान से निकल कर दूर हो जाओ। इसके अनंतर वह ठाकुर महाशय दो-चार मनुष्य साथ ले, शस्त्रसन्नद्ध हो स्वामी जी के निकट आया, उसने वैरागियों की सारी दुष्ट लीला कह सुनाई। स्वामी जी ने कहा कि उनका क्या सामर्थ्य है कि मेरा वध कर सकें। परन्तु ठाकुर महाशय के चित्त में चिन्ता वैसी ही बनी रही, इसलिए, वह रात भर स्वामी जी के आसन पर पहरा देता हुआ जागता रहा।

सं० १९२५ आश्विन सुदी ११ से १५ तक ककोड़े में मेला था। उस मेले पर प्रचार करने के लिए श्री स्वामी जी भी पधारे। महाराज को ढूँढते हुए भक्त बलदेवगिरि जी भी अन्य सज्जनों सहित वहाँ आ गये। स्वामी जी के निवासार्थ सोरों के लोगों ने एक पर्ण-कुटिया बना दी थी, परन्तु बलदेवगिरि जी को महाराज का उसमें निवास शोभाजनक न प्रतीत हुआ। उन्होंने आते ही एक कनात लगवा दी और उसमें उचित स्थान पर गद्दी लगा कर उस पर महाराज को बिठाया। सारे मेले में महाराज के प्रचार की धूम थी। सैकड़ों वैष्णव आते रहे और शान्त तथा मौन होकर लौट जाते रहे। पादरियों और मौलवियों ने भी प्रश्न किये परन्तु स्वामी जी के प्रखर तर्क-आतप को वे देर तक सहार न सके।

पण्डित उमादत्त जी ने, कई पण्डितों सहित आकर मूर्ति-पूजन पर वाद चलाया परन्तु अल्प समय में ही वे लड़खड़ा गये। जब कहीं पाँव न टिका तो कहने लगे कि देखो, एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बना कर पूजा की थी। स्वामी जी ने कहा कि एक अज्ञानी भील का कर्म प्रमाण नहीं हो सकता, किसी सभ्य मनुष्य का प्रमाण दो। तब उसने दुर्योधन का उदाहरण दिया, जिस पर स्वामी जी ने कहा कि महामूढ़ दुर्योधन का कथन-कर्म भी धर्म्म में अमान्य है।

स्वामी जी के पूछने पर पण्डित श्यामलाल ने कहा कि मैं कायमगंज में रहता हूँ, पुराणों की कथा कहा करता हूँ और आजकल ब्रह्मवैवर्त का श्रीकृष्ण-खण्ड सुना रहा हूँ। स्वामी जी ने मुस्कराकर कहा कि शीघ्र समाप्त कर लो, नहीं तो तुम्हारी हानि होगी; क्योंकि यह शरीर बीस दिन तक वहाँ पहुँच जायगा। इस ब्रह्मवैवर्त में तो सबसे अधिक गप्पें भरी पड़ी हैं।

एक दिन, संस्कृत का पण्डित गोविन्ददास कायस्थ, आठ-दस विद्यार्थियों सहित आकर स्वामी जी से मिला। उन लोगों ने अपने हाथ गोमुखियों में डाल रक्खे थे। वह सबको "हरि भजो छोड़ दो धन्धा" यह जप सिखाता था। महाराज पुलिन पर बैठकर गोविन्ददास को कहने लगे कि आप सारे कर्म छोड़ने का उपदेश क्यों देते हैं? भला सत्य कर्म कैसे छोड़े जा सकते हैं? और यदि कोई आपके कथन पर चले तो क्या आँख, कान, नाक, जीभ आदि अंगों के व्यापार और अन्न जल छोड़ दे या अन्य कुछ? साथ ही महाराज ने अनवरत संस्कृत भाषण करते हुए ऐसे निष्क्रिय वादों और कु-मतों का प्रभूत खण्डन किया। गोविन्ददास को स्वामी जी के कथन का एक भी उत्तर न सूझा और वह सारा समय अवाक् बैठा रहा।

महाराज ने मेले की समाप्ति पर गुसांई बलदेवगिरि आदि को विदा करते हुए कहा कि वत्स, अब आप भी स्वगृहों को जाइए। हम यहाँ से काशी की ओर जायेंगे।

ककोड़े के मेले में कलेक्टर महाशय भी आए हुए थे। वे भी स्वामी जी के सत्सङ्ग में टोपी उतार, नमस्कारपूर्वक आकर बैठा करते थे।

ककोड़े से चलकर स्वामी जी नरोली पधारे। वहाँ उनके उपदेशों से गुसांई रामपुरी इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपने ठाकुर गङ्गा की धारा

में वहा दिये ! नरौली से कंपला, रामघाट होते हुए महाराज अतरोली में पधारे। वहां भैरव के मन्दिर में आसन किया। वहाँ एक भैरवनाथ सारस्वत ब्राह्मण ने स्वामी जी से कहा कि सामवेद के ब्राह्मण में यह लिखा है कि प्रतिमा हँसती है, रोती है, उसे पसीना आता है। स्वामी जी ने उसी वाक्य को लेकर मूर्त्ति-पूजन का खण्डन कर दिया। अतरोली में स्वामी जी कार्तिक के अन्त में आये थे और दस दिवस तक ठहर कर वहां से प्रस्थान कर गये।

गङ्गा-तीर पर विचरते हुए स्वामी जी का जीवन, एक उग्र तपस्वी का जीवन था। उनके तन पर कौपीन के बिना अन्य कुछ न होता था। इस दिगम्बर दशा में उन्होंने वनों में, जङ्गलों में, जन-रहित स्थानों में, गङ्गा की रेती में पौष-माघ की लम्बी शीतल रातें काटीं, वैशाख-ज्येष्ठ की कड़ी धूपें और तन को झुलस देने वाली लूयें सहन कीं; वर्षाऋतु की बौछाडें, सावन-भादों की झड़ियाँ झेलीं। वे स्नान एकान्त स्थान में जाकर किया करते थे। कौपीन धोकर सूखने डाल देते और आप सिद्धासन लगाकर बालू पर बैठ जाते। जब कौपीन सूख जाती तो फिर उसे बाँधकर अपने आसन पर और मनुष्यों के गमन-गमन के स्थान पर आते थे। योगिराज का रात्रि का समय प्रायः तुरीयावस्था में बीता करता। कई परीक्षक जन आधीरात तीसरे पहर इन्हें देखने गये परन्तु महाराज को ध्यानावस्थित ही पाया।

वे प्रायः माँगने नहीं जाते थे, इसलिए, रूखा-सूखा जैसा भी अन्न कोई पहले लाकर दे देता श्री महाराज वही लेते थे। उन्होंने किसी की दी मधूकड़ी का दोष कभी भी प्रदर्शित नहीं किया। भोजन सम्बन्धी व्यंजन आदि की न्यूनाधिकता की चर्चा कभी नहीं चलाई।

उनके सत्सङ्ग में लोक-निन्दा, व्यक्तिगत कथा, परदोषवर्णन, जनवाद, भोजनवाद कुछ भी नहीं होता था। श्री-चरणों में आकर सभी लोग धर्म-कर्म्म पर ही वार्त्तालाप किया करते।

श्री महाराज अपने आगमन का समाचार किसी को नहीं देते थे। प्रायः अचानक ही आ पहुँचते थे। स्थान-स्थान पर उनके शिष्य थे और अतिप्रेमी शिष्य थे, परन्तु प्रभु दयानन्द, प्रस्थान समय ऐसे चुपचाप चले जाते थे कि किसी को पता तक न लगता था ! जो कुछ भी वस्तु किसी की उनकी कुटी

में पड़ी होती, वह उसे किसी को बिना सौंपे ही चल देते। उनके इस निर्मोहिता और निःस्पृहता की सर्वत्र प्रशंसा होती थी।

महाराज से बड़े-बड़े ठाकुरों ने, सम्पन्न और समर्थ लोगों ने यज्ञोपवीत धारण किये थे। वे लोग श्री गुरु-चरणों में अत्यन्त श्रद्धा, अतिशय भक्ति-भावना रखते थे। समय पड़ने पर तन, धन और प्राण तक न्योछावर कर देने के लिए समुद्यत थे। परन्तु महाराज ऐसे वीतराग थे, ऐसे समदृष्टि थे, ऐसे साम्यवादी थे कि उनकी एक-रसवर्षिणी कृपा पर पक्षपात का कटाक्ष कभी किसी विरोधी ने भी नहीं किया। जो सवेरे कुवचन-बाणों से वेधता गया था, सायंकाल फिर आ जाने पर, उसके साथ भी मन्द-मुस्कान सहित वैसी ही मीठी बातें करने लग जाते, जैसे कि अपने अनन्य भक्तों और प्रेमियों के साथ करते थे। उनके हृदय-स्फटिक में कोई रङ्ग नहीं रहता था। उनकी अन्तरङ्ग-गङ्गा में राग-द्वेष की कोई रेखा स्थिरता नहीं पकड़ सकती थी। उनके समीप ऊँच-नीच, सधन-निर्धन, अपने-पराये सब समान आदर पाते थे।

शिष्य-समूह-सरोवर में भी, कमलपत्र की भाँति ममता के लेप से निर्लेप रहने वाले भगवान् दयानन्द जी ने गङ्गा समीपवासी सहस्रों जनों को जनेऊ देकर द्विज बनाया, संध्या सिखाई, गायत्री का जप बताया, और लाखों जनों को सदुपदेश से सन्मार्ग दिखाया। ढाई वर्ष तक भगवती भागीरथी के साथ-साथ विचरते हुए, स्वामी जी महाराज श्रोताओं की भीतरी प्यास शान्त करने से, ज्ञान में स्नान कराकर पाप-मल धोने से तरणतारिणी गङ्गा बने रहे।

स्वामी जी महाराज परिभ्रमण करते हुए मार्गशीर्ष संवत् १९२५ वि० को कायमगंज पधारकर हरिशङ्कर पाण्डेय के शिवालय में उतरे। 'कोई योग्य परमहंस पधारे हैं' यह सुनकर पण्डित गङ्गाप्रसाद जी आदि सज्जन दर्शनार्थ आए। महाराज को स्नान के लिए कहा गया तो कहने लगे कि इस समय स्नान तो करना है, परन्तु एक-कौपीनमात्रधारी होने से यहाँ नहीं कर सकते। तब भक्त लोग स्वामी जी को लाला गिरधारी लाल जी के एकान्त स्थान में ले गये। उन्होंने वहीं स्नान किया और भोजन भी पाया।

उस स्थान के पाँच भद्र पुरुषों ने स्वामी जी से संध्या लिखकर कण्ठ कर ली। कायमगंज में कोई विशेष शास्त्रार्थ नहीं हुआ, परन्तु फिर भी पौराणिक लोग आकर अपनी शङ्का निवारण कराते रहे। मुर्शिदाबाद के दस-पंद्रह

मुसलमानों ने आकर कुछ पूछा। उसका उचित उत्तर पाकर वे मौन हो गये।

कई ईसाई सज्जन स्वामी जी के डेरे पर आए और इधर-उधर ऊँचे स्थानों पर बैठ गये। स्वामी जी के भक्तों ने इसे बुरा मनाया, परन्तु महाराज ने कहा कि एक के केवल ऊँचे स्थान पर बैठ जाने से दूसरा नीचा नहीं हो जाता। यदि इसी में ऊँचाई हो तो पक्षी भी तो सब से ऊँचे स्थान पर बैठते हैं। पादरियों के पूछने पर, स्वामी जी ने कहा कि पाप क्षमा नहीं किया जाता।

भागवत, शिवालय और शिव-पूजन का भी स्वामी जी ने खण्डन किया। एक ने कहा कि सत्यनारायण की कथा के लिए हम लोग एक रुपये की मनौती मनाते हैं तो कार्य सिद्ध हो जाता है। इसे आप कैसे मिथ्या कहेंगे ? महाराज ने कहा, कि हम पाँच रुपये मनौती में दिखाते हैं 'कि लखपति हो जायँ, तो क्या हो जायँगे ?'

यहाँ तिलक का भी युक्ति-युक्त खण्डन किया गया।

भोग-विलास के जीवन को स्वामी जी ने अति-दुःखदायक वर्णन करके उसके अनिष्ट के परिणामों के उदाहरण में एक दुर्बल मनुष्य की ओर संकेत किया और संयम के जीवन के दृष्टान्त में एक पुष्ट व्यक्ति को दिखाकर कहा कि यह गृहस्थ नियम से रहता है, इसलिए हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ है।

स्वामी जी ने लोगों को संध्या-गायत्री, हवन-यज्ञ का बहुत उपदेश दिया, जिससे लोग इन कर्मों के करने में प्रवृत्त भी हो गए। भक्त जन आधी-आधी रात तक सत्सङ्ग में बैठे उपदेश श्रवण किया करते थे।

कायमगंज में श्री महाराज की रसोई बनाने के लिए एक पहाड़ी ब्राह्मण नियत था। लोग उत्तम पदार्थ उस रसोइए को दे आते थे कि स्वामी जी को खिला देना, परन्तु वे तो सादा और नियमित भोजन पाते थे, वह सामग्री लोगों को बाँट दी जाती थी। महाराज बहुत थोड़ी नींद लिया करते थे।

: १३ :

असत्-मेघमाला-भेदक—ज्ञान-रवि दयानन्द !

कायमगंज से प्रस्थान कर, श्री स्वामी जी शमसाबाद होते हुए संवत् १९२५ के पौष मास के आरम्भ में फर्रुखाबाद पधारे, और लाला जगन्नाथ

के विश्रान्त घाट पर ठहरे। महाराज के वहाँ पहुँचते ही उनकी कीर्ति, वायु-वेग से सारे नगर में फैल गई। प्रत्येक श्रेणी के सहस्रों नागर नित्य श्रीसत्सङ्ग में आते, प्रश्न पूछते, भ्रम मिटाते और संध्या-गायत्री सीखते थे। लोकहित की बातों का भी स्वामी जी उपदेश दिया करते थे। पण्डित विश्वम्भरदास जी एक दार्शनिक विद्वान् थे। वे स्वामी जी के उपदेशों से मोहित होकर उनके अनुगामी बन गए।

स्वामी जी के समझाने की शैली अत्युत्तम थी। वे बातों के चक्र में डाल-कर वादी के ही मुख से उसकी भूल स्वीकार करा लेते थे।

पण्डित गङ्गाराम शास्त्री ने प्रसिद्ध कर दिया कि मैं स्वामी जी से शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त करूँगा। उसने परीक्षा के लिए अपने पुत्र और एक विद्यार्थी को स्वामी जी के निकट भेजा। जब वे दोनों आए तो स्वामी जी महाशय दुर्गाप्रसाद जी के पुरोहित को मनुस्मृति पढ़ा रहे थे। आगन्तुक युवकों में से एक ने कहा कि अहंकारी चाण्डाल होता है। जब स्वामी जी अध्ययन करा चुके तो उस विद्यार्थी से पूछने लगे कि तूने क्या कहा था? उसने वही शब्द फिर दुहरा दिये। स्वामी जी ने कहा कि भद्र! तू तो अभी यह भी नहीं जानता कि अहङ्कार क्या वस्तु है; परन्तु यह तो बताओ कि क्या तुमने ऐसा शब्द कहते हुए अहङ्कार नहीं किया? युवक ने कहा, महानुभावों को तो कदापि नहीं करना चाहिये। तुम्हारा ज्ञान अति संकुचित है, इसलिए तुम महापुरुषों की गति-मति नहीं जान सकते। महात्मा जन मिथ्याभिमान कदापि नहीं करते, परन्तु सच्चा अहङ्कार उनमें अवश्यमेव होता है! अच्छा मैं तुमसे पूछता हूँ कि श्री रामचन्द्र और श्री कृष्णचन्द्र जी महापुरुष थे कि नहीं? इस पर युवक निरुत्तर होकर अपने साथी सहित वहाँ से चला गया। इसके पश्चात् गंगाराम ने भी स्वामी जी के सम्मुख आने का साहस न किया।

स्वामी जी ने गङ्गाराम को गीता का एक श्लोक लिखकर भेजा और कहा कि तुम गीता की कथा कहते हो। यदि इसका ठीक-ठीक अर्थ कर दो तो हम इतने ही में अपनी हार मान लेंगे। परन्तु उस कथक्कड़ से कुछ भी न बन पड़ा।

एक दिन कायमगंज-निवासी पण्डित बलदेवप्रसाद और चौबे परमानन्द जी स्वामी जी के निकट गये। बलदेवप्रसाद जी ने हाथ जोड़कर पूछा कि यदि,

राजादि क्षत्रिय लोग हिंस्र जीवों का वध कर दें तो इस कर्म में पाप क्यों नहीं माना जाता ! स्वामी जी ने उत्तर दिया कि हिंस्र जीवों के मारने में पाप इसलिए नहीं है कि उनके वध से किसी की कोई हानि नहीं होती। बलदेव-प्रसाद ने फिर पूछा कि आपके विचार में पाप क्या है ? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि इस विषय में, मैं पाप—हानि को मानता हूँ। तदनन्तर यह प्रश्न उठाया गया कि तब तो निकम्मे और वृद्ध मनुष्य के वध में पाप न होना चाहिए ! इस पर महाराज ने कहा कि अति वयोवृद्ध और निकम्मे जन के मारने में कृतघ्नता रूप पाप होता है।

लाला जगन्नाथ जी ने पूछा कि महाराज ! मनुष्य का कर्तव्य क्या समझा जाय ? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि आदर्श प्राप्ति के लिए कर्तव्य कर्म किया जाता है। मनुष्य के आगे आदर्श-प्राप्ति 'परमात्मा की प्राप्ति' करना है, इसलिए मनुष्यका कर्तव्य है कि जैसे दयालु ईश्वर सब पर दया करता है वह भी सब पर दया करे, ईश्वर सत्य स्वरूप है,- मनुष्य भी सत्यवादी बने। इस प्रकार ईश्वर के गुणों को अपने में धारण करने का अभ्यास करे और अन्त में परमेश्वर को उपलब्ध करे।

फर्रुखाबाद में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें वहां के रहने वाले 'साधु' कहते हैं। वे सभी काम-धन्धा करके निर्वाह करते हैं, और घर-बारी होते हैं। उनके हाथ का बना हुआ भोजन ब्राह्मण-वैश्यादि नहीं खाते। एक दिन ऐसा हुआ कि एक साधु कढ़ी और भात थाल में परस कर बड़ी प्रीति से स्वामी जी के लिए लाया। महाराज ने उस अन्न को प्रसन्नता से ग्रहण कर लिया। परन्तु इस पर ब्राह्मण लोग असंतोष प्रकट करते हुए कहने लगे—"स्वामी जी ! आप तो साधु का भोजन पा कर भ्रष्ट हो गए। आपको ऐसा करना कदापि उचित न था।"

स्वामीजी ने हँसते हुए कहा,"अन्न दो प्रकार से दूषित होता है,एक तो तब जब दूसरे को दुःख देकर प्राप्त किया जाय, और दूसरे जब कोई मलीन वस्तु उस पर अथवा उसमें पड़ जाय। इन लोगों का अन्न परिश्रम के पैसे का है और पवित्र है। इसलिए इसके ग्रहण करने में दोष लेश भी नहीं है।"

फर्रुखाबाद में भी स्वामी जी ने लोगों को यज्ञोपवीत धारण कराए। एक पण्डित ने कहा कि शुक्र अस्त हो रहा है, इसलिए, ऐसे समय में यज्ञोपवीत

धारण कराने का निषेध है। स्वामी जी ने कहा, "जिनका शुक्र अस्त हो गया हो वे न करायें, परन्तु हमारा तो अस्त नहीं हुआ। इसलिए हम अवश्य करायेंगे।"

लाला जगन्नाथ जी के यज्ञोपवीत पर ग्यारह पण्डित, प्रतिदिन एक सहस्र गायत्री जप करने के लिए नियत हुए। यजमान को भी एक सहस्र गायत्री जपने का आदेशथा। यजमान से उपवास भी कराएगए। यह जपादि कर्म और बृहद् हवन सब स्वामी जी के निरीक्षण में, उन्हीं के डेरे के स्थान में ग्यारह दिन तक होता रहा। यज्ञोपवीत नगर में होना था। इसलिए स्वामी जी ने गायत्री मंत्र एक यजुर्वेदी ब्राह्मण को लिख कर कह दिया कि इसका उपदेश दे देना। परन्तु अति विनय करने पर भी आप नगर में न गये। लाला जगन्नाथ को जनेऊ यद्यपि एक पण्डित ने धारण कराया, परन्तु उन्होंने अपना गुरु श्री स्वामी जी को ही माना।

श्री भीष्म गंगा नदी के पुत्र थे, इसका स्वामीजी ने खण्डन किया। सन्ध्या दो काल ही में करनी चाहिए, इसकी पुष्टि में उन्होंने महाभारत से श्रीकृष्णजी की द्वारका से हस्तिनापुर की यात्रा का प्रसंग निकाल कर दिखाया।

एक दिन तीसरे प्रहर चार-पाँच मुसलमान स्वामी जी के निकट आकर पूछने लगे कि आपके विचार में परमेश्वर ने श्रीमुहम्मद को हमारे लिए भेजा है कि नहीं ? स्वामी जी ने उत्तर देते समय उन्हें तीन बार कहा कि 'हमारे कथन से अप्रसन्न न हूजियेगा।' हम तो मुहम्मद जी को अच्छा नहीं समझते हैं। आप लोगों ने भी अच्छा नहीं किया जो उसके अनुयायी बन गए। जब चोटी के बाल कटवा डाले थे तो इतनी लम्बी दाढ़ी रखने से क्या लाभ ?

फर्रुखाबाद में स्वामी जी ने नामधारी ब्राह्मणों का खण्डन करते हुए कहा—"गुणकर्मानुसार ही ब्राह्मण होता है।" इस पर नगरवासी ब्राह्मण अति क्षुब्ध और कुपित हो अपने बचाव की चेष्टा करने लगे। उन्होंने मेरठ से हरिगोपाल शास्त्री को बुलाकर शास्त्रार्थ के लिए सुसज्जित किया। शास्त्रार्थ के लिए स्वामी जी का द्वार तो सदा खुला ही रहता था इसलिये पौराणिक लोगों का एक बड़ा दल वहाँ पहुँच गया। पण्डित पीताम्बरदास जी मध्यस्थ नियत हुए। पूर्वपक्ष स्थापन करते हुए हरिगोपाल जी ने कहा—"स्वामी जी !

मूर्ति-पूजा तो सब ग्रन्थों में मिलती है, तो फिर आप उसका खण्डन कैसे करते हैं ?"

स्वामी जी ने उनसे पूछा, "बताइए किस आर्ष ग्रन्थ में मूर्ति-पूजन का विधान है !" इस पर शास्त्री जी ने "देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च" यह मनु-वाक्य कहा और इसका अर्थ करते हुए देवता शब्द से प्रतिमा-पूजन बताया।

उत्तर में हरिगोपाल जी के पक्ष का खण्डन करते हुए स्वामी जी ने व्युत्पत्ति से, युक्तियों से और प्रकरण-क्रम से यह सिद्ध कर दिया कि, यहाँ मनु महाराज का देवार्चन से तात्पर्य अग्नि-होत्र और विद्वानों का आतिथ्य-सत्कार है। शास्त्री जी इसके पश्चात् थोड़े समय तक तो इधर-उधर की बातें बनाकर सिर-पड़ा संकट टालते रहे, परन्तु अन्त में भाग जाने के बिना उन्हें बचाव का कोई अन्य मार्ग दिखाई न दिया।

हरिगोपाल जी स्वामी जी के पास से तो अपना-सा मुँह लेकर चले आये, परन्तु कुछ नगरवासी ब्राह्मणों को साथ मिलाकर दूसरे प्रकार की चोटें चलाने लगे। उन्होंने काशी में पहुँच कर मूर्ति-पूजन की पुष्टि में पण्डितों की हस्ताक्षर युक्त व्यवस्था प्राप्त की। फिर फर्रुखाबाद में आकर स्वामी जी के डेरे के निकट एक विस्तृत खुले स्थल में झंडा गाड़ दिया और लोगों को वह व्यवस्था-पत्र सुनाने लगे। वहाँ सहस्रों मनुष्य एकत्रित हो गये और अत्यन्त कोलाहल मचने लगा। स्वामीजी के समीप भी मनुष्य पर मनुष्य भेजा जाता था कि खुले स्थान में आओ और शास्त्रार्थ करो। परन्तु स्वामी जी उनके कपट-कौशल को भली भाँति जानते थे, इसलिए उन्होंने निरे ऊधम मचाने वालों के मण्डल में जाना उचित न समझा और बार-बार यही कहला भेजते रहे कि नीचे खड़े गड़बड़ क्यों कर रहे हो ? शास्त्रार्थ करना चाहते हो तो ऊपर हमारे यहाँ क्यों नहीं चले आते ? इसके उत्तर में हरिगोपाल जी कहते थे कि "मैं स्वामी दयानन्द के निवास स्थान पर नहीं जाऊँगा। उसने विश्रान्त को कील रक्खा है। इसलिए वहाँ जाने से हार अवश्य हो जायेगी।"

इस हल्ले-गुल्ले का समाचार कलेक्टर महाशय को भी मिल गया। उन्होंने कोतवाल को वहाँ तत्काल पहुँचने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही कोतवाल महाशय सीधे स्वामी जी के स्थान पर पहुँचे और स्वामी जी को बाहर

बुलाया। महाराज भीतर बैठे थे। वे बाहर नहीं आये। अन्त में लाला जगन्नाथ ने कोतवाल को कहा कि त्यागी संन्यासी को आप चपरासी द्वारा बाहर बुलाते हैं यह उचित नहीं। उन्हें क्या पड़ी है कि दौड़ते हुए आपके पास चले आयें ?

तत्पश्चात् कोतवाल स्वामी जी के आसन के समीप चला गया और कहने लगा--"बाबा जी ! यह क्या बखेड़ा हो रहा है ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया, "हम तो अपने स्थान पर बैठे हुए हैं, न किसी को कोई कटुवचन कहते हैं और न किसी से झगड़ते हैं, यहाँ तक कि लोग कु-वचन भी कहते हैं तो भी मौन और शान्त रहते हैं। आप राजकर्मचारी हैं। आपका कर्तव्य है कि उनसे जाकर पूछें, जो सचमुच बखेड़ा कर रहे हैं।" कोतवाल ने वास्तविक वार्त्ता को समझकर स्वामी जी के स्थान पर दो सिपाहियों का पहरा नियत कर दिया कि वे किसी क्षुद्राशय, उपद्रवी मनुष्य को वहाँ न जाने दें।

तदनन्तर कोतवाल महाशय ने पण्डित हरिगोपाल को आहूत किया। कोतवाल का नाम सुनते ही उसके प्राण काँप गये। परन्तु करता क्या ? सामने आना ही पड़ा। कोतवाल ने उसे ऐसा डाँटा कि वह मारे डर के नगर ही छोड़ कर चला गया।

हरिगोपाल के किये हुए गोल-माल के दो-तीन दिन पश्चात्, उसका साथी ज्वालाप्रसाद मदिरा में चूर, एक कुर्सी लिये स्वामी जी के स्थान पर आया; वहाँ कुर्सी रखकर उसपर बैठ गया और लगा अनापशनाप बकने ! उपस्थित जनों ने उसे ऐसा करने से बहुतेरा रोका, परन्तु वह गाली प्रदान से न रुका। मणिलाल आदि स्वामी जी के सेवक अपने आवेश को न थाम सके। स्वामी जी यह कहते ही रहे कि 'यह उन्मत्त है, इसे कुछ न कहो' परन्तु उन्होंने उस उद्दण्ड मनुष्य को पकड़ कर बहुत पीटा और उसकी कुर्सी वहीं जला दी।

अगले दिन लाला जगन्नाथ स्वामी जी के पास आये। वृत्तान्त ज्ञात होने पर कहने लगे, "स्वामी जी ! यदि वह दुष्ट राजद्वार में जाकर आपके सेवकों पर मार-पीट का अभियोग चलावे और वहाँ साक्षी देने के लिए बुलावें तब आप क्या कहेंगे ?" स्वामी जी ने कहा--"कोई मिथ्या कथन थोड़े ही करेंगे। जो कुछ हुआ है वह सब कह देंगे।"

उसी ज्वालाप्रसाद का सम्बन्धी ठाकुरदास भी बीस-पच्चीस मनुष्य लेकर

स्वामी जी को मारने आया; परन्तु महाराज के सामर्थ्य से और पकड़े जाने के भय से पीछे भाग गया। दुष्ट जनों के आक्रमण का वृत्तान्त सुनकर लाला जगन्नाथ जी, कुछ मनुष्यों सहित तुरन्त विश्रान्त में पहुँच गये, परन्तु उनके आने से पूर्व ही उपद्रवी लोग वहाँ से चले गये थे।

उस समय लाला जगन्नाथ ने श्री-चरणों में विनती की, "क्षुद्र लोग आपके अमूल्य जीवन को लेने के लिए बार-बार आक्रमण करने लगे हैं, इसलिए आप हमारे भीतर के स्थान में चलकर रहना स्वीकार कीजिए।" स्वामी जी ने कहा, "महाशय जी ! यहाँ तो इस प्रकार मेरी आप रक्षा कर लेंगे, परन्तु अन्यत्र कौन करेगा ? मेरी रक्षा तो सर्वत्र परमात्मदेव ही करते हैं। इसीलिए मैं सर्वथा निर्भय हूँ।"

विश्रान्त स्थान में एक दिन सहस्रों मनुष्य महाराज का उपदेश सुनने के लिए एकत्रित हो रहे थे। उस समय एक पण्डित ने खड़े होकर मूर्ति-पूजन पर प्रश्न करना आरम्भ कर दिया। महाराज भी उसे सन्तोषजनक उत्तर देने लगे। बीच में काली के उपासक, मद्य में मत्त, एक ब्राह्मण ने उठकर कुवचन बोलते हुए महाराज पर जूता फेंका, जूता स्वामी जी तक न पहुँच कर बीच में ही गिर पड़ा। परन्तु इससे सत्संग में बैठे हुए सत्यनामी साधुओं की आँखों में लहू उतर आया। उन्होंने तुरन्त ही उस नराधम को पकड़ लिया और लगे पीटने। उसको पिटते देख स्वामी जी को अति अनुकम्पा आ गई। महाराज ने साधुओं को समझाया—"इसकी चेष्टा से हमें कोई दुःख नहीं हुआ; और यदि जूता लग भी जाता तो भी कौनसा रामबाण था ? इसने जो कुछ किया है अज्ञान और सुरा के वशीभूत होकर किया है। इसलिए इस पर दया करो, इसे छोड़ दो।" तब साधुओं ने उसे छोड़ दिया। ये सत्य-नामी साधु स्वामी जी के बड़े प्रेमी थे; उनकी सहायता में सदा तत्पर रहते थे।

उन दिनों में वहाँ के सम्पत्तिशाली लोग प्रायः साथ में दो चार ऐसे उद्दण्ड लठैत रखते थे, जो समय पड़ने पर काम आयें। ऐसे मनुष्यों से प्रायः मारपीट का काम लिया जाता था। बहुत से उपद्रवियों ने एक प्रसिद्ध महाबली गुण्डे को स्वामी जी को पीटने के लिए समुद्यत किया। उसने पुष्कल द्रव्य लेकर उनको वचन दिया कि मैं लाठियों से दयानन्द की ऐसी गत बनाऊँगा कि यदि किसी प्रकार वह जीता भी बच गया तो शास्त्रार्थ करने के योग्य तो कदापि न रहेगा।

एक दिन वह उद्दण्ड व्यक्ति समय ताककर स्वामी-स्थान में प्रविष्ट हुआ। स्वामी जी ने भी देखा कि सामने से एक हट्टा-कट्टा बलवान् व्यक्ति, एक मोटा लठ्ठ उठाये झूमता हुआ सीधा चला आता है। समीप आकर उस उद्दण्ड मनुष्य ने कहा कि बाबा! क्या तुम मूर्ति को ईश्वर नहीं मानते हो? स्वामी जी ने गम्भीरता से उत्तर दिया कि भद्र! तुम जानते हो ईश्वर का स्वरूप क्या है? वह बोला कि हाँ मैं जानता हूँ। स्वामी जी ने कहा कि फिर बताइए तो। वह बोला कि ईश्वर सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान् है; भक्त-वत्सल दयालु देव है और सर्वत्र परिपूर्ण है। तब स्वामी जी ने किंचित् हँसकर कहा, कि ईश्वर के जो गुण तुमने कथन किये हैं वे सब सत्य हैं। तुम्हारी इस समझ की मैं प्रशंसा करता हूँ। परन्तु अब तुम ही इन वर्णित ईश्वरीय गुणों को मंदिर की मूर्तियों के गुणों के साथ मिलाओ। यदि वे मिल गए तो मैं तुम्हारा साथी बन जाऊंगा और यदि न मिलें तो तुम्हें भी वही मानना चाहिए, जिसकी साक्षी तुम्हारा आत्मा देता है।

समझाने के इस ढङ्ग से उसका चित्त पिघल गया और वह लट्ठ को फेंक कर श्रीचरण-शरण में गिर पड़ा। उस दिन से उसकी काया पलट गई। वह सारे बुरे कर्मों को त्यागकर धीरे-धीरे साधु-स्वभाव और सदाचारी बन गया।

पण्डित हरिगोपाल के परास्त हो जाने से कुछ पौराणिक भक्त लज्जित से थे, इसलिए लाला प्रेमदास आदि ने हलधर ओझा को कानपुर से बुलवाया। उसके आने पर प्रसिद्ध किया गया कि कोई पण लगाए तो शास्त्रार्थ हो सकता है। यह बात लाला जगन्नाथ तक भी पहुँच गई। उन्होंने झटपट ढाई सहस्र रुपये एक ब्राह्मण के हाथ लाला देवीदास के पास भिजवा कर कहलवाया कि इतने ही रुपए आप अपने पास से डालकर किसी सेठ के पास रख दीजिए। शास्त्रार्थ में यदि स्वामी जी विजयी हुए तो रुपये मैं ले लूँगा, और यदि हल-धर की विजय हुई तो आप ले लीजिएगा। देवीदास जी ने रुपये पीछे लौटा दिये कि पण्डित हलधर मैथिल कानपुर में आये हुए थे। हमने उन्हें यहाँ इसलिए बुलाया है कि स्वामी जी के स्थान पर लेजाकर बात-चीत करायेंगे।

ज्येष्ठ सुदी १० संवत् १९२६ को रात के ९ बजे लाला देवीदास जी आदि सेठों और अनेक पण्डितों के साथ हलधर ओझा स्वामी जी के स्थान पर आये। लाला जगन्नाथ ने आगे जाकर उनके आगमन का समाचार स्वामीजी को

दिया। अतिथियों के आने पर महाराज ने उनको यथायोग्य सत्कार से उचित स्थान पर बैठाया। शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति-पूजन था, परन्तु हलधर थे पक्के तांत्रिक, इसलिए उन्होंने आरम्भ में ही सुरापान पर बात-चीत चला दी। मदिरा पान करना चाहिए—इस पक्ष की स्थापना में उन्होंने "सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्" यज्ञों में मदिरा पान करे यह प्रमाण उपस्थित किया।

स्वामी जी ने हलधर के पक्ष में दोष प्रदर्शित करते हुए कहा कि वहां यज्ञ में मदिरा-पान का विधान नहीं है किन्तु सोमलता के रस से तात्पर्य है।

फिर हलधर ने स्वामीजी से संन्यासी के लक्षण पूछे, उन्होंने संन्यासी के लक्षण बताते हुए हलधर को कहा कि आप ब्राह्मण के लक्षण बताइये। इस का उत्तर तो उसने कुछ न दिया, परन्तु गड़बड़ करने लग गया। इस पर महाराज ने उसे कहा कि प्रकरण से बाहर न जाइये, विषय पर ही बोलिए।

हलधर बचना तो चाहता ही था, इसलिए वह तुरन्त कह उठा कि आप बारम्बार प्रकरण शब्द का उच्चारण करते हैं, भला यह तो बताइए कि यह शब्द बनता कैसे है? महाराज ने कहा 'प्र' पूर्वक 'कृ' धातु से 'ल्युट्' करने पर प्रकरण शब्द सिद्ध होता है। तब हलधर बोला—"कृ धातु समर्थ है वा असमर्थ?" स्वामी जी ने कहा, "वह समर्थ है।" फिर उसने पूछा—"अच्छा तो यह बताइए—'समर्थ' किसे कहते हैं? इस पर स्वामी जी ने यहाँ भाष्य का एक वाक्य बोलकर कहा—"अपेक्षा करने वाले को असमर्थ कहते हैं।" उसने कहा कि यह वाक्य आपकी संस्कृत है, महाभाष्य का नहीं। स्वामी जी की आज्ञा से पण्डित व्रजकिशोर जी ने महाभाष्य निकालकर दूसरे अध्याय के प्रथमाह्निक में वह वाक्य दिखा दिया। उस पर उसने कहा कि मैं इसे प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि मैं भी महाभाष्य के कर्त्ता से कुछ न्यून विद्वान् नहीं हूँ, मेरी विद्या भी उसके समान ही है। तब स्वामी जी ने कहा—"तुम महाभाष्य के कर्त्ता के सामने तुच्छ हो।"

इस प्रकार रात के एक बजे तक वाद होता रहा। अन्त में उठते समय यह निश्चित हुआ कि "समर्थः पदविधिः" सूत्र यदि सर्वत्र लगे तो स्वामी जी की जय समझी जाय, और यदि यह सूत्र एक स्थान पर लगे तो हलधर की।

दूसरे दिन लाला जगन्नाथ और लाला मणिलाल जी स्वामी जी के समीप आकर विनय करने लगे कि रात के समय सारे पण्डित कह रहे थे कि हलधर

का पक्ष सत्य था, स्वामी जी व्यर्थ ही हठ करते हैं, सो यदि वह सूत्र सर्वत्र न लगता हो तो यथा-तथा करके वादविवाद का बखेड़ा टाल दिया जाय। स्वामी जी अपने प्रेमियों को स्वपक्ष का परिचय देते हुए कहने लगे कि यदि आप उसे न लावें तो तुम्हें गो-हत्या का पाप लगेगा और यदि वह न आया तो वह भी गो-हत्या के पाप का भागी बनेगा।

दूसरी रात फिर सभा लगी। महाराज भी आकर चटाई पर विराजमान हुए। प्रथम रात्रि में जो प्रतिज्ञा हुई थी उसकी महाराज ने उद्घोषणा की। और तो सबने उसका समर्थन किया, परन्तु हलधर जी मौन बैठे रहे। कुछ लोग उपद्रव भी करना चाहते थे, परन्तु उनको कह दिया गया कि यदि किसी ने कुछ भी गड़-बड़ की तो उसे तुरन्त यहाँ से निकाल दिया जायगा। इससे शांति स्थापित हो गई।

श्री महाराज ने हलधर को हँसते हुए कहा कि, हलधर ! हम तो संन्यासी हैं यदि हार गये तो कोई बात नहीं। परन्तु आप घरबारी गृहस्थ हैं; पराजय होने पर आपकी बड़ी भारी हानि होगी। किन्तु हलधर यही कहता था कि मैं हारूँगा क्यों ? मेरा तो पक्ष सत्य है।

रात चाँदनी थी इसलिए पहले दीपक का प्रबन्ध नहीं किया था। महाराज ने व्रजकिशोरजी को पुकार कर कहा कि दीपक और महाभाष्य की पुस्तक ले आइए। वे तत्काल दोनों वस्तुयें लेकर श्रीसेवा में उपस्थित हो गये। महाराज ने महाभाष्य लेकर उस सूत्र को सर्वत्र लगाकर दिखाया। यह देखकर हलधर चुप हो गया।

कुछ पण्डित बीच में दूसरी बात छेड़ना चाहते थे, परन्तु स्वामी जी ने बलपूर्वक कहा कि प्रथम इसका निर्णय कीजिए कि जय किसकी हुई। एक बार तो सारे पण्डित शून्य से हो गये। परन्तु लाला जगन्नाथ के यह कहने पर कि आप सत्य-सत्य कहने से क्यों झिझकते हैं, सबने एक-वाक्य होकर कह दिया कि गत दिन के निश्चयानुसार आज हलधर जी की प्रतिज्ञा अशुद्ध सिद्ध हो गई।

पण्डितों के व्यवस्था-वचन हलधर के कानों पर वज्र समान गिरे। उसका हृदय चूर-चूर हो गया। मान मर्दित और घमण्ड खण्ड-खण्ड होकर उसकी गौरव-गरिमा मिट्टी में मिल गई। उसने इस पराजयजन्य धक्के को यहाँ तक

अनुभव किया कि मूर्च्छा खाकर गिरने लगा। परन्तु लोगों ने उसे थाम लिया और वे वहाँ से उठाकर ले गये। उस दिन वहाँ जन-संघट्ट भी अत्यधिक था। स्वामीजी की विजय से सारा जन-समूह चकित हो गया। उनके पाण्डित्य का गौरव सब पर छा गया। उनकी धारा-प्रवाह संस्कृत, चमत्कारिणी बुद्धि, तात्कालिक उपज और अकाट्य युक्तियाँ सबको प्रभावित किये हुए थीं। उस समय प्रत्येक पुरुष की हृदय-तन्त्री के तार, सुर मिलाकर. परमहंस श्रीदयानन्द के जयकार की झंकार कर रहे थे।

मूर्च्छित हलधर को उठा ले जाने के पश्चात् प्रेमपूर्वक ज्ञान-चर्चा करते हुए सवेरा हो गया। तब समागत सज्जन स्वामीजी को नमस्कार कर श्री सत्संग से विदा हुए और स्नानादि करके अपने घरों को चले गये।

उस समय वेश्याओं का रखना, समृद्ध लोगों में बड़ाई का एक अंग समझा जाता था। इसमें लोक-लाज और जाति-बिरादरी का किंचित् भी भय न होता था। मान्य और धनी लोग खुल्लम-खुल्ला वेश्यायें लिये डोलते थे और कोई किन्तु-परन्तु तक न करता था! स्वामी दयानन्दजी महाराज ने इस सर्वनाशी कु-व्यसन का घोर खण्डन आरम्भ कर दिया। महाराज के दृष्टान्तों से, युक्तियों से और समझाने की शैली से युवक और परिपक्व आयु के जन इतने प्रभावित हो जाते थे कि बरसों के व्यसनी भी इस कर्म्म को त्यागने लग गये, इस नीचता के कीच से निकल कर पार पा गये। लोगों में इस दुर्व्यसन के लिए घृणा का भाव उत्पन्न हो गया। सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया कि वेश्याओं के विकट जाल में फँसने से बचने के लिए, उनके दाँव-पेच से निकलने के लिए महात्मा दयानन्दजी के उपदेश मोहिनी मन्त्र हैं।

सेठ पन्नालाल जी स्वामीजी के एक श्रद्धालु भक्त थे। उनको एक प्रतिष्ठित पुरुष ने कहा कि यदि आप मेरे लड़के को स्वामीजी से सुधरवादें तो मैं आपका बड़ा भारी उपकार मानूँगा। इससे मेरे वंश को बचा दोगे।

वह युवक बहुत बिगड़ा हुआ था। अपने घर की भूमिहारी की कुछ भी सार-सम्भाल न किया करता था। प्रतिदिन वाराङ्गनाओं के साथ उद्यान-विहार के लिए जाता और रात-दिन उन्हीं के यहाँ पड़ा रहता था।

पन्नालाल जी ने उस युवक की दशा का श्रीगुरु-चरणों में वर्णन करके उसके सुधारने की विनय की। महाराज ने कहा कि यदि आप उसे एक बार

मेरे निकट ले आयें तो मैं उसका पाप कर्म छुड़ा दूंगा। पन्नालाल जी ने घर जाकर दो सुशील युवकों को बुलाया और कहा कि किसी प्रकार उस कु-व्यसनी युवक को समझा-बुझा कर स्वामीजी के पास ले चलो। वे सुशील कुमार पहिले भी उसके अच्छे परिचित थे। इसलिए, दो-तीन दिन ही के मेल-मिलाप से परस्पर प्रेमबद्ध हो गये। समय पाने पर वे युवक उस कु-व्यसन-ग्रस्त युवक को स्वामीजी के दर्शन करने की बार-बार प्रेरणा करते थे कि स्वामीजी बड़े त्यागी परमहंस हैं, न किसी से कुछ लेते हैं, और न झगड़ते हैं, अति शान्त स्वरूप हैं। उनके वचनों में बड़ा माधुर्य है। उनकी युक्तियों में बड़ा रस है। ऐसा साधु-संन्यासी हमारे नगर में पहले कभी नहीं आया।

जैसे चम्पा के पुष्पों के संसर्ग से तेल में भी सुगन्ध का संचार हो जाता है ऐसे ही उस व्यसनी युवक का हृदय, उन सुशील कुमारों के सत्संग से, स्वामी-श्रद्धा की सुगन्ध से सुवासित हो गया। एक दिन तीनों युवक स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए और विनीतता से नमस्कार करके बैठ गये।

महाराज अपने प्रेम-भरे नेत्रों की पवित्र ज्योति से युवकों के मुख-मण्डलों को उज्ज्वल करते हुए उपदेश देने लगे, "सौम्य युवको! वैसे तो व्यसन सभी बुरे हैं, परन्तु वेश्या सबसे अधिक नाशकारिणी है। इस व्यसन से सुरापान की बान सहज में पड़ जाती है। सभ्य वेष, सभ्य भाषा, सभ्य-आचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। कुलाचार पर कठोर कुठाराघात हो जाता है। रात-दिन राग-रङ्ग में मग्न रहने से व्यवहार-बुद्धि का अभाव होने लगता है। ऐसा व्यसनी धर्म्म-कर्म्म से सदा दूर भागता है। वाराङ्गना अपने वशीभूत जन के मन को कृत्रिम प्रेम से, बनावटी बातों से और हाव-भाव से सदा उत्तेजित रखती है, जिससे व्यसनी लोग अल्पकाल ही में निस्तेज और जीर्ण-शीर्ण-शरीर हो जाते हैं। वेश्या का प्रेम स्वार्थपूर्ण होता है। जब स्वार्थ-सिद्धि नहीं होती तो वह बात तक नहीं पूछती।"

"वेश्यासक्त के परिवार में आचार की शुद्धि नहीं रहती। उसका वंश नष्ट हो जाता है। यदि वंश नष्ट न भी हो तो उसकी सन्तान का सदाचारी होना महाकठिन है।"

महाराज ने फिर कहा—"युवको! भला यह तो बताओ कि वेश्या-सक्ति से यदि लड़की उत्पन्न हो तो वह लड़की किसकी हुई?" युवकों ने

कहा--"उस वेश्यासक्त पुरुष की।" तब स्वामीजी ने पूछा कि "वह युवति होकर क्या काम करेगी ?" युवक बोला, "और क्या करेगी ? वेश्या बनकर बाजार में बैठेगी।" तब स्वामीजी ने मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा कि, "देखिए, संसार में कोई भी भला मनुष्य नहीं चाहता कि उसकी पुत्री वेश्या बनकर बाजार में बैठे, परन्तु वेश्या के अनुरक्त जन ही ऐसे हैं जो अपनी बेटियों को वेश्या बनाते हैं, चकले में बैठाते हैं, और द्वार-द्वार पर नचाते हैं। तुम ही सोचो कि क्या यह बहुत बुरी बात नहीं है ?"

यह उपदेश सुनकर कु-व्यसनी युवक के रोंगटे खड़े हो गये। उसका अन्तःकरण पाप-कर्म से काँप उठा। उसके सारे शरीर में सन-सनी छा गई, और उसने भी अपने साथियों सहित यह कहा कि स्वामीजी ! आपका कथन सत्य है। वास्तव में वेश्या-प्रेम एक घृणित नीच कर्म है। उस व्यसनी युवक ने स्वामीजी के चरण छूकर वहीं पर प्रण किया कि आज से मैं वेश्याओं के समीप नहीं जाऊँगा, और जो रक्खी हुई हैं उनका अब परित्याग करता हूँ।

भगवान् दयानन्द ने उसे साधुवाद सहित आशीर्वाद दिया और कहा कि सौम्य ! ईश्वर कृपा से तेरा जीवन पवित्र हो, तेरी इस समय की बुद्धि सदा बनी रहे।

उस युवक ने फिर श्रीपदपद्म को स्पर्श करके अपने नये जीवनदाता को नमस्कार किया, और साथियों सहित अपने घर को चला आया। पीछे से वह युवक स्वामीजी का एक भावनावान् शिष्य बन गया और उनके स्थानीय तथा प्रान्तीय कार्यों में बड़ी सहायता देता रहा।

एक दिन स्वामीजी के व्याख्यान में बहुत सी वेश्यायें भी यह देखने गई थीं कि वह कौन ऐसा मनुष्य है, जो हमारे पिंजड़े में से पखेरुओं को निकाल, हमारी आजीविका का सत्यानाश कर रहा है।

स्वामीजी के विषय में यह प्रसिद्ध था कि वे पूर्ण योगी हैं और सम्पूर्ण आध्यात्मिक तत्वों को जानते हैं। सारी रात समाधि में लीन रहते हैं।

एक दिन गढ़ी के नवाब ने पूछा कि महाराज ! क्या कोई ऐसी विद्या भी है जिससे दूर स्थान के समाचार का ज्ञान हो सके ? स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि योगीजन ऐसी गुप्त बातों के जानने की इच्छा नहीं करते। उनका मुख्योद्देश्य तो सर्व वस्तुओं से ब्रह्म-सत्ता को जानना है। इस उत्तर से नवाब महाशय को अति सन्तोष प्राप्त हुआ।

फर्रुखाबाद में लाला वंशीलाल जी एक प्रतिष्ठित पुरुष थे। उन्होंने एक शिवालय बनवाया और उसमें शिव-प्रतिमा स्थापित करने को ही थे कि स्वामी जी के उपदेश सुनकर उनका निश्चय बदल गया। मूर्ति-पूजन उन्हें वेद-विरुद्ध कर्म दिखाई देने लगा। उधर श्री स्वामीजी पाठशाला की स्थापना करने का यत्न कर रहे थे। वंशीलाल जी ने स्वामीजी से विनय करके वहीं, शिवालय के स्थान पर, पाठशाला स्थापित करा दी।

उस पाठशाला में पचास के लगभग विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। सभी अष्टाध्यायी पढ़ने लगे। स्वामीजी ने महाशय दुर्गाप्रसाद जी को धर्म्म-कर्म का पवित्र जीवन प्रदान किया था, इसलिए महाराज के कार्य में पूरे सहायक थे। विद्यार्थियों की भोजन और वस्त्र की व्यवस्था वे ही करते थे। पण्डित व्रजकिशोर अध्यापक नियत किये गए। उनके ३०) तीस रुपए मासिक वेतन का भार लाला पन्नालाल जी ने अपने ऊपर ले लिया। स्वामीजी ने वहीं जर्मनी से वेद मंगाये थे।

एक दिन स्वामीजी गङ्गा में पाँव फैलाये पड़े थे। कुछ लड़कों ने उन्हें देखकर परस्पर कहा कि देखो यह कितना मोटा मनुष्य है। वे गीले रेत के गोले बनाकर स्वामीजी पर मारने लगे! महाराज बहुत देर तक तो उन अबोध बालकों के क्रीड़ा-केन्द्र बने रहे, परन्तु बालू-कण आँखों में पड़ने लगे तो उस स्थान से उठकर चले गये।

एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी के बल की चर्चा सुनकर बहुत से मल्ल उन्हें देखने आये, उस समय स्वामीजी स्नान करके आ ही रहे थे। महाराज ने अपने दाहिने हाथ से कौपीन को पकड़ कर बलपूर्वक निचोड़ डाला, और फिर उन मल्लों को कहा कि यदि आप में से किसी को अपने बल का अभिमान हो तो वह इस कौपीन में से पानी का एक और बूँद निकाल कर दिखाये। उन सबने एक-एक करके बल लगाया। वे दोनों हाथों से दबा-दबाकर थक गये, परन्तु पानी की एक बूँद भी न निकाल सके!

महाराज में क्षमा अपार थी। दूसरा कोई उनका कितना ही अपकार करता, उनको कितना ही कटुवचन कहता, पर वे सब भुला देते थे। ऐसी बातों की गाँठ उनके चित्त में कभी नहीं पड़ती थी।

स्वामीजी एक दिन प्रातःकाल घूमने जा रहे थे। मार्ग में एक मनुष्य ने

उन्हें बहुत ही कु-वचन कहे। उसने यह भी कहा कि तू ईसाइयों का नौकर है। हमें कृस्टान बनाना चाहता है। महाराज उसकी अज्ञान-लीला पर मुस्कराते ही रहे और घूमकर अपने आसन पर आ विराजे।

वही गाली देने वाला मनुष्य यह सोचकर कि अब दयानन्द को उसके स्थान पर जाकर चिढ़ायें, महाराज के समीप आया। स्वामीजी ने उसका 'आइये, बैठिये' इत्यादि शब्दों से स्वागत किया और मधुर वचनों से उसके वहाँ आने का कारण पूछा। वह मनुष्य, यद्यपि हृदय, पाषाण समान कठोर रखता था, स्वामीजी को सताने आया था,परन्तु उनके कृपा भाव से, वीतराग स्वभाव से, सुजनता के वर्ताव से उसका मन मोम हो गया, पश्चात्ताप के उद्रेक से उसका जी भर आया। श्री-चरणों को अपने अनर्गल अश्रुओं से सिंचन करके क्षमा की याचना करने लगा। स्वामीजी ने उसे ढाढ़स बंधाया और कहा, "शब्द आकाश में उत्पन्न होकर वहीं लय हो जाता है, इसलिए तुम्हारे वे वचन भी नष्ट हो गये हैं। वे मेरे पास नहीं हैं। उन्होंने मुझे स्पर्श नहीं किया। इसी कारण उनसे मुझे यत्किंचित् भी दुःख नहीं हुआ।"

स्वामीजी के आने से पूर्व, वहाँ के युवक एक बड़ी संख्या में ईसाई होने लगे थे। परन्तु जब स्वामीजी ने आकर ईसाई धर्म्म के भी दोष प्रदर्शित किये तो वे युवक प्रभावित हो गये। उन्होंने पादरियों को कह दिया कि अब हमको आपके धर्म्म में कोई ऐसी विशेषता नहीं दिखाई देती जिसके लिये हम अपने पुरातन धर्म्म का परित्याग करें। इस प्रकार आर्य जाति के ईसाई होने से बच जाने से—जाति के अङ्गों के न टूटने से—विचारवान् लोग स्वामीजी की स्थान-स्थान पर प्रशंसा करते थे। परन्तु कुछ ऐसे स्वार्थ-सिन्धु भी विद्यमान थे, जिनका धर्म्म-कर्म पेट पूजा से परे न था ! उन्होंने अपनी यह नीति बना रक्खी थी कि जैसे भी हो आदर्श संस्कारक दयानन्द को लोगों की दृष्टि में गिराया जाय। वे सर्वत्र कहते फिरते थे कि यह ईसाई है, ईसाइयों का नौकर है। संन्यासी का वेष धारण करके लोगों को किरानी बनाने का यत्न कर रहा है।

अनेक भद्र पुरुष स्वामीजी के दर्शनों से इस कारण भी वंचित रहे कि वे उन पेट-पुरोहितों की कोरी कपट-लीला को नहीं समझ सके।

एक सरवरिया धुरन्धर पण्डित, उन्हीं दिनों में, फर्रुखाबाद में आया था।

उसको वहाँ एक पण्डित ने कहा कि बहुत लोग दयानन्द को ईसाइयों का मनुष्य कहते हैं। चलो, किसी समय उसके पास चलें और इस बात का पूरा पता लगायें। वे दोनों रात के दो बजे स्वामीजी के समीप पहुँचे। महाराज उस समय आसन लगाये बैठे थे। शिष्टाचार के पश्चात् सरयूपारी पण्डित ने स्वामीजी से अनेक श्रौत, स्मार्त और दार्शनिक प्रश्न पूछे। उनका उत्तर पाकर वह परम तृप्त हो गया। चलते समय श्रीचरणस्पर्श करके कहने लगा, "भगवन्! हमने सुना तो यह था कि आप कपटवेषी, प्रच्छन्न ईसाई हैं, परन्तु दर्शनों से पता लगा कि आप एक धर्म्मावतार हैं।" अगले दिन उस ब्राह्मणवर्य्य ने सर्व साधारण को कहना आरम्भ कर दिया, "श्री दयानन्दजी ऐसा दूसरा मनुष्य भारत भर में नहीं है। उन्होंने मुझे ऐसे शास्त्रीय रहस्य बताये हैं कि जो मैंने पहले कभी नहीं सुने थे। उनका कथन सर्वांश में सत्य है।"

: १४ :

वेदोक्त आठ सत्यों का प्रतिपादन

फर्रुखाबाद से प्रस्थान कर श्री स्वामीजी श्रीशृङ्गी रामपुर में दो दिन ठहरे, और फिर वहाँ से जलालाबाद पधारे। वहाँ पहिले तो आप एक उजड़े उद्यान में ठहरे, परन्तु जब गयाप्रसाद शुक्ल को पता चला तो वे बड़ी विनय से उन्हें सरनदास उदासी की कुटिया में ले गये। बिछौने के लिए बहुत कहा गया परन्तु महाराज ने स्वीकार न किया। सोते समय ईंटों का ही सिराहना बनाकर सो गये।

आषाढ़ वदी सं० १६२६ के अन्त में स्वामीजी कन्नौज आ गये। वहाँ हरिश्चन्द्र नामक एक प्रसिद्ध पण्डित था। वह स्वामीजी के साथ महाभाष्य आदि व्याकरण ग्रन्थों के विषयों पर वार्त्तालाप करने लगा। स्वामी जी प्रमाण में ग्रन्थों के स्थलों के पते इस प्रकार देते कि सुनने वाले पण्डित उनकी स्मृति की प्रशंसा करने लग जाते थे।

महाराज ने हरिश्चन्द्र को पञ्चयज्ञों के करने का भी उपदेश दिया। हरिश्चन्द्र ने कहा कि मूर्ति-पूजा करना सदाचार है। स्वामीजी ने इसका खण्डन करके बताया कि पञ्च महायज्ञों का करना ही सदाचार है, प्रतिमा-

पूजन को वे लोग सदाचार कहने लग गये हैं कि जिनसे बलि वैश्वदेव नहीं होता।

उपहास-रस में स्वामीजी ने हरिश्चन्द्रजी को यह भी कहा कि आपका नाम अच्छा नहीं है। देखिए हरि के दो अर्थ होते हैं—एक वानर और दूसरा चोर। यहाँ के लोग नाम तक रखना नहीं जानते।

एक दूसरे ब्राह्मण का नाम गयादीन था। स्वामीजी ने उसे भी कहा कि आपका नाम भी भूंडा और भद्दा-सा है। भला जिसका दीन (धर्म) चला गया उसका शेष रहा ही क्या ? उस समय महाराज ने आर्य नाम रखने की रीति का एक अत्युत्तम उपदेश दिया।

रामप्रसादजी के पूछने पर महाराज ने कहा कि कायस्थ वैश्य हैं। अपने को चित्रगुप्त का वंशीय बताते हैं। और गुप्त शब्द वैश्य लोगों के लिए ही उपयुक्त होता है। परन्तु आज कल ये लोग अधिकांश माँस-मदिरा का सेवन करने लग गये हैं। इसे छोड़ दें तो फिर उत्तरोत्तर उन्नत हो सकते हैं।

कन्नौज में भी एक तुच्छ प्रकृति का मनुष्य श्रीचरणों का अनिष्ट-चिन्तन करता रहा, उनके हनन करने की डींङ्ग मारता रहा, परन्तु उसे कभी उनके पास तक जाने का साहस न हुआ।

वर्षा ऋतु के आरम्भ में श्री स्वामीजी महाराज कानपुर में सुशोभित हुए। भैरव के मन्दिर के निकट गङ्गा के तट पर दरगाहीलाल की विश्रान्त में ठहरे। उनका आतिथ्य प्रायः पण्डित हृदयनारायण जी करते थे।

स्वामीजी ने इस नगर में आते ही उपदेश देना आरम्भ कर दिया और स्थान-स्थान पर विज्ञापन लगवा लोगों को सत्य की खोज के लिए उत्तेजित किया। यह विज्ञापन संस्कृत भाषा में था। उसमें महाराज ने चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग, श्वेताश्वतर और कैवल्य सहित दशोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, कात्यायनादि सूत्र, योगभाष्य, वाकोवाक्य, मनुस्मृति और महाभारत ये ग्रन्थ प्रमाण रूप से स्वीकार किये। इनमें भी जो वेद से भिन्न ग्रन्थ हैं, यदि उनमें कोई वेद-विरुद्ध बात पाई जाय तो वह भी अप्रमाण माननी चाहिए, यह प्रकाशित कर दिया।

महाराज ने उस विज्ञापन में पुराण आदि आठ गप्पों का खण्डन और निम्नलिखित आठ सत्यों का मण्डन किया:—

१. उपर्युक्त ऋग्वेद से महाभारत पर्यन्त परमेश्वर और ऋषिप्रणीत ग्रन्थ सत्य हैं।

२. ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु-सेवा पूर्वक अपने धर्म अनुष्ठान निभाते हुए वेदाध्ययन करना चाहिए।

३. वेदोक्त वर्णाश्रम का धर्म और सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि कर्म करने उचित हैं।

४. जैसा धर्म्मशास्त्र में ऋतुकाल आदि के नियमों से गृहस्थ-धर्म लिखा है उसके अनुसार चलना। पञ्च महायज्ञों और श्रौत-स्मार्त कर्मों का करना कर्त्तव्य है।

५. शम, दम, तपश्चरण का धारण, यम आदि से समाधि पर्यन्त उपासना का करना और सत्संगपूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान करना विधिविहित है।'

६. विचार. विवेक, वैराग्य, परा विद्या का अभ्यास करना और संन्यास ग्रहण कर सकल कर्मों की फलेच्छा को छोड़ देना उचित है।

७. जन्म-मरण, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, लोभ-मोह और संग-दोष ये सब अनर्थकारी हैं, इसलिए इन्हें त्यागना शुभ है।

८. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप क्लेशों से और तमो-रजस्-सत्व गुणों से निवृत्ति पाकर पंचमहाभूतों से अतीत मोक्ष रूप स्वाराज्य को प्राप्त करना परम लक्ष्य है।

स्वामीजी के उपदेशों से, उनके विज्ञापन में लिखे हुए आठ गप्पों के खण्डन से नया-पुराना सारा कानपुर एक प्रकार से चलायमान हो गया। श्रद्धालु लोगों में उत्साह से, नये सुधार से आवेश था और विरोधीजन ईर्ष्या-द्वेष के आवेश में आपे से बाहर हो रहे थे। उस समय विरोधियों के शिरोमणि ब्रह्मानन्द सरस्वती बने हुए थे। वह स्थान-स्थान पर इस बात का प्रचार करते फिरते थे कि दयानन्द के पास नहीं जाना चाहिए। उसका तो मुख देखना भी पातक है! वह नास्तिक है, देव-निन्दक है, क्रस्टान है, और धर्म भ्रष्ट करने आया है। उसे भैरव घाट से निकाल देना चाहिए। ब्रह्मानन्द कुछ पण्डितों को साथ लेकर एक दिन स्वामीजी के पास गया भी, परन्तु गाली प्रदान करके चला आया।

ब्रह्मानन्द तो अपनी प्रकृति के कारण ही स्वामीजी के विरुद्ध उधार खाये बैठा था, परन्तु दो बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति, प्रयागनारायण और गुरुप्रसाद भी स्वामीजी के प्रतिपक्ष में खड़े हो गये। इसका कारण यह था कि इन दोनों ने कैलाश और वैकुण्ठ नाम के दो मन्दिर बनवाये थे। जब वे दोनों महाशय स्वामीजी को मिले तो उन्होंने उपदेश किया कि "आपने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर खड़े किये हैं, परन्तु यह तो बताइए इससे लाभ क्या हुआ है? अनधिकारियों को खिला-पिलाकर ईंट-पत्थरों में व्यय करके इतना रुपया यों ही खो दिया है। क्या ही अच्छा होता यदि वह द्रव्य जाति और देश के भले में लगता, मनुष्य मात्र के हितकर कार्य में व्यय होता! तीस-तीस वर्ष की बड़ी लड़कियाँ, बिना ब्याही कनौजियों के घरों में बैठी हैं। यदि उनके ब्याह करा देते अथवा बालक-बालिकाओं की कोई पाठशाला स्थापित करके जनहित का परिचय देते तो भी अच्छा था। देश में शिल्प का अभाव है। उस द्रव्य से, आप यदि एक शिल्पशाला स्थापित करके स्वदेश-वासियों में कला-कौशल का प्रचार करते तो कितना भारी लोकहित होता!"

उन महाशयों को ऐसी खरी-खरी, स्पष्ट बातों के सुनने का स्वभाव न था, इसलिए वे स्वामीजी से कुछ रुष्ट होकर वहाँ से चले आए और ब्रह्मानन्द आदि के साथ मिलकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए हलधर ओझा को समुद्यत करने लगे। अन्त को श्रावण वदी ८ सं० १९२६ को लक्ष्मण शास्त्री और हलधर ओझा शास्त्रार्थ के लिए समुद्यत हो गये। सारे नगर में प्रसिद्ध हो गया कि आज एक बड़ा भारी शास्त्रार्थ होगा। भैरव घाट पर दरियाँ बिछ गईं। नगर के सेठ-साहूकार एकत्रित होने लगे। ठीक शास्त्रार्थ के समय, वहाँ बीस-पच्चीस सहस्र मनुष्यों की भीड़ लग गई। इस शास्त्रार्थ में अनेक उच्च पदाधिकारी-कर्मचारी भी आये। सहायक कलेक्टर, महाशय थेन भी वहाँ विद्यमान थे। वे संस्कृत भाषा के भी ज्ञाता थे, इसलिए, सर्वसम्मति से श्रीमान् थेन को ही मध्यस्थ नियत किया गया।

लोग तो दिन के एक बजे से पहले आ गए थे, परन्तु शास्त्रार्थ नियमानुसार दिन के दो बजे आरम्भ किया गया। प्रारम्भ करते समय हलधर ने कहा—"स्वामीजी! आपने विज्ञापन में जो 'गप्पम्' लिखा है वह व्याकरण की रीति से अशुद्ध है।" इस पर स्वामीजी ने कहा—"आप इस समय मूर्ति-

पूजन आदि में से किसी विषय पर वाद चलाएं। शुद्धाशुद्ध पर वाद करते रहना विद्यार्थियों का काम है। इन सहस्रों मनुष्यों का समय इस शुष्क वाद में क्यों गंवाना चाहते हो ? इस बात को पूछना ही हो तो कल मेरे पास आजाइएगा। प्रमाण सहित उत्तर दे दूंगा।

फिर हलधर ने पूछा—"आप महाभारत को मानते हैं या नहीं?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"हाँ, मानता हूं"। ओझा ने एक श्लोक पढ़कर कहा—"इसका यह अर्थ है कि एकलव्य भील ने द्रोणाचार्य की मूर्ति सामने रख कर धनुर्विद्या सीखी थी।" इस पर स्वामीजी ने कहा—"मैं यह कह रहा हूँ कि वेद-शास्त्र में कहीं प्रतिमा-पूजन की आज्ञा दिखाओ। आपने जो प्रमाण दिया है उसमें प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है। केवल यही लिखा है कि एक भील ने ऐसा किया था। उसको ऐसा करने की किसी ने शिक्षा नहीं दी थी और न ही वह आप भी कोई ऋषि-मुनि था, जिससे उसका कर्म प्रमाण माना जाय। जैसे अङ्गरेज लोग चाँदमारी करते हैं वैसे ही वह भी लक्ष्यवेध का अभ्यास करता था। कोई पूजन करने के लिए द्रोण की प्रतिमा उसने भी नहीं रक्खी थी। यदि कहो कि द्रोण की प्रतिमा पास रखने से वह धनुर्विद्या में निपुण हो गया था तो यह भी मिथ्याहै। धनुर्विद्या में प्रवीण होने का कारण मूर्ति नहीं थी, किन्तु उसका निरन्तर अभ्यास था।"

यह उत्तर सुन ओझा थोड़ी देर तो चुप रहा, परन्तु फिर उसने दूसरे ढंग से पूछा कि यदि वेद में मूर्ति-पूजा का विधान नहीं है तो निषेध कहां है ? इस पर महाराज बोले—"जब कोई स्वामी अपने सेवक को कहता है कि तुम पश्चिम को जाओ, तो अन्य तीन दिशाओं का निषेध अपने आप समझ लिया जाता है।"

उस समय महाराज ने शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि वेद आदि ईश्वर के स्वरूप को निराकार, सर्वत्र परिपूर्ण और अमूर्त्त मानने की आज्ञा करते हैं। स्वामीजी ने ओझा को बलपूर्वक कहा कि आप अपने पक्ष में वेद का एक तो प्रमाण दीजिए। परन्तु वह न दे सका।

विषय को टालने की इच्छा से लक्ष्मण शास्त्री ने कहा कि स्वामी जी ! शास्त्र में कहा है कि गुरु, देवता, राजा और कोढ़ी मनुष्य की छाया को लांघना नहीं चाहिए। पर ग्रन्थों में लिखा है कि देवता की छाया नहीं

होती, इसलिए यहाँ देवता की छाया से तात्पर्य मूर्ति की छाया से है।

लक्ष्मण शास्त्री के उत्तर में स्वामीजी ने कहा—"जो आपने कहा कि देवताओं की छाया नहीं होती यह सत्य नहीं है। पूर्वकाल में जब यजमान यज्ञ करते थे तो देवजन वहाँ आ जाया करतेथे। देवों और दैत्यों की लड़ाइयाँ भी हुआ करती थीं। उनमें मारे भी जाया करते थे। उनके खान-पान आदि व्यवहारों का भी वर्णन लिखा मिलता है। यदि देवों की देह न हो तो पूर्वोक्त क्रियायें कैसे हो सकती हैं ? और जहाँ देह होती है वहाँ छाया भी अवश्य होती है। इसलिए धर्मशास्त्र में देवता की छाया का उल्लंघन न करने की आज्ञा का तात्पर्य यह है कि यज्ञादि कर्मों में उन्हें लांघ कर अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।"

ओझा महाशय बीच में बोल उठे यदि जड़ वस्तुओं में देवत्व नहीं है तो हवन के समय अग्नि ही में आहुति क्यों देते हैं ?और जलादि भी तो तत्त्व हैं, उसमें सामग्री आदि क्यों नहीं डाली जाती?इसका उत्तर श्री स्वामीजीने यह दिया, कि "पाँचों तत्वों में केवल अग्नि ही एक ऐसा तत्व है, जिसमें डाली हुई आहुति भस्म हो जाती है। इसलिए, इसमें हवन करते हैं और वेद की भी यही आज्ञा है । परन्तु आप यह तो बतायें कि अग्निहोत्र रूप देव-पूजन के साथ पत्थर-पूजा का क्या सम्बन्ध है ? मूर्ति को किसी भी शास्त्र में देव नहीं कहा गया है।"

फिर लक्ष्मण शास्त्री ने कहा कि ईश्वर सर्वव्यापक होने से मूर्ति में भी विद्यमान है तो फिर मूर्ति-पूजन में आप क्यों दोष मानते हैं ? उत्तर में स्वामीजी ने कहा—"जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो मूर्ति में क्या विशेषता है जो उसकी पूजा की जाय ? और चेतन को छोड़कर जड़-पूजन में कोई महत्त्व भी नहीं है।" यह उत्तर सुनकर, स्वामीजी के सारे प्रतिपक्षी अवाक् हो गये। किसी को आगे कुछ न फुरा। उस समय थेन महाशय ने हलधर से कुछ प्रश्न किए। फिर थोड़ी देर स्वामीजी से वार्त्तालाप करके उनको नमस्कार किया और फिर वे उठकर चले गये।

मध्यस्थ के उठने पर सारी सभा में भूकम्प-सा आ गया, कोलाहल मच गया, और उस गड़बड़ में विरोधियों ने महाराज पर ईंटें भी बरसाईं ! उसी समय प्रयागनारायण तिवारी ने एक रुपये के पैसे हलधर के सिर पर से

न्योछावर कर लुटा दिये और कहा कि उन्हीं की विजय हुई है! फिर क्या था? 'गङ्गा की जय' और 'हलधर की जय' के नाद गूँजने लगे। पौराणिक लोग विजय मनाते बड़े समारोह से नगर में आये और उन्होंने 'शोलातूर' समाचार पत्र में भी अपनी जय-घोषणा कर दी। कुछ आर्य पुरुष 'शोलातूर' समाचार पत्र लेकर श्री स्वामी जी के समीप गये और उन्होंने पौराणिकों की मिथ्या जय-घोषणा का लेख पढ़कर सुनाया। स्वामीजी ने कहा—"शास्त्रार्थ तो सत्या-सत्य के निर्णय के लिए किया जाता है। उसमें यदि वे लोग अपनी जीत समझते हैं तो उन्हें प्रसन्न हो लेने दो। मुझे इसका कुछ भी हर्ष-शोक नहीं है।"

परन्तु स्वामी जी के भक्तों का मन कब मानता था कि यों ही मिथ्या समाचार फैल जाय और वे मौन बैठे रहें। वे सहायक कलेक्टर महाशय थेन के पास गए और उन्हें सारा वृत्तान्त आद्योपान्त सुना दिया। उन्होंने उसी समय निम्नलिखित व्यवस्था लिखकर उन्हें दे दी:—

'महाशयो! मेरी सम्मति में शास्त्रार्थ के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती संन्यासी की विजय हुई। उनकी युक्तियाँ वेदानुकूल थीं। यदि आप चाहें तो मैं अपनी व्यवस्था की पुष्टि में कुछ दिनों में प्रमाण भी दे दूँगा।

कानपुर } आपका
थेन

स्वामी जी के प्रेमियों ने, श्रीमान् थेन महाशय की व्यवस्था सहित, शास्त्रार्थ का पूर्ण वृत्तान्त विज्ञापनों द्वारा सारे नगरवासियों को विदित कर दिया।

समाचार पत्रों में भी छपवा दिया, जिससे सर्व साधारण को सचाई का ज्ञान हो गया, स्वामी जी की विजय का पता लग गया, और प्रतिपक्षियों का कोरा कपट-कौशल दीखने लगा।

मध्यस्थ महाशय के निर्णय से, लोगों के हृदयों पर, स्वामी जी के पक्ष की सत्यता का सिक्का बैठ गया। वे ऐसे प्रभावित हुए कि अपनी प्रतिमाओं को धड़ाधड़ जल-तलालीन करने लगे। कहते हैं कि उस समय, कानपुर की यह अवस्था थी कि यदि एक घर में चार मनुष्य थे तो उनमें से, दो तो अवश्य ही स्वामी जी के अनुगामी हो गये थे।

श्री स्वामी जी नसवार लिया करते थे। एक मनुष्य ने पूछा कि क्या

इसमें कोई दोष नहीं है ? उन्होंने उत्तर दिया कि साधारणतया तो इसमें दोष है किन्तु यदि परोपकार करते हुए शरीर के दोष-निवारणार्थ इसे ग्रहण करना पड़े तो इसमें कोई दोष नहीं ।

एक दिन, श्रीयुत गङ्गासहाय जी ने स्वामी जी के समीप जाकर पूछा कि प्रतिमा-पूजन में क्या दोष है ? स्वामी जी ने उत्तर दिया, "वेदों की आज्ञा पर चलना धर्म्म है । वेदों में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है । इसलिए उनके पूजन में आज्ञा-भंग करने का दोष है । पुराणों में जो मूर्त्तियों का पूजना लिखा है वह सब गप्प है और असार है । जो यह कहते हैं कि अपनी भावना का फल होता है उनका कथन भी सत्य नहीं है । तुम बैठे चक्रवर्ती राजा बनने की भावना करते रहो तो इतने से सार्वभौम राजा नहीं बन सकोगे । भावना भी सच्ची होनी चाहिए ।"

एक महाशय रुद्राक्ष की माला धारण किये स्वामी जी के निकट आया । महाराज ने उसे हँसकर कहा कि यह क्या गुठलीसी गले में डाले डोलते हो ? ऐसी बातों से मुक्ति न होगी । मोक्ष की अभिलाषा है तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कीजिए ।

उपहास में महाराज ने एक मनुष्य को कहा कि बिल्वपत्र शिव-प्रतिमा पर चढ़ाने जाते हो तो वह तो इन्हें नहीं खायगी, परन्तु यदि ऊंट के आगे डाल दो तो उसकी भूख इनसे अवश्य मिट जायगी ।

एक मनुष्य ने स्वामी जी से लोटा माँगा । महाराज ने पूछा क्या करोगे ? वह बोला कि शिव पर जल चढ़ाऊँगा । स्वामी जी ने पूछा—तुम अपने लोटे से क्यों नहीं चढ़ाते ? उसने उत्तर दिया, मेरे पास इस समय लोटा नहीं है । स्वामी जी ने विनोद में कहा कि लोटा नहीं तो मुख तो है । कुल्ले भर-भर उस पर फेंकते जाओ !

महाराज ने एक दिन विनोद में कहा कि पण्डित लोग भोले-भाले मनुष्यों को आधे-आधे मन्त्र बताकर उनके गुरु बन बैठते हैं । परन्तु हम तो पृष्ठों के पृष्ठ बता रहे हैं । क्या हम गुरु नहीं बन सकते ?

भैरव का मन्दिर स्वामी जी के निवास स्थान के अति निकट था । उसके विषय में लोग अनेक प्रकार की गप्पें उड़ाते थे । वे कहते थे कि यह भैरव जो चाहता है कर देता है । इसने कई मनुष्यों को अपनी शक्ति का चमत्कार

दिखाया है। एक दिन इसने कई पहरे वालों को पटक दिया था। स्वामी जी को भी ये कपोल कल्पित कथायें सुनाई गईं। महाराज ने हँसकर कहा—"मैं रात दिन भैरव के सिर पर बैठा उसका और उसके साथी देवताओं का खण्डन करता रहता हूँ। यदि इसमें कोई सत्ता है तो मुझे तो उठाकर फेंक दे।"

एक दिन स्वामी जी गङ्गा में लेटे पड़े थे। एक बड़ा भारी मगर उनके अति निकट आ निकला। भक्त प्यारेलाल जी स्वामी जी को संकट के समीप देख भागते हुए समीप आये और पुकारने लगे—"स्वामी जी! झटपट पानी से बाहर निकल जाइए। एक बड़ा भारी मगर निकल आया है।" महाराज यह सुन कर भी गम्भीरता से ज्यों के त्यों पड़े रहे और बोले—"जब हम इसे कुछ नहीं कहते तो यह भी हमें कुछ न कहेगा।"

गङ्गा-मन्दिर के पुजारियों को लोग गङ्गा-पुत्र कहते हैं। एक गङ्गा-पुत्र स्वामी जी के समीप ही रहता था। उसके प्रातः काल के नैत्यिक कर्मों में यह भी एक कर्म था कि वह स्वामी जी से थोड़ी दूर खड़ा होकर, नित्य नियम-पूर्वक उन्हें गालियाँ सुनाया करता था। उसका यह पामरपन का पाठ बीसियों दिनों तक निरन्तर होता रहा; परन्तु महाराज ने उसे कभी कुछ भी तो नहीं कहा।

श्री स्वामी जी के पास नित्य अनेक भक्तजन आया करते थे। उनमें से कोई लड्डू भेंट कर जाता, कोई पेड़े चढ़ा जाता, और कोई बादाम, मिश्री आदि भोज्य पदार्थ अर्पण कर जाता था। स्वामी जी महाराज ऐसे सम्पूर्ण पदार्थ, अपने सत्सङ्गियों में प्रसाद रूप में वितरण कर दिया करते। एक दिन सायंकाल को कुछ लड्डू पेड़े आदि पड़े रह गये। महाराज यह सोच ही रहे थे कि ये उत्तम भोज्य पदार्थ किसे दें कि इतने में उन्होंने देखा कि वही गाली प्रदान करने वाला गङ्गा-पुत्र सामने से जा रहा है। उन्होंने उसे आदर से अपने समीप बुलाकर प्रेम-पूर्वक वे सकल पदार्थ उसे दे दिये, और साथ ही कहा कि सायं समय हमारे पास आया करो, हम तुम्हें पुष्कल खाद्य वस्तुयें दिया करेंगे।

जब छः सात दिन तक वह गङ्गा-पुत्र स्वामी जी से मिष्ट मोदक पाता रहा और महाराज ने उसकी गन्दी गालियों की एक बार भी बात न चलाई तो पश्चात्ताप के उत्पन्न हो आने से उसका चित्त उसे भीतर-ही-भीतर कचोटने लगा। अन्त में वह महाराज के चरणों में आ पड़ा और आँसू भर कर कहने

लगा—"भगवन् ! यदि मेरी कठोरता का कोई पार नहीं तो आपकी सहनशीलता भी असीम है। आप की सुजनता ने मेरी दुर्जनता को सर्वथा जीत लिया है। श्री-चरणों में मेरे पिछले सारे अपराध क्षमा किये जाँय।" महाराज ने उसे आश्वासन और आशीर्वाद देकर कहा—"हमने आपके वचनों को स्मृति में स्थान नहीं दिया है। आप भी अब उन बातों को स्मरण न कीजिए।"

महाराज एक आदर्श संन्यासी थे। कानपुर में उनके प्रेमियों की पंक्ति में धनी लोग भी सम्मिलित हो गये थे। उनके भक्त उनके लिए सुख की यथेष्ट सामग्री उपस्थित करने को समुद्यत थे। परन्तु द्वन्द्वातीत भगवान् वहीं भैरवघाट पर बिछौने के बिना ऊंचे-नीचे भूतल भाग को शय्या बनाकर, मोटी-मोटी ईंटों को सिरहाने रक्खे सुख से सो जाते थे। जल के लिए एक कलसा और एक कौपीन एक प्रेमी अत्याग्रह से उनके स्थान पर रख गया था।

उस समय भक्तों में शिरोमणि हृदयनारायण जी थे। ये अपने भाइयों सहित अपने भक्ति-भाजन की सेवा-शुश्रूषा में तत्पर रहते। महाराज के कानपुर-वास में सेवा करने का अधिक सौभाग्य हृदयनारायण जी को ही प्राप्त हुआ था। जैसे सूर्यदेव की किरण चन्द्रमा को प्रकाश प्रदान कर उसे चमका देती है, वैसे ही गुरुदेव के शुभ सत्सङ्ग से हृदयनारायण जी का हृदय भी उज्ज्वल हो गया था। संस्कृत भाषा का अध्ययन विशेष न करने पर भी वे देववाणी में बोलने तक लग गये थे। हृदयनारायण जी से श्री स्वामी जी विपुल प्रेम भी करते थे। परन्तु जब उन्होंने पूछा कि भगवन् ! सुना है अब आप इस स्थान से जाना चाहते हैं; किस दिन प्रस्थान कीजियेगा ? तो महाराज ने उत्तर दिया कि मैं नहीं बता सकता। लोगों ने पत्र-व्यवहार का पता माँगा तो भी किसी को कुछ नहीं बताया। जिस दिन स्वामी जी को प्रस्थान करना था रसोइए ने पूछा कि भगवन् ! भोजन बनाऊँ, तो महाराज ने उसे ना कर दी। वे, लोटा और नई कौपीन वहीं छोड़ कर चुपचाप चले गये। अधिक दिन चढ़ने पर प्रेमी जन श्रीदर्शनों को आये तो स्वामी जी आसन पर न थे। भक्त-जन, इस विचार से कि सम्भव है श्री महाराज दूर तक भ्रमण करने निकल गये हों और देर से आएँ, दर्शनों की लालसा से वहीं बैठ गये। जब प्रतीक्षा करते-करते सायं-काल हो गया और श्री स्वामीजी न लौटे तो भक्तों ने समझ लिया कि जिनकी मोहिनी मूर्ति को, तीन मास तक, अपने मनोमन्दिर में अति ममता

के साथ हम पूजते रहे हैं वे इतने वीतराग हैं, इतने निर्मम हैं कि चुपचाप प्रस्थान कर गये हैं। अन्त में बड़े उदास भाव से सब अपने घरों को लौट आये।

कानपुर से चल कर श्री स्वामी जी शिवराजपुर, फतेपुर और मिर्जापुर आदि स्थानों में उपदेश देते हुए प्रयाग पधारे। वहाँ एक शिवसहाय नाम का ब्राह्मण रहता था। उसने वाल्मीकि रामायण पर टीका रची थी। स्वामी जी ने पहले वह टीका मंगाई। उसे देखने के पश्चात् उसके रचयिता को अपने पास बुलवाया और उसकी रची हुई टीका में अनेक दोष प्रदर्शित किये। शिवसहाय था बड़ा अभिमानी। अपने दोषों को स्वीकार करना तो दूर रहा, वह उलटा शास्त्रार्थ पर उतर आया। थोड़े ही समय में, वादीगज-केसरी दयानन्द ने शिवसहाय के घमण्ड-घटाटोप को अपने पाण्डित्य की प्रबल पवन से छिन्न-भिन्न कर दिया। वह ब्राह्मण, बाद में इतना लज्जित और स्वामी जी से इतना भय-भीत हुआ कि स्थान छोड़ कर काशी की ओर भाग निकला। स्वामी जी भी उसके पीछे-पीछे हो लिये।



काशी कांड

: १ :

पौराणिक महादुर्ग में प्रवेश

आश्विन वदी १ सं० १९२६ को श्री स्वामी जी रामनगर पहुँचे। पहली रात को, राजवाटिका के समीप, मिट्टी के एक ढेले को सिर के नीचे रख रेती ही में सो रहे, सवेरे नित्य कर्मों से निवृत्त हो जब एक स्थान पर विराजमान हुए तो दर्शकों का आना जाना प्रारम्भ हो गया। महाराज को ज्ञात था कि शिवसहाय काशी नरेश के पास आकर छिपा बैठा है। इसलिए उन्होंने उसकी टीका-का खण्डन करना आरम्भ कर दिया;यहाँ तक, वे राजा महाशयके द्वारपर जाकर खड़े हो गये। जो भीतर जाता उसे कहते कि शिवसहाय भीतर छिपा हुआ है उसे बाहर निकालो। वह इन बातों से इतना लज्जित और अपमानित हुआ कि वहाँ से घर भाग गया। गङ्गा के तट पर राजा जी की हस्तिशाला थी। स्वामी जी उसी के एक स्थान में टिक गए।

मूर्ति-पूजन का खण्डन रात-दिन होता रहता था। साथ ही लोगों को सन्ध्या आदि कर्म करने की प्रेरणा भी होती रहती। महाराज की विद्या की शुभ्र ज्योत्स्ना काशी-वासी पण्डितों के मन्दिरों और पाठशालाओं में भी अपनी छटा दिखाने लगी। वहां भी उनकी विद्वत्ता की, उनके तर्क की, उनकी खण्डन-शैली की चर्चा चलती रहती। एक धुरन्धर विद्वान्,पण्डित ज्योतिःस्वरूप काशी में वास करते थे। वे उदासीन साधु थे। श्री अविनाशीलाल खत्री और श्री हरवंशलाल, ये दो प्रतिष्ठित सज्जन एक दिन, ज्योतिःस्वरूप जी केपास जाकर कहने लगे कि हमने सुना है दयानन्द नाम के एक संन्यासी रामनगर में आए हैं वे पुराण और मूर्ति-पूजन आदि का अति खण्डन करते हैं। आप हमारे साथ उनके पास चलिए। हम सत्य जानने के उत्सुक हैं।

पण्डित ज्योतिःस्वरूप जी प्रसन्नता-पूर्वक अपने प्रेमियों के साथ स्वामीजी के समीप आये और यथाविधि नमस्कार करके बैठ गये। वे तीनों दो घण्टे

तक श्री-कथनों को श्रवण करते रहे। ज्योतिःस्वरूप जी स्वामी जी के निर्मल विचारों से, अनुपम-ज्ञान से और कुशाग्र बुद्धि से बहुत प्रभावित हुए। उनके हृदय-सरोवर में उसी समय, स्वामी जी के लिए अनुराग की लहरें उठने लगीं। उनके दोनों साथियों ने कहा कि महाराज के कथन पर आप भी कुछ किन्तु-परन्तु कीजिए। पर उन्होंने कहा कि श्री स्वामी जी जो कुछ कहते हैं वह सब सत्य शास्त्रानुकूल है, फिर मैं क्या कहूँ?

महात्मा ज्योतिःस्वरूप जी चौदह दिन पर्यन्त निरन्तर स्वामी जी की संगति में आते रहे और उनके विचारों के अनुकूल हो गए।

पण्डित जवाहरदास जी भी, स्वामी जी के मिलापार्थ रामनगर में आया करते थे और उनके हितेच्छुक बन गये थे।

महाराज ईश्वरीनारायण सिंह जी को भी पता लग गया कि एक अतुल प्रतिभा का धनी संन्यासी यहाँ ठहरा हुआ है और प्रतिमा-पूजन आदि को वेद-विरुद्ध बताता है। उन्होंने स्वामी जी के भोजन का पूर्ण प्रवन्ध करने की आज्ञा कर दी और स्वामी जी को लिवा लाने के लिए एक चौबे को भेजा। महाराज ने कहा कि मुझे महाराजा के समीप जाने की कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु यदि उन्हें कुछ पूछना है तो वे, जब चाहें आ सकते हैं।

श्री स्वामी जी राम-लीला का खण्डन करते थे। एक दिन, महाराज निरञ्जनानन्द जी के पास गौ-घाट पर बैठे थे। वहां काशीनरेश भी आ निकले। शिष्टाचार के पश्चात् महाराज ने, निरञ्जनानन्द जी से पूछा कि स्वामी दयानन्द जी कहते हैं, वेद में मूर्ति-पूजन और रामलीला नहीं है; इसमें आपकी क्या सम्मति है? उन्होंने उत्तर दिया कि वेद में तो नहीं, परन्तु लोकाचार चला आता है, इसलिए इसे चलाये ही रखना चाहिए। इस उत्तर से महाराजा अति असन्तुष्ट हुए।

महाराजाके दूसरे भाई वैरागी थे, इस कारण वैरागियों का वहाँ बड़ा बल था। एक दिन, साठ के लगभग वैरागी इकट्ठे होकर स्वामी जी पर चढ़ आये और बहुत देर तक गालियाँ देते रहे। महाराज ने उनके इस अज्ञान-काण्ड पर ध्यान तक भी न दिया।

यह बात, महाराज श्री ईश्वरीनारायणसिंह जी को भी विदित हो गई। उन्होंने वैरागियों को कहला भेजा कि स्वामी जी से शास्त्रार्थ तो जिसका जी

चाहे करे, परन्तु गाली देना अच्छा नहीं है। वे हमारे यहाँ ठहरे हुए हैं, उनका अपमान करना हमारा ही अपमान है।

महाराजा ने स्वामी जी को राम-लीला देखने के लिए भी आहूत किया। परन्तु स्वामी जी वहाँ नहीं गये और बोले कि ऐसी लीलायें देखना संन्यासियों का काम नहीं।

रामनगर में निवास करके स्वामी जी ने काशी के पण्डितों के विद्या-बल का, शास्त्र-सामर्थ्य और गति-मति का पूर्ण परिमाण जान लिया। उनकी कोटियों के दुर्गों के भेदों को समझ लिया। पौराणिक महादुर्ग के दो धुरन्धर विद्वान् वीर—पण्डित ज्योतिःस्वरूप और जवाहरदास जी—अपने पोषक बना लिये, और फिर एक अस्त्र-शस्त्र सम्पन्न सेनापति की भाँति, शास्त्रसन्नद्ध होकर काशी जाने के लिए उद्यत हो गये। रामनगर से जब स्वामी जी चलने लगे तो महाराज ईश्वरीनारायणसिंह जी ने उन्हें कहला भेजा कि यहाँ से हमारी नौका में बैठकर जाइए और काशी जी में जाकर हमारे ही उद्यान में निवास कीजिएगा। परन्तु महाराज उनकी दोनों बातों को अस्वीकार कर वहाँ से चल पड़े।

भारत भूमि में काशी नगरी चिरकाल से अपनी महत्त्वमाला को अम्लान लिये चली आती है। आर्यों के इतिहास में यह सदा विद्यापीठ ही बनी रही है। श्रौत, स्मार्त और दार्शनिक ग्रन्थों का रहस्यों सहित, जैसा इस स्थान में अध्ययन कराया जाता रहा है वैसे उत्तम अध्ययन का सौभाग्य किसी दूसरे स्थान को कदाचित् ही मिला होगा। संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य को सजीव रखने से काशी भूखण्ड ने अपनी कीर्ति को अखण्ड रूप से स्थापित कर दिया है। यह भूप्रदेश आर्य धर्म्म का, आर्य विद्या का, आर्य आचार का और आर्य सभ्यता का पूर्व समयों में जैसा आदर्श था, वैसा ही, पौराणिक काल में पौराणिक धर्म्म का भी प्रमाण रूप बन गया है। अब भी, भारत के प्रत्येक भाग से सहस्रों विद्यार्थी यहाँ आकर विद्याध्ययन करते हैं। बीसियों विद्वान् साधारण-सी वृत्ति लेकर विद्याध्ययन कराते हैं। सैकड़ों कोसों से आकर जिस त्यागभाव से, जिस सादा रहन-सहन से, जितने सहस्र विद्यार्थी, इस गये बीते समय में भी, भारत के इस एक नगर में विद्या-लाभ कर रहे हैं उसका दृष्टान्त दूसरे देशों की अति सम्पन्न जातियों में भी मिलना दुर्लभ है।

स्वामी दयानन्द जी का काशी में आने का यह प्रयोजन था कि यहाँ के पण्डित समूह में उत्तेजना उत्पन्न करके उनमें आन्दोलन का भाव उत्पन्न करें। उन्हें जागृत अवस्था में लायें, जिससे काशी-वासी पण्डितगण अपने महत्त्व को, अपने सामर्थ्य को, अपने कर्त्तव्य-कर्म को और निरन्तर चले आने वाले अपने विमल यश को जान जायँ; अपने चित्त-दर्पण पर से पौराणिक परदे को उठाकर वैदिक धर्म के सच्चे स्वरूप का दर्शन कर सकें, आर्य जाति की वास्तविक दशा को अच्छी तरह देख सकें।

स्वामी जी महाराज के दिव्य नेत्रों से यह भेद छिपा नहीं रह सकता था कि भारत-भर में जो देवमाला के एक-से गीत गाये जाते और एक स्वर होकर पौराणिक माहात्म्य मनाये जाते हैं, इसका अधिकांश कारण काशी है। विद्यार्थीजन वर्षों के काशी वास से पौराणिक कल्पनाओं में ऐसे घुट जाते हैं कि ये सैकड़ों की संख्या में, प्रतिवर्ष पुराण-प्रचारक बनकर निकलते है। यदि काशी में सुधार और नया संस्कार आ जाय तो देश-देशान्तरों से आये हुए विद्यार्थी विद्योत्तीर्ण होकर अपने-अपने प्रान्तों को एक भाषा, एक धर्म्म, एक आचार-विचार, एक रीति-नीति और एकता के सूत्र में पिरोकर एक सुन्दर माला बनाने के एक अत्युत्तम साधन बन सकते हैं।

कार्तिक वदी २ सं० १९२६ को श्री स्वामी जी काशी नगर में सुशोभित हुए। राजा माधोसिंह के आनन्दोद्यान में आसन किया। उनके शुभागमन का समाचार तार-समाचार की भाँति सारी काशी नगरी में तुरन्त फैल गया। पण्डित श्री जवाहरदास जी और ज्योतिःस्वरूप जी को ज्योंही समाचार प्राप्त हुआ वे तत्काल महाराज के स्थान पर मिलने आये। अन्य पण्डित लोग भी मण्डलियाँ बना कर आने और प्रश्न पूछकर अपने भ्रम निवारण कराने लगे। महाराज के समीप दिन भर विद्यार्थियों की, पण्डितों की, वाद-विवादप्रिय विद्वानों और जिज्ञासु जनों की भारी भीड़ लगी रहती थी। लोग चिढ़ाने और खिजाने की भी चेष्टा करते थे। व्यर्थ वाद में समय बिताते थे, कुटिल कटाक्षों की व्यंग्य वर्षा भी करते थे। परन्तु आचार्य दयानन्द जी सबको गम्भीरता से उत्तर देते थे और दुर्वादियों तक का भी मुंह बन्द करके छोड़ते थे। चिढ़ने और खिजने को उनकी प्रकृति ही में कोई स्थान न था। उकतांना और थकना मानों वे जानते ही न थे। वे अकेले अपने अलौकिक साहस से आठ-आठ

घण्टे तक लगातार वादी-दिग्गजों के साथ जूझते रहते थे, श्रोताओं को उपदेश देते चले जाते थे।

उदासीन साधु मायाराम जी ने स्वामी जी से पूछा कि शंकर तो वेदान्त भाष्य में ब्रह्म-सूत्र अद्वैतपरक लगाते हैं और रामानुज आदि अपने भाष्यों में जीव-ब्रह्म का भेद वर्णन करते हैं, इनमें से किसका पक्ष सत्य समझा जाय ?

स्वामी जी ने उत्तर में कहा कि दोनों का ही पक्ष ठीक नहीं। ईश्वर सर्वव्यापक है इसलिए अभेद ठीक है और जीव एकदेशीय है, इसलिए भेद सत्य है। जो एक-एक पक्ष को पकड़ कर खेंचातानी कर रहे हैं, उनका निश्चय मिथ्यामूलक है।

स्वामी जी के समीप ही दुर्गा-मन्दिर था। मन्दिर में आने-जाने वाले लोग स्वामी जी के उपदेशों को भी सुना करते थे। स्वामी जी के कथन का इतना प्रभाव पड़ा, कि मन्दिर में जाने वालों की संख्या और मन्दिर की आय दिनों दिन घटने लगी। एक दिन पुजारियों ने स्वामी जी से आकर प्रार्थना की कि महाराज ! आपके यहाँ रहने से तो हमारी आजीविका मारी जायगी, इसलिए अब कृपा करके आसन किसी दूसरे स्थान पर लगा लीजिए। स्वामी जी उनके ऐसे कथन पर हँस पड़े।

: २ :

शास्त्रार्थ का आह्वान : दुष्टों के लिये हुङ्कारनाद

महाराज ने काशी-नरेश को कहला भेजा, "आपका कर्त्तव्य है कि मूर्ति-पूजा आदि विषयों पर शास्त्रार्थ कराकर सत्यासत्य का निर्णय करायें।" इधर महाराजा स्वयं भी पुराण-खण्डन के अखण्ड पाठ से घबरा उठे थे। इसलिए उन्होंने पण्डितों को बुलाकर शास्त्र-समर के लिए सुसज्जित होने की प्रेरणा की। पण्डितों ने महाराज से निवेदन किया कि स्वामी दयानन्द वेदों के प्रमाण पूछा करता है, इसलिए वेदों के प्रमाण आदि एकत्रित करने के लिए पन्द्रह दिन का अवकाश मिलना चाहिए। पण्डितों को मुँह-माँगा अवकाश मिल गया और वे शास्त्रार्थ में सफलता लाभ करने के ढङ्ग सोचने लगे। स्वामी जी का विद्या-बल जाँचने के लिए विद्यार्थी और पण्डित भी आते थे और अनेक प्रकार से प्रश्न करते-करते अन्त में हार जाते थे; परन्तु वे उस अथाह ज्ञान-

गङ्गा की थाह नहीं पा सकते थे । कहते हैं कि एक दिन, राजाराम शास्त्री भी गेरुए वस्त्र-धारण करके स्वामी जी के पाण्डित्य की परीक्षा लेने आये; परन्तु आगे वह पानी न था, जिसकी पेंदी तक वे पहुँच सकते ।

पण्डित-मण्डली ने कुछ बातें जानने के लिए शालिग्राम राजशास्त्री आदि चार पण्डितों को स्वामी जी के निकट भेजा । उन्होंने आकर नमस्कार आदि के अनन्तर कुछ प्रश्न किये, परन्तु उस समय उनको उत्तर देना उचित न समझा गया अतः वे लौट गये । नगर के कोतवाल महाशय स्वामी जी का बड़ा आदर करते थे । उनके आग्रह करने पर स्वामी जी ने पण्डितों को उत्तर देना मान लिया ।

उन शास्त्रियों ने फिर आकर पूछा कि आप कितने ग्रन्थ प्रामाणिक मानते हैं ? स्वामी जी ने उत्तर में चार वेद, चार उपवेद, छः वेदाङ्ग, छः उपाङ्ग, और मनुस्मृति ये २१ ग्रन्थ लिख दिये । उन्होंने फिर पूछा कि यही ग्रन्थ प्रामाणिक हैं इसमें क्या प्रमाण है ? मनुस्मृति में कितने श्लोक मानते हो ?

स्वामी जी ने कहा कि इन प्रश्नों का उत्तर शास्त्रार्थ के समय दिया जायगा । तत्पश्चात् पण्डित लोग वहाँ से चले गये ।

महाराजा ईश्वरीनारायणसिंह ने पण्डितों की दान-दक्षिणा का सारा बोझा अपने ऊपर ले लिया और शास्त्रार्थ की तिथि कार्तिक सुदी द्वादशी संवत् १९२६ नियत कर दी । इसकी सूचना कलेक्टर महाशय को भी दी गई । इस पर उन्होंने कहा कि शास्त्रार्थ यदि आदित्यवार को होता तो हम भी सम्मिलित हो सकते थे । परन्तु वहाँ तो सोच समझकर, इसीलिए मङ्गलवार नियत हुआ कि राजकर्मचारियों की उपस्थिति में गोलमाल करना कठिन हो जायगा । शास्त्रार्थ किस स्थान पर हो इसका निश्चय करने के लिए कोतवाल रघुनाथसहाय स्वामीजी के समीप आये । पूछने पर उन्होंने उनसे कहा कि विवश करके हमें कोई चाहे कहीं ले जाय परन्तु मैं संन्यासी हूँ, अपनी इच्छा से किसी के स्थान पर जाकर उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं करूंगा । मैं शास्त्रार्थ के लिए किसी के भी स्थान पर नहीं जाया करता । यहाँ जिनका जी चाहे मेरे ही आसन के पास आकर प्रश्न पूछें ।

स्वामी जी का उत्तर सुन कर काशीराज ने भी आनन्द-उद्यान में अपने दल-बल सहित जाना स्वीकार कर लिया ।

स्वामी दयानन्द के साथ, काशी के सारे पण्डितों का शास्त्रार्थ होगा, इस समाचार की सारे नगर में धूम मच गई। घाटों पर, अन्न-सत्रों में, पाठशालाओं में, मन्दिरों में, गृहस्थों के घरों में, गली-कूचे में, बाजार और कचहरी में जहाँ जाओ इसी नूतन विषय पर बात होती सुनाई देती थी। महात्मा जवाहरदास जी ने स्वामी जी को कहा—"काशी में तो अनेक पण्डित हैं, आप किसे-किसे जीतेंगे ? सबको कैसे परास्त करेंगे ?" उन्होंने उत्तर दिया, "काशी के सकल विद्वन्मण्डल में दक्षिणी बालशास्त्री ही ऐसा है, जो कुछ काल तक हमारे साथ वार्त्तालाप कर सकेगा। शेष तो सब काक-भाषा में—नवीन न्यायादि में—ही निपुण हैं। भेदार्थ में उनकी गति नहीं है।"

कार्तिक सुदी द्वादशी, मङ्गलवार के दिन, प्रातःकाल ही से सारे काशी नगर में एक विचित्र हलचल मच गई। काशी नरेश के यहाँ से पालकियाँ, चँवर, छत्र इत्यादि पण्डितों के निवास-स्थानों पर पहुँचाये जा रहे थे। विश्वनाथ और दुर्गा आदि के मन्दिरों में विजय के लिए प्रार्थनायें हो रही थीं। पण्डित लोग परस्पर मिलकर स्वामी जी को जीतने के लिए न्याय की पंक्तियाँ, व्याकरण की फक्किकायें, वेदान्त की कोटियाँ, चातुर्य की अनेक चालें और प्रवंचना की चोटें चलाने के ढंग सोच रहे थे; श्रुति, स्मृति आदि के प्रमाण एकत्रित करने में लगे थे।

श्री काशीधाम में जहाँ प्रवर पण्डित निवास करते हैं वहां परले सिरे के दुर्दण्ड उपद्रवियों की कुछ न्यूनता नहीं। उस समय ऐसे लोग भी स्वामी-चरणों को पीड़ा देने के लिए, अपने षड्यंत्र का ताना-बाना तन रहे थे।

पूर्वोक्त दृश्य को देखकर भक्त बलदेव का हृदय थरथरा उठा। उसने अति शीघ्रता से स्वामी जी के निकट पहुँचकर निवेदन किया—"महाराज ! आज आपके स्थान पर सहस्रों मनुष्यों का जमघटा लगेगा। उसमें केवल हुल्लड़ मचाने के लिए भी कुछ उद्दण्ड जन आयँगे। यदि फर्रुखाबाद होता तो ऐसे समय में श्री-चरणों के समीप भी बीस-पच्चीस सेवक बैठ जाते। परन्तु यहाँ तो उपद्रव होने की बड़ी भारी आशङ्का है।"

महाराज ने मुस्कराकर कहा—"बलदेव ! कुछ भी चिन्ता न कीजिए। योगीजनों का यह दृढ़ विश्वास है कि अविद्या की तमोराशि को सत्य का सूर्य, अकेला ही तुरन्त जीत लेता है। बलदेव ! जो मनुष्य पक्षपात का परित्याग

करके केवल लोकहित के लिए. ईश्वर की आज्ञानुसार सत्योपदेश करता है उसे भय कहाँ है ? सत्पुरुष किसी से भयभीत होकर सत्य को नहीं छुपाया करते। जीवन जाय तो जाय, परन्तु वे अन्तरात्मा के आदेश---सत्य--को नहीं छोड़ते। बलदेव ! चिन्ता किस बात की है ? एक मैं—आत्मा--हूँ, एक परमात्मा है और एक ही धर्म्म है। दूसरा है कौन, जिससे डरें और काँपें ? उन सबको आ जाने दो जो कुछ होगा उसी समय देख लिया जायगा।"

महाराज ने इस प्रकार बलदेव को धैर्य्य प्रदान किया। फिर क्षौर कराकर स्नान किया। तत्पश्चात्, वे भोजन पाकर चटाई पर बैठ गये।

उधर पण्डितों को सवेरे से सुसज्जित होते दिन का तीसरा प्रहर आ गया। उस दिन पाठशालाओं में अनध्याय किया गया था। इसलिए नये और पुराने सभी विद्यार्थी, लम्बी-लम्बी पंक्तियाँ बाँधकर अपने-अपने गुरुओं के निवास स्थानों के आगे उपस्थित हो गये और जयध्वनि से ऊँची अट्टालिकाओं को प्रतिध्वनित करने लगे। नियत समय पर, शकुन मना और मङ्गलोपचार कर सभी पण्डितगण अपनी-अपनी पालकियों में आरूढ़ हो गये। उनके सिरों पर छत्र और चँवर झूलने लगे। गुरुजन की आज्ञा से विद्यार्थीगण, जय-नाद से मन्दिर-मालाओं को और बाजार के दोनों ओर की दुकानों को निनादित करते पालकियों के आगे-आगे चलने लगे। पण्डितों की चढ़ाई को देखकर सारा नगर चलायमान हो गया। आनन्द उद्यान की ओर उस दिन मानो जन-सागर उमड़ पड़ा। नाना भाँति के साम्प्रदायिक चिह्नों से सुसज्जित साधु-सन्यासी भी टोलियाँ बनाकर उसी ओर चलने लगे। ऐसा प्रतीत होता था कि सब सम्प्रदायों की समुच्चित शक्ति अकेले दयानन्द पर चढ़ आई है। सारा पौराणिक बल, एकाकी परमहंस पर एक बार ही टूट पड़ा है।

काशी-नरेश सहित सैकड़ों विद्वान् अद्वितीय दयानन्द से शास्त्रार्थ करने पर उतारू हुए। उस पण्डित-सैन्य के प्रसिद्ध महारथी, स्वामी विशुद्धानन्द जी, बालशास्त्री, शिवसहाय, माधवाचार्य, वामनाचार्य्य, ताराचरण, जयनारायण तर्कवाचस्पति, राधामोहन तर्कवागीश और अम्बिकादत्त जी आदि सत्ताईस-अठाईस विद्वान् थे। ये लोग अपनी-अपनी सेना-पंक्ति का संचालन करते बढ़ते चले आ रहे थे। परन्तु कोतवाल महाशय इन सब के पहिले ही श्री स्वामी जी के पास पहुँच गये। उन्होंने एक कोठरी से द्वार के निकट आसन बिछाकर

उस पर स्वामी जी को बैठा दिया और उनके सामने एक आसन प्रतिपक्षी पण्डित के लिए लगा दिया। काशी-नरेश के लिए भी एक अलग आसन स्थापित किया गया। कोतवाल महाशय का, इस प्रकार केवल तीन ही आसन लगाने का तात्पर्य यह था कि स्वामी जी के समीप एक समय में केवल एक ही पण्डित बैठे, जिससे कोई कोलाहल न होने पाये।

कोतवाल महाशय अभी आसन-व्यवस्था कर ही चुके थे कि इतने में उमड़ा हुआ पण्डित-पूर आ पहुँचा, और लगा सारे स्थान को प्लावित करने। उन्होंने आते ही भीतर आने के सभी मार्ग रोक लिये। वे स्वामी जी के सहायक पण्डित जवाहरदास जी तथा पण्डित ज्योतिःस्वरूप जी आदि को भी नहीं आने देते थे। स्वामी जी को एक भक्त ने पत्र लिख कर सूचित किया हमें जान-बूझकर भीतर आने से रोका जाता है। स्वामी जी ने तब कोतवाल महाशय को कहकर अपने सहायक परमहंसों को भीतर बुला लिया और पण्डित जवाहर-दास जी तथा पण्डित ज्योतिःस्वरूप जी को अपने निकट बैठाया।

पण्डित ज्योतिःस्वरूप जी एक प्रतिष्ठित और धुरन्धर विद्वान् थे। उनकी विद्या का लोहा सारे पण्डित मानते थे। उन्होंने स्वामी जी के समीप बैठते समय यह कह भी दिया, "पण्डित लोग पहले हम से तो शास्त्रार्थ कर लें। यदि फिर भी उनमें कुछ शक्ति शेष रह जाय तो पीछे से भले ही स्वामी जी से प्रश्नोत्तर करने को समुद्यत हों।"

ज्योतिःस्वरूप जी काशीवासी पण्डितों की नस-नस और नाड़ी-नाड़ी को जानते थे। वे यह भी जानते थे कि कौन कितने पानी में है। इसलिए, उन्हें स्वामी जी के निकट बैठा देख कर पण्डितों का माथा ठनक गया। उनको अपने भेदों और चालों के प्रकट हो जाने का खटका हो गया। वे यह सोच ही रहे थे कि ज्योतिःस्वरूप जी के पंजे से कैसे छूटें कि उसी समय, महाराजा ईश्वरीनारायणसिंह आ पहुँचे। महाराजा को आते देख सारे पण्डितों ने उठकर उनको आशीर्वाद दिया और वे उनके साथ ही आगे बढ़ आये, यहाँ तक कि उन्होंने स्वामी जी को घेर लिया।

यदि वे लोग इस पहिले नियम को तोड़ने पर ही सन्तोष करते तो भी कोई बात न थी, परन्तु उनकी आँखों में तो ज्योतिःस्वरूप जी का वहाँ बैठना काँटे की भाँति रड़क रहा था। उन्होंने आशीर्वाद देते समय महाराजा से कह

दिया—"एक तो दयानन्द स्वयं सिंह के सदृश हैं, उसका परास्त करना दुष्कर है, दूसरे व्याघ्र समान ज्योतिःस्वरूप उसके साथ बैठ गया है। उसकी उपस्थिति में तो किसी भी चाल से जय-लाभ करना सम्भव नहीं।"

महाराज ने मर्म को समझ लिया और बैठते ही श्री जवाहरदास तथा श्री ज्योतिःस्वरूप जी को कहा कि यह स्थान पण्डितों के लिए नियत है। आप इससे कुछ पीछे हट कर बैठें। इतने से भी प्रतिपक्षियों की सन्तुष्टि नहीं हुई। उनके संकेत से, महाराजा ने ज्योतिःस्वरूप जी को पकड़वा कर वहाँ से बाहर कर दिया।

स्वामी जी ने अपने सहायकों को अपमानित होते देखकर इस अन्याय का विरोध किया और उनकी इस धींगा-धींगी पर घृणा प्रकट की। परन्तु, वे तो सभी एक ही रंग में रंगे हुए थे। इसलिए फल कुछ भी न निकला। कोतवाल ने भी उपालम्भ रूप से कहा कि हमारा किया नियम तोड़ दिया गया है, और इतने पण्डित अकेले स्वामी जी को घेर कर बैठ गये हैं, यह सब अनुचित है। परन्तु उस समय तो उचितानुचित की चर्चा कोई भी न सुनता था।

श्री स्वामी जी ने महाराजा को कहा कि अपने सरस्वती-भण्डार से पुस्तकें मँगा लीजिए। महाराजा के भाई ने कहा कि पुस्तकें क्या करनी हैं ? यों ही शास्त्रार्थ होगा। स्वामी जी ने फिर कहा कि क्या वेद मँगा लिए हैं ? इस पर महाराजा ने कहा कि वेद की पुस्तकों की कोई आवश्यकता नहीं, वे तो हमारे पण्डितों के कण्ठाग्र हैं।

तत्पश्चात् कोतवाल, श्री रघुनाथसहाय जी ने सबको सुनाकर कहा—"शास्त्रार्थ का यह नियम निश्चित हो गया है कि श्री स्वामी जी के साथ एक समय में एक ही पण्डित शास्त्रार्थ करेगा। इस बीच में दूसरा कोई भी न बोले।"

सबसे प्रथम पण्डित ताराचरण जी नैयायिक स्वामी जी के सम्मुख हुए। स्वामी जी ने उनसे पूछा, कि "क्या आप वेदों को मानते हैं ?" ताराचरण जी ने कहा—"जो भी वर्णाश्रम-धर्म में हैं वे सभी वेद को प्रामाणिक मानते हैं।" तब स्वामी जी ने कहा—"वेद में पाषाण आदि की मूर्त्तियों के पूजने का यदि विधान है तो उसका प्रमाण दीजिए, नहीं तो अप्रमाणता स्वीकार कीजिये।"

ताराचरण—"वेद में मूर्त्ति-पूजन का प्रमाण है अथवा नहीं है, यह उसे कहा जाय, जो एक वेद को ही प्रमाण मानता हो।"

स्वामी जी—"अन्य ग्रन्थ प्रमाण हैं अथवा अप्रमाण इस पर फिर विचार किया जायगा। इस समय मुख्य प्रमाण तो वेद ही हैं। वेदोक्त कर्म्म ही मुख्य कर्म हैं, दूसरे ग्रन्थों के बताये कर्म गौण हैं। वे वेदानुकूल होने ही से माने जा सकते हैं। इसलिए यदि वेद में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है तो उसका पूजन नहीं करना चाहिए।"

ताराचरण जी—"तो फिर आप मनुस्मृति को वेद-मूलक कैसे मानते हैं?"

स्वामी जी—"सामवेद के ब्राह्मण ने कहा है कि जो कुछ मनु ने वर्णन किया है वह औषधियों का भी औषध है।"

विशुद्धानन्द जी ने कहा—"रचना की अनुपपत्ति—असिद्धि होने से अनुमान द्वारा वर्णित प्रधान जगत् का कारण नहीं है; व्यास के इस सूत्र को वेदमूलक सिद्ध कीजिए।"

स्वामी जी—"उपस्थित वाद के भीतर यह प्रश्न नहीं आता।"

विशुद्धानन्द जी—"प्रकरण से बाहर है तो क्या हुआ? यदि, तुम्हें इसका समाधान आता है तो कह दो।"

स्वामी जी—"इसका पूर्वापर पाठ देखकर समाधान किया जा सकता है।"

विशुद्धानन्द जी—"यदि सब कुछ स्मरण नहीं था तो काशी में शास्त्रार्थ करने आये ही क्यों थे?"

स्वामी जी:—"क्या आप को सब कुछ कण्ठाग्र है?"

विशुद्धानन्द जी:—"हाँ, हमें सब कुछ स्मरण है।"

स्वामी जी:—"तब बताइये धर्म के कितने लक्षण हैं?"

विशुद्धानन्द जी:—"जो वेद में कहे फल सहित कर्म हैं वही धर्म्म है।"

स्वामी जी:—"यह तो आपका वाक्य है। कोई शास्त्रीय प्रमाण दीजिए।"

विशुद्धानन्द जी:—"धर्म्म का लक्षण 'प्रेरणा' कहा गया है।"

स्वामी जी:—यह तो ठीक है कि प्रेरणा धर्म्म का लक्षण है, परन्तु प्रेरणा कहते हैं श्रुति-स्मृति की आज्ञा को। सो श्रुति-स्मृति की प्रेरणा में धर्म्म के लक्षण कितने हैं, यह बताइये?"

विशुद्धानन्द जी:—"धर्म्म का एक ही लक्षण है।"

स्वामी जी:—"शास्त्र में तो धर्म्म के दस लक्षण कहे हैं। तब आप एक कैसे कहते हैं ?"

विशुद्धानन्द जी:—"धर्म्म के दस लक्षण किस ग्रन्थ में हैं ?"

उस समय स्वामी जी ने मनु-स्मृति में वर्णित्त 'धृति' आदि धर्म्म के दस लक्षणों वाला श्लोक पढ़ कर सुनाया। इस पर विशुद्धानन्द जी तो अवाक् हो गये; परन्तु बालशास्त्री कहने लगे—"हमने सम्पूर्ण धर्म्मशास्त्र का अध्ययन किया है। इस विषय में कुछ पूछना हो तो हम से पूछिये।"

स्वामी जी ने कहा—"बहुत अच्छा, आप 'अधर्म' के लक्षण बताइये।" बालशास्त्री को इसका उत्तर कुछ भी न सूझा, इसलिए वे मौन हो गये !

अपने मुखिया सेना-पतियों के पाँव उखड़ते देख सारे पण्डित एक बार ही चिल्ला कर पूछने लगे—"बताओ, वेद में 'प्रतिमा' शब्द हैं अथवा नहीं ?"

स्वामी जी ने शान्त भाव से उत्तर दिया—"वेद में 'प्रतिमा' शब्द तो है।" फिर उन लोगों ने क्रम से पूछा—"यदि वेद में प्रतिमा शब्द है तो किस प्रकरण में ? और आप इसका खण्डन क्यों करते हैं ?"

स्वामी जी नें उत्तर में कहा—'प्रतिमा' शब्द यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय के तीसरे मन्त्र में है। यह सामवेद के ब्राह्मण में भी विद्यमान है। परन्तु पाषाण आदि की प्रतिमा के पूजन का विधान कहीं भी नहीं है, इसलिए मैं इसका खण्डन करता हूँ।"

उनके पूछने पर स्वामी जी ने उन प्रकरणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया, जिनमें प्रतिमा शब्द आया है। इस पर उच्छृङ्खल पण्डित चुप हो गये।

इतने काल बालशास्त्री जी को विश्राम मिल गया और वे फिर प्रश्न करने लगे। परन्तु दो-तीन प्रश्न करके फिर मौनी बन गये। इसके पश्चात् विशुद्धानन्द जी ने स्वामी जी से पूछा—"वेद कैसें उत्पन्न हुए हैं ?"

स्वामी जी:—"वेदों का प्रकाश ईश्वर ने किया है।"

विशुद्धानन्द जी:—"वेदों का प्रकाश किस ईश्वर से हुआ है ? न्यायवर्णित ईश्वर से, या योग-कथित ईश्वर से अथवा वेदान्त-प्रतिपादित ईश्वर से ?"

स्वामी जी:—"क्या आपके निश्चय में अनेक ईश्वर हैं ?"

विशुद्धानन्द जी:—"ईश्वर तो एक ही है, परन्तु वेदों के प्रकाशक ईश्वर का क्या लक्षण है, यह बताइये।"

स्वामी जी:—"उसका लक्षण 'सच्चिदानन्द' है ।"

विशुद्धानन्द जी:—"ईश्वर और वेद में क्या सम्बन्ध है ?"

स्वामी जी: – "वेद और ईश्वर में कार्य्य-कारणभाव सम्बन्ध है ।"

विशुद्धानन्द जी:—"जैसे मन में और सूर्य आदि में ब्रह्मबुद्धि करके 'प्रतीक' उपासना करनी कही है वैसे ही शालिग्राम आदि में ईश्वर-भावना करके पूजने में क्या हानि है ?"

स्वामी जी: —"शास्त्र में मन आदि में ब्रह्मोपासना करने का तो विधान है, परन्तु पाषाणादि में उपासना करने का वचन किसी भी शास्त्र में नहीं मिलता ।"

यह उत्तर सुनकर विशुद्धानन्द जी को तो अपनी वाणी को विराम देना पड़ा, परन्तु माधवाचार्य ने पूछा—"उद्बुध्यस्वाग्ने' इस मन्त्र में जो 'पूर्त' शब्द पड़ा है उसका आप क्या अर्थ करते हैं ? और मूर्ति-पूजन अर्थ क्यों नहीं करते ?"

स्वामी जी:—'यहाँ 'पूर्त' शब्द से कुआं, तड़ाग, वापी और उद्यान आदि लोक-हितकर कार्यों का ग्रहण किया जाता है । 'पूर्त' शब्द 'पूर्त्ति' का वाचक है । इससे मूर्त्ति-पूजा का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता । विशेष जानना चाहते हो तो इस मन्त्र का निरुक्त और ब्राह्मण देख लीजिये ।"

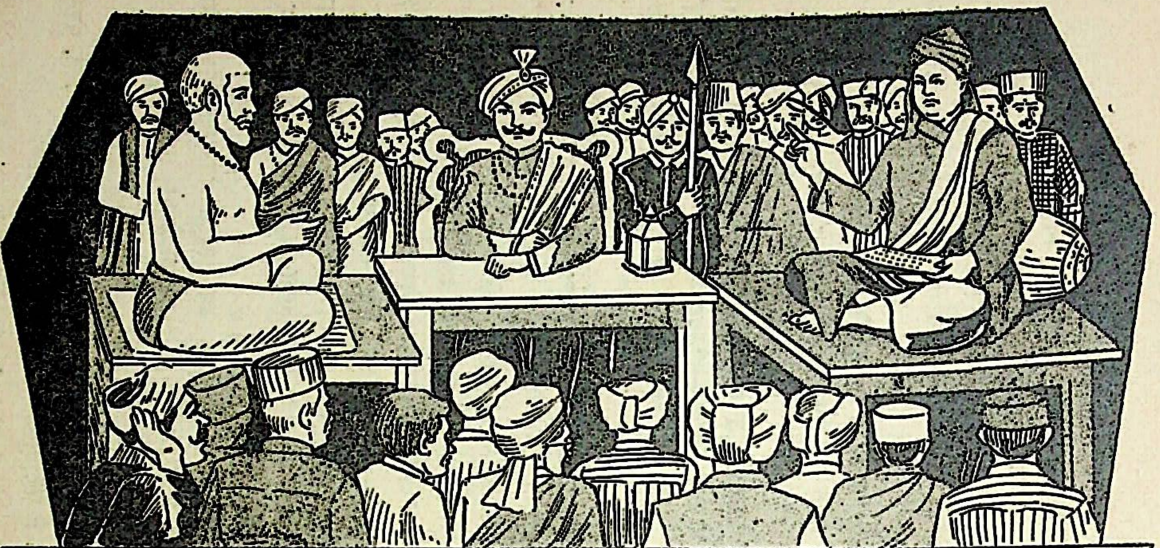
मूर्त्ति-पूजन के पक्ष में माधवाचार्य्य निरुत्तर हो गये और किंचिद् विश्राम लेकर फिर पूछने लगे—"पुराण शब्द वेदों में आया है कि नहीं ?"

स्वामी जी —"पुराण शब्द तो वेद के अनेक स्थलों में विद्यमान है, परन्तु वह है पुरातन अर्थ का बोधक । उससे ब्रह्मवैवर्त्त और भागवतादि पुराण ग्रन्थों का ग्रहण नहीं हो सकता ।"

विशुद्धानन्द जी:—"बृहदारण्यक उपनिषद् में 'पुराण' शब्द आया है, वह आपको प्रमाण है कि नहीं ? यदि प्रमाण है तो बताओ, यहाँ 'पुराण' शब्द किसका विशेषण है ?"

स्वामी जी:—"बृहदारण्यक का 'पुराण' शब्द मुझे प्रमाण है, परन्तु वह किसका विशेषण है यह, पुस्तक दिखाइये, बता दूंगा !"

तब, जो पुस्तक लाकर स्वामी जी को दिखाने लगे वह बृहदारण्यक नहीं थी, किन्तु गृह्यसूत्र का एक ग्रन्थ था । माधवाचार्य ने उस ग्रन्थ का पन्ना



महाराजा बनारस की अध्यक्षता में स्वामी जी का माधवाचार्य से शास्त्रार्थ करना

पकड़कर कहा—"इसमें पुराण शब्द किसका विशेषण है ?"

स्वामी जी:—"पाठ तो पढ़िये।"

माधवाचार्य जी ने "ब्राह्मणानीतिहासपुराणानीति" यह पढ़कर सुनाया।

स्वामी जी:—"यहाँ 'पुराण' शब्द 'ब्राह्मण' शब्द का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण पुरातन अर्थात् सनातन हैं।"

बालशास्त्री जी:—"क्या कोई ब्राह्मण नूतन भी हैं ?"

स्वामी जी:—"ब्राह्मण नवीन तो नहीं हैं, परन्तु किसी को सन्देह करने का अवकाश ही न मिले इसलिए यह विशेषण रक्खा गया है।"

विशुद्धानन्द जी:—"इस पाठ में ब्राह्मण और पुराण इन दो शब्दों के बीच इतिहास शब्द व्यवधानरूप पड़ा है, इसलिए 'पुराण' शब्द विशेषण नहीं हो सकता।"

स्वामी जी:—"यह कोई भी नियम नहीं है कि व्यवधान होने पर विशेषण न हो सके। देखिए, भगवद्गीता के 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इस श्लोक में विशेषण कितना दूर पड़ा है।"

विशुद्धानन्द जी:—"'इतिहासपुराणानि' इस पाठ में यदि 'इतिहास' शब्द 'पुराण' शब्द का विशेषण नहीं है तो क्या इससे यहाँ नवीन इतिहास ग्रहण करोगे ?"

स्वामी जी:—"इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः" छान्दोग्य के इस पाठ में 'पुराण' शब्द 'इतिहास' शब्द का विशेषण है।

इस पर वामनाचार्य आदि अनेक पण्डित कहने लगे कि यह पाठ उपनिषद् में नहीं है। स्वामी जी ने उनको बलपूर्वक कहा—मैं लिख देता हूँ और आप भी लिख दीजिये कि यदि ऐसा पाठ उपनिषद् में निकल आए तो आप की हार समझी जाय और न निकले तो आपकी जय।"

यह सुनकर सबके मुख बन्द हो गए और कितनी ही देर तक सारे सभा-स्थल में सन्नाटा-सा छाया रहा। जब देर तक किसी ने कोई प्रश्न न किया तो विद्यावारिधि दयानन्द ने सब पण्डितों को ललकार कर कहा—"आप में से जो व्याकरण जानते हैं वे बतायें कि व्याकरण में कहीं 'कल्म' संज्ञा की गई है। अथवा नहीं ?"

बालशास्त्री जी:—"संज्ञा तो नहीं की है, किन्तु एक स्थल में भाष्यकार ने उपहास अवश्य किया है।"

स्वामी जी:—"आप अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण उपस्थित करें और बतायें कि भाष्यकार ने कहाँ उपहास किया है।" यह कथन सुनकर बालशास्त्री चुप हो गये और दूसरे पण्डितों की भी मौन-मुद्रा किंचिन्मात्र भंग न हुई। चार घण्टों तक निरन्त शास्त्र-समर में पौराणिक दल का प्रत्येक अगुआ बढ़कर स्वामी जी से युद्ध करता रहा और अन्त में महाराज की अकाट्य युक्तियों के तीक्ष्ण तीरों से, उनके प्रबल प्रमाणों के परमास्त्रों से हत-प्रतिहत होकर—परास्त होकर—पीछे लौट आता रहा। इतनी बड़ी संख्या में, ऐसी बड़ी सभा में, इतना बड़ा उद्योग करने पर भी इतने बड़े विद्वानों का, इस प्रकार, ऐसा पराजय इस नगरी में पहले कदाचित् ही हुआ होगा।

सारे महारथी सकल सामर्थ्य से भी जब सफल न हुए तो काशी के महा-मल्लों ने कूटनीति और दाँव-पेच चलाने की सोची। उस समय सूर्य अस्त हो गया। धीरे-धीरे अन्धकार गाढ़तर होता चला जा रहा था। ऐसे समय में, माधवाचार्य ने वेद के नाम से दो पन्ने निकाल कर पण्डितों के मध्य में रख दिये और कहा—"यहाँ पर लिखा है कि, यज्ञ की समाप्ति पर यजमान दसवें दिन पुराणों का पाठ श्रवण करे। अब स्वामी जी! बताइये कि यहां 'पुराण' किसका विशेषण है?

स्वामी जी:—"आप पाठ पढ़ कर तो सुनाइये।"

विशुद्धानन्द जी ने पन्ने पढ़कर स्वामी जी की ओर किये और कहा—"आप ही पढ़ लीजिये।"

स्वामी जी ने पन्ने विशुद्धानन्द जी को लौटा दिये और कहा कि आप ही पढ़कर सुनाइये; विशुद्धानन्द जी ने फिर उन्हें स्वामी जी के हाथ में दे दिया और कहा कि मैं चश्मे के बिना नहीं पढ़ सकता, इसलिए आप ही को पढ़ना होगा।

स्वामी जी ने वे पन्ने हाथ में ले लिये परन्तु अन्धेरे के कारण अक्षर स्पष्ट नहीं दिखाई देते थे, इसलिए दीपक मंगाया गया। उन पत्रों पर वेद का कोई नाम न था। मण्डल, अध्याय और मन्त्र आदि का भी कोई पता न लगता था। इसलिए स्वामी जी "दशमेऽहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत" इस पाठ के पूर्वापर को ग्रन्थ के नाम और प्रकरण को सोचने लगे। स्वामी जी को

विचारते हुए कुछ बहुत पल न होने पाये थे कि श्री विशुद्धानन्द जी यह कह-कर उठ खड़े हुए कि अब सन्ध्या का समय हो गया है; इन्हें अधिक कष्ट भी नहीं देना चाहिये। परन्तु स्वामी जी उनका हाथ पकड़ कर बल देते थे कि बैठ जाइये। निर्णय किये बिना, बीच ही में उठ खड़े होना आप-ऐसे विद्वानों को कदापि उचित नहीं। परन्तु विशुद्धानन्द जी ने बैठना स्वीकार न किया और उपहास में स्वामी जी की पीठ पर हाथ फेर कर कहने लगे कि अब बैठिये, जो कुछ होना था सो तो हो चुका।

विशुद्धानन्द जी के सङ्केत से महाराजा ईश्वरीनारायणसिंह जी भी उठ खड़े हुए और अपनी जय प्रख्यात करने के लिए कर-तालिका बजाने लगे। महाराजा के अनुकरण में सारे पण्डित तालियाँ पीटते और जय-जयनाद करते हुए एकाएक उठ खड़े हुए। पचास-साठ सहस्र मनुष्यों के सभा-सागर में बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया। सर्वत्र गड़-बड़ मच गई। उस समय, अविवेकी मनुष्यों ने स्वामी जी महाराज पर ईंटें मारीं, पत्थर और कङ्कर फेंके, गोबर और जूते उछाले, अन्य अनेकविध अवहेलना और अपमान किया, परन्तु महाराज के प्रशान्त चित्त-दर्पण पर उदासीनता की यत्किंचित् भी छाया न आई।

कोतवाल महाशय ने उद्दण्ड जनों को वहाँ से खदेड़ दिया और महाराज को कहा कि ताली पीटने का कार्य आपने अनुचित किया है। उन्होंने उत्तर दिया कि प्रतिमा-पूजन करना हमारा-तुम्हारा परस्पर का धर्म्म है। उसकी रक्षा के लिए शत्रु से जैसे भी जय लाभ हो करनी चाहिये।

पक्षपाती लोगों और अबोध जन-समुदाय ने अपनी बड़ी भारी जीत समझी। उन लोगों ने सारे नगर को जयकार से गुंजा दिया। परन्तु फिर भी ऐसे बीसियों विचारवान् मनुष्य वहीं उपस्थित थे कि जिन्होंने पण्डितों की चाल को ताड़ लिया, और स्वामी जी के साथ जो अनीति, अन्याय और धोखा किया गया था, उस पर घृणा प्रकट की।

पण्डित ईश्वरसिंह नाम के एक निर्मले सन्त काशी में वास करते थे। वे वेदान्त के निष्ठावान् विद्वान् थे। उन्होंने उस दिन आनन्दोद्यान से लौटता हुआ जन-समुदाय देखा। उसमें विद्यार्थी, पण्डित और साधारण लोग स्वामी महाराज को अनेक कु-वचन बोलते हुए जा रहे थे। ईश्वरसिंह जी ने वहाँ यह भी सुना कि स्वामी जी पर लोगों ने आज ईंट, पत्थर, गोबर और जूते

फेंके हैं, उन्हें अगणित अपशब्द कहे हैं। उनके चित्त में, उसी समय, यह सङ्कल्प उत्पन्न हुआ कि चलो इसी समय चलकर दयानन्द जी की दशा देखें। यदि इस महा निरादर से, घोर अपमान से, विपरीत नीति से, निष्ठुर अन्याय से उनका चित्त विचलित न हुआ तो समझेंगे कि वह सच्चा ब्रह्मज्ञानी और एक पहुँचा हुआ महात्मा है।

जिस समय ईश्वरसिंह जी आनन्दोद्यान में पहुँचे तो महाराज चांद की चांदनी में टहल रहे थे। ईश्वरसिंह जी को आते देखकर भगवान् ने मुस्कराते हुए, बड़े आदर से उनका स्वागत किया। दोनों मिलकर बड़ी रात तक आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी विषयों पर वार्तालाप करते रहे। इतनी लम्बी बात-चीत में, ईश्वरसिंह जी को स्वामी जी के चन्द्रसमान चमकते हुए मुखमण्डल पर उदासीनता का एक भी धब्बा दिखाई न दिया। उनकी मुस्कराहट की चन्द्रछटा में उन्होंने किंचिन्मात्र भी न्यूनता न पाई। उनके हृदयगत साहस और उत्साह की ज्वालमाला-सकुल ज्वलन्त अग्नि से एक बार भी तो लम्बी सांस का धुआं न निकला। ध्यानपूर्वक देखने पर भी उनके विमल चिदाकाश में, निराशा-बदली की एक भी टुकड़ी न दीख पड़ी। उन्होंने लोगों के अन्याय और अत्याचार की कुछ भी तो चर्चा न चलाई।

पण्डित ईश्वरसिंह जी ने महाप्रभु दयानन्द के चरण छूकर कहा—"महाराज ! आज तक मैं आपको वेद-शास्त्र का ज्ञाता, एक पण्डित मात्र समझता रहा हूँ। परन्तु आज पण्डितों के घृणित उत्पात से, अपमान से, और विरोध की घोर आंधी से आपके हृदय-सागर में राग-द्वेष की एक भी लहर उठते न देख, मुझे विश्वास हो गया है कि आप वीतराग महात्मा और सिद्ध पुरुष हैं।" तत्पश्चात् सन्त ईश्वरसिंह जी महाराज से विदा होकर अपने स्थान को चले आये।

अगले दिन स्वामी जी ने एक विज्ञापन में "दशमेऽहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत" इस वाक्य का विस्तारसहित अर्थ छपा दिया और पण्डितों को सत्यासत्य के निर्णय के लिए आह्वान किया। परन्तु उनके सामने दुबारा आने का साहस किसी में भी न था। काशी-शास्त्रार्थ विस्तार-सहित पुस्तकाकार मुद्रित कराकर वितरण किया गया। समाचार पत्रों में भी टीका-टिप्पणी सहित छपा। प्रसिद्ध पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी भी शास्त्रार्थ के समय वहाँ

विद्यमान थे। उन्होंने अपने मासिक पत्र "प्रत्नकमरनन्दिनी" के मार्गशीर्ष वा पौष सं० १९२६ के अङ्क में काशी में स्वामी जी का विजय-समाचार प्रकाशित किया!

'रुहेलखण्ड' समाचार पत्र ने अपने कार्तिक सं० १९२६ के अङ्क में लिखा, "स्वामी दयानन्द जी मूर्ति-पूजा के विरुद्ध हैं। उनका शास्त्रार्थ कानपुर के पण्डितों से भी हुआ था, और अब उन्होंने काशी के पण्डितों को भी जीत लिया है।"

'ज्ञान-प्रदायिनी' पत्रिका लाहौर से निकलती थी। उसके चैत्र सवत् १९२६ के अङ्क में काशी-शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में प्रकाशित किया गया कि "इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित लोग मूर्ति-पूजा की आज्ञा वेदों में नहीं दिखा सके।"

'हिन्दू पेट्रियट' के पौष सु० १५ सं० १९२६ के अङ्क में काशी-शास्त्रार्थ के विषय में यह प्रकाशित हुआ कि 'कुछ काल हुआ राम-नगर के महाराज ने एक सभा बुलवाई। इसमें काशी के बड़े-बड़े पण्डित आहूत किए गये। वहाँ स्वामी दयानन्द और पण्डितों के बीच एक लम्बा वाद होता रहा। पण्डित लोग यद्यपि अपने शास्त्र-ज्ञान का अति गर्व करते थे, परन्तु हुई उनकी बड़ी भारी हार।"

स्वामी जी महाराज शास्त्रार्थ के पश्चात् भी सत्योपदेश देते रहे और अनेक सज्जन उनके सत्सङ्ग से लाभ उठाते रहे। यद्यपि काशी में घोषणा हो गई थी कि दयानन्द के पास कोई न जाय और जो जायगा वह पातकी हो जायगा, परन्तु जिज्ञासुओं ने जाना न छोड़ा। वाद-विवाद करने वाले पण्डित भी आते ही रहे।

यहाँ एक रामस्वामी मिश्र, महामहोपाध्याय निवास करता था। यह युवा अवस्था के प्रभाव से स्वामी दयानन्द के लिए बहुत ऊँच-नीच वचन बोला करता था। उसे गर्व था कि यदि मैं एक बार भी स्वामी दयानन्द से बातचीत करूँ तो उनसे प्रतिमा-पूजन आदि का खण्डन छुड़वाकर उन्हें सीधा कर दूँ। वह महाराज के पास आता इसलिए नहीं था कि उनका मुख देख लेने से पातक लग जायगा।

यह सोचकर कि अन्धेरे में दयानन्द का मुख देखे बिना भी उसे सीधा

किया जा सकता है, वह एक दिन, रात के समय स्वामी जी के पास आया और कहने लगा—"तेरे जैसे पतित पुरुष के साथ मैं देववाणी में बोलना पाप समझता हूँ। इसलिए देश-भाषा में बातचीत होगी, परन्तु पहले तुम्हें मेरी एक शर्त माननी पड़ेगी।"

स्वामी जी ने हँसकर कहा—"आप मुझे संस्कृत भाषा बोलने से तो रोकते हैं, परन्तु संस्कृत भाषा के शब्द तो बोलने देंगे? अच्छा, यही सही, अब आप अपनी शर्त कहिए।"

उसने कहा—"मैं अपने साथ एक छुरी लेता आया हूँ। वह दोनों के बीच रक्खी जायगी। जो शास्त्रार्थ में हार जायगा उसकी इस से नाक काट दी जायगी।"

स्वामी जी ने हँसते हुए कहा "पण्डित जी! एक शर्त मेरी भी मान लीजिए। वह यह है कि एक चाकू भी पास रख लिया जाय। जो हममें से हार जाय उससे उसकी जीभ काट ली जाय, क्योंकि नाक तो इन बातों में निर्दोष है। वाद-विवाद में जो कुछ अनर्थ होता है वह जीभ द्वारा ही होता है।"

कोई आध घड़ी तक स्वामी जी ने उसके साथ वार्त्तालाप किया। इससे वह इतना प्रभावित हुआ कि सरलता और सभ्यता से बर्ताव करने लग गया।

काशी में स्वामी जी मुसलमानी मत की भी त्रुटियाँ दिखाया करते थे। इससे कुछ मुसलमान बहुत रुष्ट हो गये थे। एक दिन सायं-काल, महाराज गङ्गा-तट पर आसन लगाये बैठे थे। उसी समय, दैव-योग से मुसलमानों की एक मण्डली भी वहाँ आ निकली। उस टोली में बहुत से मनुष्यों ने स्वामी जी को पहचान कर कहा कि यह वही बाबा है, जो कुछ दिन हुए हमारे मत के विरुद्ध व्याख्यान दे रहा था। उनमें से दो मनुष्य बहुत अधिक आवेश में आकर आगे बढ़े और स्वामी जी को उठाकर गङ्गा में फेंकने का यत्न करने लगे। उन दोनों व्यक्तियों ने दोनों हाथों से स्वामी जी की दोनों भुजायें, कन्धों के पास से दृढ़तापूर्वक पकड़ लीं। वे उन्हें झुलाकर गङ्गा धारा में फेंकना ही चाहते थे कि स्वामी जी ने अपनी दोनों भुजायें सिकोड़ कर अपने शरीर के साथ लगा लीं और वे बलपूर्वक आगे को उछल कर दोनों मनुष्यों सहित पानी में कूद पड़े! उन दोनों व्यक्तियों के हाथ कुछ काल तक तो शिकञ्जे में कसे रहे, परन्तु नदी में डुबकी लगाते समय, महाराज ने उन पर दया

दिखाकर उन्हें मुक्त कर दिया। वे दोनों मनुष्य बड़ी कठिनता से पानी से बाहर निकले और अपने साथियों के साथ, हाथ में मिट्टी के ढेले आदि लिये, बड़ी देरतक नदी-तट पर खड़े देखते रहे कि वह बाबा सिर निकाले तो उसे मारें ! स्वामी जी भी उनकी इच्छा को जानते थे। इसलिए, वे प्राणों को रोक पानी की पेंदी पर पद्मासन लगाकर बैठे रहे। अंधेरा हो जाने पर उस मण्डली ने मन में समझ लिया कि वह बाबा डूब गयाहै। इसलिए वे चले गये और स्वामी जी भी जल से निकल अपने आसन पर आ विराजे।

एक दिन एक मनुष्य ने भक्ति-भाव प्रदर्शित करते हुए स्वामी जी को भोजन लाकर दिया। स्वामी जी उस समय भोजन पा चुके थे, इसलिए उन्होंने वह स्वीकार न किया। तब उस कपटी भक्त ने कहा कि यदि भोजन ग्रहण नहीं करते तो यह पान तो ले लीजिए। महाराज उसके हाथ से पान का बीड़ा ले उसे खोल कर देखने लगे तो वह वंचक झटपट वहाँ से हिरण की भाँति भाग गया। इस पान की जाँच राज्य-औषधालय में कराई गई। वह उस पान में हल हल विष मिश्रित करके लाया था।

बनारस के बहुत से गुण्डे स्वामी जी के वध के लिए षड्यन्त्र रच रहे थे। उनको इस दुर्भावना का पता, घुणाक्षर-न्याय से, बाबा श्री जवाहरदास जी को भी लग गया। वे दौड़े हुए स्वामी जी के पास आये और समाचार सुनाकर बड़ी चिन्ता प्रकाशित करने लगे। स्वामी जी ने उन्हें कहा—"आप घबरायें नहीं, यह कोई नई बात नहीं है। मेरे साथ तो ऐसी बातें बहुत बीत चुकी हैं। जिन दिनों मैं घर में रहता था, उन दिनों, हमारे एक पड़ोसी भूमिहार ने हमारे एक खेत पर अपना अधिकार कर लिया। पिता जी ने जब पड़ोसी की इस धींगा-धींगी की बात मुझे सुनाई तो मैं आवेश से हाथ में तलवार लेकर उनपर जा टूटा। यद्यपि वे कई मनुष्य थे, परन्तु मेरे साहस के आगे उनके पाँव उखड़ गये और वे भाग निकले। अब भी, यदि यहाँ के गुण्डे इकट्ठे दस-पन्द्रह भी मुझ पर आक्रमण करेंगे तो उनको शान्त करने के लिए मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ।"

महाराज का हुङ्कारनाद ऐसा ऊँचा और तीव्र होता था कि पास बैठों को कानों में उङ्गलियाँ दे लेनी पड़ती थीं। एक दिन महाराज गम्भीर मुद्रा में हंस और हस्ती की चाल चलते भ्रमण करने जा रहे थे। उसी समय एक

हट्टा-कट्टा, डण्डपेल, महामल्ल समान, बलवान् मनुष्य उनके पीछे हो लिया। उसके हाथ में एक सुदृढ़ लठ्ठ भी था। जब महाराज ने पीछे पलट कर दृष्टि फिराई तो वह मनुष्य उन्हें घातक स्वभाव का जान पड़ा। श्री महाराज ने, वहाँ ठहरकर हुङ्कारनाद ऐसा गुंजाया कि वह उद्दण्ड मनुष्य भयभीत होकर, चीत्कार करता हुआ पिछले पाँव भाग गया।

जवाहरदास जी के साथ श्री स्वामी जी का बहुत वार्तालाप हुआ करता था। वे मित्रों की भाँति परस्पर मिला करते थे। उनके वार्त्ताविनोद में कभी-कभी उपहास-रस भी मिश्रित हो जाता था।

एक दिन का वर्णन है कि स्वामी जी जवाहरदास के डेरे पर जा पहुँचे। जवाहरदास जी के यहाँ उस समय भाँग का रगड़ा लग रहा था। महाराज को आते देख उन्होंने कूण्डी-सोटे को इधर-उधर छिपाने की बहुतेरी चेष्टा की, पर वे तो बहुत पास पहुँच चुके थे। महाराज ने हँसते हुए कहा—"अच्छा, यह शिव की बूटी है। क्या आप भी शिव बनना चाहते हैं, शिव बनने में लगता भी क्या है ? भाँग पीकर उसके मद में झूमते हुए 'शिवोऽहम्' का जाप और 'अहं ब्रह्मास्मि' का पाठ करने लग गये। बस, शिव बने-बनाये हैं।"

स्वामी जी ने बाबा जवाहरदास को यह भी कहा—"आप भी उपदेश करने लग जाइए." इसका उत्तर उन्होंने उपहास रस में कह दिया—"आपका तो कोई ठौर-ठिकाना है नहीं, इसलिए देश-देशान्तर में चक्कर लगाते फिरते हो। मैं डेरे वाला हूँ। मुझ से उपदेश का काम नहीं हो सकता।"

यह सुनकर स्वामी जी ने कहा—"महात्मन् ! यह स्थान और डेरा पहले भी आपके पास नहीं था और अन्त में भी नहीं रहेगा। बीच में यों ही ममता बाँधे बैठे हो। इसे छोड़ो और लोकहित के कार्य में लग जाओ।"

बाबा जवाहरदास जी प्रति-दिन स्वामी जी के समीप आया करते और उपनिषदों तथा वेदान्त पर वार्तालाप किया करते थे।

कठोर प्रकृति के मनुष्य भी प्रश्न पूछने आते और परुष-व्यवहार करते थे, परन्तु महाराज प्रशान्त स्वभाव से कोमल और मीठे शब्दों में उत्तर देते चले जाते थे। वे कटु अथवा परुष भाषण कदापि नहीं करते थे। उनके वचन में व्यक्तिगत कटाक्षों का नाम तक न होता था। उनका खण्डन साधारण और समुच्चय-रूप से हुआ करता था। उनकी वाणी में कोई अद्भुत आकर्षण था,

कोई अनिर्वचनीय प्रभाव था और कोई अलौकिक रसास्वाद था, जिससे उनके वचन सुनकर दुर्जन सज्जन बन जाता, पाषाण समान कठोर मनुष्य मोम हो जाता, प्रकोप से संतप्त जन शान्ति लाभ कर लेता और अति विरोधी भी वैर-बुद्धि छोड़कर श्री-चरणों की सेवा तक करने लग जाया करता था।

अपने सदुपदेशों से काशीवासी धर्म्माभिलाषियों को निहाल करके स्वामी जी प्रयाग के कुम्भ मेले पर प्रचार करने के लिए वहाँ से चल पड़े। यह मेला मकर संक्रान्ति को था।

: ३ :

दयामूर्ति दयानन्द का जन-भाषा में प्रचार का प्रण

माघ वदी ५ सं० १९२६ को श्री महाराज प्रयाग में पधारे और गङ्गा के तीर पर ही टिक गये। वहाँ आपने बड़ी धूमधाम से प्रचार का कार्य आरम्भ कर दिया। महाराज के व्याख्यानों में सैकड़ों साधु-सन्त भी आते थे। साधु, वेदान्त पर—निष्क्रियता-वाद पर—वादविवाद किया करते थे। एक दिन, एक साधु ने, स्वामी जी से प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग पर शास्त्रार्थ किया। उसको पराभूत करने के अनन्तर स्वामी जी ने अपने व्याख्यान में कथन किया, "क्रियात्मक जीवन ही शुभ जीवन है। सारा दृश्यमान जगत् अपनी नित्य क्रिया में निरन्तर प्रवृत्त है। हमारे शरीर भी इस विशाल सृष्टि के अंशमात्र हैं। जब विराट् देह में निरन्तर गति है, क्रिया है और प्रवृत्ति है तो हम जो उसके एक अंशरूप हैं उनमें निवृत्ति और निष्क्रियता का होना असम्भव है। आर्य धर्म में वेदविहित कर्मों का करना प्रवृत्ति-मार्ग और निषिद्ध कर्मों का त्यागना ही निवृत्ति मार्ग है। जो इस मर्म को मन में धारण किए बिना निवृत्ति का राग अलापते हैं, उन्हें अभी वैदिक धर्म का बोध ही नहीं हुआ है। जो लोग सत्योपदेश, प्रजा-प्रेम और लोक-हित के कार्यों को छोड़कर अपने को परम निष्क्रिय मानते हैं, उनसे भी देह का भरण-पोषण नहीं छूट सकता। मधूकड़ी मांगने के लिए वे भी दो-दो कोस तक जाते हैं। यों ही तीर्थों पर घूमते फिरते हैं। सच तो यह है कि सत्य और पर-कल्याण के लिए अपने सुखों का त्यागना—जीवन तक को लगा देना ही सर्वोत्तम त्याग है।"

महाराज ने यह भी कहा—परोपकार के बिना नर-जीवम मृग-जीवन से

उच्च नहीं है। सैंकड़ों साम्प्रदायिक साधु लोग इस मेले पर आये हुए हैं। ये गृहस्थों का नित्य आठ-आने का पदार्थ खाकर जङ्गल में पड़े रहते हैं। सोचिए तो सही, इनमें और मृगों में भेद ही क्या है। मृग भी तो इसी प्रकार किसानों के खेत नोचकर वनों में घुस जाया करते हैं। इस जीवन का लाभ ही क्या है ? यह तो पशु-पक्षियों को सहज ही से उपलब्ध है।"

महाराज उन दिनों अवधूत वृत्ति में रहा करते थे। माघ का घोर शीत पड़ता था, परन्तु उनके तन पर कौपीन से भिन्न कोई भी वस्त्र न था और न ही वे किसी का दिया हुआ वस्त्र ओढ़ते ही थे। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि शीत उनके समीप एक शब्द से बढ़ कर कुछ भी न था। लोग उनकी इस तपस्या को देखकर 'अहो आश्चर्यम् !' कहने लग जाते थे।

सारे मेले में स्वामी जी के प्रचार की बड़ी धूम थी। सैंकड़ों लोग अपनी देव-मूर्तियों पर से विश्वास हटा बैठे थे।

स्वामी जी में दया का भाव अतीव प्रबल था। दीन-दुःखियों को देखकर उनका हृदय तुरन्त द्रवीभूत हो जाता था। परोपकार की यह वृत्ति, वास्तव में धर्म-कर्म से रहित और दुःख-दारिद्रय से पीड़ित मनुष्यों को ही देखकर उन्होंने धारण की थी।

महाराज एक दिन गङ्गा-तट पर बैठे हुए प्रकृति का स्वाभाविक सौन्दर्य निहार रहे थे। उस समय उनके सामने एक स्त्री मरा हुआ बच्चा हाथों पर उठाए गङ्गा में प्रविष्ट हुई। कुछ गहरे जल में जाकर उसने बच्चे के शरीर पर लपेटा हुआ कपड़ा उतार लिया और बालक के निर्जीव कलेवर को 'हाय-हाय' के आर्त्तनाद के साथ पानी में प्रवाहित कर दिया।

स्वामी जी महाराज, उस समय अपने हृदय को थाम न सके। जब उन्होंने देखा कि वह स्त्री बच्चे के कलेवर पर लपेटे हुए कपड़े को धोकर वायु में सुखाती और रोती घर को जा रही है, उन्होंने खेद-सागर में निमग्न होकर मन ही मन कहा कि भारत देश इतना निर्धन, इतना कङ्गाल है कि माता अपने कलेजे के टुकड़े को तो नदी में बहा चली है, परन्तु उससे वस्त्र इसलिए नहीं बहाया गया कि उसका मिलना कठिन है ! इसके बिना उसका निर्वाह न हो सकेगा। इससे बढ़कर देश की दरिद्रता का दृष्टान्त मिलना दुर्लभ है। उस समय वहाँ महाराज ने प्रण किया कि कुछ काल तक, मैं इन्हीं लोगों की भाषा में प्रचार करके इनके दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूंगा।

प्रयाग के कुम्भ मेले पर प्रचार करने के उपरान्त श्री महाराज मिर्जापुर चले गये। वहाँ आप रामरत्न लड्ढा के उद्यान में उतरे। मूर्ति-पूजन और कुरीतियों का बड़े बल से खण्डन होने लगा। मिर्जापुर में बालकृष्णदास नामक एक वैरागी महन्त रहता था। वह महाभारत के संशोधन में लगा हुआ था। वास्तव में तो वह महाभारत के चौबीस सहस्र श्लोक रखना चाहता था, परन्तु उस समय उसने जो पुस्तक छपवाई थी उसमें तीस सहस्र ही श्लोक थे। उसने भगवद्गीता को भी प्रक्षिप्त समझकर निकाल दिया था।

सुगन्धिलाल नामक एक धनिक व्यक्ति गीता का बड़ा भक्त था। वह वैरागी बाबा की इस अनधिकार चेष्टा से बहुत ही चिढ़ गया। उसने बाबा जी के इस अनर्थ की दुहाई स्वामी दयानन्द जी के आगे आकर दी। महाराज ने कहा, "उसका गीता को प्रक्षिप्त कहना सत्य नहीं है। इस पर जब उसका जी चाहे शास्त्रार्थ कर ले।" छोटूराम नाम का एक व्यक्ति स्वामी जी से उपनिषद् पढ़ने आया करता था। उसने महाभारत की वह पुस्तक भी स्वामी जी को लाकर दिखा दी। महाराज ने सबके सामने उस पुस्तक को दोषपूर्ण सिद्ध कर दिया। छोटूराम ने बाबा जी को भी स्वामी जी की सम्मति सुना दी। इससे बाबा जी रुष्ट तो बहुत हुए, परन्तु शास्त्रार्थ से यह कहकर टलते रहे कि हम दूसरे के स्थान पर नहीं जाया करते। स्वामी जी ने उन्हें बहुतेरा कहलाया कि यह स्थान भी हमारा नहीं है। यहाँ नहीं आ सकते तो पास के उद्यान में आ जाइये अथवा गङ्गा के पुलिन पर बैठकर विचार कर लीजिये, परन्तु बाबा जी ने एक न मानी। वह इतना भयभीत हुआ कि जिस मार्ग पर स्वामी जी आया-जाया करते थे, उसने उधर आना ही छोड़ दिया।

स्वामी जी के धर्म-प्रचार से बहुत से मतवादी विरोध करने लगे थे। जैसे भी बन पड़े उन्हें दुःख देने में आगा-पीछा कुछ भी न देखते थे।

उन्हीं दिनों में एक ओझा, मन्त्र-शास्त्री मिर्जापुर में आकर ठहरा हुआ था। उसने प्रसिद्ध कर दिया कि मेरे पास ऐसे सिद्ध मन्त्र-यन्त्र हैं कि यदि कोई उनका पुरश्चरण कराये तो इक्कीसवें दिन, निश्चय रूप से, दयानन्द का देहपात हो सकता है! लोग उसके मारण, मोहन और उच्चाटन आदि के कोरे ढोंग में विश्वास भी करते थे। एक सेठ ने ओझा जी को कह दिया कि जो भी व्यय हो मुझसे लेते जाइये और स्वामी दयानन्द पर विधिपूर्वक मन्त्र-

प्रयोग चलाइये। अतः वह मन्त्र-शास्त्री स्वामी जी पर मन्त्र-प्रयोग चलाने की क्रियायें करने लगा।

ओझा के मन्त्र-प्रयोग का समाचार लोगों ने श्री स्वामी जी को भी दे दिया। परन्तु, वे ऐसी भ्रममूलक लीलाओं से भला, कब चलायमान होने लगे थे। मन्त्र-प्रयोग करते अभी तीन-चार ही दिन होने पाये थे कि दैवयोग से मन्त्र-प्रयोग बैठाने वाले सेठ के गले पर एक फोड़ा निकल आया। वह दिनों-दिन भयङ्कर रूप धारण करता चला गया। यहाँ तक कि उसको खाने-पीने, थूकने और बोलने-चालने में भी अति कष्ट होने लगा। एक दिन ओझा उसके पास गया और कहने लगा कि प्रयोग-समाप्ति का दिन समीप आ गया है। बलिदान की सामग्री प्रस्तुत करा दीजिये। समाप्ति पर जब विधि से इधर बलि दी जायगी तो उसी समय, उधर दयानन्द का सिर धड़ से कटकर भूमि पर गिर पड़ेगा!

उस सेठ ने बड़ी कठिनता से बोलकर कहा कि मन्त्र-शास्त्री जी! दयानन्द का सिर तो गिरते ही गिरेगा, परन्तु मेरा तो अभी गिरा ही चाहता है। पीड़ा के मारे मेरे तो प्राण निकले जाते हैं। कृपा करके आप अपना पुरश्चरण बन्द कर दीजिये। इस प्रकार वह मन्त्र-प्रयोग बीच में ही अधूरा छोड़ दिया गया।

मिर्जापुर में एक छोटूगिर नाम का गुसांई निवास करता था। वह प्रचण्ड प्रकृति का, एक उद्दण्ड मनुष्य था। एक दिन वह और जगन्नाथ मालवीय, सैकड़ों मनुष्यों को साथ लिये स्वामी जी के स्थान पर चढ़ आये। छोटूगिर आते ही स्वामी जी के पाँव पर पाँव रखकर बैठ गया और मुख से ऊटपटाँग बातें बकने लगा। महाराज ने पूछा कि यह मनुष्य कौन है? जगन्नाथ ने उत्तर में कहा कि काशी के विश्वनाथ के समान ही यहाँ बूढ़े महादेव हैं; उनका यह पुजारी है। स्वामी जी ने यद्यपि उनके कलह-प्रिय अन्तःकरण और द्वेष-दूषित दृष्टि को अपने दिव्य नेत्रों से पहले ही देख लिया था, परन्तु गुसांई की चेष्टा से उन्हें पूरा प्रमाण मिल गया कि उनके आने का प्रयोजन केवल लड़ाई लड़ना ही है। तब उन्होंने और भी बलपूर्वक विश्वनाथ आदि मन्दिरों तथा मूर्त्तियों का खण्डन आरम्भ कर दिया।

स्वामी जी के समीप एक दोने में बताशे रक्खे थे। गुसांई ने उन पर भी हाथ डाला। महाराज ने उसे कहा कि यदि आप खाना चाहते हैं तो बीच

में से मुठ्ठी भरकर ले लीजिये और प्रसन्नता से खाइये, परन्तु एक-एक करके खाने से जूठे मत कीजिये। छोटूगिर तो आया ही लड़ने-झगड़ने के लिए था। उसने स्वामी जी के कथन पर कुछ ध्यान नहीं दिया और एक-एक बताशा उठाकर खाता रहा। स्वामी जी ने उसे ऐसा करने से रोका, परन्तु वह तो कलह उत्पन्न करने के लिये सब बहाने बना रहा था। स्वामी जी को झिड़ककर बोला कि बच्चा हमारी जूठन से घृणा करते हो! हम तुम्हारे गुरु हैं। किंचित् ठहर जाओ, आज तुम्हें खण्डन का सारा स्वाद चखा देते हैं।

स्वामी जी उसकी ऐसी गीदड़-भवकियों से भयभीत होने वाले नहीं थे। वे किसी भी अत्याचारी का डर और दबाब नहीं माना करते थे। उन्होंने देखा कि यह गुसांई सिर चढ़ा जाता है तब उन्होंने उसे डाँटकर कहा, "तुम मुझे डराना चाहते हो! मैं यदि डरने वाला होता तो देशान्तरों में घूमकर प्रचार कैसे कर सकता?" उस समय स्वामी जी ने सिंहनाद से अपने सेवक को कहा—"बाहर के किवाड़ बन्द कर दो। मैं अकेला ही इन सबको सीधा करके छोड़ूँगा!"

उस समय महाराज का वदन तेजोमय हो गया, उनकी आँखें उद्दीप्त दीपक की भाँति चमकने लगीं। उस दिव्य आकृति को देखकर छोटूगिर का हृदय काँप उठा। उसकी सारी हेकड़ी टूट गई और वह भलमनसी से पीछे हट कर बैठ गया।

जगन्नाथ ने हाथ जोड़कर स्वामी जी से विनय की—"हम कैसे जानें कि प्रतिमा-पूजन अच्छा नहीं है?" स्वामी जी ने उत्तर दिया, "मूर्त्ति-पूजन के लिए वेद में कोई आज्ञा नहीं है। और ईश्वर सर्वत्र है, उसे कोई वश में नहीं कर सकता। तुम मूर्त्तियों को ईश्वर मानते हो और फिर अपने हाथ से ताला लगाकर उन्हें मन्दिर में बन्द कर देते हो। तुम्हीं सोचो कि इनमें ईश्वरीय शक्ति कहाँ है? वे न वर दे सकती हैं और न शाप। जड़रूप हैं। यदि कल्याण चाहते हो तो हृदय में परमात्मा का पूजन किया करो।"

अन्त में जगन्नाथ ने नमस्कार करके कहा—"हमें लोगों ने बहका रक्खा था कि आप राम, कृष्ण आदि के विरुद्ध बोलते हैं। परन्तु यह तो आज ही ज्ञात हुआ है कि आप केवल मूर्त्तियों का खण्डन करते हैं।" तत्पश्चात् वे लोग चले गये।

छोटूगिर को सारा घमण्ड स्वामी जी के पास तो खण्ड-खण्ड हो गया था, परन्तु घर में जाकर वह फिर स्वामी जी का अनिष्ट चिंतन करने लगा। एक रात उसने दो बलिष्ठ मनुष्य स्वामी जी को सताने के लिए भेजे। जब वे स्वामीजी के निवास-स्थान पर पहुँचे तो उस समय महाराज पण्डित रामप्रसाद जी को कुछ शास्त्रीय रहस्य समझा रहे थे। वह उजड्ड गुण्डे बार-बार हँसने और छेड़-छाड़ करने लगे। एक-दो बार तो महाराज ने उन्हें कोमल शब्दों से समझाया, परन्तु जब देखा कि ये टलने ही में नहीं आते तो स्वामी जी ने, प्रबल हुङ्कार-गर्जना की। जैसे मिथिला में श्रीराम के धनुष-टङ्कार से सारी सभा कम्पित हो गई थी और दिशामूढ़ बन गई थी, उसी प्रकार स्वामी जी के हुङ्कार से वे दोनों पामर पुरुष काँप उठे और मूर्च्छा खाकर भूमि पर गिर पड़े! उस समय रामप्रसाद जी को भी अपने दोनों कानों में उङ्गलियाँ डाल लेनी पड़ीं।

महाराज और रामप्रसाद जी ने उन उद्दण्डों को जल के छींटे देकर सचेत किया। जब वे उठकर बैठे तो पसीना-पसीना हो रहे थे और उनका मूत्र-पुरीष भी निकल चुका था।

स्वामीजी ने कहा कि संन्यासी लोग किसी को मारा पीटा नहीं करते, इसलिए डरो नहीं। कपड़े सम्भालकर निर्भयता से चले जाओ।

एक दिन, कुछ पण्डितों ने स्वामी जी को एक पत्र भेजा। उस पत्र में, उन्होंने उसी दिन शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रगट की और साथ ही स्वामी जी को धमकी दी कि यदि वाद के समय तुमने मूर्ख आदि कोई शब्द कहा तो तुम्हें तत्काल दण्ड दिया जायगा।

महाराज ने उनके पत्र को अशुद्धियों से पूर्ण पाया और कहा, कि धर्म-चर्चा करने का तो बालक को भी अधिकार है, परन्तु गोविन्द भागवत-पाठी ऐसे मिथ्याभिमानियों का तो गर्व तोड़कर, उन्हें मूर्ख सिद्ध करना ही पड़ता है।

पत्र भेजने के दो घण्टे के पश्चात् पण्डित लोग स्वामी जी के पास आ गये और शिष्टाचार आदि के अनन्तर गोविन्द भट्ट ने भागवत विषय में बातचीत की, परन्तु उसे थोड़ी ही देर में चुप हो जाना पड़ा। फिर देर तक प्रतिमा-पूजन पर शास्त्रार्थ होता रहा। स्वामी जी ने वेद के प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता और उसकी कोई प्रतिमा नहीं।

पण्डित पराभूत होकर शान्ति से चले गये।

यहाँ पण्डित गजाधर से वार्त्तालाप करते समय महाराज ने मनुस्मृति में आये 'चक्री' शब्द का अर्थ कुलाल किया। इस पर गजाधर ने कहा कि इसका अर्थ तेली है और कुल्लूक ने भी तेली ही अर्थ किया है। स्वामी जी ने हँसकर कहा कि कुल्लूक तो उल्लूक है, उसकी बात जाने दो। आप यह तो सोचो कि तेली के पास चक्र नहीं होता, वह कोल्हू से काम करता है। चक्र कुम्हार ही के पास होता है, इसलिए उसी का नाम चक्री है।

एक मनुष्य ने स्वामी जी से पूछा जीवात्मा परमेश्वर हो जाता है कि नहीं ? महाराज ने उसे कहा कि यह अति सूक्ष्म प्रश्न है, तुम्हारी बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकती।

मिर्जापुर में स्वामी जी के उपदेशों से अनेक मनुष्य सुधर गये। निराकार परमात्मा का आराधन और चिन्तन करने लग गये। बीसियों मनुष्यों ने मूर्ति-पूजन त्याग दिया। सन्ध्योपासन आदि नित्य कर्म धारण कर लिये।

: ४ :

जगद्गुरु दयानन्द की अगाध अनुराग-धारा

ज्येष्ठ संवत् १९२७ के आरम्भ में स्वामी जी मिर्जापुर से प्रस्थान कर गङ्गा के किनारे विचरते हुए बनारस जा पहुँचे, और दुर्गा कुण्ड के निकट लाला माधोदास के उद्यान में ठहरे।

काशी में जाकर स्वामी जी ने 'अद्वैत मत खण्डन' नामक एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित कराई। उस पुस्तक ने मायावाद के मानने वालों में बड़ी हलचल उत्पन्न कर दी। इस विषय पर भी अनेक भद्र जन स्वामी जी से शास्त्र-चर्चा करते रहे।

काशी से स्वामी जी एक बार मिर्जापुर गये और वहाँ ज्येष्ठ मास में एक पाठशाला स्थापित करके पुनः काशी लौट आये।

महाराजा ईश्वरीनारायणसिंह जी ने, एक दिन स्वामीजी के पास अपना मनुष्य भेजकर, उनके दर्शनों की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी ने इस विषय पर बावा जवाहरदास से सम्मति ली कि महाराजा के पास जाना चाहिए या नहीं। जवाहरदास जी ने कहा कि शास्त्रार्थ में आपके साथ जो अनीति और

अनुचित व्यवहार हुआ है, महाराजा अब आपका सम्मान करके, उसका प्रायश्चित्त करना चाहते हैं। उन्हें पश्चात्ताप भी हुआ है। परन्तु अच्छा तो यही है कि वे आपके आश्रम पर आकर क्षमा मांगें।

एक दिन महाराजा के मनुष्य गाड़ी लेकर स्वामी जी को लेने आ गये। स्वामी जी यह सोचकर कि हमारी ओर से उनके मन में कोई उद्वेग न बना रहे, गाड़ी में आरूढ़ हो गये। स्वामी जी के दर्शनों के लिए कामाक्षा देवी का स्थान नियत किया गया था। जब महाराजा ने स्वामी जी को आते देखा तो उठ खड़े हुए और आगे जाकर स्वागत किया। स्वामी जी को सम्मानपूर्वक भीतर लाकर एक सुवर्ण-सिंहासन पर बैठाया। उनके गले में अपने हाथों से एक पुष्पमाला पहराई और सादर नमस्कार करके आप भी, पास के एक रजत-सिंहासन पर बैठ गये।

इसके अनन्तर महाराजा ने हाथ जोड़कर स्वामी जी से विनय की कि हमारे कुल में मूर्त्ति-पूजन परम्परा से चला आता है। मैं भी बाल्यकाल से श्रद्धापूर्वक कुल-धर्म्म का पालन करता हूँ। इसलिए चिरकाल के धर्म्मानुराग से ही शास्त्रार्थ में आपकी अवज्ञा हो गई थी। आप संन्यासी हैं इसलिए क्षमा कर दीजिए। स्वामी जी ने गम्भीर भाव से कहा कि हमारे मन में इन बातों का लेश-मात्र भी संस्कार नहीं है।

अन्य भी अनेक बातें होती रहीं और अन्त में जब स्वामी जी चलने लगे तो महाराजा ने बहुत-सी रजत-मुद्रायें और केले, मुरब्बे आदि भोज्य पदार्थ स्वामी जी को भेंट किये और बड़े आदर से गाड़ी में बैठाकर उनको विदा किया। इस बार स्वामी जी कोई ढाई मास काशी में ठहरे।

काशी से चलकर श्री महाराज पर्यटन करते हुए कासगञ्ज में जा सुशोभित हुए। वहाँ महाराज ने अपनी सबसे पहली स्थापित की हुई वैदिक पाठशाला का निरीक्षण किया। स्वामी जी की पाठशालाओं में निम्नलिखित नियमों का पालन कराया जाता था।

१. विद्यार्थियों को सन्ध्या सिखाकर पाठशाला में प्रविष्ट किया जाय और इसी से उनकी बुद्धि की भी परीक्षा कर ली जाय।

२. अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति और वेद पढ़ायें जायें।

३. यदि विद्यार्थी सूर्योदय से पहले उठकर संध्या न कर ले तो उसे उस

दिन सायंकाल की सन्ध्या कर लेने के पूर्व भोजन न दिया जाय और उसकी देखरेख भी की जाय कि वह कहीं पास की बस्ती में जाकर भोजन न खा आवे।

४. विद्यार्थियों को नगर में जाने की आज्ञा नहीं, परन्तु न्योते में जा सकते हैं।

५. इस पाठशाला के द्रव्य से, बाहर से आये हुए ही विद्यार्थियों को भोजन मिले।

६. अध्ययन में परिश्रम करने वाले विद्यार्थी के भोजन का विशेष प्रबन्ध कर दिया जाय।

स्वामी जी महाराज अपने विद्यार्थियों तथा साथ रहने वाले पण्डितों और सेवकों को भी छोटे-छोटे पापों से बचने के लिए शिक्षा दिया करते थे। उन दिनों पण्डित रामप्रसाद स्वामी जी के साथ ही रहा करता था। कासगञ्ज में एक दिन स्वामी जी स्नान के लिए एक समीप के उद्यान में जा रहे थे। उस समय रामप्रसाद स्नान के उपकरण उठाये महाराज के पीछे-पीछे चला आता था। एक पका हुआ आम पेड़ से गिरकर मार्ग में पड़ा था। महाराज तो उसे लांघ गए, परन्तु पाछे आते रामप्रसाद का मुख लालायित हो गया। उसने झुककर वह फल उठा लिया स्वामी जी ने उसकी इस क्रिया को देखकर उसे कहा, "रामप्रसाद ! यह उद्यान तुम्हारा घर का नहीं है। इसलिए पराया फल उठाकर तुमने इक प्रकार की चोरी की है।" अपने स्थान पर आकर स्वामी जी ने उसपर एक रुपया दण्ड भी लगा दिया।

एक दिन स्वामी जी बाजार में चले जा रहे थे। उस समय सामने से एक बलिष्ठ साँड आ निकला। वह साँड मारा करता था और मनुष्यों के पीछे भी दौड़ता था। सब लोग मारे डर के चबूतरों पर चढ़ गए और स्वामी जी को भी ऐसा ही करने के लिए पुकार-पुकार कर कहने लगे। परन्तु स्वामी जी एक पांव भी इधर-उधर न हुए। सीधे साँड की ओर चलते गए। जब उसके बहुत निकट पहुँच गए तो साँड आप ही मार्ग छोड़ कर एक ओर से निकल गया। स्वामी जी के दृढ़ धैर्य्य और निर्भयता पर सारा बाजार आश्चर्य-चकित हो गया। चैनसुख ने कहा, "स्वामी जी ! यदि साँड सींग चलाता तो आप क्या करते ?"

महाराज ने हँसकर कहा "और क्या करते ? सींग पकड़कर उसे परे धकेल देते।"

स्वामी जी महाराज ने यहाँ चिरकाल तक निवास किया। उनके सत्सङ्ग से अनेक सज्जनों ने लाभ उठाया। परन्तु चैनसुख जी ने श्री-सेवा और सत्सङ्ग का सबसे अधिक लाहा लूटा। वह ऐसा निहाल हुआ कि स्वामी जी की सङ्गति के प्रभाव से संस्कृत भाषा में बात-चीत तक करने के योग्य हो गया।

कासगंज पाठशाला का जब पूरा प्रबन्ध हो गया तो एक दिन स्वामी जी चुपचाप वहाँ से प्रस्थान कर गए और ग्रामानुग्राम विचरते हुए रामघाट में आ विराजे।

छलेसर में सबसे बड़े भूमिहार ठाकुर मुकुन्दसिंह जी थे। वे बड़े विचारवान् सज्जन थे। छलेसर के इधर-उधर चौहान राजपूतों के कोई साठ के लगभग गाँव हैं। उन सबमें मुकुन्दसिंह जी सम्मानित नेता थे। छोटे-बड़े सभी उनकी बात मानते थे। नाती-गोती सभी अपने झगड़े-रगड़े उनसे निपटाते थे। उनके पास राजपूतों की सदा भीड़ लगी रहती थी।

ठाकुर मुकुन्दसिंह जी ने संवत् १९२५ में कर्णवास में श्री स्वामी जी के दर्शन किये थे। यद्यपि, उस समय उन्हें दो घण्टे ही श्री-सेवा में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और वे बहुत थोड़ा उपदेश सुन सके थे, परन्तु उतने ही से उनके विवेक-नेत्र खुल गए थे; उन्हें सत्य का प्रकाश प्राप्त हो गया था।

मुकुन्दसिंह जी के हृदय में स्वामी जी के लिए अगाध अनुराग और गाढ़-भक्ति उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने छलेसर में जाकर अपनी भूमिहारी के कोई बीस स्थानों से मूर्तियाँ उठवा कर पास बहती कालिन्दी नदी के तलालीन कर दी थीं। वे अपने विचारों का प्रचार भी करने लग गये थे। उनके भाई मुन्नासिंह जी भी स्वामी जी के अनुरागी होगए थे। उनकी प्रबल कामना थी कि स्वामी जी को छलेसर में लाकर उनकी सेवा करें। उन्होंने जब सुना कि श्री गुरुदेव रामघाट में विराजमान हैं तो उन्हें अतीव प्रसन्नता प्राप्त हुई। ठाकुर मुकुन्दसिंह जी ने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी संवत् १९२७ को रामघाट में जाकर स्वामी जी से छलेसर पधारने के लिए, बड़े भक्ति-भाव से प्रार्थना की। भगवान् ने अपने अनन्य भक्त की विनती स्वीकार कर ली और मार्गशीर्ष मास में वहाँ पहुँचने का वचन दे दिया। ठा० मुकुन्दसिंह जी ने छलेसर लौट-

कर जब स्वामी जी के शुभागमन का सु-समाचार अपने भाई और इष्ट-मित्रों को सुनाया तो सभी के मन आनन्द में हिलोरे लेने लगे।

चार मार्गशीर्ष को स्वामी जी को छलेसर पधारना था। उस दिन सवेरे ही से सारे नगर में प्रसन्नता का सागर उमड़ आया था। सभी ग्राम-वासियों के मुख-कमल एक पवित्र प्रमोद से प्रफुल्लित हो रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि आज इस गाँव में कोई पवित्रता और धर्म्म का अवतार आ रहा है।

स्वामी जी के स्वागत के लिए कोई ढाई सौ मनुष्य नंगे पाँव डेढ़ कोस तक आगे गये और कालिन्दी-तीर पर महाराज के दर्शन करके सबने चरण छूकर नम्रीभूत नमस्कार किया। ठाकुर मुकुन्दसिंह जी ने महाराज के गले में पुष्पों की माला पहराई और अपने दाहिने हाथ से सिर पर छत्र करके पालकी में बैठने की विनती की। स्वामी जी सब भक्तों के मुख-मण्डल को अपने मधुर वचनामृत से सींचते हुए बोले कि आप सबके साथ हम भी पैदल ही चलेंगे।

उस दिन सारे गाँव में एक महोत्सव मनाया जा रहा था। बूढ़े, बच्चे और युवा, सभी नर-नारी अपने घरों के आगे खड़े होकर, छत्तों पर चढ़कर महाराज के शुभागमन की बाट जोह रहे थे। जब महाराज गाँव में पधारे तो जैसे चाँद को देखकर चकोर प्रसन्न होता है, ऐसे ही सबके चित्त प्रसन्नता के पूर से भरपूर हो गये। स्वामी जी की स्वागत-यात्रा, छलेसर वासियों को कृतार्थ करती हुई गाँव में से घूमकर, बाहर पश्चिम की ओर एक उद्यान में जाकर ठहर गई। उसी उद्यान में स्वामी जी का निवास नियत किया गया था। पहला मकान साधारण-सा था। इसलिए मुकुन्दसिंहजी ने थोड़े ही दिनों में स्वामी के लिए एक नया सुन्दर निवास-स्थान बनवा दिया। उसके आगे अनुमान से बीस गज लम्बा और बीस गज चौड़ा चबूतरा निर्माण हुआ। उस चबूतरे पर प्रति चौथे पहर एक सुन्दर और स्वच्छ जाजम बिछ जाती। फिर एक उत्तम चौकी लगाकर उसपर कालीन डाली जाती और उसपर बैठकर महाराज लोगों को उपदेश देते थे।

ठाकुर श्री मुकुन्दसिंह जी तथा श्री मुन्नासिंह जी ने यद्यपि पहले यज्ञोपवीत लिया हुआ था परन्तु स्वामी जी की अतुल भक्ति के कारण, अपनी बिरादरी के अनेक राजपूतों सहित, उन्होंने स्वामी जी के हाथ से दुबारा जनेऊ धारण किया और उन्हें विधि-पूर्वक गुरु बनाया। बहुत लोगों ने उस समय

कण्ठियाँ उतार दीं। जिससे विरोधियों ने यह समाचार फैलाना आरम्भ कर दिया कि स्वामी जी जनेऊ उतरवाते हैं। परन्तु थोड़े ही दिनों में लोगों को सचाई का ज्ञान हो गया।

सैकड़ों राजपूत नित्य दूर-दूर से स्वामी जी का उपदेश सुनने आते और मुकुन्दसिंह जी उन समागत भाइयों का वड़े भाव से आतिथ्य किया करते थे। वहाँ स्वामी जी के साथ धर्म्म-चर्चा करने के लिए कई मौलवी और काज़ी भी आते थे। महाराज संस्कृत ही में उत्तर देते थे। परन्तु पण्डित लोग अनुवाद करके उन्हें समझा देते थे, जिससे उन्हें पूरा सन्तोष हो जाता था।

स्वामी जी के पधारने के कुछ दिन पश्चात्, वहाँ भी वैदिक पाठशाला स्थापित हो गई। उस पाठशाला में वीस विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। ब्राह्मण वालक तो भोजन भी वहाँ से पाते थे, परन्तु क्षत्रियों के पुत्रों का अपना प्रबन्ध था।

ठाकुर मुकुन्दसिंह जी तथा मुन्नासिंह, जब तक सवेरे स्वामी जी का शुभदर्शन न पा लेते तबतक जलपान भी न करते थे। जब ये स्वामी जी के पास जाते तो बड़ी दूर जूता उतारकर आगे आते और स्वामी जी के चरणों को छूकर नमस्कार किया करते। वहाँ से, लौटते समय भी विधि-पूर्वक नमस्कार करके लौटते और महाराज की ओर पीठ नहीं करते थे।

श्री भगवान् अपने भक्तों के घरों के सुधार का भी यत्न किया करते थे। उनके प्रेमी मुकुन्दसिंह जी अपने पुत्र चंदनसिंह से कुछ रुष्ट रहते थे। जब श्री स्वामी जी को इस बात का पता लगा तो उन्होंने मुकुन्दसिंह जी को कहा, "पिता को विशेष कोमल होना चाहिए। छोटे यदि छोटापन करें, तो बड़ों को भी अपना बड़प्पन त्याग देना उचित नहीं। सन्तान के साथ वैमनस्य रखना सांसारिक सुख को किरकिरा कर देना है—फीका बना देना है। परस्पर की ऐंचातानी से अन्त में स्नेह-सूत्र छीज जाया करता है। आपको उचित है कि अपने पुत्र के लिए वात्सल्य-भाव प्रकाशित करें।"

इस प्रकार उपदेश देकर महाराज ने चंदनसिंह को मुकुन्दसिंह जी की गोद में बैठा दिया और पिता-पुत्र का मनमुटाव मिटाकर मेल करा दिया।

स्वामी जी महाराज के लिए उत्तम भोज्य पदार्थों का थाल, प्रति दिन समय पर, ठाकुरों के यहाँ से आ जाया करता था। एक दिन स्वामी जी

चबूतरे पर बैठे थे और उनके भोजन के आने में कुछ देर थी। उस समय एक कृषक मक्का की मोटी-मोटी रोटियाँ लिये अपने खेत को जा रहा था। मार्ग में मुनिराज को बैठे देख उसके हृदय में भक्ति भाव उमड़ आया। उसने आकर महाराज को नमस्कार किया और विनती की कि भगवन्! आज मेरा अन्न ग्रहण करके इस तुच्छ किसान को भवसागर से पार उतारिये। स्वामी जी ने अति प्रसन्नता से, वहीं बैठे अपने हाथों पर उससे मक्का की एक मोटी रोटी ले ली, और वे अतीव रुचि से उसका भोग लगाकर तृप्त हो गये।

महाराज के इस अनुग्रह से उस कृषक का हृदय गद्गद हो गया, तन पर रोमांच हो आया, उसकी आँखें अनुराग-रस के पानी-पूर से परिपूर्ण हो गईं।

छलेसर में धर्म्म-प्रचार करते हुए महाराज ने वहाँ की चौहान बिरादरी को पूर्ण प्रभावित कर दिया। सैकड़ों राजपूतों ने उनसे गायत्री गुरु मन्त्र ग्रहण किया। सहस्रों मनुष्य आपके अनुयायी हो गये। महाराज वहाँ एक मास से अधिक ठहरे। जिस दिन महाराज ने प्रस्थान करना था, दैवयोग से उस दिन आकाश में बादल घिरे हुए थे और बूँदाबांदी भी हो रही थी। ठाकुरों ने अनुरागवश बहुत ही विनय की कि भगवन्! आज का दिन और ठहर जाइए। परन्तु स्वामीजी दृढ़-संकल्प थे। "जिस दयानन्द ने अपने बन्धुओं की मोह-ममता की सुदृढ़ शृंखला को तोड़कर खण्ड-खण्ड कर दिया है आज वह तुम्हारे स्नेह के तार से कैसे बंध सकता है?" यह कहते हुए वे वहाँ से चल पड़े। भक्त लोग महाराज को बहुत दूर तक पहुँचाने गए। पीछे लौटते समय ठा० मुकुन्दसिंह जी और मुन्नासिंह जी ने महाराज के चरणों की रज अपने भाल पर रमाई। वे नेत्रों से, अविरल अश्रुधारा मोचन करने लगे। उनका कण्ठ रुक गया और वे भगवान् की विरहवेदना से व्यथित दिखाई देने लगे।

महाराज अपने प्रेमियों को व्याकुल देखकर स्नेह-रस से सने हुए शब्दों में सम्बोधन करके बोले—"इतने अधीर क्यों होते हो? अभी तो कई बार छलेसर में आना होगा। संन्यासी पवन की भांति अप्रतिबन्धविहारी होते हैं। उनसे इतनी ममता बाँधना दुःख ही उठाना है। जब तुम मेरे कथनों पर चलोगे, अपने चरित्र को उच्च बनाओगे और परोपकार के कार्य में रत रहोगे तो मैं आप से दूर नहीं हूं। आपके समीप ही हूं।"

इस प्रकार भक्तजनों को ढाढस बंधाकर महाराज आगे चल पड़े और विचरते हुए सोरों जा पहुंचे। वहाँ चार मास निवास करने के अनन्तर भ्रमण करते हुए फर्रुखाबाद में आ विराजमान हुए।

फर्रुखाबाद में स्वामीजी ने पाठशाला का निरीक्षण किया। पाठशाला का एक कर्मचारी विद्यार्थियों को मारा-पीटा करता था, वह पक्षपाती भी था। महाराज उसे निकाल देना चाहते थे, परन्तु प्रबन्धकर्त्ता सेठ पन्नालाल जी ऐसा करने के लिए उनके साथ सहमत न थे। स्वामी जी को अन्त में पाठशाला का प्रबन्ध-परिवर्तन करना पड़ा। उन्होंने मिर्जापुर से पण्डित युगलकिशोर जी को बुलाकर मुख्याध्यापक बनाया और प्रबन्ध का कार्य श्री निर्भयराम जी को सौंप दिया।

फर्रुखाबाद की पाठशाला के प्रबन्ध से निश्चिन्त होकर स्वामी जी कर्णवास आदि स्थानों में पर्यटन करते हुए भाद्रपद सुदी चौदस संवत् १९२८ को अनूपशहर में पधारे। जब लाला बाबू की कोठी में उतरने लगे तो महाराज ने उस स्थान के नौकर को कहा कि यहाँ गोरा लोग आदि सभी आकर ठहरते हैं, इसलिए इसको भीतर से धो डालो उसने जब भीतर के सारे भाग को बराण्डे सहित धो डाला तब महाराज ने भीतर आसन लगाया।

एक दिन कुछ लोग सूर्य को अर्घ दे रहे थे। स्वामीजी ने उनसे कहा "अरे भोले भाइयो! जल में जल क्यों देते हो? यदि किसी पेड़ को पानी दो तो कुछ लाभ हो सकता है।"

इस बार स्वामीजी ने यहां अवतारवाद का बलपूर्वक खण्डन किया। अनूपशहर से चलकर स्वामीजी कार्तिक मास संवत् १९२८ को कर्णवास में सुशोभित हुए। यहाँ ठाकुरों के कई लड़के यज्ञोपवीत लेने को समुद्यत थे। इसलिए स्वामीजी की आज्ञा से कोई बारह पण्डित जप करने पर बैठाये गये। सात दिन तक बृहद् हवन होता रहा। फिर महाराज ने पन्द्रह मनुष्यों को जनेऊ धारण कराया। उस समय स्वामीजी ने कुमारों को ब्रह्मचर्य-अवस्था तक विवाह न करने का उपदेश दिया और जो विवाहित थे उनको आदेश किया कि नियम से गृहस्थ-धर्म्म का पालन करना। अपनी पत्नी के बिना दूसरी स्त्री को स्वप्न में भी ध्यान में न लाना।

ठाकुर कैथलसिंह रात को भी स्वामीजी की सेवा में उन्हीं के स्थान में

रहते थे। उन्हीं दिनों में बरौली के राव कर्णसिंह शरत्पूर्णिमा का स्नान करने के लिए, बहुत दिन पहले ही वहाँ आ गये थे। इस बार उनके साथ नाचरङ्ग की सामग्री लिये वेश्यायें भी थीं। राव महाशय का उतारा स्वामीजी के आसन से कोई डेढ़ सौ पग के अन्तर पर बारहदरी में था। वे स्वामीजी से पहले ही चिढ़े हुए थे। इस बार भी महाराज को सताने के उपाय सोचने से पराङ्मुख न थे। वे वैरागियों को स्वामीजी पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित करते रहते थे।

कर्णवास में मौज बाबा नामक एक अत्युत्तम महात्मा रहते थे। किसी कारण से उनके दोनों नेत्रों की ज्योति जाती रही थी। वे बड़े मस्त सन्त थे। शिशुवत् दिगम्बर विचरते। जब गङ्गा स्नान करने लगते तो स्त्रियाँ भी उन्हें मल-मल कर नहलाने लग जातीं और वे 'छोड़ो माँ' कहते हुए भूमि पर गिर जाते। उनकी वासनाएं शान्त थीं। भेद-भावना उनमें नहीं थी। वे प्रायः मौन रहते और पक्के घाट पर निवास करते थे। सभी लोग मौज बाबा को योगी मानते थे। स्वामीजी महाराज और मौज बाबा, दोनों गंगा के पावन पुलिन पर बैठे घण्टों वार्त्तालाप करते रहते। उस समय वे किसी भी दूसरे मनुष्य को अपने पास नहीं आने देते थे।

एक दिन मौज बाबा को पता लगा कि राव कर्णसिंह के भड़काने से कुछ वैरागी रात्रि-समय, स्वामीजी पर अत्याचार करना चाहते हैं। वे तत्काल वैरागियों के डेरे पर जा पहुँचे। वैरागी उनके भक्त थे। इसलिए, जिस समय बाबाजी ने उन्हें समझाया तो वे सर्वथा शान्त हो गये और कभी राव महाशय के उकसाने में नहीं आये।

जब राव महाशय को वैरागियों पर उत्तेजना की चाल चलने से भी सफलता न हुई तो वे विवेक-विचार से इतने शून्य हो गये कि एक रात उन्होंने अपने तीन नौकरों को लपलपाती तलवारें देकर स्वामीजी के वध के लिए भेज दिया। कोई, आधी रात का समय होगा। सर्वत्र सन्नाटा छा रहा था। केवल गंगा की साँय-साँय ध्वनि ही सुनाई देती थी। यदि पवन का कोई झोंका आता तो पेड़ों के पत्र भी मर्मर शब्द करने लगते थे। स्वामीजी उससमय तुरीयावस्था थे ध्यानारूढ़ थे। थोड़ी दूरी पर कैथलसिंह गाढ़ी निद्रा में पड़ा खर्राटे ले रहा था। ऐसे समय में, कर्णसिंह के तीन बलिष्ठ नौकर

हाथ में नंगी तलवारें लेकर चुपचाप आते थे। हाथी के कितने ही लम्बे दाँत हों, भालू के कितने ही तीक्ष्ण नख हों, परन्तु केसरी की कन्दरा के निकट जाने के लिए तो परम साहस ही होना चाहिए।

कर्णसिंह के नौकरों के पास खड्ग तो तीक्ष्ण थे, परन्तु एक परोपकारी वीतराग को मारने का साहस न था। उनका तन थर-थर काँप रहा था, पाँव धूजते थे और हृदय की धड़कन बढ़ती जाती थी। उनकी आँखों के सामने अन्धेरा छा रहा था। यह स्थान गङ्गा के कूल पर होने के कारण कुछ ऊँचा-नीचा अवश्य था और वहाँ छोटी-छोटी झाड़ियाँ भी थीं। परन्तु उन लोगों को तो मारे भय के वह स्थान सीधी खड़ी घाटियाँ और सघन वन प्रतीत होने लगा। वे देर तक उस स्थान में उलझे रहे। अन्त में उनके पाँव फूलने लगे। उनसे आगे न बढ़ा गया। इसलिए लौटकर राव महाशय के पास ही जा पहुँचे। राव महाशय ने उन्हें धमकाकर फिर भेजा। उस समय स्वामीजी भी समाधि से उतर आये थे और जो डांट-डपट कर्णसिंह ने अपने नौकरों को की थी वह उन्होंने भी सुन ली थी। दूसरी बार भी वे नौकर लौट गये और राव महाशय को अपनी अशक्ति बताने लगे। पर राव कब मानने वाले थे! उन्होंने नौकरों को बहुत ही झिड़कियाँ और गालियाँ देकर तीसरी बार फिर स्वामीजी पर आक्रमण करने के लिए भेजा। वे भी ज्यों-त्यों करके गिरते-पड़ते स्वामीजी की कुटी के पास आ पहुँचे। आततायियों को अति समीप आते देख महाराज ने उठकर बलपूर्वक 'हुङ्कार' किया, और भूमि पर एक लात भी मारी। स्वामीजी का 'हुङ्कार' उनके लिए सिंहनाद के समान हो गया। वे मारे डर के मूर्च्छित होकर गिर पड़े, उनके हाथों से तलवारें भी गिर पड़ीं! बड़ी देर के पश्चात् वे सम्हल कर वहाँ से भाग गये।

महाराज की गम्भीर गर्जना से कैथलसिंह की भी आँखें खुल गईं। वह कांपता हुआ स्वामीजी से बोला—"वे दुष्टजन कहीं फिर न आ जायँ, इसलिए चलिये किसी ऊँचे-नीचे स्थान पर छिप कर रात बिता लें।"

स्वामीजी ने "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।" यह श्लोक पढ़कर उसे कहा, "कैथलसिंह! संन्यासिजन अपनी रक्षा निमित्त गढ़ और गुहा का आश्रय नहीं ढूँढा करते। हमारा रक्षक तो केवल एक भक्त-वत्सल भगवान् ही है। घबराना नहीं चाहिए। हम चाहें तो उनके ही शस्त्रों को छीनकर उन्हें सीधा कर सकते हैं।"

कैथलसिंह उसी समय दौड़ा हुआ नगर में गया। उसने ठाकुर कृष्णसिंह आदि को जगाकर इस घटना का समाचार कह सुनाया। स्वामीजी के प्रेमी ठाकुर लोग कर्णसिंह के अत्याचार से अति कुपित हुए और उनके उतारे के आगे आकर उसे डाँटने लगे। कृष्णसिंह जी ने कर्णसिंह को ललकार कर कहा कि यदि तुझमें कुछ भी क्षत्रियत्व है तो एक बार हमारे सामने आ। परन्तु राव महाशय इतने भयभीत हुए कि उन्होंने अपने मकान के द्वार बन्द कर लिये।

उन दिनों राजघाट पर पंजाबी सेना की एक मण्डली रहती थी। अगले दिन किसी प्रकार उन लोगों को भी राव महाशय के अत्याचार का समाचार मिल गया। निराकार ईश्वर को मानने वाले सन्त पर आक्रमण हुआ है, इस समाचार ने उन वीरों की नाड़ियों में रक्त के वेग को बहुत बढ़ा दिया। पच्चीस पंजाबी वीर शस्त्र बांधे स्वामीजी के पास आ गरजे और हाथ जोड़ कर कहने लगे कि सन्त जी महाराज ! आप हमें एक बार आज्ञा दीजिए और फिर देखिए कि हम उन साधु-सन्तों के द्वेषियों को कैसा स्वाद चखाते हैं। इस कार्य में चाहे हमारी नौकरी भी चली जाय, परन्तु उनको तो भगाकर ही लौटेंगे।

श्री स्वामीजी ने अति प्रेम-भरे शब्दों से उन वीर सैनिकों को शान्त किया और सत्सङ्ग में बैठाकर एक अत्युत्तम धर्मोपदेश सुनाया।

राव महाशय को उनके सम्बन्धियों ने समझाया कि यहां के ठाकुर अब आपके विरोधी हो गए हैं, इसलिए अब आपका यहाँ से चले जाना ही अच्छा है। वे भयभीत तो पहले ही थे, वहाँ से तुरन्त भाग गए। कहते हैं कि घर जाकर वे रुग्ण हो गये और उनकी दशा उन्मत्त की सी हो गई ! उनका पचास सहस्र का एक मुकदमा प्रयाग में चल रहा था, उसमें भी उनकी हार हो गई।

महाराज के श्री-उपदेशों से अनेक पतितों का परित्राण हुआ, अबोध जनों को विवेक के नेत्र प्राप्त हुए। लोगों ने दूर-दूर से आकर उनसे गुरु-मन्त्र ग्रहण किया।

स्वामीजी का स्वभाव अति शान्त था। वे कुपित कभी नहीं होते थे। दुर्वचन अथवा अपशब्द तो उनके मुख से निकलता ही न था। उनकी मधुवर्षिणी

वाणी में अश्लीलता का लेश भी नहीं होता था। उन पर लोगों ने क्या रात को और क्या दिन को अनेक बार हाथ चलाए, परन्तु उन्होंने कभी किसी को ताड़ना नहीं की। समर्थ होते हुए भी अत्याचार सहन करते रहे। महाराज खाँसने, खखारने और हुङ्कार आदि से जो कभी अधर्म जनों को कम्पित कर दिया करते थे वह केवल विभीषिका ही दिखाते थे। उनके चित्त में किसी को सताने का भाव किञ्चित् भी नहीं होता था। लोग लठ्ठ से, तलवार से, ईंट-पत्थर और विष तक से उनके प्राण लेने के लिये तुले रहते। चालीस-चालीस और पचास-पचास मनुष्य मिल कर उनको मारने आते। स्थान-स्थान पर उनके विरोधी विद्यमान थे। उनका चिह्न-चक्र तक मिटा देने के लिए अनेक स्थानों में षड्यन्त्र रचे जाते थे। परन्तु दयानन्द थे कि विरोध से व्याप्त वायुमण्डल में अकेले, कौपीनमात्रधारी गङ्गा के किनारे गाँव-गाँव में चक्कर लगाकर प्रचार करते थे। बस्ती से बाहर वनों में रहते थे, निर्जन स्थानों में रातें काटते थे और बालू पर ही सो रहते थे। उनमें आश्चर्यजनक साहस, असीम उत्साह, परम निर्भयता और अलौकिक धैर्य था।

: ५ :

योगिराज का योगबल

कर्णवास से प्रस्थान करके स्वामीजी भ्रमण करते हुए मार्गशीर्ष संवत् १९२८ को फर्रुखाबाद पहुँचे। यहाँ महाराज ने तीन मास निवास किया। फाल्गुन वदी संवत् १९२८ को स्वामीजी फर्रुखाबाद से प्रस्थान कर प्रयाग, मिर्जापुर आदि स्थानों में विचरते हुए बनारस में पधारे और लाला माधोदासजी के उद्यान में ठहरे। प्रतिदिन धर्म्म-प्रचार होता रहा। फिर चैत्र सुदी रामनवमी संवत् १९२९ को महाराज ने पूर्व की यात्रा आरम्भ की।

महाराज भ्रमण करते हुए डुमराऊँ पधारे और नागजी उदासी के स्थान में ठहरे। नागजी अतीव सज्जन और स्वामीजी के अनुयायी थे। उन्होंने अति भक्ति-भाव से स्वामीजी का आतिथ्य किया। १९ अप्रैल तक यहाँ ठहर कर स्वामीजी २० अप्रैल को नागजी के साथ आराम में आये। उस समय उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी था। स्वामीजी ने आराम में हरवंशराय नामक एक भद्र व्यक्ति के यहाँ आसन किया। हरवंशराय जी ने बड़ी श्रद्धा

से स्वामीजी की सेवा-शुश्रूषा की और प्रस्थान के समय, कलकत्ता आदि के व्यय के लिये, अत्याग्रह से एक सौ रुपया भेंट किया। महाराज ने वह रुपया अपने ब्रह्मचारी को रखने के लिये दे दिया।

आश्विन १९२९ में महाराज पटने में आये और डिप्टी सावनमल आदि सज्जनों ने उनका स्वागत करके महाराजा भूपसिंह के ऐश बाग में डेरा कराया।

उन दिनों पटने में पण्डित रामजीवन भट्ट प्रसिद्ध थे। वे पचास-साठ मनुष्य साथ लेकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आये, परन्तु दो-एक बातों में ही निरुत्तर होकर चले गये।

एक छोटेलाल नामक व्यक्ति ने स्वामीजी के पास आकर पूछा—"जीव मर कर कहाँ जाता है?" स्वामीजी ने यजुर्वेद के अनुसार उत्तर दिया, जीव देह छोड़ने के अनन्तर वायुरूप होकर आकाश में रहता है। फिर जल में जाता है। उसके पश्चात् क्रमशः ओषधियों में, अन्न में और पुरुष में होकर गर्भ में स्थान करता है और फिर समय पर जन्मता है।" उस समय स्वामीजी ने स्वर्ग-नरक के मिथ्या विश्वास का खूब खण्डन किया।

गुरुप्रसाद नाम के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति पटना में निवास करते थे। वे अनेक सज्जनोंसहित स्वामीजी के दर्शनार्थ गये और नमस्कार करके पूछने लगे, "भगवन्! संसाराश्रम त्यागना उचित है अथवा नहीं?" स्वामीजी के पूछने पर गुरुप्रसाद जी ने कहा—"संसाराश्रम से मेरा आशय पुत्र, स्त्री, परिवार, गृह इत्यादि से है।" स्वामी जी ने उत्तर में वर्णन किया—'संसार में तो खाना-पीना, सोना, जागना, श्वास-प्रश्वास लेना और विद्याभ्यास करना आदि सभी कर्म आ जाते हैं और इनका त्याग करना असम्भव है।"

गुरुप्रसादजी को स्वामीजी के उत्तर से पूर्ण सन्तोष हो गया।

स्वामीजी ने विज्ञापनों द्वारा नगर में घोषणा कर दी कि मूर्तिपूजन और अवतार-वाद आदि विषयों पर चाहे जो आकर शास्त्रार्थ कर ले। हम उसके भ्रम-निवारणार्थ सर्वदा सर्वथा समुद्यत हैं। परन्तु किसी भी पण्डित को उनके सामने आने का साहस न हुआ।

एक दिन एक मैथिल पण्डित स्वामीजी के पास आया और बड़ी देर तक संस्कृत में बातचीत करता रहा। प्रसङ्गवश स्वामीजी ने भागवत का खण्डन

आरम्भ कर दिया। इस पर उस पण्डित ने कहा कि स्वामीजी! आप कुछ भी कहें, परन्तु भागवत के अठारह सहस्र श्लोक हैं ऐसे और श्लोक रचने का सामर्थ्य आज तक किसी भी दूसरे विद्वान् में तो नहीं हुआ। महाराज ने हँसकर कहा कि जैसे कल्पित कथा के अठारह सहस्र श्लोक भागवत में हैं वैसे ही कल्पित श्लोक हम अड़तीस सहस्र रच सकते हैं। नमूने की रीति से जूते और खड़ाऊँ के प्रश्नोत्तर ही पहले लिखिये। स्वामीजी ने अभी उसे दस श्लोक ही लिख ए थे कि वह उन श्लोकों के वचन-माधुर्य पर और पद-विन्यास के लालित्य पर ऐसा लट्टू हुआ कि उसने महाराज के चरण पकड़ लिये! वह ब्राह्मण स्वामीजी की रचनाशक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ वहाँ से चला गया।

महाराज के निकटवासी भक्त इस बात का विश्वास करते थे कि स्वामी जी चाहें तो उनके मनोरथों और संकल्पों को जान सकते हैं। एक दिन, वहाँ स्वामीजी के रसोइये का चाचा आया और रसोइये को कहने लगा कि स्वामीजी के भोजन कर चुकने पर ही तुम भोजन पाते होगे। इस प्रकार तो रसोई जूठी हो जाती है। इसलिए, तुम लकीर निकाल लिया करो और उस लकीर से बाहर ही उन्हें भोजन दिया करो।

स्वामीजी महाराज उस समय स्नान करने गये हुए थे। जब स्नान करके आये तो चौके के बाहर ही बैठ गये और कहने लगे कि हमें भोजन यहीं दे दो। रसोइये ने विनय की कि भगवन्! आगे तो आप चौके में बैठकर भोजन पाया करते थे। आज क्या कारण है कि आप चौके से बाहर बैठ गये हैं? स्वामीजी ने कहा कि तुम्हें और तुम्हारे चाचा को बिरादरी से बाहर निकाले जाने का भय है, मैं कहीं भी भोजन पा लूँ मुझे किसी का डर नहीं। उस रसोइये को बड़ा आश्चर्य हुआ कि महाराज ने मेरे मन की बात को कैसे जान लिया!

राजनाथ तिवाड़ी नामक एक युवक पटने के नार्मल स्कूल में पढ़ता था। वह मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत जोरानपुर ग्राम का रहने वाला था। लोगों से स्वामीजी के वैदिक ज्ञान की प्रशंसा सुनकर उसके मन में भी वेदाध्ययन का विचार उत्पन्न हो आया। उसने एक दिन श्री चरणों में आकर निवेदन किया कि यह सेवक रसोई आदि बनाकर आपकी सेवा करता हुआ आप से

विद्या ग्रहण करना चाहता है। स्वामीजी का पहला पाचक भोज्य वस्तुयें चुरा लिया करता था, इसलिए स्वामीजी ने उसे निकाल कर राजनाथ की आग्रहपूर्ण प्रार्थना पर उसे रख लिया।

अगले दिन भोजनादि के अनन्तर, राजनाथ ने नार्मल स्कूल से अपना नाम कटा लिया, पर डिप्टी सोहनलाल जी के पास बैठे-बैठे उसे रात हो गई। सोहनलाल जी के मकान से स्वामीजी के उतारे का स्थान कोई दो कोस की दूरी पर था। वे नित्य नियम से स्वामीजी के लिए दूध भेजा करते थे। उस दिन उन्होंने राजनाथ ही को दूध लेते जाने के लिए कहा। उस समय अन्धकार छा गया था। कुछ वर्षा हो जाने के कारण कीचड़ भी हो रहा था। स्वामीजी के स्थान पर जाने से राजनाथ कतराने लगा। सोहनलाल जी ने कहा—कि तू अभी इतने अन्धेरे से डरता है, परन्तु स्वामीजी तो वनों में वास करते हैं। उनके पास तेरा निर्वाह कैसे हो सकेगा? सोहनलाल जी के प्रोत्साहन से राजनाथ ने मिश्री कमर के साथ बांध ली, और एक हाथ में दूध का लोटा और दूसरे हाथ में बांस की लकड़ी लेकर वह चल पड़ा। थोड़ी दूर जाकर उसने देखा कि एक भयंकर सर्प जल से निकलकर मार्ग में पड़ा है। राजनाथ डरकर पीछे हटने लगा तो उधर भी उसे पथ पर एक भीषण नाग दिखाई दिया। वह कुछ देर तो किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता में निमग्न खड़ा रहा, परन्तु अन्त में स्वामीजी की ओर जाने का निश्चय करके सर्प पर से छलांग मार कर पार हो गया! जब वह स्वामीजी के पास पहुँचा तो एड़ी से चोटी तक पसीने से भीग रहा था। महाराज ने मुस्कराकर कहा—"क्या तुम मार्ग में डर गये थे? क्या तुम सर्प को देखकर भयभीत हो गए थे?" राजनाथ को इस बात पर अतीव आश्चर्य हुआ कि मार्ग में घटित घटनाओं का ज्ञान, गुरु जी को, मेरे पहुँचने से पहले कैसे हो गया है! उस दिन से उसके हृदय में स्वामीजी के लिए अनन्य श्रद्धा उत्पन्न हो गई।

पण्डित रामावतार तिवाड़ी उस समय पटना कालेज में पढ़ाते थे। उन्होंने स्वामीजी से भट्टोजी दीक्षित के एक श्लोक पर थोड़ी देर तक बात-चीत की, परन्तु लोगों ने उनको यह कहकर रोक दिया कि तुम स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करने योग्य नहीं हो।

आश्विन सु० १ सं० १९२९ को सायंकाल स्वामीजी मुङ्गेर को प्रस्थान

करने लगे, तो श्रीयुत सोहनलाल जी आदि सज्जनों ने उन्हें बड़े सम्मान से रेलवे स्टेशन तक पहुँचाया और गाड़ी में बैठा कर घर को लौटे।

सायं काल ८ बजे पटने से चलकर, गाड़ी रात के बारह बजे जमालपुर जंकशन पर पहुँची। उस समय मुङ्गेर को जाने वाली गाड़ी के छूटने में एक घण्टा शेष था। स्वामीजी पटने की गाड़ी से उतर कर वहीं स्टेशन के आङ्गन में टहलने लग गये। उस समय वहाँ एक अंग्रेज इञ्जीनियर पत्नी सहित खड़ा था। उस इञ्जीनियर की पत्नी ने कौपीनमात्रधारी एक परमहंस को अपने सामने घूमता देखकर बुरा मनाया। इञ्जीनियर महाशय ने तुरन्त जाकर स्टेशन मास्टर को कहा—"यह कौन नङ्गा टहल रहा है ? इसे इधर-उधर घूमने से बन्द कर दो।" स्टेशन मास्टर ने महाराज को अति विनीत भाव से कहा—"भगवन् ! दूसरी ओर चलकर कुर्सी पर आराम कीजिए। मुङ्गेर की गाड़ी के जाने में अभी बड़ी देर है।"

स्वामीजी पहले ही सब कुछ समझ गये थे। इसलिए उन्होंने स्टेशन-मास्टर को कहा—"जिस महाशय ने मुझे हटा देने के लिए आपको यहाँ भेजा है उसे जाकर कह दीजिए कि हम उस युग के मनुष्य हैं, जिस युग में बाबा आदम और माता हव्वा, अदन-उद्यान में, नग्न घूमने में किंचित् भी लज्जा न करते थे।" महाराज ने टहलना पहले की भांति जारी रक्खा। इञ्जीनियर ने स्टेशन मास्टर को पुनः बुलाकर अपना आदेश दुहराया। इस पर स्टेशन मास्टर ने कहा कि महाशय ! वह कोई भिखमंगा तो है नहीं, जिसे मैं आङ्गन से निकाल दूँ। वह तो हम और आप ऐसों को कुछ भी न समझने वाला एक स्वतन्त्र संन्यासी है। इंजीनियर ने तब महाराज का श्री नाम पूछा। इस पर स्टेशन मास्टर ने कहा कि इनका नाम दयानन्द सरस्वती है। इंजीनियर महाशय यह कहता हुआ कि क्या ये प्रसिद्ध सुधारक दयानन्द सरस्वती हैं, तत्काल उठ खड़ा हुआ और समीप जाकर उसने विनीत भाव से नमस्कार किया और कहा—"चिरकाल से मेरे चित्त में आपके दर्शनों की अभिलाषा थी। यह मेरा सौभाग्योदय है कि यहां आपके दर्शन हो गये हैं।" जब तक मुंगेर की गाड़ी खड़ी रही, इंजीनियर महाशय महाराज से वार्त्तालाप करते रहे और गाड़ी चलने पर नमस्कार करके चले गये।

प्रातःकाल चार बजे स्वामीजी ने मुंगेर पहुँच, एक कबीरपन्थी की

पुष्पवाटिका में डेरा लगाया। वह स्थान अति रमणीय और स्वच्छ था। उसके पास ही अभंग-तरंगा गङ्गा भी लहरें मार रही थी।

महाराज को मुंगेर आये तीन दिन हुए थे कि भोजन के समय एक मौन मुनि उनके पास आकर बैठ गया। स्वामीजी ने उसे भोजन के लिए पूछा तो उस समय तो वह बोल पड़ा, परन्तु भोजनानन्तर फिर चुप्पी साध बैठा। स्वामीजी ने उसे उपदेश दिया कि इस प्रकार का मौन मूढ़ जन तो भले ही करें, परन्तु ज्ञानियों को सत्य के कथन में ही कल्याण मानना चाहिए। उनके उपदेशों को सुनकर उसने मौन छोड़ दिया और मूर्त्ति-पूजा तथा पुराणों का मिथ्यामूलक होना मान लिया।

चौका-बर्तन के कार्य्य के लिए स्वामीजी के पास, वहाँ एक कहार भी रहता था। उसने एक दिन, एक टाल वाले को जाकर कहा कि समीप की वाटिका में एक महात्मा ठहरे हुए हैं, उनकी रसोई के लिए कुछ लकड़ियां दीजिए। टाल वाले ने उसे झिड़क दिया और एक भी लकड़ी न दी। वह जब लौटकर वाटिका में पहुंचा तो स्वामीजी ने तत्काल रामनाथ को कहा कि इस धृष्ट को ताड़ना करो कि यह क्यों लकड़ियाँ माँगने गया था। जब राजनाथ उसे ताड़ने लगा तो वह कहार बड़ा विस्मित हुआ कि बिना बताये महाराज को कैसे ज्ञात हो गया कि मैं टाल पर लकड़ियाँ माँगने गया था।

कुछ दिनों के पश्चात् वहाँ के प्रतिष्ठित लोग स्वामीजी के पास आने और सेवा-शुश्रूषा करने लगे। नगर में अनेक सुप्रतिष्ठित पण्डित भी धर्म्म-चर्चा करते रहे।

मुंगेर से चलकर श्री स्वामीजी भागलपुर पधारे। वहां युधिष्ठिरनाथ महोदय के मन्दिर में उतारा किया। इस नगर के पण्डितों में स्वामी जी के आने से हलचल मच गई। एक पण्डित स्वामीजी के आने से पहले तो लोगों के सामने बड़ी-बड़ी डींगें मारता था, उनके पधारने पर नगर ही छोड़कर चला गया।

वहाँ का एक वैश्य स्वामीजी के लिए भोजन की सामग्री भेजा करता था, परन्तु स्वामीजी को पता लगा कि उसकी भावना यह है कि मेरा आतिथ्य करने से उसे सन्तान की प्राप्ति हो। महाराज ने उसी समय से उसके स्वार्थ के अन्न का ग्रहण छोड़ दिया।

एक दिन स्वामीजी के पास कुछ मौलवी और पादरी आकर धर्म्म-चर्चा

करने लगे। उन पर महाराज के कथन का इतना प्रभाव पड़ा कि एक बङ्गाली ब्राह्मण, जो कुछ काल से ईसाई हो गया था, फूट-फूट कर रोने लगा। उसने यह भी कहा—"यदि ऐसे उपदेश पहले प्राप्त होते तो हम लोग अपने पुरातन धर्म्म का परित्याग क्यों करते ?"

महाराज को एक दिन नन्दन ओझा मिला। उन्होंने उसे गायत्री मन्त्र का आराधन करना बताकर कृतार्थ किया। इसके अगले दिन महाराज ने बङ्गाली सज्जनों की एक बड़ी उपस्थिति में संस्कृत भाषा में एक अत्युत्तम व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान से लोग बहुत प्रभावित हुए। उस दिन किसी पर्व के कारण गंगा के उस पार एक भारी मेला था। उसमें लोग अपनी लड़कियाँ भी पुरोहितों को दान कर रहे थे। स्वामीजी सायं समय घूमने गये तो बड़ी रात हो जाने पर भी लौटकर न आये। नन्दन महाशय स्वामीजी का भोजन मन्दिर में पहुँचाकर अपने घर चला गया। जब सवेरे स्वामीजी के दर्शनों को आया तो क्या देखता है कि वह भोजन वैसा का वैसा रक्खा पड़ा है। उसने स्वामीजी से विनय की—"भगवन् ! आपने रात को भोजन क्यों नहीं पाया ?" स्वामीजी ने कहा—"महाशय इस देश में इतना अधर्म्म और इतना अज्ञान फैल रहा है कि गत दिन के मेले पर लोग अपनी लड़कियाँ तक पण्डों को दान कर रहे थे। देश की इस अधोगति को देखकर मेरा हृदय अतीव व्यथित हुआ। इसी शोक और चिन्ता में निमग्न बैठे, एक तो गंगा पार से ही मैं बड़ी रात बीते यहाँ आया और दूसरे यहाँ आकर भी, वही मानस वेदना व्याकुल करती रही। इसलिए भूख और भोजन का ध्यान तक नहीं आया।" महाराज का यह कथन सुनकर नन्दन महाशय भी अति दुःखित हुए और उनके नेत्रों से अटूट अश्रुधारा बह निकली।

स्वामी जी के प्रचार का धीरे-धीरे इतना प्रभाव हो गया कि लोगों ने आप ही शामियाने आदि के लगाने का प्रबन्ध कर दिया। व्याख्यानों में सहस्रों जन आने लगे। व्याख्यान के समय वहाँ एक प्रकार का बाजार सा लग जाता था। बग्घी पर बग्घी आती थी।

महाराजा वर्द्धमान ने स्वामी जी के पास चार नैयायिक पण्डित भेजे। वे देर तक तर्कशास्त्र पर बातचीत करते रहे। जब वे जाने लगे तो उन्होंने कहा कि—'हम आपके दर्शन महाराजा को भी करायेंगे।"

सायंकाल के चार बजे, स्वामी जी के पास मौलवी और पादरी लोग धर्म्म-चर्चा करने आया करते थे। उसी समय, महाराजा वर्द्धमान वहाँ आ गये और वार्त्तालाप सुनकर चले गए। महाराजा ने पण्डितों को भेज कर स्वामी जी को अपने स्थान पर बुलाया और उसी कोठी में निवास करने की विनती की। परन्तु उस कोठी में गड़बड़ अधिक थी इसलिए महाराज ने वहाँ निवास करना स्वीकार न किया। इसके पश्चात् भी महाराजा श्री-सेवा में उपस्थित होते रहे। स्वामी जी एक मास पर्यन्त भागलपुर में निवास कर फिर कलकत्ते की ओर प्रस्थान कर गये।

: ६ :

श्री केशवचन्द्र सेन का राष्ट्रभाषा में प्रचार-प्रस्ताव स्वीकृत

महाराज पौष संवत् १९२६ के लगभग कलकत्ते में पहुँचे। उनको यहाँ बुलाने का उद्योग श्रीयुत चन्द्रशेखरसेन बैरिस्टर ने कियाथा। स्वामीजी के उतारे के लिए सेन महाशय पहले देवेन्द्रनाथजी ठाकुर के पास गए, परन्तु जब उन्होंने स्थान देने में सङ्कोच प्रकट किया तो फिर उन्होंने श्रीयुत सुरेन्द्रमोहन को कहा। सुरेन्द्रमोहन स्थान देने में कुछ हिचकते थे सही, परन्तु जब सेन महाशय स्वामीजी को रेल के स्टेशन से उनके मकान पर ही ले आए, तो सुरेन्द्रमोहन ने प्रसन्नता से स्वामी जी की आवभगत की और उनको अपने प्रमोद-कानन में उतारा।

स्वामी जी के पधारने का समाचार सारे नगर में फैल गया। अनेक जिज्ञासुजन सत्सङ्ग में आने लगे। पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती बड़े पक्के ब्राह्म-समाजी थे। उन्होंने एक दिन स्वामी जी से पूछा कि आप जाति-भेद स्वीकार करते हैं अथवा नहीं? उत्तर में महाराज ने कहा कि मनुष्य जाति, पशु जाति और पक्षी जाति आदि भेद तो प्रसिद्ध ही हैं, परन्तु यदि आपका आशय चार वर्णों से है तो वर्ण जन्म-भेद से नहीं हैं, वे तो गुण-कर्म्म के भेद से हैं। महाराज ने वर्णों के कर्मों की व्याख्या करके उन्हें ऐसी रीति से समझाया कि वे अतीव सन्तुष्ट हो गए।

चक्रवर्ती महाशय के पुनः पूछने पर स्वामी जी ने कहा कि ईश्वर निराकार

है। उसका लक्षण सच्चिदानन्द है। उसकी उपलब्धि चिरकाल तक योगाभ्यास करने से होती है। चक्रवर्ती महाशय ने स्वामी जी से योग-साधन की विधि पूछी। इसके उत्तर में स्वामी जी ने उनको उपदेश दिया कि अभ्यासी को चाहिए कि तीन घड़ी रात रहते उठ बैठे। उस समय मुँह हाथ धोकर पद्मासन से बैठ जावे और दत्तचित्त होकर गायत्री का ध्यान करे।

स्वामी जी ने हेमचन्द्र जी को अष्टांग योग की विधि और गायत्री मन्त्र अर्थ-सहित लिख दिया। आसन भी लगाकर बताया। उनके पूछने पर स्वामी जी ने अच्छे प्रकार सिद्ध कर दिखाया कि सांख्य के कर्त्ता कपिल भगवान् परम आस्तिक थे।

उन दिनों श्रीयुत केशवचन्द्रसेन यज्ञोपवीत धारण करने वाले ब्राह्म-समाजियों की निन्दा किया करते थे, इसलिए हेमचन्द्र जी ने इस विषय में स्वामी जी से प्रश्न किया। स्वामी जी ने कहा कि शुभ-गुण युक्त मनुष्य को यज्ञोपवीत धारण करना उचित है। आप भी विद्वान् हैं, ब्राह्मण-वंशीय हैं, इसलिए यज्ञोपवीत अवश्य ही धारण कीजिए। चक्रवर्ती महाशय ने फिर जनेऊ पहन लिया और अन्य अनेक सज्जनों ने भी उनका अनुकरण करते हुए, दुबारा यज्ञोपवीत धारण कर लिए।

पण्डित हेमचन्द्र जी स्वामी जी के अनुयायी बन गये और उनसे उपनिषद् पढ़ने लगे। वे स्वामी जी के साथ रहकर चिरकाल तक पढ़ते रहे। कई मास के पश्चात् फर्रुखाबाद में उनका पाठ समाप्त हुआ।

जिस समय स्वामी जी कलकत्ते गये उस समय श्री केशवचन्द्रसेन वहाँ नहीं थे। वे जब आये तो महाराज के मिलापार्थ प्रमोद-कानन में गये और दर्शन करके देर तक वार्त्तालाप करते रहे। महाराज ने उनका नाम आदि कुछ भी न पूछा। केशवचन्द्रसेन जी ने वार्त्तालाप में स्वामी जी से कहा—"क्या आप कभी केशवचन्द्रसेन को भी मिले हैं?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"हाँ, मिला हूँ।" उन्होंने कहा—"वह तो कलकत्ते में नहीं था, आप उसे कब मिले थे?" स्वामी जी ने हँसकर कहा—"अभी मिला हूँ और आप ही केशव-चन्द्रसेन हैं।" सेन महाशय ने कहा—"यह आपने कैसे जान लिया कि मैं ही केशवचन्द्रसेन हूँ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"जैसी बात आपने की है ऐसी किसी दूसरे की नहीं हो सकती।" स्वामी जी की ऊहा-शक्ति से वे अति

प्रसन्न हुए और उसी समय से उनके हृदय में महाराज के प्रति प्रेम और आदर का भाव उत्पन्न हो गया।

एक दिन केशवचन्द्रसेन जी ने स्वामी जी से पूछा—"इस समय हमारे सामने बाइबल, कुरान और वेद इन पुस्तकों के आधार पर तीन बड़े धर्म्म हैं। सभी अपने को सच्चा कहते हैं। हमें कैसे ज्ञात हो कि इनमें से वास्तव में कौन-सा सच्चा है ?" स्वामी जी ने उत्तर में बाइबल और कुरान में दोष दिखाकर कहा—"पक्षपात और इतिहासादि दोषों से विवर्जित केवल वेद ही है ! वह केवल उपदेश ही करता है, इसलिए वैदिक धर्म्म ही सच्चा है।"

स्वामी जी की युक्तियाँ सुन और उनकी अपरिमित प्रतिभा का परिचय पाकर एक बार केशवचन्द्रसेन ने कहा—"शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता, अन्यथा इङ्गलैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता।" स्वामी जी ने भी हँसकर कहा—"शोक है कि ब्राह्म-समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है, जिसे वे समझते ही नहीं।"

श्री केशवचन्द्रसेन जी ने अंग्रेजी में एक ग्रन्थ बनाया था। उसके आरम्भ में उन्होंने एक ऐसा श्लोक रक्खा था जिससे ईश्वर के हाथ-पाँव आदि सिद्ध होते थे। स्वामी जी ने केशवचन्द्रजी को कहा कि ईश्वर तो व्यापक है। उसके ऐसे वर्णन अच्छे नहीं हैं।

उन्होंने स्वामी जी का कथन स्वीकार कर लिया। एक दिन, केशवचन्द्र जी ने स्वामी जी को कहा कि आप संस्कृत ही में बातचीत करते हैं। जो लोग संस्कृत नहीं जानते उनको पण्डित लोग कुछ और ही समझा देते हैं। इसलिए आप देशभाषा में व्याख्यान आदि देने का यत्न करें। स्वामी जी ने उनकी सम्मति को मान लिया।

केशवचन्द्रसेन जी ने स्वामी जी से यह भी निवेदन किया कि अब आप सभा आदि में जाते हैं इसलिए वस्त्र धारण कर लें तो अच्छा है। महाराज ने इस प्रस्ताव को भी अनुमोदित किया।

श्री केशवचन्द्रसेन प्रतिदिन सायं समय श्री-सत्सङ्ग में सम्मिलित होते थे। उन्होंने, एक बार महाराज के साथ पुनर्जन्म और अद्वैतवाद पर प्रश्नोत्तर किये, जिनका उन्हें सन्तोषजनक उत्तर मिल गया।

स्वामी जी ने एक सभ्य के पूछने पर कहा कि हवन मूर्त्ति-पूजा नहीं है, किन्तु वायु-मण्डल को शुद्ध बनाये रखने की रीति है। महाराज ने एक समय यह भी कहा था कि धर्म्म में तन्त्रों को प्रमाण मानना अयुक्त है। प्रमाण में महाभारत तक ही ग्रन्थों को लेना चाहिए।

हेमचन्द्र को विजय करने पर स्वामी जी की कीर्ति ने नगर को प्रभावित कर लिया। महाराज के निवास-स्थान के आगे गाड़ियों का ताँता लगा रहता था। सत्सङ्ग में सहस्रों मनुष्य आते थे। शत-शत मनुष्य प्रश्नोत्तर करके तृप्ति लाभ करते थे।

श्री केशवचन्द्रसेन जी ने अपने आवास पर स्वामी जी का व्याख्यान कराना निश्चित किया। अंग्रेजी और वंगला में विज्ञापन बाँटे गये। नियत समय पर सहस्रों नर-नारी एकत्रित हो गए। उस समय कलकत्ते के गण्य-मान्य सज्जन, प्रायः सभी वहाँ उपस्थित थे। यद्यपि व्याख्यान संस्कृत भाषा में था परन्तु महाराज की कथन शैली इतनी सरल थी कि उनका कथन सर्व-साधारण की समझ में आ जाता था। महाराज के तर्क से, युक्तियों से, दृष्टान्तों से और प्रमाणों से सभी श्रोताजन प्रसन्न हो गये। पश्चिमी ज्ञान में पारङ्गत लोग परमहंस के वैज्ञानिक बल को जानकर आश्चर्य करने लगे।

कलकत्ता नगर, उस समय, एक तो हंस-विलास में बहा चला जाता था, दूसरे वह पश्चिम का अन्धाधुन्ध अनुकरण कर रहा था। वहाँ के लोग तो यह स्वप्न में भी स्वीकार करने को समुद्यत न थे कि कोई पूर्वीय दर्शन का पण्डित उनको सन्तुष्ट कर सकता है। परन्तु श्री स्वामी जी के उपदेशों से उन्हें आप ही आप अपनी कल्पनायें मिथ्यामूलक दीखने लगीं। भारत के प्राचीन ज्ञान की गौरव-गरिमा उन पर गहरा प्रभाव कर गई। महाराज के व्याख्यान में श्रोताओं के सहस्र सिर झूमते थे। शत-शत मुख 'धन्य-धन्य' उच्चारण करते थे। बार-बार तालियों का नाद सभा-स्थान को निनादित करता था।

व्याख्यान की समाप्ति पर महाराज की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। लोग एक अत्युत्तम प्रभाव लेकर घरों को गये।

उपर्युक्त व्याख्यान, कलकत्ता नगरमें महाराज का पहला व्याख्यान था। यह पोष सुदी ११ संवत् १९२९ को हुआ था।

उन्हीं दिनों में कलकत्ता ब्राह्म-समाज का वार्षिकोत्सव आ गया। स्वामी

जी से उपदेश देने के लिए विनती की गई। श्री देवेन्द्रनाथ जी ने अपना ज्येष्ठ पुत्र द्विजेन्द्रनाथ, स्वामी जी की सेवा में भेज महोत्सव में पधारने की प्रार्थना की। जिस समय स्वामी जी द्विजेन्द्रनाथ के साथ गाड़ी में बैठकर उत्सव-मण्डप में पधारे तो ब्राह्म-समाज के मुख्य सभासदों ने उनका भक्ति-भाव से स्वागत किया। वहाँ स्वामी जी का एक प्रभावशाली उपदेश भी हुआ। बहुत से भद्र लोग धर्मालोचना भी करते रहे। महात्मा देवेन्द्रनाथ ने महर्षि दयानन्द जी की अति सम्मान से सेवा-शुश्रूषा की। भोजन भी वहीं कराया। जब सायंकाल, श्री स्वामी जी अपने उतारे पर आने के लिए प्रस्तुत हुए तो श्री देवेन्द्रनाथ जी ने निवेदन किया कि अब आप हमारे ही आवास में आकर निवास करें। परन्तु स्वामी जी ने कहा कि यह एकान्त स्थान नहीं है, इसलिए मैं प्रमोद-कानन में ही रहूँगा।

फाल्गुन वदी १० संवत् १९२९ को स्वामी जी का, ईश्वर और धर्म्म विषय पर, गौरीचरण दत्त के मकान पर व्याख्यान हुआ। महेशचरण न्याय-रत्न ने उसका अनुवाद सुनाते समय बीच में बहुत उलट-पलट कर दी। इससे कालेजों के विद्यार्थियों ने उसे बहुत लज्जित किया।

स्वामी जी महाराज एक दिन, प्रमोद-कानन में बैठे सत्सङ्गियों को समझा रहे थे। उसी समय किसी मनुष्य ने आकर कहा कि राजा सुरेन्द्रमोहन जी आये हैं और आप को बुलाते हैं। स्वामी जी ने कहा कि मैं एक व्यक्ति के लिए बहुतों के लाभ की हानि नहीं कर सकता। यदि राजा महाशय मिलना चाहते हैं तो यहीं आ जायँ। राजा महाशय वहाँ तो न आये, परन्तु रुष्ट होकर चले गये।

फाल्गुन वदी ४ संवत् १९२९ को स्वामी जी का व्याख्यान दिन के ३ बजे अङ्गरेज बोरनियो कम्पनी के भवन में हुआ। श्रोताओं की संख्या बहुत ही अधिक थी। फाल्गुन सुदी ११ को स्वामी जी का व्याख्यान ब्रहान गोर के स्कूल में हुआ। जब महाराज व्याख्यान के स्थान में पधारे तो उस समय उन्होंने एक रेशमी वस्त्र धारण किया हुआ था। व्याख्यान साढ़े तीन बजे आरम्भ हुआ। महाराज ने पहले जगत्पिता परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना अति गम्भीर भाव से की। तत्पश्चात् वेद के प्रमाणों और युक्तियों से ईश्वर की निराकारता और एकत्व सिद्ध किया। जन्मसे वर्ण माननेमें बहुत दोष दिखाये।

महाराज तीन घण्टों से अधिक काल तक भाषण करते रहे।

कलकत्ते में उन्होने दो-तीन व्याख्यान और भी दिये। महाराज के सभी व्याख्यानों को छपवा देने का भार केशवचन्द्रसेन जी ने ले लिया था, परन्तु न जाने किस कारण से वे छप न सके।

प्रसन्नकुमार ठाकुर ने मूला जोड़ में एक संस्कृत कालेज स्थापित किया था। स्वामी जी ने वहाँ जाकर प्रस्ताव किया कि केवल इसका नाम ही संस्कृत न हो, प्रत्युत इसमें संस्कृत की शिक्षा भी होनी चाहिए।

कलकत्ते में एक मन्मथ महाशय निवास करते थे। वे स्वामी जी की सौम्य मूर्त्ति, विशाल भाल, साधु स्वभाव और तेजोमय मुखमण्डल से अतीव प्रभावित हो गये। वे महाराज की सेवा में ही बहुत सा समय बिताते। कभी-कभी रात्रि-निवास भी वहीं कर लेते।

महाराज के पास दो-एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी आये।

एक दिन स्वामीजी अपने स्थान पर विराजमान थे। उनके पास अनेक जिज्ञासु सन्देह मिटा रहे थे। उस समय एक मुसलमान सज्जन वहां आ गया। वह सत्संग में तो आना चाहता था, परन्तु मकान के भीतर प्रवेश करने में झिझकता था। स्वामीजी ने उसे आदर से कहा, "बिना सङ्कोच भीतर चले आइए और समीप आकर बैठिए। मैं ऐसे तुच्छ भेद-भाव अच्छे नहीं समझता।" उस सज्जन को स्वामीजी के सत्सग से अति प्रसन्नता प्राप्त हुई।

स्वामीजी बहुत रात रहते उठते और ध्यान रूढ़ हो जाते थे। फिर शौचादि के लिए बाहर, दूर जाते। स्नान कुंए पर करते। फिर नित्य कर्म्मों से निवृत्त होकर ग्यारह बजे तक सत्संग लग ते। तदनन्तर भोजन करके किंचित् विश्राम करते। इसके उपरान्त फिर उपदेश कार्य में लग जाते। रात के आठ बजे तक सत्संग लगा रहता। इस प्रकार महाराज कलकत्ता निवासियों को तीन मास पर्यन्त कृतार्थ करते रहे।

वृन्दावन नामक सम्भ्रान्त व्यक्ति स्वामीजी को हुगली ले गए और उन्हें अपने उद्यान में ठहराया। वृन्दावन महाशय एक बहुत बड़े भूमिहार थे। उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। स्वामीजी का निवास उनके स्थान में सुनकर सहस्रों जन सत्संग में सम्मिलित होने लगे। यहां पण्डित ताराचरण भी लोगों की प्रेरणा से शास्त्रार्थ के लिए आए। शास्त्रार्थ आरम्भ होने से पहले स्वामीजी

ने इस वात पर वल दिया कि शास्त्रार्थं लेखबद्ध हो और पीछे छाप दिया जाय। ताराचरण जी ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया। वाद थोड़ी देर ही होने पाया था कि ताराचरण जी पराजित हो गये और हाथ बाँधकर कहने लगे. "भगवन् यह शास्त्रार्थं मैंने लोगों के अनुरोध से किया है। आप जो कुछ कहते हैं, वह सव सत्य है। हम लोगों की यह धृष्टता है कि आपके सदुपदेशों को स्वीकार न करके समाज की प्रेरणा से और उदर-पूर्ति के निमित्त उलटे विरोध करने लग जाते हैं।" महाराज ने पण्डित ताराचरण की सत्यवादिता की प्रशंसा की और विपुल प्रेम से उनका हस्त आलिंगन किया।

लोग स्वामीजी के सुन्दर मुखकमल को देखते तृप्त न होते थे। उनके विकसित व विशाल नेत्र कृपा-रस सेपूर्ण रहते थे। उनमें कोई अपूर्व आकर्षण था, कोई मोहिनी शक्ति थी। उनकी नाक उन्नत और अत्यन्त सुन्दर थी। दोनों भौयें अतीव सुहावनी थीं और उनके ऊपर अर्द्धचन्द्राकार भाल बहुत भला प्रतीत होता था। उनका शरीर अतीव सुगठित और सुडौल था। उनके कंधे और पार्श्व परिपुष्ट थे। उनकी दोनों भुजायें हाथी की सूँड की भाँति लम्बायमान, घुटनों को स्पर्श करती थीं। उनके हाथ की हथेलियाँ, लम्बायमान अंगुलियों सहित तप्त ताम्र की तरह दीखती थीं। अरुणवर्ण नख शोभा वढ़ा रहे थे। उनका वक्षस्थल विस्तृत और पुष्ट था। उनकी जंघायें कदलीस्तम्भ की भाँति सुगठित थीं। उनका प्रत्येक अंग-प्रत्यंग उनके मनोहर रूप के अनुरूप था। ऐसा प्रतीत होता था कि विधाता ने उनकी तेजस्विनी और प्रभावपूर्ण अप्रतिम प्रतिमा रची है।

हुगली से चलकर वैशाख वदी ५ संवत् १९३० को श्री स्वामीजी भागलपुर में पधारे और एक मास पर्यन्त नगरवासियों को उपदेश द्वारा कृतार्थ करते रहे। इसके पश्चात् ज्येष्ठ वदी ६ संवत् १९३० को महाराज ने पटना नगर को शोभा प्रदान की। वहाँ एक सप्ताह तक प्रचारहुआ और फिर ज्येष्ठ सुदी ४ संवत् १९३० को स्वामीजी छपरा में सुशोभित हुए। छपरा में शिवगुलाम शाह बहादुर ने स्वामीजी के निवासादि का पूरा-पूरा प्रबन्ध कर दिया।

यहाँ के पौराणिक पण्डित स्वामी जी के विरुद्ध खड़े हो गये और प्रसिद्ध पण्डित जगन्नाथ से सहायता की याचना करने लगे। उसने कहा, "मैं शास्त्रार्थ

करने के लिए तो उद्यत हूँ, परन्तु उस नास्तिक का यदि मुख देख लिया तो मुझे प्रायश्चित करना पड़ेगा।" जब यह समाचार श्री स्वामीजी को मिला तो उन्होंने हँसकर कहा, "यदि उसके यहाँ आने में यही रुकावट है तो मेरे मुख के आगे परदा डाल दीजिए। परन्तु उसे यहाँ लाइए अवश्य ही।"

लोगों की बड़ी प्रेरणा से जगन्नाथ आया और परदे की ओट में बैठकर शास्त्रार्थ करने लगा। थोड़े ही चिर में उसके पाँव उखड़ गये और वह पराजित होकर चला गया।

सर्व-साधारण को स्वामीजी के उपदेशों से बड़ा लाभ हुआ। छपरा से चल कर महाराज विचरते हुए श्रावण सुदी १५ संवत् १९३० को मिर्जापुर में पधारे। अध्यापकों की गड़बड़ से उस समय वहाँ की वैदिक पाठशाला टूट चुकी थी। उसको दुबारा चलाना उन्होंने उचित न समझा।

मिर्जापुर में स्वामीजी ने महात्मा जवाहरदास को काशी से बुलाया और वहाँ पाठशाला खोलने का उनसे परामर्श किया। जवाहरदासजी काशी में पाठशाला की स्थापना में सम्मत हो गये और उसके लिए द्रव्य एकत्रित करने के निमित्त प्रयत्न करने लगे।

: ७ :

गो-रक्षा तथा स्वदेशी वेश-भूषा का उपदेश

मिर्जापुर से प्रस्थान करके स्वामी जी कुछ दिन प्रयाग में ठहरे और फिर कानपुर में आकर उन्होंने टूका घाट पर डेरा किया। उस समय पण्डित हेमचन्द्र जी भी स्वामी जी के साथ थे और उनसे पढ़ते थे। कानपुर-वासियों को अपने उपदेशों से लाभ पहुँचा कर महाराज फर्रुखाबाद जाने के लिए प्रस्तुत हुए। मार्गशीर्ष वदी १५ संवत् १९३० को स्वामी जी फर्रुखाबाद पहुँचे और पाठशाला ही में ठहरे। नगरवासी महाराज का शुभागमन सुनकर सहस्रों की संख्या में सत्सङ्ग में जाने लगे।

इस बार, महाराज का मिलाप, संयुक्त प्रान्त के छोटे लाट मेयोर महोदय से और उसी प्रान्त के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर कमसन् महाशय से हुआ। महाराज के हृदय में गो-रक्षा का गहरा भाव था। इसलिए वार्त्तालाप में, उन्होंने लाट महोदय को कहा—"अब आप स्वदेश-यात्रा करने वाले हैं।

वहाँ जाकर आप भारत-सचिव की सभा में सम्मिलित होंगे। उस समय भारत के हित का ध्यान अवश्य रखिएगा। गो-वध बन्द कराने का यत्न कीजिएगा।"

लाट महोदय ने स्वामी जी के कथन को दत्तचित्त होकर सुना और वचन दिया कि मैं आपके कथनानुसार अवश्यमेव यत्न करूँगा।

श्री हेमचन्द्र जी यहाँ भी स्वामी जी के साथ थे। महाराज ने उन्हें वे लोग भी दिखाये जो पहली बार मारने आये थे और इस समय भक्ति-भाव से सेवा कर रहे थे।

एक दिवस हेमचन्द्र जी ने नमस्कारपूर्वक पूछा—"भगवन्! बड़े-बड़े धुरन्धर पण्डित आप के साथ शास्त्रार्थ करने आते हैं, क्या वे सभी भूल पर हैं?" स्वामी जी ने हँसकर कहा—"सत्यासत्य का विवेक तो बहुत से विद्वानों को प्राप्त है, परन्तु आजीविका के प्रलोभन में पड़कर सन्मार्ग पर आरूढ़ नहीं होते।"

हेमचन्द्र जी के हृदय में स्वामी जी के लिए प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वे महाराज को योगिराज मानते थे। उन्होंने अनेक बार रात के बारह बजे, एक बजे उठ-उठकर महाराज को देखा तो वे प्रत्येक समय पद्मासन लगाये, योगारूढ़ ही बैठे मिले। महाराज प्रातःकाल समाधि से उतरा करते थे।

स्वामी जी फर्रुखाबाद से चलकर पौष वदी ६ संवत् १९३० को कासगंज में आये। महाराज विद्यार्थियों की रक्षा का बड़ा ध्यान रक्खा करते थे। जहाँ विद्यार्थी शयन करते थे वहाँ वायु की पूरी रुकावट न थी। इससे उनको बड़ा कष्ट होता था। स्वामी जी ने सुखचैन को वहाँ दीवार खड़ी कराने को कहा, परन्तु मजदूरों के न मिलने से दीवार न बन सकी। स्वामी जी ने कहा कि यदि दीवार नहीं बनती तो फूंस का छप्पर बनाकर आगे खड़ा कर दो। इससे वायु का रुकाव हो जायगा। सुखचैन आदि सभ्यों ने छप्पर बनाने में भी अपनी अकुशलता प्रकट की। उस समय स्वामी जी आप छप्पर बनाने लग गये जिससे पास खड़े सज्जनों को भी उसकी विधि ज्ञात हो गई।

स्वामी जी विद्यार्थियों को उपदेश दिया करते थे। उन्हें माल-कंगनी का सेवन करने की प्रेरणा करते थे। उनका परस्पर वाद कराते थे। उनको व्यायाम की शिक्षा देते और समय-समय पर उनकी परीक्षा भी लिया करते थे।

स्वामी जी शपथ करने के बहुत विरुद्ध थे। एक बार, उनकी अनुपस्थिति में सब अध्यापकों ने आपस में परामर्श करके विद्यार्थियों को कहा कि तुम सबको सत्य-प्रचार और आर्ष-ग्रन्थों ही के पढ़ने-पढ़ाने के लिए शपथ करनी चाहिए। रामप्रसाद को छोड़कर शेष सब विद्यार्थियों ने वेद उठाकर सौगन्ध खाई और कहा कि हम जीवन भर आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ें-पढ़ायेंगे। रामप्रसाद सौगन्ध न खाने के अपराध में पाठशाला से निकाल दिया गया। इस बार की यात्रा में, जब स्वामी जी को यह समाचार मिला तो उन्होंने सबकी भर्त्सना की और कहा कि कितना ही यत्न क्यों न किया जाय तुम लोग पोप-लीला करने से नहीं टलते। हमारी आज्ञा के बिना तुमने ऐसा क्यों किया ? इस प्रकार अध्यापकों को डाँट-डपट कर उन्होंने रामप्रसाद को पाठशाला में सम्मिलित करा दिया।

पौष सुदी १ संवत् १९३० को महाराज कासगंज से प्रस्थान कर छलेसर आकर विराजमान हुए। इस बार भी स्वामी जी के उपदेशों में सहस्रों मनुष्य आते रहे। अनेक मलिन और पतित मनुष्यों का कल्याण हुआ। स्वामी जी ने अपनी पाठशाला का भी निरीक्षण और संशोधन किया। राजा जयकृष्ण-दास जी यहाँ भी श्री-दर्शनों को आये और कृत-कृत्य होकर लौट गये।

स्वामी जी महाराज पौष सुदी ६ संवत् १९३० को अलीगढ़ में आये और राजा जयकृष्णदास जी के अतिथि बने। महाराज का शुभागमन सुनकर सहस्रों नगर-निवासी तथा आसपास के गाँवों के लोग उपदेश सुनने आनेलगे। सारे नगर में स्वामी जी के प्रचार का प्रभाव था। आर्य्य, मुसलमान, ईसाई और युरोपीय, सभी सत्सङ्ग में आते थे। व्याख्यान के पश्चात् शङ्का-समाधान होता था। उसमें रात के दस बज जाया करते थे। स्वामी जी के इस अनथक-पन की सभी प्रशंसा करते थे।

एक दिन, एक पण्डित मन्दिर के चबूतरे के ऊँचे स्थान पर बैठ कर स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने लगा। लोगों ने उसके ऊँचे स्थान पर बैठने को बुरा समझा। कई भद्र पुरुषों ने उसे समझाया कि सभ्य पुरुषों की तरह बैठकर वार्त्तालाप करो, परन्तु वह ऐसा हठीला था कि वहीं डटा रहा। महाराज ने उस समय लोगों से कहा कि कोई हानि नहीं, पण्डित जी वहीं बैठे रहें। केवल ऊँचे आसन से किसी को महत्त्व प्राप्त नहीं होता। यदि

ऊँचा आसन बड़ाई का कारण हो तो पण्डित जी से भी ऊँचा वृक्ष पर वह कव्वा बैठा है।

एक समय, महाराज व्याख्यान-स्थान पर ही विराजमान थे, वहाँ एक भंगड़ी साधु आ निकला। वह बार-बार लोगों से पूछता कि दयानन्द कौन है? लोगों ने जब संकेत से बता दिया तो स्वामी जी के पास जाकर उसने महाराज को अगणित गालियाँ दीं। परन्तु स्वामी जी महाराज उसकी अज्ञान-लीला पर हँसते ही रहे।

उन्हीं दिनों में, बेसवाँ-निवासी ठाकुर गुरुप्रसाद के नाम से एक यजुर्वेद भाष्य निकला था। जब अलीगढ़ में ठाकुर महाशय श्री स्वामी जी को मिले तो उन्होंने भाष्य के विषय में महाराज की सम्मति पूछी। स्वामी जी ने उनको कहा कि भाष्य बहुत ही अशुद्ध और वेदाशय से विरुद्ध है। ऐसा भाष्य रचकर आपने एक भारी भूल की है। ठाकुर महाशय स्वामी जी की सम्मति सुनकर बड़े रुष्ट हुए और तुरन्त वहाँ से चले गये।

एक दिन का वर्णन है कि ठाकुर ऊधोसिंह छावली-निवासी, अपने पिता और ठाकुर भूपालसिंह जी के साथ, स्वामी जी के दर्शन करने के लिए अलीगढ़ में आये। उस दिन ऊधोसिंह जी के वस्त्र नये ढङ्ग के थे और सबके सब विलायती कपड़े के बने थे। ऊधोसिंह जी कुछ काल छलेसर की पाठशाला में भी अध्ययन करते रहे थे, इसलिए महाराज उन्हें भली-भाँति जानते थे। स्वामी जी ने अति प्यार से कहा, "ऊधव! देखो तुम्हारे पिता कैसे मोटे, सादे और अपने देश के कपड़े के बने वस्त्र पहनते हैं। उनका जाति-बिरादरी में कितना अधिक सम्मान है। क्या तुम, इस विदेशी कपड़े से बने नये वेष से विभूषित होकर अपने पिता से अधिक संस्कृत हो? ऊधव! अपने ही देश के वस्तु-वेष को अपनाने में शोभा है।" स्वामी जी का यह उपदेश ऊधोसिंह जी के हृदय में घर कर गया। उन्होंने अपने डेरे पर जाकर वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढङ्ग के स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये।

एक दिन ठाकुर मुकुन्दसिंह जी की प्रार्थना से महाराज ने सामगान सुनाया। उसे सुनकर ऊधोसिंह जी आदि सभी सज्जन अत्यन्त आनन्दित हुए। सब यही कहते थे कि ऐसा मधुर स्वर और अद्भुत गान हमने पहले कभी नहीं सुना।

स्वामी जी को उन दिनों बहुत ही पत्र आया करते थे। आर्य्य-भाषा के पत्रों का उत्तर तो एक पण्डित लिखा करता था, पर उर्दू के पत्रों का उत्तर ऊधोसिंह जी ही, जब तक वे वहाँ रहे, लिखा करते थे। स्वामी जी के सकल कार्य्य नियमबद्ध थे। पत्र-व्यवहार का भी समय था। एक दिन महाराज पत्र लिखवा रहे थे कि सर सय्यद अहमद खाँ उन्हें मिलने आ गए। उनके साथ अन्य भी चार-पाँच सज्जन थे। श्रीमान् अहमदखाँ जी ने खिड़की में से झाँक-कर देखा तो स्वामी जी को कार्य में निमग्न पाया। इसलिए, वे वहीं बराण्डे में ठहर गए। ऊधोसिंह जी ने सय्यद महाशय को खड़े देख लिया और उनके आने का समाचार स्वामी जी को भी बता दिया। महाराज ने ऊधोसिंह जी को आज्ञा की, "जाइए उनको स्वागतपूर्वक भीतर लिवा लाइए।" जब सय्यद जी भीतर पधारे तो शिष्टाचार के अनन्तर स्वामी जी ने कहा—"यहाँ कुर्सी की बैठक नहीं है, इसलिए आपको फर्श पर बैठने से कष्ट ही होगा।" सय्यद महाशय ने विनीतता से निवेदन किया—"आप जैसे सन्तों के पास आकर फर्श पर बैठने ही में आराम और शोभा है।"

जब सय्यद महाशय जी सुखपूर्वक बैठ गए तो स्वामी जी ने कहा—"क्षमा कीजिएगा। मैं पहले अपने नियत काम से निपट लूँ, फिर आपके साथ निश्चिन्तता से वार्त्तालाप करूँगा।"

जितनी देर स्वामी जी कार्य में लीन रहे सय्यद महाशय भी चुपचाप बैठे रहे। कार्यानन्तर वे स्वामी जी के साथ देर तक बातचीत करके अति प्रभाव को लिये वहाँ से उठ गए।

सर सय्यद अहमदखाँ स्वामी जी की सेवा में प्रायः नित्य आया करते थे। उनका स्वामी जी के साथ अनुराग भी हो गया था। महाराज भी उन्हें अति सम्मान देते थे। एक दिन सय्यद महाशय, कई प्रतिष्ठित मुसलमान और अंग्रेज सज्जनों-सहित स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुए। वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में उन्होंने स्वामी जी से कहा—"आपकी अन्य बातें तो युक्ति-युक्त प्रतीत होती हैं, परन्तु यह बात कि थोड़े से हवन से वायु का सुधार हो जाता है, हमें युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ती।"

स्वामी जी ने हवन के अनेक लाभ बताकर उनसे पूछा कि सय्यद महाशय! आपके यहाँ कितने मनुष्यों का भोजन बनता होगा? उन्होंने उत्तर

दिया कि कोई पचास-साठ का। स्वामी जी ने पुनः पूछा कि आपके यहाँ कितने सेर दाल पकती होगी ? उन्होंने कहा कि कोई छः सात सेर। स्वामी जी ने फिर पूछा कि इतनी दाल में कितनी हींग का छौंक दिया जाता होगा ? सय्यद महाशय ने कहा कि माशा भर से कम तो हींग न होती होगी। तत्पश्चात् स्वामी जी ने प्रश्न किया, क्या इतनी थोड़ी सी हींग की सुगन्ध सारी दाल को सुवासित बना देती है ? सय्यद जी ने उत्तर दिया कि हाँ अवश्य सुगंधित बना देती है। तब स्वामी जी ने कहा कि थोड़ी सी हींग की तरह थोड़ा सा किया हुआ अग्निहोत्र भी वायु को सुगन्धित कर देता है। सय्यद महाशय स्वामी जी के उत्तर से बहुत ही प्रसन्न हुए और उनकी स्तुति करते हुए घर को लौटे।

स्वामी जी के व्याख्यान में अलीगढ़ के उच्च-पदाधिकारी, राजकर्मचारी भी आया करते थे और अत्युत्साहपूर्वक उपदेश सुनते थे। महाराज के उपदेशों में दस-दस सहस्र जन उपस्थित होते थे, परन्तु महाराज के स्वर को यह शोभा प्राप्त थी कि आदिम से अन्तिम मनुष्य तक, सभी को एक रस सुनाई पड़ता था। उनके शब्दों में इतनी सरलता और इतनी मधुरता थी कि सर्व-साधारण उनको सुगमता से समझ जाते थे। महाराज अपने कथन में अद्भुत रस भरते थे। जब कभी वीरता का वर्णन करने लगते तो श्रोताओं के हृदय उछलने लग जाते, भुजायें फड़क उठतीं और ऊष्मा के आवेश से रक्त का वेग बढ़ जाता।

महाराज जब अपने उपदेश में देश की दुर्दशा के चित्र को चित्रण करते थे तो लोग करुणा-सागर में डूबने लग जाते थे। उनकी आँखों से आँसुओं की धारायें बहने लगती थीं। जब वे शान्त रस बरसाते थे तो सारी सभा निस्तब्ध, नीरव और शान्त होकर सुनती थी। ऐसा प्रतीत होने लगता कि हृदय-भूमि पर कोई आनन्द की बदली मन्द-मन्द बूँदें बरसा रही है। उनके व्याख्यानों में हास्य रस भी पर्याप्त होता था। घड़ी, आध घड़ी में कोई ऐसा वाक्य, ऐसा दृष्टान्त अथवा चुटकला वे अवश्य कहते थे, जिसे सुनकर लोग हँसते हुए लोटपोट हो जाते। हँसी के मारे पेट में बल पड़ने लगते।

महाराज के व्याख्यानों को सुनकर सभी कहा करते थे कि ऐसा भावपूर्ण व्याख्याता, प्रभाव-उत्पादक उपदेष्टा और सारदर्शक वक्ता कदापि दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

: ८ :

रङ्गाचार्य सामने नहीं आये : विषदाता को प्राण-दान

माघ, शुक्ल ५ संवत् १६३० को स्वामी जी अलीगढ़ से हाथरस में पधारे। ठाकुर मुकुन्दसिंह जी भी उनके साथ थे। राजा जयकृष्णदास जी ने उनके शुभागमन से पहले ही पहुँचकर सब प्रबन्ध कर रक्खा था। हाथरस में स्वामी जी ने एक उद्यान में निवास किया। वहाँ उन्होंने मृतक श्राद्ध के विरुद्ध एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया, जिससे पौराणिक दल में खलबली मच गई। पाँच छः दिन तक हाथरस-वासियों को निहाल करके, स्वामी जी राजा टीकमसिंह की प्रार्थना से मुरसान में सुशोभित हुए। हाथरस से मुरसान लिवा ले जाने के लिए राजा महाशय ने अपनी फिटन भेजी थी।

राजा टीकमसिंह को धार्मिक जीवन प्रदान करने के पश्चात् स्वामी जी मथुरा-वृन्दावन जाने के लिए समुद्यत हुए। उनके वहाँ जाने के अनेक प्रबल कारण भी थे। रङ्गाचार्य उस समय मूर्त्ति-पूजा के सब प्रचारकों में शिरोमणि था। प्रति वर्ष सहस्रों मनुष्यों को कण्ठियाँ धारण करा कर वैष्णव बनाता था। संस्कृत का पण्डित भी था। वैष्णव सम्प्रदाय में उसकी महती मान्यता थी। महाराज चाहते थे कि उस युग के सबसे बड़े प्रतिमा-पूजा प्रचारक को उसके गढ़-ही में जाकर जीतें।

एक बार महाराज ने अपने सहपाठी पण्डित गङ्गादत्त को रुपए भेजकर लिखा कि आप फर्रुखाबाद में आकर अध्यापन कार्य कीजिए। उसने उत्तर में स्वामी जी से निवेदन किया कि वहाँ आने में मुझे आर्थिक लाभ तो अधिक है, परन्तु जब तक आप मथुरा, वृन्दावन में पधार कर रङ्गाचार्य को न जीत लें आपके समीप आने में लोग मेरी निन्दा करेंगे, जाति के जन विरोधी बन जायँगे। इसलिए आप पहले यहाँ आइए और मूर्ति-पूजा का खण्डन कीजिए; फिर उत्साहित होकर मैं आपकी आज्ञा पालन में तत्पर हो जाऊँगा। गङ्गादत्त के पत्रोत्तर में स्वामी जी ने लिख दिया कि हम मथुरा में अवश्यमेव आयेंगे।

अपने वचन और सङ्कल्प का पालन करने के निमित्त स्वामी जी ने

वृन्दावन जाने के लिए ब्रह्मोत्सव का समय चुना। इस उत्सव पर सहस्रों यात्री आया करते हैं। यह मेला चैत्र वदी द्वितीया से आरम्भ हुआ करता है। महाराज के वृन्दावन जाने के पहले ही, राजा जयकृष्ण दास जी ने पण्डित देवीप्रसाद डिप्टी कलेक्टर के नाम पत्र लिखकर पण्डित बलदेव जी को मथुरा भेज दिया। पण्डित बलदेव जी, पण्डित देवीप्रसाद जी से पत्र लेकर, वृन्दावन में बख्शी महबूब मसीह सुपरिण्टेण्डेण्ट चुङ्गी को मिले। उसके पश्चात् मथुरा निवासी राजा उदित नारायण से सहायता के लिए कहा। राजा महाशय बड़े सज्जन पुरुष थे। स्वामी जी की सहायता के लिए तुरन्त उद्यत हो गये और जिस दिन महाराज को मथुरा पधारना था उस दिन अपनी गाड़ी लेकर रेलवे स्टेशन पर पहुँच गए। जब स्वामी जी गाड़ी से उतरे तो राजा महाशय उनको स्वागतपूर्वक अपने मकान पर ले आये। स्वामी जी ने राजा महाशय को कहा कि आजकल वृन्दावन में ब्रह्मोत्सव का मेला भर रहा है, इसलिए इस समय वहाँ जाकर प्रचार करना चाहिए। राजा महाशय ने भी स्वामी जी के कथन का अनुमोदन किया। पण्डा लोग कहीं कोई उपद्रव न कर बैठें, इसलिए, उन्होंने चार मनुष्य स्वामी जी की रक्षा के लिए पहरे पर नियत कर दिए। फाल्गुन शुक्ला एकादशी संवत् १९३० को महाराज वृन्दावन में आये और बख्शी महबूब मसीह के प्रबन्ध से मलूकदास के राधा-उद्यान में विराजमान। हुए यह उद्यान रङ्गाचार्य के निवास के ठीक पिछवाड़े में पड़ता था।

स्वामीजी की आज्ञा से श्रीमान् महबूब मसीह जी ने आर्य्य-भाषा और उर्दू में विज्ञापन छपाकर नगर में जहाँ-तहाँ सर्वत्र लगवा दिए। इसमें प्रकाशित किया कि मूर्त्ति-पूजन और अवतारवाद सिद्ध करने का जिसे भी साहस हो वह शास्त्रार्थ कर ले। एक लिखित पत्र, बलदेवजी के हाथ रंगाचार्य्य जी को भेजकर कहा कि आप मूर्त्ति-पूजा, कण्ठी और तिलक वेद से सिद्ध किया करते हैं। अब वह अवसर है कि शास्त्रार्थ करके अपनी सत्यता प्रमाणित कीजिए। रङ्गाचार्य ने उस समय तो यह कहकर अपना छुटकारा कराया कि ये मेले के दिन हैं, हमें सर्वथा अवकाश नहीं है, मेला समाप्त होने पर अवश्य ही शास्त्रार्थ किया जायगा। परन्तु उत्सव-समाप्ति पर उसे आहूत किया गया तो वह रोगी होने का बहाना बना बैठा। बुद्धिमान् लोगों को पूर्ण विश्वास

हो गया कि रङ्गाचार्य स्वामीजी के सामने आने से डरता है। उसे अपनी पोल के खुल जाने का पूरा भय है।

स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित होकर दो-एक सज्जनों ने अपने शालिग्राम यमुना-जल में विसर्जन कर दिये।

रङ्गाचार्य के चेले-चाँटे अपने गुरु की गति देखकर स्वामीजी से बहुत चिढ़े और उनको मार डालने की विधि सोचने लगे। उन लोगों की षड्यन्त्र-रचना का समाचार पाकर पण्डित बलदेवजी आदि भक्तों ने भगवान् से विनय की—"आप बाहर घूमने न जाया करें।" स्वामीजी ने हँसकर कहा—"आज तो आप मुझे बाहर जाने से रोकते हैं कल कहोगे कि कुटी के भीतर ही बैठे रहो। सो आपके कथनानुसार मुझसे नहीं चला जाता है।"

बहुत दिनों तक श्री स्वामीजी वृंदावन में धर्म्म-मेघ बनाकर बरसते रहे। अनेक गृहस्थों और संन्यासियों को विवेक प्रदान करके फिर चैत्र वदी ११ को मथुरा में आकर पुरुषोत्तमदास जी के उद्यान में ठहरे।

स्वामीजी महाराज के आगमन से पहले मथुरा की पण्डित-मण्डली शास्त्रार्थ करने की गप्पें तो हाँकती थी, परन्तु उनके सम्मुख कोई न हुआ। एक दिन कुछ मनुष्यों की उत्तेजना से चार-पाँच सौ पण्डे मोटे मोटे लट्ठ लिये स्वामीजी के निवास-स्थान के उद्यान-द्वार पर आ पहुँचे। द्वार पर ठाकुर कृष्णसिंह जी आदि कर्णवास के कई राजपूत पहरा दे रहे थे। पण्डों के समूह को आते देख कर उन्होंने द्वार बन्द कर दिया और खिड़की खुली रक्खी। थोड़ी देर तक तो पण्डे धींगामस्ती करते रहे परन्तु बाँके राजपूतों के हाथ में भी डण्डे देख कर बाहर मार्ग पर ही खड़े हो गये। वे लोग वहाँ बड़ी देर तक भूमि पर लट्ठ और लातें मार-मार कर स्वामीजी को अगणित अवाच्य बोलते रहे। स्वामीजी मकान की छत्त पर से, अबोध जनों की बाल-क्रीड़ा अवलोकन करके हँसते थे। स्वामीजी के सेवकों ने पण्डों को ठण्डा करने की उनसे आज्ञा माँगी। परन्तु महाराज ने उनको कहा—"पण्डा लोगों की धर्म्मान्धता पर आप लोगों को कोप कदापि नहीं करना चाहिए। हमारे यहाँ आने का इनको इतना तो लाभ हो गया कि इन आलस्य के मारों में उत्तेजना आ गई है। ये इतनी संख्या में इकट्ठे होकर आये हैं, यह लाभ भी कुछ न्यून नहीं है।" यह सुनकर महाराज के सेवक शान्त हो गये।

माँगीलाल नाम का एक मुनीम महाराज का बड़ा कट्टर द्वेषी बन गया। वह उनकी धवल कीर्त्ति पर, उनके शुभ नाम पर लाँछन लगाने के उपाय सोचने लगा। एक दिन श्री महाराज लक्ष्मीदास सेठ के मकान पर व्याख्यान दे रहे थे। उस समय एक कसाई और एक शराब वाले ने पुकारकर कहा—"स्वामीजी! आपकी ओर बहुत दिनों का लेखा हो गया। दाम देकर चुका क्यों नहीं देते हो?" उनके इस कथन को सुनकर लोगों की आँखों में लहू उतर आया, परन्तु स्वामीजी ने उनको शान्त कर दिया। जब व्याख्यान समाप्त हो चुका तो महाराज ने दोनों मनुष्यों को अपने पास बुलाकर कहा—"सच कहो, ऐसा कहने के लिए तुम्हें किसने कहा?" उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज हमें माँगीलाल मुनीम ने कहा था कि सभा में जाकर तुम यह वाक्य कह देना, मैं तुम्हें पीछे पुरस्कार दूँगा। यदि हमें यह पता होता कि आप बुरा मानेंगे तो हम ये शब्द कदापि न कहते।" महाराज ने उन मनुष्यों को मुक्त कर दिया, परन्तु मुनीम की निन्दा स्थान स्थान पर होने लगी।

कहते हैं कि कुछ-एक दुष्ट जनों ने, एक दुराचारिणी स्त्री को भी समझा-बुझाकर एक दिन व्याख्यान-स्थान पर भेज दिया। मार्ग में तो वह बहुत कुछ बड़बड़ाती रही, परन्तु सभा में आकर, जब उसने महाराज के परम पुनीत, प्रशान्त और तेजस्वी मुखमण्डल को देखा, तो उसके मन की सारी मलिनता एकाएक दब गई। उसके हृदय में मुनिराज के लिए श्रद्धा और भक्तिभाव उत्पन्न हो आया। 'मैंने मन में इस महात्मा को कलङ्कित करने की कल्पना की है यह मुझसे घोरतम पातक हुआ' यह सोच-सोच कर वह अत्यन्त व्याकुल और व्यथित हुई। महाराज के निकट जाकर गिड़गिड़ाती हुई, भूमि पर सिर रखकर क्षमा माँगने लगी। उसने अधम मनुष्यों के बहका कर भेजने की वार्त्ता सुनाते समय रो-रोकर अपना अञ्चल भी भिगो लिया। श्री स्वामीजी ने उसे ढाढस बँधाया और कहा—"देवि! जाओ ईश्वर करे कि तुम्हारी इस समय की सुमति स्थिर बनी रहे।"

मथुरा में अस्सी वर्ष के वृद्ध पाण्डेय मदनदत्त जी निवास करते थे। वे चालीस वर्ष पर्य्यन्त केवल दुग्धाहारी रहे थे। पक्के वैष्णव भक्त बजते थे। सारे नगर में उनका आदर था। एक दिन मदनदत्त जी शास्त्रार्थ करने लिए स्वामीजी के समीप आये। उस समय उनके साथ उनका पोता भी था।

कुछ शिष्टाचार की बातों के पश्चात् महाराज ने मदनदत्त के पोते से व्याकरण का एक सूत्र पूछा और फिर उसे अष्टाध्यायी पढ़ने की शिक्षा दी। महाराज की हित-कामना से मदनदत्त इतने मोहित हुए कि प्रतिमा-पूजन से उनका विश्वास उठ गया। वे पन्थाई लोगों का खण्डन करने लग गये। पाण्डेय मदनदत्तजी के मत-परिवर्तन से सर्वसाधारण पर गहरा प्रभाव पड़ा। सभी कहने लगे कि स्वामीजी के पास कोई मोहन मन्त्र है जिसके प्रभाव से वे, शास्त्रार्थ किये बिना ही, कड़े विरोधियों को भी अपने अनुकूल बना लेते हैं।

राजा टीकमसिंह जी अपनी गाड़ी लेकर स्वामीजी के पास मथुरा में आए और महाराज को वहाँ से चैत्र सुदी द्वितीया संवत् १९३१ को मुरसान ले गये। महाराज ने कई दिनों तक मुरसान के लोगों को धर्म्मामृत पान कराया और फिर वे आषाढ़ मास में काशी चले गए। इस बार श्री स्वामी जी गुसाईं रामप्रसाद के उद्यान में विराजित हुए। उन दिनों भगवान् आर्य्य भाषा में बातचीत किया करते थे। जवाहरदास जी ने कहा कि आपको संस्कृत ही में बोलते रहना चाहिये, परन्तु महाराज ने उनको समझा दिया कि लोकभाषा में उपदेश देने से अधिकांश मनुष्यों का अधिक हित होता है।

राजा माधोदास जी के उद्यान से उनके घर, प्रतिदिन पुष्पों की एक टोकरी आया करती थी। एक दिन महाराज ने माधोदास जी को कहा—"ये पुष्प कहाँ जाया करते हैं?" उन्होंने कहा—"ठाकुर-पूजा के लिए घर भेजे जाते हैं।" स्वामीजी ने कहा—"इनके यहीं बेल-बूटों के साथ-साथ लगा रहने से अधिक काल तक पवन सुगन्धित होता रहता है। मुरझा कर पंखड़ियों के वहीं गिरने से खेत में खाद पड़ जाता है। पुष्पाञ्जलि बनाकर घर में रखने से भी लाभ है, परन्तु प्रतिमा पर चढ़ाने से वे तुरन्त मसले जाते हैं। लाभ तो कहाँ, उलटे पानी में सड़कर सड़ांद छोड़ने लगते हैं।"

यहाँ भी श्रीमान् सय्यद अहमद खाँ स्वामीजी को मिलते रहे। उन्होने महाराज के दो-तीन व्याख्यान अपनी कोठी पर भी कराये। कई उच्च राजकर्मचारियों को साथ लाकर दर्शन कराते रहे।

स्वामीजी के इस बार काशी पधारने से छः मास पूर्व महात्मा जवाहरदास जी ने पौष वदी द्वितीया संवत् १९३० को पाठशाला स्थापित कर दी थी। उसके लिए केदार मन्दिर के निकट किराये पर स्थान लिया गया था।

इस पाठशाला में पण्डित शिवकुमार जी आदि अनेक विद्वान् पढ़ाते थे। स्वामीजी ने इस पाठशाला को उन्नत करने के लिए बहुत यत्न किये। उसकी सहायता के लिए लोगों को प्रेरित किया। समाचार-पत्रों में पाठ-विधि का ब्यौरा छपाकर उसके उद्देश्य का भी वर्णन किया। परन्तु यह पाठशाला भी अन्त को प्रबन्ध की त्रुटि से माघ १९३१ को टूट गई।

काशी में स्वामीजी दो मास तक धर्मोपदेश देते रहे। फिर वहाँ से प्रस्थान करके मिर्जापुर आदि स्थानों में विचरते प्रयाग में आ गए। यहाँ उन्होंने अपना डेरा अलोपी के उद्यान में किया। फिर एक विज्ञापन द्वारा सर्व-साधारण को विदित कर दिया गया कि जिस किसी को धर्म्म के विषय में कुछ जानने की इच्छा हो, वह नियत समय पर अलोपी देवी के उद्यान में प्रसन्नतापूर्वक आ जाय।

स्वामीजी के शुभागमन का सु-समाचार पाकर सहस्रों गृहस्थ और सैकड़ों विद्यार्थी आने लगे। कालेज के प्रोफेसर भी आते थे। स्वामीजी ने अध्यापक मोक्षमूलर के वेद भाष्य को भ्रममूलक सिद्ध किया। ईसाई धर्म्म की भी तीव्र आलोचना की।

एक दिन पण्डित काशीनाथ शास्त्री ने स्वामीजी को अवज्ञापूर्वक कहा— "आपने किस प्रयोजन के लिए देश भर में कोलाहल मचा रक्खा है?" महाराज शान्तिपूर्वक बोले – "पन्थाई पण्डितों ने लोगों को धोखे के जाल में फँसा रक्खा है। जड़-पूजन से मनुष्यों की बुद्धि में जड़ता आ गई है। देश वासियों में सत्यासत्य के जानने का विवेक अति मन्द हो गया है। इन सबके सुधार ही के लिए मैं कोलाहल कर रहा हूँ।" स्वामीजी के उत्तर को सुन-कर काशीनाथ शान्त हो गया।

मौलवी लोग भी स्वामीजी की सेवा में आकर अपनी शंकाओं का समाधान कराते थे।

पण्डित ठाकुरप्रसादजी, बड़े भक्ति-भाव से महाराज का भोजन उनके आसन पर पहुँचाया करते थे। एक दिन मध्याह्न के समय बड़ी कड़ी धूप में वे नंगे पाँव भोजन का थाल उठाये स्वामीजी के पास पहुँचे। महाराज ने अति दया से ठाकुरप्रसाद जी को कहा, "ऐसी धूप में आप बिना छाते और नंगे पाँव क्यों भोजन लाये हैं?" ठाकुरप्रसाद जी ने विनय की, "भगवन्! जूता

पहने कच्चा भोजन उठाना अच्छा नहीं है।" स्वामीजी ने कहा, "मैं इस छूआ-छूत के व्यर्थ के बखेड़े को नहीं मानता। धर्म्म शास्त्र में इसका कहीं भी वर्णन नहीं है। आप भी इस झगड़े में न पड़ें।"

अनेक भद्र पुरुषों ने स्वामीजी से योग के साधन सीखे और उनको बड़ा भारी लाभ हुआ। पण्डित ठाकुर प्रसाद जी के हृदय में स्वामीजी की योग-मुद्रा देखने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। एक दिन स्वामीजी के सेवकों को पूछकर वे उस कुटिया के भीतर द्वार पर जा खड़े हुए, जिसके भीतर श्री स्वामीजी ध्यानावस्थित थे। यद्यपि द्वार बन्द थे परन्तु किवाड़ों के छिद्रों में से महाराज की आकृति स्पष्ट दीख पड़ती थी। ठाकुरप्रसाद जी बहुत देर तक महाराज के दर्शन करते रहे। उन्होंने यह भी देखा कि महाराज का आसन धीरे-धीरे भूमि से ऊपर उठकर अधर में अवस्थित हो गया। उस समय उनकी मुद्रा की अद्भुत छवि थी। उनके मुख-मण्डल पर एक प्रकाशमय चक्र बना हुआ था।

महाराज की मानसिक शक्तियों के प्रमाण पाकर उनके प्रेमी जन अत्यन्त विस्मित हो जाया करते थे। एक दिन राय बहादुर पण्डित सुन्दरलाल जी मित्रों सहित स्वामीजी के समीप गये। महाराज उस समय ध्यानावस्थित थे, इसलिए वे सब चुपचाप बैठे रहे। कोई आध घण्टे के पश्चात् स्वामीजी भीतर से बाहर आये। उन सब सज्जनों ने झुककर नमस्कार किया। उस समय स्वामीजी आप ही आप हँस रहे थे। पण्डित सुन्दरलाल जी ने पूछा, "आप किस बात से हँस रहे हैं?" उन्होंने कहा, "एक मनुष्य मेरी ओर चला आता है। कुछ देर ठहर जाइए उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा।"

इस बात के आध घड़ी पश्चात् एक ब्राह्मण मिष्टान्न लिये आ पहुँचा। उसने 'स्वामीजी, नमो नारायण' करके मिठाई भेंट की और कहा "इसमें से कुछ एक भोग लगाइए।" स्वामीजी ने उसे कहा, "लो थोड़ी सी मिठाई तुम भी खाओ," परन्तु उसने न ली। तब महाराज ने उसे डाँटकर कहा, "लेते क्यों नहीं हो?" वह काँप तो गया परन्तु मिष्टान्न लेने से झिझकता ही रहा। उस समय स्वामीजी ने कहा, "यह मनुष्य हमारे लिए विष-मिश्रित मिष्टान्न लाया है।" पण्डित सुन्दरलाल जी उसके लिए पुलिस बुलवाने लगे। परन्तु

महाराज ने कहा, "देखो यह अपने पाप के कारण कितना काँप रहा है। इसे पर्य्याप्त दण्ड मिल गया है, इसलिए पुलिस न बुलाएं।" भगवान् ने उस ब्राह्मण को शिक्षा दी और छोड़ दिया। रायबहादुर महाशय ने उस मिठाई में से कुछ अंश उठाकर वहीं पर एक कुत्ते के आगे फेंका। वह कुत्ता मिठाई खाते ही छटपटाकर मर गया।

किसी का यदि हित होता हो तो स्वामी जी उसकी सहायता के लिए उद्यत हो जाते थे। वैसे तो किसी के मकान पर कदाचित् ही जाते थे, परन्तु यदि किसी मनुष्य का कोई शुभ कार्य सिद्ध होता हो तो उन्हें जाने में किंचित् भी सङ्कोच नहीं होता था।

प्रयाग में एक लाला वंशीधर जी निवास करते थे। वे रामायण की मुद्रित पुस्तकें विद्यार्थियों को दान किया करते थे। परन्तु इस पर उन्होंने जो पण्डित नियुक्त किये थे वे अपने जान-पहचान के विद्यार्थियों ही में पुस्तकें बाँटते थे। अपरिचितों को बार-बार माँगने पर भी पुस्तक नहीं मिलती थी। एक दिन, एक विद्यार्थी महाराज के पास आकर रो पड़ा और बोला, "भगवन् ! मैं अति निर्धन हूँ। मुझे रामायण की पुस्तक पाठ के लिए चाहिए। मैं अनेक बार लाला महाशय के स्थान पर भटकता फिरा हूँ, परन्तु पण्डितों के कारण मुझे पुस्तक नहीं मिल सकी।" यह सुनकर स्वामी जी महाराज तत्काल उठ खड़े हुए और विद्यार्थी को साथ लिये वंशीधर जी के मकान पर गये। उस विद्यार्थी को पुस्तक दिलाकर उन्होंने दानी महाशय को उपदेश दिया कि इस कार्य्य पर ऐसे मनुष्य नियुक्त करो जो निर्धन, निस्सहाय और असमर्थ विद्यार्थियों को पुस्तकें दान करें। लाला महाशय ने महाराज को नम्रीभूत नमस्कार करके निवेदन किया कि आगे को आपकी शिक्षा पर पूर्ण ध्यान दिया जायगा।

भगवान् नियत कार्य्यों को करके ही विश्राम लिया करते थे। वे नियत कार्य्य के समय शारीरिक सुख-दुःख पर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। एक दिन स्वामी जी के व्याख्यान की घोषणा हो चुकी थी, परन्तु उस दिन उन्हें प्रबल ज्वर आ गया। प्रेमी जनों ने बहुतेरा कहा कि आज व्याख्यान न दीजिए। परन्तु महाराज ये शब्द कहते हुए व्याख्यान-स्थान की ओर चल पड़े कि ज्वर अपना काम करता है, और मैं अपना काम किये चला जाऊँगा।

महाराज कर्म-धर्म्म को अति प्रधानता देते थे। परहितार्थ क्रियात्मक जीवन को ही सर्वोत्तम जीवन मानते थे। प्रयाग में, गङ्गा-तट पर एक महात्मा रहते थे। वे वयोवृद्ध थे। जब कभी स्वामी जी उन्हें मिलते तो बच्चा कह कर सम्बोधन करते थे। एक दिन उस वृद्ध सन्त ने स्वामी जी को कहा--"बच्चा! यदि आप पहले के ही निवृत्ति-मार्ग पर स्थिर रहते, परोपकार के झगड़े में न पड़ते तो आपकी इसी जन्म में मुक्ति हो जाती। अब तो आपको एक और जन्म धारण करना पड़ेगा।"

स्वामी जी ने कहा, "महात्मन्! अब मुझे अपनी मुक्ति का कुछ भी ध्यान नहीं है। जिन लाखों मनुष्यों की मुक्ति की चिन्ता मेरे चित्त को चलायमान कर रही है, उनकी मुक्ति हो जाय, मुझे भले ही कई जन्म क्यों न धारण करने पड़ें। दु:खों के त्रास से, दीन दशा से और दुर्बल अवस्था से परम पिता के पुत्रों को मुक्ति दिलाते, मैं आप ही आप मुक्त होजाऊँगा।"

: ६ :

बम्बई में प्रथम बार : ये ईंट-पत्थर मेरे लिये पुष्प-वर्षा हैं।

जिस समय महाराज प्रयाग में धर्म्म-गङ्गा बहा रहे थे, उस समय उनके पास बम्बई-वासियों के निमन्त्रण-पत्र लगातार आते थे। वहाँ के जन भगवान् के दर्शनों के लिए प्रबल उत्कण्ठा प्रगट कर रहे थे। उपदेश सुनने के लिए अतीव उत्सुक हो रहे थे।

महाराज ने उनकी प्रार्थनाओं को स्वीकार कर लिया। बलदेव कान्य-कुब्ज ब्राह्मण को बुलाकर सेवा के लिए साथ लिया और जबलपुर में जाकर तीन-चार दिवस तक प्रचार करते रहे। इसके अनन्तर महाराज नासिक में पधारे। वहाँ भी आपने लोगों के भ्रम निवारण किये और फिर वे प्रस्थान करके आश्विन सुदी १२ संवत् १९३१ को बम्बई पहुँच गये।

बम्बई नगर में स्वामी जी के आगमन के पहले ही उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। सुशिक्षित समाज तो उस युग के आदर्श संस्कारक के नाम और काम से परिचित था ही, परन्तु सेवकलाल जी ने काशी-शास्त्रार्थ छपाकर वहाँ इतना बाँटा कि इससे सर्वसाधारण को भी महाराज के गुणों का ज्ञान हो गया। जिस समय महाराज बम्बई के रेलवे-स्टेशन पर पहुँचे तो उनके स्वागत

के लिए अनेक भद्र पुरुष वहाँ उपस्थित थे। बड़े आदर से उन्होंने महाराज को प्रतिग्रहण किया और गाड़ी में बैठाकर, वालुकेश्वर जाकर उत्तम आवास में उतारा।

अगले दिन गुजराती, मराठी और अंग्रेजी आदि में प्रकाशित विज्ञापन वितरण करके घोषित कर दिया गया कि जिसको सत्यासत्य का निर्णय करने की इच्छा हो वह महाराज के पास आकर विचार कर ले।

स्वामी जी का आसन तो गोशांइयों के अखाड़े में वालुकेश्वर पर था, परन्तु उनके व्याख्यानों का प्रबन्ध कोट के मैदान में मण्डप बनाकर किया गया था। महाराज एक दिन व्याख्यान देते और दूसरे दिन केवल शङ्का-समाधान करते थे। उनके सत्सङ्गों में सहस्रों मनुष्य आते थे। सारे नगर में एक विचित्र धर्मान्दोलन हो रहा था।

बहुत से सहायकों ने स्वामी जी को यह सम्मति दी कि केवल वल्लभमत का ही खण्डन किया जाय; दूसरे सम्प्रदायों को न छेड़ा जाय। परन्तु स्वामी जी समदृष्टि थे। वे पन्थों की पोल खोलने में, किसी एक का पक्षपात नहीं करते थे। उनका तर्क-आतप सब पन्थों के कीचड़ को एक-सा शोषण करने लगा। मतवादियों में इससे बड़ी भारी व्याकुलता उत्पन्न हो गई।

महाराज ने वैष्णवों के 'तन-मन-धन-अर्पण' का घोर खण्डन किया। बम्बई में एक जीवन जी गोसांई रहता था। वह वैष्णव-मत-खण्डन से बहुत कुपित हुआ। उसने एक दिन स्वामी जी के सेवक बलदेव को गुप्त रूप से बुला कर कहा--'यदि तुम विषादि देकर दयानन्द की 'इति श्री' कर दो तो, हम तुम्हें एक सहस्र रुपया देंगे।" जीवन जी ने एक सहस्र रुपया देने के लिए उसे एक पत्र भी लिख कर दे दिया, और पाँच रुपए तथा पाँच सेर मिठाई, उसी समय उसकी भेंट की।

ज्यों ही बलदेव लौटकर डेरे पर आया तो मानस-चक्षुओं से दूसरों के प्रच्छन्न कर्म्मों को भी जान लेने वाले, श्री दयानन्द जी ने उससे पूछा--"क्या तुम आज गोकुलियों के यहाँ गये थे ?" बलदेव ने कहा--"हाँ, मैं गया था।" स्वामी जी ने फिर पूछा--"सच बताना, वहाँ क्या ठहराकर आए हो ?" उसने सारी वार्त्ता महाराज के आगे आद्योपान्त वर्णन कर दी।

स्वामी जी ने उसे कहा--"देखो, जिसे परमेश्वर न मारे उसे मारने के

लिए कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। बनारस में मुझे हलाहल विष दिया गया। राव कर्णसिंह ने पान में विष दिलाया; अन्य भी अनेक स्थानों में मुझ पर विष के विषम प्रयोग किये गये, परन्तु मेरा प्राणान्त न हुआ। स्मरण रखिए अब भी मैं मारा नहीं जाऊँगा।" बलदेव महाराज के चरणों को पकड़ कर क्षमा माँगने लगा। उसने प्रण किया कि मैं फिर कभी गोसांइयों के पास नहीं जाऊँगा, उनके दाँवपेच में नहीं फँसूँगा।

सेवकलाल जी प्राय: स्वामी जी के स्थान पर ही सोया करते थे। एक दिन रात के समय दो वलिष्ठ मनुष्य, स्वामी जी के वध के लिए चुपचाप मकान में घुस आये। सेवकलाल जी थे तो जागते, परन्तु भय के मारे मौन-मूर्ति बन गये। उनसे बोला तक न गया। महाराज ने जब उन पामरों को देखा तो बलपूर्वक पूछा—"तुम कौन हो ?" महाराज का यह पूछना क्या था, मानो उन पर वज्रपात था। वे तुरन्त वहाँ से भाग गए।

जीवन जी ने चार बलवान् मनुष्यों को, लोभ-लालच के पंजे में फँसाकर, स्वामी जी के मारने के लिये सुसज्जित कर लिया। महाराज प्रतिदिन समुद्रतट पर भ्रमण करने जाया करते थे। उसी ओर वे हत्यारे भी जाने लग गये। एक दिन महाराज ने उनको ताड़ लिया और खड़े होकर उनसे पूछा—"क्या तुम मेरा हनन करना चाहते हो।" महाराज के मुख की दीप्ति को देखकर उनकी आँखें चौंधिया गईं। पवन से कम्पित पीपल के पत्ते की भाँति वे थरथर काँपने लगे। उस दिन वे इतने भयभीत हुए कि उन्होंने फिर महाराज के पीछे जाने का नाम तक नहीं लिया। जीवन जी भी अपने दुष्कर्मों से इतने कम्पित हुए कि वहाँ से भाग कर मद्रास चले गए।

व्याख्यान और शङ्का-समाधान के समय बहुत से लोग हल्लागुल्ला भी करने लग जाते थे। कभी-कभी ईंट-पत्थर की वृष्टि भी हो जाया करती थी। इसलिये बाबा किशनदास जी आदि बलवान् सेवक जन, महाराज की रक्षा करने के लिए सदा सावधान रहते थे।

वालुकेश्वर के निम्न प्रदेश पर एक पर्णकुटी निर्माण करके एक वैरागी बाबा वास करता था। वह जटाजूट था। बड़ा हृष्ट-पुष्ट, सुगठित और बलवान् था। उसका नाम था बलदेवसिंह जी। वह स्वामी जी के भाषण सुनने आया करता था। महाराज के कथनों से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपनी

प्रतिमायें उठा कर, पास के एक तड़ाग में फेंक दीं। जटायें मुण्डवा डालीं। अपनी कुटिया छोड़कर श्रीचरण-शरण ही में रहने लगा। बलदेव महाराज का अनन्य भाव से भक्त बन गया। रात के समय, दिन के समय, भ्रमण करते समय, व्याख्यान में और शङ्का-समाधान आदि में, वह सदा अपने प्रभु के साथ रहता। बड़ी चौकसी से रक्षा करता। यदि कोई उद्दण्ड अथवा अक्खड़ मनुष्य स्वामी जी को मैली आँखों से देखता, उनकी शोभा के विरुद्ध अपशब्द कह बैठता तो बलदेव उसका सिर तक तोड़ने को समुद्यत हो जाता। भक्त बलदेव भगवान् पर सर्वथा न्योछावर हो रहा था।

पण्डित कृष्णराम इच्छाराम गुजरात-निवासी ने महाराज की सेवा में आकर निवेदन किया—"भगवन्! मैं आपके पास लेख आदि का कार्य्य करके अध्ययन करना चाहता हूँ।" स्वामी जी ने उसे सुयोग्य समझकर रख लिया और कहा—"हमारे पास दो लेखक थे। हमने उनको निकाल दिया है। अब आप उनके स्थान पर संस्कार-विधि के लिखने का कार्य्य कीजिए।" कृष्णराम इच्छाराम जी ने पूछा—"भगवन्? पहले लेखकों का क्या अपराध था?" महाराज ने कहा—"यहाँ मारवाड़ी सेठ नथमल पोद्दार हमारे पक्के सहायक और सच्चे सेवक हैं। उन्होंने एक दुकान वाले को कह रक्खा है कि स्वामी जी का कोई भी सेवक जो कुछ आकर मांगे, वह उसे दे देना और दाम हमारे नाम लिखते जाना। कई दिन तक रसोई की सामग्री वहाँ से आती रही। एक दिन मैंने आप पड़ताल की कि आज तक रसोई में कितने रुपये की सामग्री आ चुकी है। जाँच करने पर पता लगा कि जितनी सामग्री आवश्यक है उससे सातगुणा अधिक रसोई के नाम से आई है और उसे बेचकर कर्म्मचारी पैसे खरे करते रहे हैं। उनके इस दुष्कर्म्म से दुःखित होकर मैंने उनको निकाल दिया।

महाराज ने फिर कहा—"आज के नामधारी ब्राह्मण लोग दान का अन्न खाते हैं, मिथ्या माहात्म्यों को सुनाकर आजीविका चलाते हैं, इसलिए उनके मन शुद्ध नहीं रहे। इन्हें अधम कार्य्यों से घृणा नहीं होती। यही कारण है कि ये दिनों-दिन निस्तेज होते चले जा रहे हैं।" महाराज ने यह भी कहा—"मेरे साथ ऐसा ही वर्ताव फर्रुखाबाद आदि की पाठशालाओं के

अध्यापकों ने किया। वे लोग ऊपर से मेरे शिष्य बन गये। भक्ति-भाव से मेरे सम्मुख आते। अपने को मेरा अनुयायी प्रकट करते। मेरी पीठ पीछे, मेरे सिद्धान्तों का खण्डन करने लग जाते। मुझे जब उनकी कोरी कपट-लीला प्रतीत हुई तो मैंने पाठशालायें तोड़ दीं और उन पेटार्थी बगुले भक्तों को बिदा कर दिया।

कृष्णराम इच्छाराम जी को स्वामी जी समय-समय पर पढ़ाया भी करते थे। उनके अन्तःकरण में वेदान्त के विचार गहरे धंसे हुए थे। इसलिए महाराज ने उनको कहा कि आप 'वेदान्त-ध्वान्त निवारण' लिखने लग जाइए। इससे आपके सारे विचार निश्चय रूप से पलट जायँगे। महाराज की युक्तियाँ-प्रतियुक्तियाँ लिखते-लिखते सचमुच कृष्णराम इच्छाराम के विचार परिवर्तित हो गये। उनका वेदान्तवाद का गढ़ धुँए की तरह उड़ गया।

बम्बई में स्वामीजी का मूर्त्ति-पूजा खण्डन पर एक प्रबल व्याख्यान हुआ। उसमें उन्होंने बतलाया, "मूर्त्ति जड़ है, इसे ईश्वर मानोगे तो ईश्वर भी जड़ सिद्ध होगा। अथवा ईश्वर के समान एक और ईश्वर मानो तो परमात्मा का परमात्मापन नहीं रहता। यदि यह कहो कि प्रतिमा में ईश्वरांश आ जाता है तो ठीक नहीं। इससे ईश्वर अखण्ड नहीं सिद्ध हो सकता। भावना में भगवान् है, यह कहो तो मैं कहता हूँ कि काष्ठ खण्ड में इक्षुदण्ड की और लोष्ट में मिश्री की भावना करने से क्या मुख मीठा हो सकता है? मृगतृष्णा में मृग, जल की बहुतेरी भावना करता है, परन्तु उसकी प्यास नहीं बुझती। विश्वास, भावना और कल्पना के साथ सत्य का होना भी अत्यावश्यक है।" मूर्त्ति-पूजन से जो हानियाँ हो रही हैं, महाराज ने उनको भी मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया। उस दिन भीड़ का कोई ठिकाना न था। लोग अति प्रभावित हो रहे थे।

महाराज के प्रचार का प्रभाव नगर पर अत्युत्तम हुआ। सैकड़ों मनुष्य वल्लभ और गोकुलीय सम्प्रदायों से मुख मोड़ बैठे। पन्थों की मनमानी बातें मानने में मन में ग्लानि करने लगे। कुरीतियों के प्रचार से देश में जो अनर्थ हो रहे थे उनसे लोगों को घृणा होने लगी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि पन्थाई पर्वतमालाओं में भारी भूकम्प हो रहा है, और कोई नया युग आया चाहता है।

जिन लोगों ने स्वामीजी को बम्बई आने के लिए निमन्त्रण दिया था, उनमें बहुत से ऐसे भी सज्जन थे जो स्वामीजी के सिद्धान्तों से सहानुभूति तो नहीं रखते थे, परन्तु कुछ पन्थों को दबाने के लिए उनका उपयोग करना चाहते थे। जब उन लोगों ने देखा कि श्रीमद्दयानन्द किसी का भी पक्षपात नहीं करते, वे नये-पुराने सभी सम्प्रदायों का खण्डन करते हैं, तो ऐसे लोग धीरे-धीरे खिसक गये। अब, जो पीछे रहगये, शुद्ध हृदय से स्वामीजी के सच्चे सहायक थे, कट्टर अनुरागी थे। अनेक सज्जन श्री महाराज के व्याख्यान सुनकर उनके अनुयायी बन गये थे। उन सब सज्जनों ने यह सोचा कि श्री स्वामीजी के विचारों का प्रचार करने और उनको स्थिर रखने के लिए कोई सत्सङ्ग स्थापित करना चाहिए। इसलिए मार्गशीर्ष मास संवत् १९३१ में बहुत से सज्जन मिलकर महाराज के पास आये और बोले—"हम आपके उपदेशों से पूरा लाभ उठाने के लिए सत्सङ्ग की स्थापना करना चाहते हैं। कृपया आप श्रीमुख से उसका नामकरण कर दीजिए। प्रेमियों के उत्साह भरे वचन सुन कर स्वामीजी अति प्रसन्न हुए और आँखें बन्द करके ध्यान में लीन हो गये। जिस प्रकार निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की शिखा अकम्प होती है, ऐसे ही कुछ समय तक, वे अचल रहे और फिर नेत्रोन्मीलन करके बोले—"इस सत्सङ्ग का शुभ नाम 'आर्य्यसमाज' ही रखना उचित है।" भक्तों ने 'अत्युत्तम' कहकर महाराज के वचन का आदर किया। उसी समय पच्चीस सत्संगियों के नाम लिखे गये, परन्तु कई कारणों से आर्य्यसमाज की स्थापना न हो सकी।

बम्बई में महाराज ने मौखिक उपदेशों के अतिरिक्त लेख का भी बहुत कार्य किया। 'सत्यार्थ प्रकाश' तो वहाँ जाने के दो मास पूर्व ही लिखवाकर राजा जयकृष्णदास जी को छपवाने के लिए दे गए थे, परन्तु यहाँ उन्होंने वल्लभाचार्यमत-खण्डन, स्वामी नारायणमत-खण्डन और वेदान्त-ध्वान्त निवारण ये पुस्तकें मुद्रित कराकर प्रकाशित कीं। संस्कारविधि भी उस समय लिखी जा रही थी।

बम्बई से प्रस्थान कर श्री स्वामीजी सूरत पधारे। रेल के स्टेशन पर बड़े समारोह के साथ उनका स्वागत किया गया। पहले तो महाराज रायबहादुर जगजीवनदास खोशालदास के आवास में ठहरे, परन्तु वह स्थान एकान्त न

था इसलिए सौदागर प्रेस के प्रबन्धकर्त्ता की कोठी में चले गये। वह कोठी, कर्नारपुर गाँव के मार्ग पर, नगर से कोसभर के अन्तर पर थी। स्वामीजी के सहायकों ने पहला व्याख्यान कन्या-पाठशाला में कराया। व्याख्यान का विषय था—'स्वामी नारायण मत, रामानुज मत, वल्लभ मत और ब्राह्मसमाज क्या हैं?' महाराज ने इन मतों की अति उत्तमता से युक्तियुक्त समालोचना की।

स्वामी नारायण मत का एक मनुष्य, व्याख्यान में बड़े आवेश में आ गया और उच्च स्वर से बोला—"जो कुछ तुम कह रहे हो वह सब असत्य है।" स्वामीजी ने उसे मीठे वचनों से समझाया—"घबराना नहीं चाहिए। जब तुम अपने धर्म्म को लोगों के सम्मुख रखते हो तो उसकी सत्यता की परीक्षा भी तो करने दो। व्यापारी होते हुए जिस प्रकार अपने ग्राहकों के साथ शांति से व्यवहार करते हो, वैसे ही तुम्हें धर्म्म के ग्राहकों के साथ वर्ताव करना उचित है।"

व्याख्यान की समाप्ति पर स्वामीनारायण के अनुयायियों को शङ्का-समाधान के लिए समय दिया गया, परन्तु प्रश्नोत्तर किसी ने भी न किया। जिस समय महाराज व्याख्यान-स्थान से जाने लगे तो वल्लभ और स्वामी नारायण के अनुयायियों ने बहुत ऊधम मचाया, अपशब्द कहे और ईंट-पत्थर बरसाये।

महाराज का दूसरा व्याख्यान, रघुनाथपुरा में ठाकुरभाई चुन्नीलाल चक्कावाला की हवेली में होना निश्चित हुआ। नगर के प्रतिष्ठित जनसमुदाय सहित, जब नियत समय पर, स्वामीजी वहाँ पहुँचे तो हवेली का द्वार बन्द था। पूछने पर पता लगा कि वल्लभियों ने स्थानपति पर दबाव डालकर द्वार बन्द करा दिया है। लोग किसी दूसरे स्थान में व्याख्यान कराने के लिए सोचने लगे, परन्तु स्वामीजी ने घड़ी देखकर कहा—"समय हो गया है इसलिए यहीं खुले स्थान में व्याख्यान होना चाहिए।" लोगों ने प्रार्थना की—"आप थोड़ी देर ठहर जाइए। हम आपके बैठने के लिए कुर्सी ले आयें।" महाराज ने कहा—"मुझे अपने बैठने की तो कोई चिन्ता नहीं, परन्तु आप लोग जो बिना फर्श के बैठ गये हैं और धूल में खड़े हैं इसका ध्यान अवश्य है।" यहाँ भी उनका व्याख्यान बड़ी धूमधाम का हुआ।

स्वामीजी का तीसरा भाषण कवि नर्मदाशंकर जी के प्रबन्ध से उनके मकान के सामने हुआ। एक इच्छाशंकर नामक पण्डित व्याख्यान ही में खड़ा हो गया और प्रतिमा-पूजन के पौराणिक प्रमाण बोलने लगा। महाराज ने उसे दो-एक बार ही उत्तर दिया था कि वह लड़खड़ा गया और लगा थरथर काँपने। उस समय साम्प्रदायिक लोग कोलाहल करते, ईंट, पत्थर और धूल फेंकते थे। सहायकों ने स्वामीजी को व्याख्यान बन्द कर देने की विनय की। परन्तु महाराज ने कहा—'अपने भाइयों के फेंके हुए ये ईंट-पत्थर मेरे लिए पुष्प-वर्षा हैं। व्याख्यान तो मैं समय ही पर समाप्त करूँगा।" और उन्होंने ऐसा ही किया।

मोहनलाल जी बावा नाम के एक ब्रह्मचारी सूरत में रहते थे। उनका नगर में अति सम्मान था। वे वेदान्त के अच्छे पण्डित थे। मूर्ति-पूजा के बड़े कड़े विरोधी थे। जब उन्होंने सुना कि श्रीमद्दयानन्दजी सूरत में पधारे हैं तो उन्हें अपार प्रसन्नता प्राप्त हुई। ब्रह्मचारीजी अपने शिष्यवर्ग सहित स्वामी जी की सेवा में आए और साष्टांग नमस्कार करके बोले—"भगवन्! श्रीमन्त की शोभा मैं चिरकाल से सुनता हूँ। पूज्यपाद के परिभ्रमण और उपदेशों का वृत्तान्त समाचारपत्रों में पढ़ता रहता हूँ। परन्तु मन में महाराज के शुभ दर्शनों की अभिलाषा थी सो आज आपके शुभ दर्शन करके मैं स्वात्मा को सौभाग्यशाली समझता हूँ।" भक्ति-भाव के भूरि भार से नम्र, ब्रह्मचारी बहुत देर तक महर्षि के साथ ज्ञान-चर्चा करते रहे। महाराज भी उनको अत्यादर से उत्तर देते थे। चलते समय ब्रह्मचारी जी ने बड़ी विनीतता से श्रीसेवा में निवेदन किया—"भगवन्! कल मेरे स्थान पर भोजन जीमने की कृपा कीजिए।" स्वामीजी प्रायः किसी के घर पर भोजन पाने नहीं जाया करते थे, परन्तु उस निष्काम भक्त का निमन्त्रण उन्होंने स्वीकार कर लिया। ब्रह्मचारीजी सहर्ष अपने स्थान को लौटे और अपने आश्रम से राजपथ तक उन्होंने सड़क बनवा दी। उसके दोनों ओर पुष्पों के गमले रक्खे गये, कदली-स्तम्भ आरोपित किये गये और जहाँ से उनका स्थान आरम्भ होता था, वहाँ से लेकर मुख्य स्थान तक मार्ग में स्वच्छ कपड़ा बिछा दिया।

जिस समय भगवान् उनके आश्रम पर पधारे तो ब्रह्मचारी जी अपने प्रतिष्ठित शिष्य समूह सहित स्वागत के लिए आगे आये। महाराज पर पुष्प-

वर्षा करते हुए सबने "श्रीमद्दयानन्द महाराज की जय" का नाद बार-बार गुंजाया। एक सुन्दर सजे हुए स्थान पर अत्युत्तम आसन लगा हुआ था। महर्षि को उसी पर बैठने के लिए निवेदन किया। महाराज के विराजमान हो जाने पर, ब्रह्मचारी जी ने समीप जाकर नमस्कारपूर्वक उनके कण्ठ में फूलों का हार पहराया। तत्पश्चात् वे आप भी बैठ गए और शिष्यों सहित ईश्वर-स्तुति के भजन गाने लगे। ब्रह्मचारी जी को गान-विद्या का अच्छा ज्ञान था। उनका कण्ठ कोमल और स्वर मृदु था। स्वामी जी के प्रेम से, वे रस में और भी निमग्न हो गये। उन्होंने सङ्गीत का एक समय बाँध दिया। फिर, उन्होंने महाराज को भोजन कराया। भोजनानन्तर कुछ विश्राम लेकर स्वामी जी अपने डेरे को चल पड़े। ब्रह्मचारी बड़ी दूर तक उनको छोड़ने आये।

एक दिन स्वामी जी भ्रमण करने जा रहे थे। स्कूलों के अनेक युवक उनके साथ हो लिये। स्वामी जी ने बालकों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी। दूध, दही आदि पौष्टिक भोजन करना बताया। मादक वस्तुओं के सेवन में दोष दिखाये और व्यायाम की शिक्षा देते हुए कहा—"व्यायाम खान-पान की तरह नित्य करना चाहिए। बलवान् युवक सुखी और सुप्रसन्न रहते हैं। निर्बल मनुष्य का जीवन साररहित, रोगों का घर और नरकधाम बना रहता है।" महाराज की सरलता, कोमलता और सु-व्यवहार का नवयुवकों पर बहुत ही अच्छा पभाव पड़ा।

स्वामी जी के स्थान पर एक दिन कर्तारपुर के ग्रामीण लोग आकर विनय करने लगे—"महाराज! नगरवासी तो आपका उत्तमोत्तम पदार्थों से सत्कार करते हैं, परन्तु एक दिन हम किसानों की विनती भी स्वीकार कीजिए; हमारे गाँव में पधारिए, हम आपको 'पोंक' खिलाना चाहते हैं। स्वामी जी ने कहा—"हमारे समीप ऊँच-नीच, सधन-निर्धन सब एक-सा सत्कार पाते हैं। मुझे आज तो अवकाश नहीं है। कल व्याख्यान नहीं होगा, इसलिए कल आपके गाँव में पहुँच जाऊँगा।"

अगले दिन ग्रामीण लोग रथादि लेकर महाराज को लेने के लिये आ गये, परन्तु उन्होंने उसमें बैठना स्वीकार न किया। पैदल ही चल पड़े। गाँव के लोग भी उनके साथ-साथ जाते थे, परन्तु महाराज इतना शीघ्र चलते थे कि वे लोग पीछे रह जाते थे, महाराज बार-बार खड़े होकर उन्हें साथ मिलाते

और फिर इकट्ठे होकर चलते थे।

वे चलते-चलते मार्ग में अपने साथियों को उपदेश भी देते थे कि पुत्र-पुत्री का छोटी आयु में विवाह करना बहुत बुरा है। सन्तान के परित्राण के लिये इस कुरीति को अपने में से निकाल दो। जैसे कच्चे खेत को काट लेने से अन्न नष्ट हो जाता है, कच्चे फल और ईख में मिठास नहीं होता, ठीक उसी प्रकार छोटी आयु में जो सन्तान का विवाह कर देते हैं उनका वंश भी बिगड़ जाता है। सन्तान में सुख और उन्नति का सदा अभाव ही बना रहता है। इस प्रान्त के कृषकों में यह कु-रीति सबसे अधिक है इसलिये वे स्वामी जी के कथन से बहुत प्रभावित हुए।

जब महाराज गाँव के निकट पहुँचे तो उस गाँव के सभी छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष श्रीदर्शनों के लिए बाहर आ गये। आम के पेड़ के नीचे स्वच्छ वस्त्र बिछाकर महाराज को बिठाया गया। पाटीदारों की पंक्ति भी महाराज को चारों ओर से घेर कर बैठ गई। कृषकजन 'पोंक' लाकर स्वामी जी को देते थे और महाराज उसे बच्चे, बूढ़ों और युवकों में बाँटते जाते थे। इस प्रकार प्रसाद-वितरण करने के अनन्तर महाराज ने भी 'पोंक' ग्रहण किये और उन किसानों को एक बहुत अच्छा उपदेश दिया। ईश्वर का भजन और सत्सङ्ग करना बताया। दिन के चौथे पहर जब महाराज सूरत को लौटने लगे तो ग्रामवासी लोगों ने विनय की कि हम कृषिजीवी जन हैं। हमारी स्थिति साधारण है। हम इस योग्य तो नहीं थे, पर यह आपकी अपनी कृपा है, जिससे हमारा भक्ति-भाव स्वीकृत हुआ है।

स्वामी जी ने उनको कहा—"तुम अपने को तुच्छ क्यों मानते हो ? तुम तो सच्चे वैश्य हो, परिश्रमी हो। तुम्हारी आजीविका निर्दोष है। तुम्हारे ही श्रमपूर्वक उपार्जन किये अन्न से राजा और प्रजा का पालन-पोषण होता है।" वे लोग महाराज के उपदेश से गद्‌गद हो गये और उनको दूर तक पहुँचाकर पीछे लौटे।

एक दिन, व्याख्यान के समय एक सेठ ने स्वामी जी के चरणों में एक बहुमूल्य शाल रख दिया। स्वामी जी ने उस भद्र मनुष्य को कहा—"मैं यह वस्त्र कदापि न लूँगा। इस प्रकार कथा-व्याख्यानों पर चढ़ावा चढ़ाना अथवा लेना आर्ष रीति के सर्वथा प्रतिकूल है।" उसने कहा—"मैं आपको यह वस्त्र

कोई कथा के कारण नहीं दे रहा हूँ। यह तो केवल आपके प्रति प्रेम का प्रकाश है।" स्वामी जी ने तब उसे कहा—"ऐसे समय में लेना इसी बात को प्रकट करता है कि मैं भी पेटू पुरोहितों की भाँति, अपने पोथियों के पाठ बेचता फिरता हूँ।" इस पर वह सन्तुष्ट हो गया।

सूरत में महाराज को शिक्षा-विभाग के अधिकारी डाक्टर बूलर मिले और देर तक संस्कृत में वार्त्तालाप करते रहे।

जिन लोगों ने सूरत में स्वामी जी को निमन्त्रित किया था वे यह समझे कि उनके भोजन आदि का प्रबन्ध बम्बई के सेठों की ओर से है। इसलिए द्रव्य की सहायता किसी ने भी न की। उधर रसोई के व्यय के लिए द्रव्य थोड़ा रह गया। अन्त में महाराज ने अपने कर्म्मचारियों सहित निरी खिचड़ी पर ही निर्वाह किया, परन्तु किसी से अर्थ-याचना नहीं की।

: १० :

जन्म-प्रान्त गुजरात में वैदिक-नाद गुँजाया

सूरत से चलकर श्री महाराज भरुच में सुशोभित हुए। वहाँ नर्मदा के किनारे भृगु-आश्रम में उन्होंने आसन लगाया। स्वामी जी के भाषण सायं-काल हुआ करते थे जिन्हें सहस्रों मनुष्य श्रवण करते थे।

माधवराव त्र्यम्बक नामक एक दक्षिणी पण्डित वहाँ निवास करताथा। उसके बहुत से शिष्य थे। वह, एक दिन सदल-बल, सभा-स्थान में आया। प्रतिमा-पूजन पर शास्त्रार्थ करने के लिए समुद्यत हुआ और कहने लगा कि आज संहिता से मूर्ति-पूजा सिद्ध करके ही जाऊँगा। डींङ्ग तो उसने इतनी लम्बी हाँक दी, पर था वह निरा औघड़नाथ! थोड़े ही शब्दों में उसके ढोल की पोल दीखने लगी।

माधवराव ने अंगुली से तर्जना करते हुए महाराज को कठोर शब्द कहना आरम्भ कर दिया। माधव भगवान् को तर्जना कर रहा है, यह देखकर भक्त बलदेव की आँखें रक्त-वर्ण हो गईं। उसने दाँत पीसते हुए माधवराव को कहा, "भलमनसी से अब भी टल जा, नहीं तो तेरी कपाल-क्रिया अभी किये देता हूँ। यदि तूने महाराज की ओर अब अंगुली उठाई तो तेरी हड्डी-पसली

एक कर दूँगा।" भक्त बलदेव के धधकते कोपानल को देखकर माधवराव त्र्यम्बक के तोते उड़ गये। वह खड़ा-खड़ा काँपने लगा। उस समय महाराज ने कहा, "बलदेव ! कोप किस पर ? ये तो हमारे भाई हैं। इन्हीं की कल्याण-कामना करते रात-दिन बीतते हैं। बलदेव ! शान्त हूजिए। मेरे मानापमान पर ध्यान न दीजिए। धर्म्मोपदेशक को तो भूमि के सदृश सहनशीलता सम्पादन करनी चाहिए।" गुरुदेव का वचन सुनकर बलदेव शान्त हो गया। माधव ने भी सोचा कि सहज से पिण्ड छूट गया है, इसलिए वहाँ से भाग गया।

एक पारसी कैथलिक ईसाई हो गया। उसने ब्राह्मणों की सहायता से मूर्ति-पूजा की सिद्धि पर व्याख्यान देने के लिए विज्ञापन निकाले। व्याख्यान में पधारने के लिए स्वामी जी को निमन्त्रित किया। नियत समय पर जब महाराज वहाँ गये तो लोगों ने प्रार्थना की कि आप ऊँचे आसन पर विराजिए। परन्तु वे यह कहकर सबके साथ बैठ गये कि इस समय मैं श्रोता हूँ। मुझे श्रोताओं ही में बैठना चाहिए। व्याख्यान में उस वक्ता ने महाराज के लिए बहुत अपमान-सूचक शब्द कहे। उस समय वहाँ कुछ पूर्वीय सैनिक भी उपस्थित थे। वे अपने क्रोध को वश में न रख सके। वे व्याख्यानदाता को पीटा ही चाहते थे कि श्री महाराज ने उनको रोक दिया और कहा, "अपमानकर्त्ता का अपमान करने से उसका सुधार नहीं होता, किन्तु सम्मान देने से वह सुधर जाता है। जैसे आग में आग डालने से वह शान्त नहीं होती ऐसे ही द्वेष-बुद्धि, उसके साथ द्वेष करने से दूर नहीं हो सकती। अग्नि को शान्त करने का साधन जल है। इसी प्रकार द्वेष को मिटाने का साधन शान्ति धारण करना है।" महाराज के उपदेश को सुन कर सैनिक शान्त हो गये।

जेठालालजी वकील एक दिन स्वामीजी को कहने लगे, "महाराज ! यदि आप शास्त्रों द्वारा मूर्ति-पूजा का मण्डन करने लग जायें तो हम आपको शंकर का अवतार मानने लग जायेंगे।" स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "मुझे विश्वनाथ की पदवी का लालच काशी-नरेश ने भी दिया था, परन्तु मैं किसी भी साँसारिक वासना के वशीभूत होकर सत्य का परित्याग कभी भी नहीं कर सकता।"

इन वचनों ने जेठालालजी के अन्तःकरण पर गहरा प्रभाव डाला।

वे सत्संग में रुचिपूर्वक आने लगे। एक समय जेठालाल जी ने फिर कहा, "आपकी संस्कृत अति सुगम होती है। पण्डितों-ऐसी जटिल भाषा मैंने आप से नहीं सुनी। दूसरे, जब आप पण्डितों से शास्त्रार्थ करते हैं तब भी उनका मुख केवल युक्तियों और प्रमाणों से ही बन्द कर देतेहैं। पण्डित लोग तो एक-एक शब्द पर ही सारा दिन बिता देते हैं। वैसा आप भी क्यों नहीं करते ?" महाराज ने कहा, "महाशयजी ! मैं सुगम संस्कृत इसलिये बोलता हूँ कि सुनने वालों को समझने में सुगमता हो। मेरा उद्देश्य जनता को समझाना है, न कि अपना पाण्डित्य छाँटना। परन्तु यह भी निश्चय रखिए कि सुगम भाषा में बोलने की रीति किसी भाषा के अल्प ज्ञान से नहीं प्राप्त हुआ करती। और फिर मेरे पास इतना समय कहाँ है कि एक-एक शब्द के जोड़तोड़ में घण्टों बिता दूँ। एक-एक शब्द पर अड़ कर वे ही सारा दिन गंवाते हैं, जो कर्महीन और उद्देश्य-शून्य हैं। मेरा समय जनता के निमित्त समर्पित है। उसे मैं पक्षियों की तरह चाँय-चाँय और काँय-काँय में खो नहीं सकता।

भोजन के अनन्तर स्वामीजी अपने कर्मचारियों को भी कुछ काल के लिए विश्राम करने की आज्ञा दे देते थे। एक दिन एक विद्यार्थी स्वामी जी की ओर पाँव करके सो गया। जब सारे कर्मचारी जाग उठे तो महाराज ने उन को अपने पास बुलाकर उपदेश दिया कि प्रत्येक आर्य को आर्य्य-मर्यादा का पालन करना चाहिए। बिना बुलाये बोलना, बड़ों की बातों में आप ही आप बोलने लग जाना आर्य्य-मर्यादा के विरुद्ध है। अपने माननीय व्यक्तियों की ओर पीठ करना और पाँव करके सोना भी आर्य-मर्यादा के प्रतिकूल है। स्वामीजी के उपदेश को सुनकर अपराधी विद्यार्थी ने उनके चरण पकड़ लिये और आगे के लिए मर्यादा-पालन का प्रण किया।

भरुच में स्वामीजी ने एक दिन एक विद्यार्थी को कुँए से जल लाने को कहा। उसने कहा, "मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा काम पानी ढोना नहीं है।" उसी दिन सायं समय महाराज ने सब कर्मचारियों को एकत्रित करके कहा, "जिसके निकट कोई रहता हो और जिससे विद्या ग्रहण करता हो उसके वचन को अवश्य माननाचाहिए। उसकी आज्ञा काकदापि भंग नहीं करनाचाहिए" फिर स्वामीजी ने उनको कहा, "गुरु-सेवा किस प्रकार करनी चाहिए, इस पर मैं आपको आप-बीती सुनाता हूँ। जब मैं मथुरा में अध्ययन करता था तो अपनी

स्मरण-शक्ति और विनय के कारण दंडीजी की अपार कृपा का पात्र बन गया था। इसीलिए मेरे सहपाठी मुझ से ईर्ष्या करने लग गये। उनका और तो कुछ बस न चला, अन्त में मुझे दण्डीजी की दया से वंचित करने लगे। उन्होंने एकता करके गुरुजी को कहा कि 'महाराज! दयानन्द बड़ा अविनीत है। वह आपके पास तो अति नम्रता से मीठी-मीठी बातें बनाता है, परन्तु दूसरे विद्यार्थियों के सामने आपकी नकलें करने लगता है। आँखें बन्द करके आपकी तरह लाठी लेकर चलता और हंसी उड़ाता है। उसकी इस कु-चेष्टा को देखकर हमें अति क्रोध होता है। परन्तु करें तो क्या, आप तो उसको परम विश्वास-पात्र और विनीत मानते हैं।' मेरे सहपाठियों की यह चाल चल गई। दण्डीजी ने कोपावेश में मुझे बहुत कटु वचन कहे और लाठी से इतना मारा कि मेरे घाव हो गया।" स्वामीजी ने भुजा नंगी करके उस घाव का चिह्न भी उन्हें दिखाया। उसी दिन से, उनके किसी कर्म्मचारी ने उनका वचन उल्लंघन नहीं किया।

एक दिन पण्डित कृष्णराम इच्छाराम को ज्वर आ गया। ज्वर-पीड़ित वे एक कोठरी में जाकर पड़ गये। जब स्वामीजी को पता लगा तो वे उनके पास जाकर उनका सिर दबाने लगे। पण्डित जी ने कहा—"भगवन्! आप ऐसा न कीजिए। मैं आप से सेवा कराना नहीं चाहता।" महाराज ने कहा—"इसमें कोई दोष नहीं है। एक दूसरे की सहायता और सेवा करना तो मनुष्य का धर्म्म ही है। बड़े यदि छोटों की सेवा न करें तो छोटों में सेवा का भाव आ ही नहीं सकता।"

भरुच से चलकर श्री महाराज दिसम्बर मास में अहमदाबाद पधारे। अनेक सज्जन उनके स्वागत के लिए रेलवे-स्टेशन पर उपस्थित थे। एक भाटिया सेठ ने स्वामीजी को बड़े आदर से अपनी गाड़ी में बैठाया और आप भी साथ ही बैठ गया। जिस मार्ग से गाड़ी जा रही थी उसी मार्ग पर सेठ का निर्माण कराया हुआ एक मन्दिर था। उस मन्दिर पर उसने दो लाख रुपया व्यय किया था। उस मन्दिर की ओर संकेत करके सेठ ने उसके सौन्दर्य का वर्णन किया। महाराज ने गाड़ी पर हाथ मार कर कहा, "ऐसी अविद्या ही से आज हम लोगों की यह दुर्दशा हो रही है। यदि इतना ही द्रव्य आप पाठ-शाला पर लगा देते तो वहाँ से वेदशास्त्र के ज्ञाता पण्डित तो निकलते।"

स्वामीजी को ताप्ती नदी के किनारे के पास मणिकेश्वर महादेव के मन्दिर में विराजमान किया गया। उनके व्याख्यान प्रतिदिन ट्रेनिङ्ग कालेज में हुआ करते थे। महाराज के उपदेशों में श्रोताओं की तुलनातीत संख्या होतीथी। वैसे तो नगर के सभी प्रतिष्ठित जन स्वामीजी के सहायक थे, परन्तु रावबहादुर गोपालराव हरि देशमुख तो उनके अनुयायी ही समझे जाते थे।

अहमदाबाद में रावबहादुर बेचरदासजी के मकान पर गुजराती पण्डित-मण्डली के साथ शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ 'आ कृष्णेन रजसा' तथा 'या ते शिवा तनूः' इन दो मन्त्रों पर था। थोड़ी देर तो पण्डित लोग वाद करते रहे, परन्तु अन्त में स्वामीजी के अखण्डनीय प्रमाणों और अटूट युक्तियों के आगे वे नतशिर हो गये। शास्त्रार्थ के पश्चात्, उसी स्थान पर सारी सभा की ओर से स्वामीजी का सत्कार किया गया। महाराज को एक उत्तम सिंहासन पर बैठाकर पुष्प-माला पहराई गई और उन पर पुष्प-वर्षा की गई। तदनन्तर सारी सभा की प्रार्थना पर भगवान् का, वहीं एक प्रभावशाली व्याख्यान हुआ।

एक समय एक पण्डित स्वामीजी के निकट आकर बोला—"महाराज! हम आपके कथन से अपना धर्म्म क्यों छोड़ें? श्रीकृष्ण जी ने भी कहा है कि 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः,' अपना धर्म्म कुछ न्यून-गुण वाला भी हो तो भी अच्छा है।" स्वामीजी ने उसको कहा, आप गीता के तात्पर्य ही को नहीं समझे। यहाँ धर्म्म से तात्पर्य साम्प्रदायिक मतों से नहीं है किन्तु इस पद का अर्थ वर्णाश्रम धर्म्म है। वह पण्डित इस अर्थ से अतीव सन्तुष्ट हो गया।

इस प्रकार अहमदाबाद-वासियों को कृतकृत्य करने के अनन्तर श्री महाराज ने राजकोट को प्रस्थान किया।

ट्रेनिंग कालेज राजकोट के प्रिंसिपल श्री हरगोविन्द दास जी की प्रार्थना पर पौष वदी ५ संवत् १९३१ को स्वामीजी अहमदाबाद से चलकर राजकोट में पधारे। एक उत्तम धर्म्मशाला में उनका आसन सुशोभित हुआ। राजकोट में एक राजकुमार महाविद्यालय भी है। उसमें दूर दूर के राजकुमार आकर विद्याध्ययन किया करते हैं। जब महाराज के व्याख्यान हुआ करते थे तो महाविद्यालय से राजकुमार भी सुनने आते थे। स्वामीजी ने यहाँ आर्य्यसमाज की स्थापना भी कर दी। उस समय यद्यपि नियम-उपनियम नहीं बनाये गये थे, परन्तु अधिकारी आदि सब नियत हो गये थे।

एक दिन उपर्युक्त महाविद्यालय के अध्यापक उन्हें महाविद्यालय दिखाने के लिए ले गये। निरीक्षण के अन्तर्गत वहाँ के आचार्य महाशय ने स्वामी जी से प्रार्थना की कि राजकुमारों को कुछ उपदेश दीजिए। महाराज ने राजकुमारों को सम्बोधन करके बहुत ही उपयुक्त उपदेश दिया।

उस भाषण के प्रभाव को आचार्य महाशय ने भी अनुभव किया। आचार्य महाशय ने वार्त्तालाप में स्वामी जी को कहा—"आप तो अहिंसा धर्म्म का उपदेश देते हैं और राजकुमार शिकार करते हैं। आपके धर्म्म में इनको तो कोई स्थान नहीं है?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया—"हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षि बड़े ज्ञानी थे। मृगादि पशु खेतों को, वाटिकाओं और उद्यान आदि को न नष्ट कर दें, इसलिए क्षत्रियों के लिए उनके वध का विधान कर गये हैं। अतः, पर-रक्षार्थ क्षत्रियों का यह कर्म उपकार ही है।"

जब स्वामी जी वहाँ से आने लगे तो आचार्य जी ने उनको ऋग्वेद की दो पुस्तकें भेंट कीं। राजकोट में महाराज ने वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने पर व्याख्यान दिया। उसमें उन्होंने अनेक युक्तियाँ देते हुए कहा—"जिस परमात्म-देव ने मनुष्यों की आँखें आदि इन्द्रियों के लिए सूर्य्यादि सहायक पदार्थ पैदा किये हैं, यह हो नहीं सकता कि उसने मनुष्य के मस्तिष्क को उज्ज्वल और उन्नत करने के लिए ज्ञान न दिया हो। वह ज्ञान, सृष्टि के आदि ही में होना चाहिए।"

श्री हरगोविन्ददास जी के साथ महाराज गुजराती भाषा में वार्त्तालाप किया करते थे। वे अति शुद्ध, सरल और सभ्य गुर्जर भाषा बोलते थे। काठियावाड़ प्रान्त के अनेक भद्र मनुष्यों ने महाराज के उपदेशों से धर्म्म-जीवन प्राप्त किया, शान्ति लाभ की और सत्यासत्य का परीक्षण करना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार अपने जन्म-प्रान्त में विवेक का बीज बोकर, श्री स्वामी जी पौष सुदी एकादशी संवत् १९३१ को अहमदाबाद की ओर चल पड़े। पौष की पूर्णमासी को श्री महाराज ने अहमदाबाद में दुबारा पदार्पण किया। इस बार उन्होंने स्वामी नारायण मत का अति ही खण्डन किया।

महाराज बड़ोदा में जाना चाहते थे। परन्तु उन्हीं दिनों में मल्हारराव सिंहासन से उतार दिये गए थे। वहाँ सेना के गमनागमन से गड़बड़ विद्यमान थी। उन्होंने वह समय, वहाँ जाने के लिए उपयुक्त न समझा और वे अहमदाबाद से बलसाड़ में आ गये।

वहाँ महाराज का बड़े समारोह से स्वागत हुआ और एक पारसी की उत्तम कोठी में उनको उतारा गया। अनेक विषयों पर मनोरंजक व्याख्यानों में अधिक संख्या मुसलमानों और पारसियों की होती थी।

कुछ एक धर्म्म-ध्वजी जनों ने यहाँ भी स्वामी जी का विरोध किया। उन दिनों में भावनगर के राज-गुरु भवानीशङ्करजी वहाँ आये हुए थे। वे लोग उनको प्रेरित करके शास्त्रार्थ के लिए ले आये। स्वामी जी उस समय व्याख्यान दे रहे थे, इसलिए राजगुरु भी बैठकर सुनने लगे। भाषण समाप्त हो जाने पर स्वामी जी ने घोषणा की कि जिस किसी को प्रश्न करना हो वह प्रसन्नतापूर्वक कर सकता है। कलहप्रिय लोग राजगुरुजी को शङ्का करने के लिए बार-बार प्रेरणा करने लगे। परन्तु उन्होंने उनको स्पष्ट कह दिया कि परमहंस जी वेद-शास्त्र के अनुसार कह रहे हैं। मैं इनके साथ कदापि व्यर्थ वाद नहीं करूँगा। राजगुरु के कथन को सुनकर उन लोगों के मुख मुरझा गये, परन्तु भद्र श्रोताओं के हर्ष का पार न रहा।

कई दिनों तक बलसाड़ में निवास करके महाराज जब बसई को प्रस्थान करने लगे तो अनेक प्रतिष्ठित पारसी और दूसरे सज्जन उनको रेलवे-स्टेशन तक पहुँचाने आये। जिस समय महाराज गाड़ी में आरूढ़ हुए तो उनके कण्ठ में पुष्पमाला पहराई गई और उन पर कुसुम-वर्षा बरसाई गई। बसई में पधार कर स्वामी जी ने एक अत्युत्तम व्याख्यान दिया। यहाँ भी अनेक भद्र जनों ने अपने नाना प्रकार के संशय मिटाये।

बसई में स्वामी जी के एक नौकर ने उनकी घड़ी चुरा ली। कर्मचारियों ने अनुसंधान करके अपराधी को पकड़ लिया और लाकर श्री महाराज के पास उपस्थित किया। वह नौकर स्वामी जी को देखकर रोता हुआ श्रीचरणों में गिर पड़ा। कर्मचारी तो चाहते थे कि उसे राजदण्ड दिलाया जाय, परन्तु भगवान् ने ऐसा करना स्वीकार न किया और कहा—"हमारा काम साँप को मारना है, न कि उसकी बाम्बी को कूटना-पीटना।" महाराज ने अपराधी

को चोरी के ऐसे दोष और फल समझाये, जिनसे काँपकर उसने प्रण किया कि मैं फिर कभी भी इस पाप-पङ्क में नहीं पड़ूँगा।

बसई में धर्म्मोपदेश देकर महाराज बम्बई जाने के लिए प्रस्तुत हो गये।

महर्षि-गौरव

[श्री पं० अखिलेश शर्मा]

[१]

या भव-कानन को मतवाद-दवानल ने बहु भाँति जरायो।
ता पै समीरन हू जड़ताई को, ह्वै कै सहायक जोर जनायो॥
देखि दसा श्रुति-सागरतैं, 'अखिलेस जू' लै जल बोध को धायो।
सन्त कियो ये दयानन्द-मेघ, लहै जग में जय सौख्य सुहायो॥

[२]

मोह-समुद्र में नाव समाज की, बूड़ति कोऊ न खेवन हारो।
ताहि बचावन को 'अखिलेस' महर्षि तज्यो सुख-मुक्ति करारो॥
जो प्रभु-प्रेम-सरोवर को नित, मीन बन्यो निज जन्म सुधारो।
सो भगवान् दयानन्द को, सुचरित्र करै दुःख दूरि हमारो॥

[३]

मानव-मङ्गल के हित वेदनि में रत ह्वै स्रम कीन्यो घनेरो।
वैदिक धर्म-प्रचार हितै 'अखिलेस' कियो वसुधा पर फेरो॥
व्यापक-ब्रह्म-निरंजन में रहि, लीन गिन्यो नहिं साँझ सवेरो।
ऐसे दयानन्द आनन्द-कन्द को, वन्दन बार हजार है मेरो॥





संगठन काण्ड

: १ :

आर्यसमाज की स्थापना : परोपकार के कल्प-तरु का आरोपण

दूसरी बार जब महाराज बम्बई में पधारे तो भक्तजन उनको बड़े समारोह से लाये और वालुकेश्वर पर, लालजी दलाल के बङ्गले में ठहराया।

स्वामी जी के अनुयायी आर्यसमाज की स्थापना करने के लिए बड़े उत्सुक थे। उन्होंने माघ १९३१ में रावबहादुर दादूबा पाण्डुरङ्ग की प्रधानता में एक साधारण सभा लगाकर आर्यसमाज के नियमों और उद्देश्यों पर विचार करने के लिए एक उपसभा नियत की। उस सभा के कुछ सभासदों ने यह सम्मति दी कि कई कारणों से अभी आर्यसमाज स्थापित करना उचित नहीं है। इसलिए आर्यसमाज की स्थापना का प्रश्न, फिर कुछ दिनों के लिए स्थगित हो गया।

महाराज ने श्री उपदेशों से लोगों को फिर उत्तेजित किया, जिससे सबने मिलकर, सर्व-सम्मति से राजमान्य राजे श्री पानाचन्द्र आनन्दजी पारिख को नियमोपनियम निर्माण करने के लिए चुना। पारिख महाशय ने थोड़े ही दिनों में आर्यसमाज के नियम सङ्गठन करके सबके सामने उपस्थित कर दिये। उनको देखकर श्री महाराज ने भी हार्दिक अनुमोदन किया। महाराज के आदेशानुसार चैत्र सुदी ५ संवत् १९३२ विक्रमी, शनिवार को बम्बई नगर के गिरगाँव मुहल्ले में डाक्टर माणिकचन्द्र की वाटिका में, सायं समय आर्य्य-समाज की शुभ स्थापना हुई। वैदिक-धर्म्म प्रचारक सभा की नींव रक्खी गई। सुधार का कल्पतरु आरोपित किया गया। आर्य जाति में नूतन जीवन और जागृति उत्पन्न करने का साधन उपस्थित हो गया। आर्य मान-मर्यादा, तथा आर्य गौरव-गरिमा की रक्षा के निमित्त एक सैनिक संघ संगठित हुआ। सर्वसाधारण को धर्म्म प्रदान करने के लिए एक सत्सङ्ग-गङ्गा का स्रोत खुल

गया और दीन-दुखियों की सहायता के लिए एक सेवक-समिति उपस्थित हो गई। उस समय आर्य्यसमाज के ये नियम निर्धारित हुए :—

(१) सब मनुष्यों के हितार्थ आर्य-समाज का होना आवश्यक है।

(२) इस समाज में मुख्य स्वतःप्रमाण वेदों ही को माना जायगा। साक्षी के लिए, वेदों के ज्ञान के लिए और इतिहास के लिए शतपथादि ब्राह्मण, छः वेदाङ्ग, चार उपवेद, छः दर्शन और ११२७ वेदों की व्याख्यान रूप शाखायें इन आर्ष ग्रन्थों को भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जायगा।

(३) इस समाज में प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और दूसरे शाखा प्रति-शाखा समझे जायँगे।

(४) सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल ही रहेगी।

(५) प्रधान समाज में सत्योपदेश के लिए संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के ग्रन्थ रहेंगे और साप्ताहिक पत्र 'आर्य प्रकाश' निकलेगा। ये सब समाज में प्रवृत्त किये जायँगे।

(६) प्रत्येक समाज में एक प्रधान पुरुष, दूसरा मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री, सब सभासद् होंगे।

(७) प्रधान पुरुष इस समाज की व्यवस्था का यथावत् पालन करेगा और मंत्री सब के पत्रों के उत्तर तथा सब के नाम व्यवस्था लेख करेगा।

(८) इस समाज में सत्पुरुष, सदाचारी और परोपकारी सभासद् बनाये जायँगे।

(९) प्रत्येक गृहस्थ सभासद् को उचित है कि वह अपने गृहकृत्य से अवकाश पाकर, जैसे घर के कामों में पुरुषार्थ करता है, उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिए करे और विरक्त तो समाजोन्नति ही में नित्य तत्पर रहे।

(१०) प्रत्येक सप्ताह में एक दिन प्रधान, मन्त्री और सभासद् समाज-स्थान में एकत्रित हों और सब कामों से इस काम को मुख्य जानें।

(११) एकत्र होकर सर्वथा स्थिर-चित्त हों, पक्षपात छोड़ कर परस्पर प्रीति से प्रश्नोत्तर करें; फिर सामवेद गान, परमेश्वर, सत्य-धर्म्म, सत्य नीति, सत्योपदेश के विषय ही में बाजे आदि से गान, और इन्हीं विषयों पर मंत्रों का अर्थ और व्याख्यान हो। फिर गान, फिर मन्त्रों का अर्थ, फिर गान आदि।

(१२) प्रत्येक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे उसमें से शतांश 'आर्यसमाज', 'आर्य विद्यालय' और 'आर्य प्रकाश' पत्र के प्रचार और उन्नति के लिए आर्यसमाज के कोष में देवे।

(१३) जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिए जितना प्रयत्न करे उसका उतना ही अधिक सत्कार उत्साह-वृद्धि के लिए होना चाहिए।

(१४) इस समाज में वेदोक्त प्रकार से अद्वैत परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की जायगी। स्तुति—निराकार, सर्व शक्तिमान्, न्यायकारी, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वाधार और सच्चिदानन्द आदि विशेषणों से परमात्मा का गुणकीर्त्तन करना; प्रार्थना—सब श्रेष्ठ कार्य्यों में उससे साहाय्य चाहना; उपासना—उसके आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाना। सो पूर्वोक्त लक्षण युक्त परमात्मा ही की भक्ति करनी चाहिए, उसको छोड़ अन्य किसी का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

(१५) इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टि पर्य्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जायेंगे।

(१६) आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन हुआ करेगा; और सब स्त्री-पुरुषों को वेदोक्त रीति ही से शिक्षा दी जायगी।

(१७) इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जायगा—एक परमार्थ, दूसरे व्यवहार। इन दोनों का शोधन तथा संसार के हित की उन्नति की जायगी।

(१८) इस समाज में न्याय, पक्षपात से रहित और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यथावत् परीक्षित सत्य धर्म, वेदोक्त ही माना जायगा। इससे विपरीत कदापि नहीं।

(१९) इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् लोग सदुपदेश करने के लिए समयानुकूल सर्वत्र भेजे जायेंगे।

(२०) स्त्री और पुरुष इन दोनों के विद्याभ्यास के लिए यथासम्भव प्रत्येक स्थान में आर्य विद्यालय पृथक्-पृथक् बनाए जायेंगे। स्त्रियों की पाठशाला में अध्यापिका आदि का प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जायेगा, पुरुषों की पाठशाला में पुरुषों द्वारा, इससे विरुद्ध नहीं।

(२१) इन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्यसमाज के अनुकूल पालन की जायगी।

(२२) इस समाज में प्रधानादि सब सभासदों को परस्पर प्रीतिपूर्वक, अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोधादि दुर्गुणों को छोड़कर उपकार और सुहृद्भाव से निर्वैर होकर स्वात्मवत् सबके साथ वर्तना होगा।

(२३) विचार के समय सब व्यवहार में जो न्याययुक्त, सर्वहित साधक सत्य बात स्थिर हो वह सब सभासदों पर प्रकाशित करके वही बात मानी जाय।

(२४) जो मनुष्य इन नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला, धर्म्मात्मा, सदाचारी हो उसको उत्तम सभासदों में प्रविष्ट करना, इसके विपरीत को साधारण समाज में रखना और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना। परन्तु यह काम पक्षपात से नहीं करना, किन्तु ये दोनों कार्य श्रेष्ठ सभासदों के विचार ही से किये जायँ, अन्यथा नहीं।

(२५) आर्यसमाज, आर्य विद्यालय, आर्य प्रकाश पत्र और आर्यसमाज का कोष इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधानादि सब सभासद् तन-मन-धन से सदा किया करें।

(२६) जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले तब तक और की नौकरी न करे और न किसी अन्य को नौकर रक्खे। वे दोनों परस्पर स्वामी-सेवक भाव से यथावत् वर्तें।

(२७) जब विवाह, जन्म-मरण, अथवा अन्य कोई दान करने का अवसर उपस्थित हो तब तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें। ऐसा धर्म का काम दूसरा कोई नहीं है, ऐसे समझकर इसको कभी न भूलें।

(२८) इन नियमों में से यदि कोई नियम घटाया-बढ़ाया जायगा तो सब श्रेष्ठ सभासदों के विचार ही से सबको विदित करके ऐसा करना होगा।

ऊपर कहे नियमों के स्वीकार करने के पश्चात् प्रधान, मन्त्री आदि अधिकारी चुने गये। कुछ काल तक तो समाज के अधिवेशन शनिवार को होते रहे, परन्तु कई एक सभासदों को यह वार अनुकूल नहीं पड़ता था, इसलिए समय परिवर्तन करके सत्सङ्ग का दिवस आदित्यवार रक्खा गया।

बम्बई में आर्यसमाज स्थापित करके महाराज अहमदाबाद चले गये और

वहां से लौटते हुए बड़ौदा में ठहरे। वहाँ उनका आसन विश्वामित्री के किनारे महादेव के मन्दिर में किया गया। महाराज के खान-पान का सारा प्रबन्ध राज्य की ओर से था।

स्वामीजी का पहला व्याख्यान वेदाधिकार पर हुआ। इसमें दीवान आदि सभी अधिकारी उपस्थित हुए। गोविन्द शास्त्री और आपा शास्त्री आदि गुजराती तथा दक्षिणी पण्डित भी आये। उपदेश में प्रसंग-वश, महाराज ने वेद का एक मन्त्र उच्चारण किया, उसी समय दक्षिणी पण्डित 'शिव ! शिव ?' कहते हुए वहाँ से उठ खड़े हुए। जब उनसे उठने का कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा कि इस सभा में एक मुसलमान भूमिहार और राजगायक मौलाबक्ष बैठे हुए हैं। कुछ शूद्र जन भी इधर-उधर खड़े सुन रहे हैं। स्वामी जी ने ऐसे अनधिकारियों के सामने श्रुति का उच्चारण करके एक अनर्थ ढाया है। अधिकारी वर्ग ने समझा-बुझकार उन भूदेवों को बिठा लिया।

स्वामीजी के आगमन से बहुत पहले ही पण्डित लोग शास्त्रार्थ करने के लिए सुसज्जित थे। इसलिए, व्याख्यान की समाप्ति पर ही शास्त्र-समर का आरम्भ हो गया। महाराज ऐसी सुगम संस्कृत बोलते थे कि लोगों की समझ में सहज से आ जाता था। परन्तु पण्डितों को यह बात अच्छी न लगी। वे बार-बार जटिल भाषा बोलने के लिए उपहासपूर्वक ललकारने लगे। एक शास्त्री ने यह भी कहा—"महात्माजी ! केवल 'भवति' 'पचति' मात्र से काम न चलेगा। आज आपको दक्षिणी पण्डितों से पाला पड़ा है। कोई शास्त्रीय महत्त्व दिखाना होगा।"

प्रतिपक्षियों की प्रबल प्रेरणा पर, अपनी प्रकृति के प्रतिकूल होते हुए भी महाराज ने अप्रसिद्ध शब्दों से पूर्ण, समास-बहुल, अनेकार्थ-बोधक, ऐसी जटिल संस्कृत बोलना आरम्भ किया कि प्रतिवादी देखता ही रह गया। वह तो, महाराज की धारा-प्रवाह संस्कृत के सारे वाक्यों को समझ ही न सका, तो उत्तर क्या देता ! उसे मूक-मूर्त्ति ही बनना पड़ा। व्याकरण के 'भू' शब्द पर भी एक वैयाकरण ने थोड़ी देर तक वार्त्तालाप किया। महाराज की फक्कि-काओं को वह भी न समझ सका।

ऐसे ही अनेक शास्त्री एक-एक करके, उस वाद-युद्ध में उतरते रहे और अन्त में दयानन्द वागीश के वचनास्त्रों से अवाक् हो जाते रहे। कोई दो घण्टे

के भीतर ही, शास्त्री-समूह निर्वात सरोवर की भाँति प्रशान्त हो गया। उस समय सारी सभा साधुवाद के नाद से बार-बार निनादित होने लगी। कृष्ण-राम इच्छाराम को, इतने दिनों के पश्चात्, ज्ञात हुआ कि प्रत्येक पक्ष में उनके गुरुदेव का ज्ञान अगाध है। उसकी थाह कोई भी नहीं ले सकता।

एक दिन स्वामीजी वैठे हुए क्षौर करा रहे थे। उसी समय एक शास्त्री वहाँ आ गया और कहने लगा—"संन्यासियों का धर्म तो त्याग है। आप इस देह-विभूषा में क्यों लगे हुए हैं?" स्वामीजी ने हँसकर कहा—"यदि वाल बढ़ाने में ही त्याग है, तब तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी सिद्ध होगा! ऐसी बातों में त्याग और वैराग्य नहीं है। देह की रक्षा के लिए उसे संवारना, सुधारना धर्म्मानुकूल है। जैसे प्रमादी पुरुष पुष्ट शरीर से अधिक पापाचरण करते हैं ऐसे ही परोपकारी जन परिपुष्ट और बलिष्ठ काया से अधिक धर्म्म-कर्म करते हैं।

एक दिन एक पण्डित ने भगवान् को कहा—"हमने सुना है कि आप धन ले लेते हैं, परन्तु शास्त्र में तो यह लिखा है कि 'न यतीनां कांचनं दद्यात्' यतियों को सुवर्ण न दिया जाय।" महाराज ने उत्तर दिया—"वहाँ तो केवल सुवर्ण देना वर्जित किया है तो क्या आपकी मति में यतियों को चाँदी, हीरा, मोती आदि देना चाहिए? भाई! यदि इसके भाव को समझना चाहते हो तो वह अति सरल है। यतियों को संग्रह नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि परोपकार के लिए द्रव्य लेना भी पड़े तो कोई दोष नहीं है। जिन भगवद्भक्तों ने पर-हितार्थ अपनी काया को भी अर्पण कर दिया है वे करोड़ों मन कांचन रखते हुए भी अकिञ्चन हैं। अब रही मेरी बात, मैं जब गङ्गा पर पर्य्यटन करता था तो उन दिनों में केवल कौपीनधारी दिगम्बर था। उस समय मुझे कौड़ी तक छूने की आवश्यकता न थी। परन्तु अब मैंने जन-हित के कार्यों में अधिक भाग लेना आरम्भ कर दिया है, इसलिए, 'कूप-मृत्तिका न्याय' से धन लेकर उन्हीं के हितकर कार्य्य में लगा देता हूँ। पर यदि आप यह मानते हैं कि द्रव्य का स्वभाव पापमय है, इसको छू लेने से संक्रामक व्याधि की भांति पाप लग जाता है तो आप भी तो धनवान् प्रतीत होते हैं। क्या ऐसी अवस्था में आप अपने को पापी मानते हैं?" महाराज के कथन के अनन्तर, शास्त्री ने उनके चरण-स्पर्श करके कहा—"आप वास्तव में वीतराग हैं।

यह मेरी धृष्टता थी जो मैंने आपके आगे ऐसा प्रश्न किया।"

एक दिन श्री स्वामीजी ने श्रीमान् माधवरावजी के कथन से एक व्याख्यान राजधर्म्म पर दिया। उसमें उन्होंने आर्य्य राज्य-पद्धति का चित्र चित्रण करके राष्ट्रनीति-विशारदों को भी आश्चर्य चकित कर दिया। किसी भी विद्यमान राज्य-प्रबन्ध पर, किंचिदपि कटाक्ष किये बिना, महाराज ने राजा और प्रजा के धर्म्मों और सम्बन्धों का ऐसी योग्यता से निरूपण किया कि व्याख्यान की समाप्ति पर माधवराव महोदय ने भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

बड़ोदा राज्य के दीवान बहादुर ने एक दिन महाराज को भोजनार्थ अपने गृह पर निमन्त्रित किया। जब महाराज भोजन पाकर लौटने लगे तो एक सहस्र रजत मुद्रायें श्री-चरणों में भेंट कीं। महाराज ने वह रुपया न लिया और कहा—"मैं कुरीतियों का खण्डन करता हूँ। यदि यह रुपया ले लूँगा तो गोसाँइयों को अपनी पधरावनी के लिए एक दृष्टान्त मिल जायगा।"

नवसारी का एक भूमिहार किसी अपराध के कारण, चिरकाल से कारा-वास में पड़ा हुआ था। उसका निर्णय होने में ही न आता था। उसके सम्बन्धियों ने एक दिन पण्डित कृष्णाराम इच्छाराम को कहा कि स्वामीजी के पास दीवान आदि सभी अधिकारी आते हैं। यदि उनको कहकर महाराज हमारे बन्धु का निर्णय शीघ्र करा दें तो हम उन्हें पचास-साठ सहस्र तक रुपया देने को समुद्यत हैं।

पण्डित जी ने ऊपर की वार्त्ता गुरुचरणों में निवेदन कर दी। इस पर स्वामीजी ने कहा कि राज्य-कार्य में हस्तक्षेप करना हमारा काम नहीं और फिर शुल्क लेकर तो महापाप है! हाँ यदि वह बद्ध पुरुष निरपराधी है तो समयानुसार छूट ही जायगा। वह भूमिहार, उसके पश्चात् थोड़े ही दिनों में मुक्त हो गया।

एक दिन रावबहादुर शंकर पाण्डुरङ्ग राज्य-अनुवादक स्वामीजी के मिलापार्थ बड़ोदा में आये और विनीत नमस्कार करके वार्त्तालाप करनेलगे। प्रसंग आ पड़ने पर रावबहादुर ने अपने ऋग्वेद-भाष्य का नमूना महाराज के आगे रखकर कहा कि यदि आप मेरे साथ मिलकर मेरी पद्धति पर वेद-भाष्य करें तो बहुत ही अच्छा हो। स्वामीजी ने उसके कुछ पृष्ठों को पढ़कर कहा कि आप मोक्षमूलर और सायण के पीछे चलना चाहते हैं। मैं तो इन दोनों

भाष्यकर्त्ताओं को आर्षशैली से अनभिज्ञ समझता हूँ। आप मेरे साथ मिल जाइए अथवा मुझे अपने साथ मिला लीजिए, परन्तु यह सुनिश्चित है कि मैं अनार्ष कल्पना पर कार्य्य कदापि नहीं करूँगा।

राव महाशय इस उत्तर से निराश होकर चले गये।

उधर बम्बई नगर में पौराणिक पण्डितों ने बड़ा ऊधम मचा रक्खा था। वे आर्य्य-समाजियों को शास्त्रार्थ करने के लिए वार-बार विवश कर रहे थे। इसलिए महाराज भी वहाँ शीघ्र ही आ गये और पण्डित-दल को आह्वान करने लगे। इन लोगों ने जब सुना कि दयानन्द बम्बई आ गये हैं तो लगे इधर-उधर मुँह छिपाने। बम्बई में, उस समय, कमलनयनाचार्य चोटी के पण्डित गिने जाते थे। लोगों ने अत्याग्रह से उन्हें शास्त्रार्थ के लिए सुसज्जित किया। आषाढ़ वदी ३ संवत् १९३२ को 'फ़रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट' में शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ। लोग नियत समय से बहुत पहले ही आने लगे। दिन के तीन बजे स्वामीजी भी उस स्थान पर पधारे। उनको अति सम्मान से चौतरे के ऊपर कुर्सी पर बैठाया गया। महाराज के सामने कमलनयन जी के लिए कुर्सी रक्खी गई। उन दोनों कुर्सियों के मध्य में, कोई ढेड़ सौ संस्कृत पुस्तकें प्रमाण के लिए रक्खी गई। चौतरे के नीचे समाचार-पत्रों के आठ संवाददताओं के बैठने का प्रबन्ध किया गया। उस सभा में नगर के प्रायः समस्त सेठ, सज्जन, गण्य-मान्य और अधिकारी जन आये हुए थे। शास्त्रियों का समूह भी पर्याप्त था। स्वामीजी के पहुँचने के आध घण्टा पीछे, बीस-पच्चीस शिष्यों सहित कमलनयनजी भी आ गये और स्वामीजी के सामने विराजमान हुए। उस समय, सभापति रावबहादुर बेचरदासजी को बनाया गया।

सभापति महाशय ने अपनी वक्तृता में सभा के उद्देश्य और नियम सब को सुना दिये। तदनन्तर कमलनयन जी खड़े होकर बोले—"शास्त्रार्थ तब किया जायगा, जब यहाँ आये हुए समस्त पण्डित अपने-अपने सम्प्रदाय का नाम बता दें।"

लोगों ने उनको बहुत समझाया कि लोगों से उनके सम्प्रदाय का नाम-निर्देश कराना सर्वथा असङ्गत है। इससे आपका कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता। परन्तु आचार्य महाशय अपने हठ से राई और रत्ती भर भी इधर-उधर न हुए। महाराज ने अति मधुर और मृदु शब्दों में कहा—"कमलनयनजी! आज का दिन

मैं माङ्गलिक मानता हूँ कि आप सत्यासत्य के निर्णय के लिए मेरे सामने पधारे हैं। इतना बड़ा जनसमुदाय सच-झूठ के जानने की जिज्ञासा ही से यहाँ सम्मिलित हुआ है। अब, आपका परम कर्त्तव्य है कि प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाण देकर प्रतिमा-पूजन के पक्ष का पोषण करें। यद्यपि, व्यवस्था देने के लिए पक्षपात रहित सभापति जी हैं, परन्तु सर्वोपरि मध्यस्थ-चारों वेद हम दोनों के बीच स्थापित हैं। अपने पक्ष की सिद्धि के लिये, इनमें से एक तो प्रमाण निकालिए।" महाराज की ओजस्विनी वाणी से, तेजस्विनी आकृति से और असीम साहस से पराभूत होकर कमलनयन जी तो चौकड़ी ही भूल गये। वे बार-बार इसी बात की रट लगाने लगे कि 'शास्त्रार्थ तभी होगा, जब पण्डित लोग अपने सम्प्रदाय का नाम बतायेंगे' और अन्त में अतीव लज्जित होकर सभा से उठकर चले गये। उनके चले जाने से सारी सभा पर स्वामीजी के पक्ष की सचाई छा गई, उनके पाण्डित्य का सिक्का बैठ गया।

उसी सभा में, एक सेठ के पूछने पर महाराज ने कहा कि मूर्ति-पूजा बौद्ध और जैन लोगों से चली है, पुरातन नहीं है।

महाराज ने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध वहाँ एक प्रभावशाली व्याख्यान भी दिया और जब वे डेरे को आने लगे तो उनके गले में फूलों का एक अत्युत्तम हार पहराया गया।

पञ्जाब प्रान्त के होशियारपुर जिले के अन्तर्गत हरयाना नामक एक नगर है। उस नगर की एक कुलीन लड़की तरुणावस्था ही में वैराग्यवती हो गई थी। सब परिवार-परिजन का परित्याग करके काषायाम्बर के वेषमें रहती थी। उसने अपने गुरुजनों के समीप वेदान्त के कुछ ग्रन्थ अध्ययन किये थे। उसका नाम उस समय भगवती था। स्वामीजी जब बम्बई प्रान्त में विचर रहे थे, उन्हीं दिनों में राजा जयकृष्णदास जी के प्रबन्ध से 'सत्यार्थ प्रकाश' छप कर प्रकाशित हुआ था। किसी प्रकार, वह ग्रन्थ उस देवी को भी प्राप्त हो गया। उसके पाठ से उसके वेदान्त के विचारों की लड़ी एकाएक टूट गई। विचारों के परिवर्तन से, उसके हृदय में स्वामीजी के लिये प्रगाढ़ भक्ति और उनके दर्शनों की तीव्र लालसा उत्पन्न हो गई। अन्त में वह भाई को साथ लेकर स्वामीजी के दर्शनों के लिये बम्बई पहुँची। स्वामीजी व्याख्यान के पश्चात् स्त्रियों को अपने स्थान पर नहीं आने देते थे, परन्तु उन्होंने सुदूर देश

से दर्शनार्थ आई देवी को वस्त्र की ओट बैठाकर वार्त्तालाप करने का अवसर प्रदान कर दिया। भगवान् के दर्शनों को पाकर माई भगवती अपने को निहाल हुई मानने लगी। कुछ एक प्रश्नोत्तर के पश्चात्, श्री स्वामीजी ने उसे उपदेश दिया—"स्त्री जाति में विद्या का बड़ा भारी अभाव है। उनको कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का कुछ भी बोध नहीं। यदि आप पुण्योपार्जन करना चाहती हो तो अपने प्रान्त में जाकर, अपनी बहिनों में विद्या का प्रचार करो। जो कुछ जानती हो, वही उन्हें सिखाने लग जाओ।"

माई भगवती ही पहली पुण्यवती देवी थी, जिसको महाराज ने उपदेश करके स्त्री-जाति के सुधार में सन्नद्ध किया। उस देवी ने बम्बई से आकर अपने नगर में स्त्री-सुधार का कार्य आरम्भ कर दिया।

बम्बई नगर में ही श्री महाराज ने 'संस्कार-विधि' और 'आर्याभिविनय' ये दो ग्रन्थ मुद्रित कराकर प्रकाशित किये। वेद-भाष्य करने का उद्योग भी आरम्भ हो गया था।

श्रीयुत महादेव गोविंद रानडे पूना में जज थे। उन्होंने स्वामीजी को पूना पधारने के लिए आग्रहपूर्वक विनती की। उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके महाराज ने आषाढ़ वदी १३ संवत् १९३२ को पूना पुरी में पदार्पण किया। यहाँ उनके पन्द्रह व्याख्यान बड़ी धूमधाम से हुए। इन व्याख्यानों से लोग इतने प्रभावित हुए कि स्थान-स्थान पर श्री स्वामीजी की ही चर्चा होती थी। महाराज के व्याख्यानों में श्रीमान् महादेव गोविन्द रानडे भी निरन्तर आया करते थे। व्याख्यानों के प्रबन्ध में भी उन ही का अधिक हाथ था।

जब महाराज की बिदाई का दिन आया तो लोगों ने स्वामीजी के सत्कार के लिए नगर-कीर्त्तन करने का प्रबन्ध किया। महाराज की सवारी का सारा प्रबन्ध रानडे के ही घर पर हुआ था।

सायं-समय, जब अन्तिम व्याख्यान समाप्त हुआ तो महाराज के गले में पुष्पमाला पहराई गई। एक पालकी में वेद रक्खे गए और स्वामी जी को हाथी पर आरूढ़ किया गया। ऐसे भारी समारोह के साथ नगर-कीर्तन-यात्रा निकली। उधर पूना नगर में, कुछ उपद्रव-प्रिय लोगों ने गर्दभानन्द आचार्य की सवारी निकाली! जैसे-जैसे नगर-कीर्तन आगे बढ़ता था, वे लोग भी कलह और कोलाहल की मात्रा बढ़ाते जाते थे; असंख्य अण्ड-बण्ड बातें बकते

थे। कई सभ्य पुरुष उन नर-पिशाचों की पैशाच-लीला को शत-शत वार धिक्कारते थे, परन्तु वे टलनेवाली मूर्तियाँ न थीं। कुछ पानी पड़ जाने के कारण मार्ग में कीचड़ हो रहा था। उपद्रवियों ने, स्वामी जी पर कीचड़ फेंकना आरम्भ कर दिया! ईंटें और पत्थर भी बरसाये!! उस समय रानडे महाशय भी साथ थे। स्वामी जी की सम्मति से उन्होंने पुलिस को कह दिया कि किसी को कुछ भी न कहा जाय। पामर पुरुष अपमान करते, अप-शब्द कहते, महामलीन कीचड़ फेंकते, विविध प्रकार से अवहेलना कर रहे थे, परन्तु स्वामी जी थे कि हँसते थे। उनके मुखमण्डल की रौनक लवलेश-मात्र भी न घटी। उनको यत्किञ्चित् रोष भी नहीं आया।

रानडे महाशय पर भी कीचड़ पड़ा। जब वे घर गए तो उनके कपड़े कीचड़ से लतपत देखकर लोगों ने कहा कि आप पर भी कीचड़ पड़ गया है! उन्होंने उत्तर दिया कि जब हमने एक पक्ष अवलम्बन कर लिया तो साथियों के साथ मानापमान पर हमें भी तो ध्यान न देना ही उचित था। रानडे महोदय के मन में महाराज के लिए बड़ा सम्मान था। वे उनको उस समय का तुलनातीत महापुरुष मानते थे।

एक दिन, पूना में तीस-चालीस पण्डित मिल कर स्वामी जी से शास्त्रार्थ करने आए परन्तु थोड़े समय में ही परास्त होकर चले गए।

दो मास पर्यन्त महाराज ने पूना नगर के अधिवासियों को उपदेश दिए। फिर बम्बई जाने का सङ्कल्प कर लिया।

भाद्रपद सुदी २ संवत् १९३२ को स्वामी जी पूना से लौटकर बम्बई में शोभित हुए। अब की बार श्रीयुत नवीनचन्द्र राय, प्रतापचन्द्र मोजमदार और डाक्टर भण्डारकर आदि ब्राह्मसमाजी सज्जन स्वामी जी के निकट वेद विषय पर वार्त्तालाप करने आए। इन लोगों का पक्ष था कि वेद में अग्नि आदि जड़ पदार्थों की स्तुति है। स्वामी जी ने उत्तर में मन्त्रों के अर्थ से और प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि जहाँ आप को जड़ पदार्थों की स्तुति का भ्रम होता है, वहाँ वास्तव में परमात्मा का वर्णन है।

स्वामी जी ने अपने सब कर्मचारियों को आज्ञा दे रक्खी थी कि ठीक समय पर भोजन कर लिया करो। समय पर भोजन पा लेने से आप स्वस्थ और सुखी रहोगे। शीघ्र निपट जाने से रसोइए को भी आराम मिल जायगा।

स्वामी जी के स्वभाव में, कार्य की नियमता और व्यवहारों की समानता समाई हुई थी। उनको इस बात का भी बड़ा ध्यान रहता था कि किसी छोटे-बड़े कर्मचारी पर अन्याय, अनीति न होने पावे। भोजन में भी इस बात को नहीं भुलाते थे। रसोई में कभी-कभी स्वयं आकर निरीक्षण किया करते थे कि कहीं किसी को नियत वस्तु से थोड़ी तो नहीं मिलती।

रसोई में आटा, दाल, भात और घृतादि भोज्य पदार्थ तोलकर दिये जाते थे। उन्होंने सबको कह रक्खा था कि आवश्यकता से अधिक पदार्थ न तो परसो और न ही लो; थाली में जूठन छोड़ना बहुत बुरा है। इसमें एक तो खाद्य वस्तु का व्यर्थ में नाश होता है और दूसरे यदि किसी को दिया भी जाय तो बिगाड़ कर देना विवर्जित है। जूठा अन्न किसी मनुष्य को भी नहीं देना चाहिए।

बम्बई में स्वामी जी ने नियम बनाया था कि नित्य के भोज्य पदार्थों से, घृतादि वस्तुयें प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी निकाल कर रख ली जायें। उन बचाई हुई वस्तुओं से आठवें-दसवें दिन कर्मचारियों को मिष्टान्न भोज्य दिया जाता था। एक कर्मचारी ने एक समय निवेदन किया––"आप रसोई में तोलकर वस्तुयें देते हैं। कहीं ऐसा न हो कि आपको लोग कृपण समझने लग जायें।"

महाराज ने मुस्करा कर कहा––"लोग मुझे क्या समझते हैं अथवा क्या समझेंगे इसकी चिन्ता तो मुझे स्वप्न में भी नहीं होती। पाठशाला में परिमित पदार्थ इसलिये देता हूँ कि अधिक न पकने से अन्न का नाश और निरादर नहीं होता। कर्मचारी जन आदि मिताहारी रहेंगे, तो उनको रोग भी न होगा और वे काम भी अच्छा करेंगे। मिताहार और मितव्यय से कोई कृश और कृपण नहीं हो सकता।" उन दिनों, स्वामी जी भी प्रायः सायंकाल भोजन नहीं किया करते थे। रात को केवल दूध ही लेते थे।

स्वामीजी प्रतिदिन, सवेरे तीन बजे उठते और कुल्ला आदि करके जलपान करते थे। शौच-स्नानादि से निवृत्त होने पर आसन लगाकर योगारूढ हो जाते थे। विविध आसनों द्वारा ही व्यायाम कर लेते थे। जिस समय, वे प्राणायाम के कुम्भक में अवस्थित होते थे तो उनकी मूर्ति तप्त स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान दिखाई दिया करती थी। उनके मुख-कमल की कांति अतीव उज्ज्वल होती थी। सूर्योदय से पूर्व ही, वे भ्रमणार्थ निकल जाया करते।

महाराज इतना शीघ्र चलते थे कि यदि कोई दूसरा उनके साथ जाता तो, उसे उनके साथ दौड़ना पड़ता था। चलते समय साँस नाक द्वारा ही लेते थे। सुदूर एकान्त स्थान में जाकर एक घण्टा तक समाधिस्थ रहते। फिर आठ बजे आसन पर लौट आते। बाहर से आते ही अपने पाँव और पादरक्षक झाड़ने लगते; परन्तु विद्यार्थी उन्हें यह कार्य्य प्राय: नहीं करने देते थे। वे आप दौड़कर झाड़ने लग जाते थे। तदनन्तर श्री महाराज, शवासन होकर बीस पलतक विश्राम लेते। उस समय उनका शरीर निश्चेष्ट हो जाता था। विश्राम के पश्चात् सेर भर दूध पान करते थे। उसी समय कर्मचारी उनके निकट आ उपस्थित होते थे। तत्काल लिखने आदि का कार्य आरम्भ हो जाता था और दिन के ग्यारह बजे तक निरन्तर होता रहता था।

महाराज भोजन के समय भी स्नान किया करते, इसलिए, कार्य्य से उठकर स्नान करके भोजन पाते। वे दो तोले से अधिक घी और छोटे-छोटे आठ फुलकों से अधिक अन्न नहीं खाते थे। वे ग्रास को अच्छी प्रकार चबाते और आहार करने में कोई आध घण्टा लगाते थे। उसी समय समाचारपत्र भी सुन लिया करते थे।

भोजन के पश्चात् आधी घड़ी तक बायें करवट के भार पड़कर आराम करते और फिर उठकर सायं के चार बजे तक कार्य-परायण रहते। ठीक चार बजे मिलने-जुलने वाले आया करते थे। महाराज, उस समय से रात के दस बजे तक लगातार प्रश्नों के उत्तर देते और लोगों के संशय मिटाते। ठीक दस बजे, श्री महाराज सादा पर स्वच्छ बिछौना बिछाकर शय्याशायी हो जाते। निद्रा उनके इतने वश में थी कि खाट पर पड़ते ही तुरन्त उनकी आँख लग जाती। दो-तीन पलपर्यन्त भी उनको निद्रा की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी।

: २ :

दिल्ली दरबार : धार्मिक एकता का सुप्रयास

सुचिर काल तक, बम्बई प्रान्त के अधिवासियों को महाराज उपदेशामृत पिलाते और भव-सागर से पार उतारते रहे। फिर अन्त में आगरा और अवध के प्रान्तों की यात्रा के लिए प्रस्तुत हो गये।

ज्येष्ठ वदी १ सं० १९३३ को स्वामी जी पाँचवी बार फर्रुखाबाद में आकर विराजमान हुए। उस समय फर्रुखाबाद की पाठशाला में अध्यापकों ने बड़ा गोलमाल कर रक्खा था। वे प्रच्छन्न रूप से स्वामी जी के विरुद्ध चलते थे। इसलिए महाराज ने वह पाठशाला तोड़ दी।

ज्येष्ठ सुदी १ संवत् १९३३ को फर्रुखाबाद से प्रस्थान करके स्वामी जी ने कायमगंज, काशी, जौनपुर और अयोध्या आदि नगरों में धर्म्म-प्रचार किया। लोगों को सरल और सन्मार्ग दिखाया। तत्पश्चात् आश्विन सुदी नवमी संवत् १९३३ को श्री महाराज लखनऊ पधारे। हुसैनगञ्ज में सरदार विक्रमसिंह आहलूवालिया की कोठी में ठहरे। लखनऊ के अधिवासी श्री रामाधार जी स्वामीजी से पहले ही से सुपरिचित थे। इसलिए उनकी सेवा-शुश्रूषा से वही अधिक लाभ उठाते थे। स्वामी जी ने वहाँ एक बङ्गीय महाशय को सेवा में रखकर उससे अंग्रेजी सीखना आरम्भ किया था। इससे कई लेखकों ने जो यह अनुमान किया कि वे यूरोप महादेश में प्रचारार्थ जाना चाहते थे सो भ्रममूलक प्रतीत होता है। यदि यूरोप जाने का उनका सङ्कल्प होता तो वे अधिक काल तक अधिक समय लगाकर अंग्रेजी पढ़ते, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। महाराज ऐसे भी नहीं थे कि उनके सङ्कल्प, पानी की रेखा की भाँति इधर बनते और उधर मिटते रहते थे। वे सुदृढ़ सङ्कल्प के धनी थे। यदि वे यूरोप जाना चाहते तो एक-चित्त होकर थोड़े ही समय में सुसज्जित हो जाते। यह कल्पना बहुत ही ठीक है कि सङ्गठन-कार्य में लग जाने से उनका पत्र-व्यवहार बहुत ही बढ़ गया था। प्रतिदिन अनेक रजिस्टर्ड पत्र आते थे। रुपया भी प्रायः आता-जाता रहता था। पुस्तकों को छपने भेजना, प्रूफ आदि मंगाना और लौटाना ये कुछ ऐसे कार्य हैं कि उस समय अंग्रेजी जाने बिना ठीक नहीं निभ सकते थे। इसी कारण से वे अंग्रेजी सीखने लगे थे।

आश्विन सुदी १२ संवत् १९३३ को स्वामी जी का व्याख्यान 'ईश्वर की निराकारता' पर हुआ। सुनने वालों की संख्या बहुत बड़ी थी। व्याख्यान को सुनकर लोग अत्यन्त प्रभावित हुए। लखनऊ में लाला व्रजलाल जी एक सम्भ्रान्त व्यक्ति रहते थे। उन्होंने महाराज से प्रश्नोत्तर करके अपने सकल संशय निवारण किये।

स्वामीजी ने एक 'संस्कृत वाक्य-प्रबोध' नामक पुस्तक छपवाई थी। उस में कुछ अशुद्धियाँ रह गईं थीं। इस पर काशी के पण्डितों ने स्वामी जी की योग्यता पर तीक्ष्ण आक्षेप किये। स्वामी जी के शिष्य, उन अशुद्धियों को शुद्ध करने के लिए सु-सज्जित हो गये। परन्तु महाराज ने उनको कहा—"मिथ्या पक्ष को ग्रहण करके झगड़ना धार्मिक जनों का काम नहीं है! सरलता से अशुद्धियाँ मान लो और दूसरे संस्करण में वह पुस्तक शुद्ध करके मुद्रित कराओ।"

एक दिन पण्डित प्रभुदयाल ने स्वामी जी से पूछा—"मीमांसा के जिन सूत्रों का अर्थ लोग पशु-वध करते हैं आप उनको कैसे लगाते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"मीमांसा में पशु-वध-विधायक सूत्र कोई भी नहीं है। सूत्रों का हिंसापरक अर्थ करना भाष्यकारों की भारी भूल है। उन सूत्रों में 'आलम्भन' शब्द आता है, जिसके दो अर्थ हैं—एक स्पर्श और दूसरा वध। यदि उन सूत्रों के आलम्भन शब्द का अर्थ स्पर्श कर दिया जाय तो उनके अर्थों में कोई बाधा नहीं आती और सङ्गति भी लग जाती है।"

स्वामी जी ने प्रभुदयाल जी से वार्त्तालाप करते हुए यह भी कहा, "मैंने वेदों में एक-एक मन्त्र को भली भाँति विचार-दृष्टि से जाँच लिया है। उनमें ऐसा एक भी मन्त्र नहीं है, जो अयुक्त सिद्ध हो सके। जैसे सर्राफ रुपयों को परख कर थैली में रख लेता है और फिर उनकी निर्दोषता में निर्भ्रान्त हो जाता है, ऐसे ही एक-एक वेद मन्त्र को युक्ति और प्रमाण की कसौटी पर कस कर, उनकी सत्यता में मैं निस्सन्देह हो गया हूँ।" एक व्यक्ति ने स्वामी जी को कहा, "आप ग्रन्थों के शब्दों का अर्थ उलट देते हैं।" उन्होंने हँसकर कहा, "मैं तो अर्थ नहीं उलटता, उलटने वाले कोई और ही हैं। हाँ, उनके उलटे हुए अर्थों को अवश्यमेव उलट देता हूँ।"

लखनऊ-निवासी लोगों को कृतार्थ करने के अनन्तर, महाराज वहाँ से कार्तिक पूर्णिमा संवत् १९३३ को चलकर शाहजहाँपुर में पधारे। वहाँ पाँच दिवस तक टिके। फिर मार्गशीर्ष वदी पञ्चमी को बाँस बरेली में आ गये। वहाँ उन्होंने लाला लक्ष्मीनारायण की कोठी में निवास किया। बरेली में आपके उपदेश भी होते रहे। मुरादाबाद निवासी, श्रीयुत इन्द्रमन जी स्वामी जी को कई स्थानों में मिल चुके थे। उनके उद्देश्यों और उपदेशों से मोहित

होकर उनके अनुयायी भी बन गये थे। स्वामी जी को मुरादाबाद में पदार्पण करने के लिए वे सदा अनुरोधपूर्वक विनती किया करते। उनकी अनुनय-विनय से महाराज बरेली से मुरादाबाद में आये। उनको स्वागतपूर्वक लाकर राजा जयकृष्णदास जी के बंगले में उतारा गया। उसी बङ्गले के चबूतरे पर महाराज, प्रतिदिन सायं समय, सत्संग लगाते और उपदेश देते।

मुरादाबाद में लाला क्षेमकरणदास आदि कई सज्जनों ने श्री महाराज के करकमलों से यज्ञोपवीत धारण किया। इस पर अनेक जन कहने लगे कि संन्यासियों को जनेऊ धारण कराने का अधिकार नहीं है। एक यजमान ने स्वामी जी से ऐसा प्रश्न भी कर दिया। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि संन्यासी से यज्ञोपवीत लेना शास्त्रोक्त है।

पादरी पार्कर महाशय, प्रतिदिन सवेरे पन्द्रह दिवस तक महाराज से धर्म्म-चर्चा करते रहे। यह धर्म्म-चर्चा नित्य तीन घण्टे तक राजा जयकृष्णदास के बगले पर ही होती थी।

उन्हीं दिनों में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन का अधिवेशन भी उसी बंगले के एक कमरे में हुआ करता था। वाद के अन्तिम दिन का विषय था "सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई ?" पादरी महाशय कहते थे कि सृष्टि को उत्पन्न हुए पांच सहस्र वर्ष बीते हैं। स्वामीजी महाराज उठकर एक दूसरे कमरे में गये और वहाँ से एक बिलौरी पत्थर लाकर उपर्युक्त एसोसिएशन के सदस्यों से पूछने लगे कि आप भूगर्भ-विद्यावेत्ता हैं। कृपया यह तो बतायें कि इस पत्थर को इस अवस्था में आने के लिए कितना समय लगा है। उन्होंने उत्तर दिया कि कई लाख वर्षों में इसका यह स्वरूप बना है। तब महाराज ने पादरी महाशय को कहा कि अब आप ही बताइए,जब सृष्टि को बने पाँच सहस्र वर्ष हुए तो लाखों वर्षों में यह पत्थर कैसे बन गया ? इस पर पादरी महाशय बहुत कटे और लगे इधर-उधर की बातें बनाने।

इस धर्म्म-चर्चा का लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनको ईसाई धर्म्म के विविध वाद विद्या-विरुद्ध दीखने लगे।

एक दिन स्वामीजी के उपदेश में वेंकटेश्वरदास नामक एक चक्रांकित वैष्णव आ निकला। वह 'आ कृष्णेन रजसा' इस मन्त्र को बोलकर बार-बार कहता था कि दयानन्द ! इसका अर्थ बता। इन्द्रमनजी ने उसे बहुत कहा कि

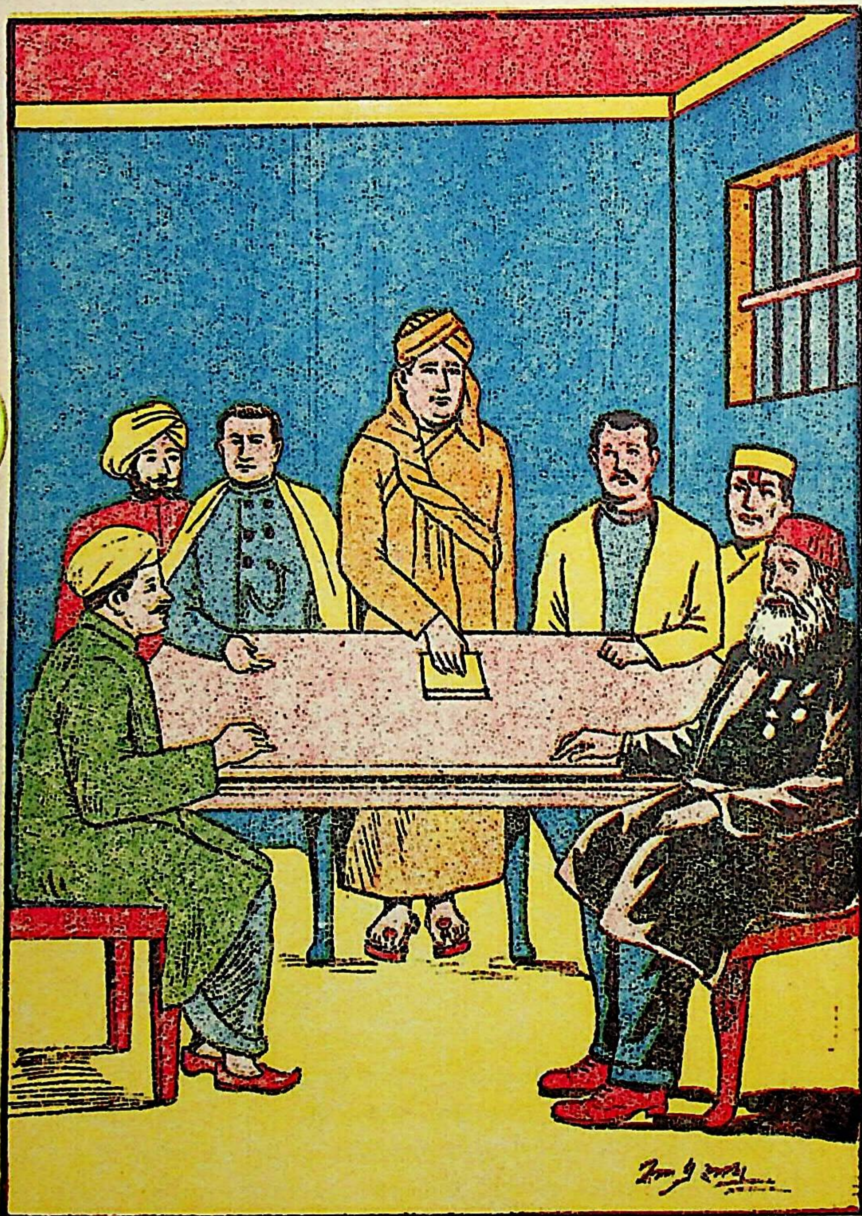
व्याख्यान में विघ्न-बाधा न करो। इसकी समाप्ति पर यथेष्ट प्रश्न पूछ लीजिएगा। परन्तु वह महात्मा मौन साधने वाली मूर्ति न थे। अन्त में महाराज ने उसको उस मन्त्र का अर्थ ईश्वर पर घटा कर बताया। वह इससे और भी अधिक भड़क उठा और असंख्य अपशब्द सुनाने लगा। महाराज बहुत देर तक तो उस मूढ़मति की मूर्खता पर मुस्कराते रहे, परन्तु जब देखा कि यह ग्रह टलने ही में नहीं आता तो उससे बोले कि यदि मेरा किया अर्थ ठीक नहीं तो अपना ही बताइए। वास्तव में वह वैष्णव देवता था निरा भोजनभट्ट, इसलिए कुछ भी न बता सका। इस पर सारी सभा ने उसे लज्जित किया।

मुरादाबाद के कई समृद्धिशाली पुरुषों ने वाराङ्गनायें रक्खी हुई थीं। स्वामीजी के उपदेश को सुनकर उनमें से अनेक सुधर गये। उनके पारिवारिक जीवन में सुख का संचार हो गया।

महाशय दयालसिंह जी एक समृद्ध पिता के एकलौते पुत्र थे। वे चाण्डाल चौकड़ी के चक्र में आकर कुव्यसनों का घर बन गये थे। कुसंगतिवश, उनमें मदिरापान की बान बहुत बढ़ गई थी। रात-दिन मद्य में मत्त रहते थे। मित्रों की प्रेरणा से वे भी एक दिन स्वामीजी के उपदेश में जा पहुँचे। दैवयोग से उस दिन स्वामीजी सुरापान के दोष दिखाकर उसका खण्डन कर रहे थे। उस समय उन्होंने सुरासेवी मनुष्यों की दुर्दशा का चित्र ऐसे मर्मस्पर्शी शब्दों में खींचकर दिखाया कि दयालसिंह का हृदय थर्रा उठा। व्याख्यान की समाप्ति पर महाशय जी ने श्री-चरणों को छूकर प्रतिज्ञा की—"आज से मैं सुरा-पानरूप पाप-पङ्क में कदापि पदार्पण नहीं करूँगा।" इस प्रण के पश्चात् उनको अतिसार लग गये। वे कई दिनों तक चारपाई पर पड़े रहे। प्राणान्तकारी कष्ट भी होने लगा, ऐसे समय में ममता की मारी माता ने आप सुरा देकर पुत्र को पान के लिए प्रेरणा की। परन्तु प्रतिज्ञा के पक्के दयालसिंह ने अपना व्रत भंग नहीं किया।

श्रीमान् बक्षीराम जी ने एक दिन महाराज से अति विनयपूर्वक योग के साधन पूछे। पहले तो महाराज बताने से संकोच करते थे परन्तु उनके अत्याग्रह करने पर कृपा की कि जो अभ्यास कभी मैं भी किया करता था वही आपको बताता हूँ।





महारानी विकटोरिया के दिल्ली राज्याभिषेक के समय ऋषि दयानन्द का
श्री केशव चन्द्र सेन, सर सैयद अहमद, नवीन चन्द्र राय आदि सुधारकों के

स्वामी जी ने यह मन्त्राभ्यास बताया :—

ओम् भूः ओम् भुवः ओम् स्वःओम् महः ओम् जनः ओम् तपः ओम् सत्यम् ॥तत्सवितुर्वरेण्यं,भर्गो देवस्य धीमहि।धियो यो नःप्रचोदयात्॥ ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् स्वाहा ॥

महाशय बक्षीराम जी ने महाराज के आदेशानुसार इस पाठ का आराधन किया और उनको बड़ी शान्ति लाभ हुई।

मुरादाबाद नगर में धर्म्म-प्रचार और आर्य्यसमाज की स्थापना के पश्चात् स्वामी जी कर्णवास आदि स्थानों में विचरते हुए दिल्ली जाने का उद्योग करने लगे।

दिल्ली में महाराणी विक्टोरिया के महोत्सव के उपलक्ष में एक बड़ी राजसभा होने वाली थी। उसके लिए सभी राजे-महाराजे और प्रतिष्ठित नागरिक राज-निमन्त्रण से वहाँ एकत्र हो रहे थे। कहा जाता है कि महाराजा इन्दौर ने ऐसे अवसर पर धर्म्म-प्रचार करने के लिए स्वामी जी को निमन्त्रित किया था। वे राज-मण्डल में भी उनके भाषण कराना चाहते थे। स्वामी जी दिसम्बर मास के अन्त में ठाकुर मुकुन्दसिंह जी के साथ अलीगढ़ से दिल्ली को पधारे। वहाँ आकर उन्होंने नगर से बाहर शेरमल के अनार बाग में डेरा लगाया। प्रचार और निवासादि के लिए उस उद्यान में तम्बू लगा दिये गये। उद्यान के प्रवेश द्वार पर एक पट्टे पर 'स्वामी दयानन्द सरस्वती कानिवास-स्थान' लिखकर लटका दिया गया।

पण्डित भीमसेन जी, राजा जयकृष्णदास जी, छलेसर निवासी ठाकुर मुकुन्दसिंह जी, ठाकुर भूपालसिंह जी और श्रीयुत इन्द्रमन जी आदि अनेक सज्जन स्वामी जी के पास ही ठहरे।

दिल्ली में, विज्ञापन वितरण होने पर स्वामी जी के सत्सङ्ग में सहस्रों मनुष्यों की भीड़ लगने लगी। सभी मतों और सभी जातियों के लोग स्वामी जी के निकट आते थे। एक मुसलमान सज्जन ने उनको कहा—"आप जो हिन्दुओं की मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करते हैं, यह बहुत अच्छा काम है और ठीक इसलाम के अनुकूल है।" स्वामी जी ने उसे कहा—"मैं तो सब मतों की मूर्ति-पूजा का खण्डन करता हूँ। पुराणपन्थियों की प्रतिमायें परिमाण में चार अङ्गुल से एक हाथ तक की होती हैं। इनको तो किसी प्रकार हटाया

जा सकेगा। परन्तु मुसलमानों की मूर्तियाँ तो कब्र आदि के रूप में तीन-खाने मकानों से भी बड़ी हैं। उनको हटाना अति दुष्कर है।" यह सुनकर वह सज्जन चुप हो गया।

एक श्रीकृष्ण-भक्त स्वामी जी के पास आया और उनके आगे मिट्टी की डली रखकर बैठ गया। स्वामी जी ने उससे पूछा—"यह मिट्टी कैसी है?" वह बोला—"बाल-काल में श्रीकृष्ण जी ने मृत्तिका खाई थी इसलिए, मैं यह मिट्टी प्रसादरूप आपके निकट लाया हूँ।" उन्होंने कहा—"भोले भाई! बच्चे मिट्टी खाया ही करते हैं। सो कृष्ण जी ने भी खाई होगी, परन्तु तरुण मनुष्य तो मिट्टी नहीं खाते।"

वैसे तो स्वामी जी के स्थान पर उच्च-कोटि के अनेक मनुष्य आया करते थे; कश्मीर राज्य के मन्त्री सन्तराम जी ने भी उनके दर्शनों से लाभ उठाया था, परन्तु स्वामी जी महाराज जो चाहते थे वह यह था कि राजों-महाराजों की सभा करके सब आर्य्यों में एक धर्म्म और एकता का तागा पिरो दिया जाय। पर अनेक कारणों से इसमें सफलता न हो सकी। भारतीय भूपालों से आशा को सफल न होते देख, एक दिन महाराज ने अपने स्थान पर, भारत के भिन्न-भिन्न मतों और जातीय विभागों के नेताओं की एक सभा बुलाई। उनके निमन्त्रण पर पंजाब के प्रसिद्ध सुधारक कन्हैयालाल जी अलख-धारी, श्रीयुत नवीनचन्द्र राय, श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, सर सय्यद अहमद, श्री केशवचन्द्रसेन और श्री इन्दमन जी, ये छः सज्जन वहाँ पधारे। उनमें सातवें श्री महाराज सम्मिलित हुए और सब मिलकर भारत के हित के साधनोपाय सोचने लगे। यह बात सहज से समझ में आ सकती है कि आर्या-वर्त की उच्च आत्माओं ने उस सम्मेलन में भारत-प्रजा के सुधार और निस्तार के अनेक साधन सोचे होंगे। परन्तु प्रसंग से संबंध रखने वाली बात यह है कि इस अभूतपूर्व सभा में, स्वामी जी ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि हम भारतवासी सब, परस्पर एक-मत होकर एक ही रीति से देश का सुधार करें तो आशा है, भारत देश सुधर जायगा।

उन्होंने श्री केशवचन्द्रसेन आदि सज्जनों को यह भी कहा कि पृथक्-पृथक् सभा स्थापन करने के स्थान यदि हम मिलकर एक ही धर्म्म का प्रचार

करें तो बहुत ही अच्छा हो। परन्तु कई मौलिक मन्तव्यों में मतभेद होने के कारण वे सब एकता के सूत्र में सम्बद्ध न हो सके।

स्वामी जी का एक सेवक राजों-महाराजों के डेरों पर विज्ञापन बाँटने जाया करता था। उसने स्वामी जी से कहा—"महाराज! यदि आप ऊपर से पौराणिक बनकर भारत के राजों में प्रचार करें तो आप को, अति अल्पकाल ही में, आशातीत सफलता प्राप्त हो जाय।" स्वामी जी ने उसे भर्त्सनापूर्वक कहा—"मैं अमृत को विष में मिश्रित करके देना नहीं चाहता। सचाई को छिपाना महापाप है। अन्त में सत्य ही की जय हुआ करती है।"

दिल्ली में श्री महाराज के दर्शनों से पंजाबी सज्जन अतीव प्रसन्न हुए। उनके हृदयों में महाराज के लिए भक्तिभाव उत्पन्न हो आया। अपने प्रान्त-वासियों को भी, उस महापुरुष के दर्शनों से निहाल करने के लिए एक दिन सरदार विक्रमसिंह जी आहलूवालिया, पण्डित मनफूल जी और श्रीयुत कन्हैया-लाल जी अलखधारी आदि सज्जनों ने श्री-सेवा में जाकर प्रार्थना की कि भगवन्! पंजाब में भी पधारकर उपदेश कीजिए। हमारे प्रान्त के लोग आपके उपदेश सुनने के लिए अतीव उत्कण्ठित हैं। श्री स्वामी जी ने उनकी विनीत विनती को स्वीकार कर लिया और अनुकूल अवसर पर पधारने का वचन दे दिया।

इसके पश्चात् श्री स्वामी जी दिल्ली से प्रस्थान कर ६ जनवरी सन् १८७७ को भीमसेन सहित मेरठ पधारे और सूर्यकुण्ड के निकट महताबसिंह जी की कोठी में ठहरे। स्वामी जी के स्थान पर मिलने-जुलने वाले लोग बहुत आते थे। शङ्का-समाधान भी होता रहता था।

फाल्गुन वदी ७ संवत् १९३३ को मेरठ से चलकर स्वामी जी सहारनपुर आ विराजे। उस समय उनके साथ पण्डित भीमसेन जी आदि कई विद्यार्थी थे। महाराज ने अपना डेरा कन्हैयालाल के शिवालय में लगाया। सहारनपुर में चण्डीप्रसाद नामक एक सज्जन ने स्वामी जी से धार्म्मिक और सामाजिक अनेक प्रश्न पूछे, जिनका उन्हें सन्तोषजनक उत्तर मिल गया। उन्हीं प्रश्नों में चण्डीप्रसाद जी का एक यह भी प्रश्न था कि—"भारत के लोग स्त्रियों को इसलिए आवरण में रखते हैं कि वे धर्म्म से पतित न हो जायें। ईसाई लोग अपनी स्त्रियों को पड़दा नहीं कराते और स्वच्छन्दता से भ्रमण के लिए ले

जाते हैं। आर्य स्त्रियों पर पड़दा होते भी वे आचार में ईसाई स्त्रियों से अधिक गिर जाती हैं, इसका क्या कारण है ?" स्वामी जी ने उत्तर में कहा—"आर्यों में पड़दे की रीति पुरातन नहीं है। यह मुसलमानों के राज्य से प्रचलित हुई है ! नित्य नये उपद्रवों से अपनी बहू-बेटियों को बचाये रखने के लिए, उस अत्याचार के युग में, आर्य्यों ने यह रीति चलाई थी। परन्तु अब मूढ़ लोग इसे धर्म्म मानने लग गये हैं।"

स्वामी जी के प्रभावोत्पादक भाषण, चित्रगुप्त के मन्दिर में होते थे। श्रोताओं की संख्या इतनी होती थी कि कहीं तिल धरने को स्थान न रहता था। जन-संघट्ट के मारे साँस घुटा जाता था। नगर के सभी प्रतिष्ठित सज्जन, पंच और पुरोहित सुनने आते थे। महाराज के व्याख्यानों में इतनी चुपचाप होती थी कि कोई खाँसता तक न था। सभी श्रोताजन भित्ति पर चित्रित चित्र से बन जाते थे। स्वामी जी तीन-तीन घण्टों तक एकतार और एकरस बोलते चले जाते थे। उनके कथन में इतना प्रभाव था कि लोगों के मुख से आप ही आप धन्य-धन्य शब्द निकलने लगता था। एक व्याख्यान में स्वामी जी ने 'कौन सुखी है और कौन दुःखी है' इस पर यह दृष्टान्त सुनाया :—

"किसी नगर में एक धनाढय मनुष्य निवास करता था। उस पर अपराध-वश कोई अभियोग चल गया। राज-द्वार में उसके अभियोग के निर्णय के लिए जो तिथि नियत हुई थी, उसके कई दिन पहिले ही वह चिन्ता-सागर में डूब गया जबकि उसके सारे नौकर-चाकर बड़ी प्रसन्नता से खाते-पीते और कामकाज करते थे।

"अभियोग की तिथि आने पर उसको न्यायालय में पहुँचाने के लिए एक पालकी उपस्थित की गई। उसमें सुकोमल वस्त्र बिछा हुआ था और खस की टट्टियाँ लगी हुई थीं। उसमें आरूढ़ होकर, वह धनी न्यायालय को गया, परन्तु उसके चित्त में चिन्ता की चिता प्रचण्ड हो रही थी। उसके मन में सुख का नाम तक न था। उसके नौकर उस समय भी प्रसन्नता से पालकी उठाये लिये जाते थे।" महाराज ने इसका सार यह समझाया कि "ऊपर के ठाठ-बाट और ऋद्धि-समृद्धि में सुख नहीं है। सुख तो मन की सम अवस्थाओं में रहता है।"

सहारनपुर में भी कुछ विरोधी लोग महाराज को कष्ट देने का यत्न करते थे; इसी के कारण उनको डेरा भी उठाकर दूसरे स्थान में ले जाना पड़ा।

: ३ :

चाँदापुर शास्त्रार्थ : सत्य की जय !

जिस समय स्वामी जी सहारनपुर में धर्म्म-नाद गुँजा रहे थे उस समय, शाहजहाँपुर से पाँच कोस के अन्तर पर, चाँदापुर ग्राम में ब्रह्म-मेला मनाने का उद्योग हो रहा था। इस मेले की नींव इस प्रकार पड़ी कि चाँदापुर गाँव में पादरी लोग जाकर अपना प्रचार किया करते थे। वहाँ के भूमिहार कबीरपन्थी थे। उनको पादरी लोग कहते थे कि कबीर को छोड़कर ख्रीष्ट को मान लो; आपकी मुक्ति हो जायगी। कबीरपन्थी सन्त उनके साथ वाद-विवाद भी क्रिया करते थे। परन्तु श्रीयुत प्यारेलाल आदि प्रतिष्ठित भूमिहारों ने इस बखेड़े को निपटाने के लिए, पादरियों की सम्मति से एक मेला लगाया। उसमें मौलवी भी निमन्त्रित किये गये। पादरियों, मौलवियों और कबीर-पन्थियों में ईश्वर आदि विषयों पर वादविवाद होता रहा।

मेले की समाप्ति पर चाँदापुर के चारों ओर यह प्रसिद्ध हो गया कि "मेले में कबीर-पन्थियों की भारी हार हुई है और मुसलमान जीत गये हैं।" श्री प्यारेलाल के भाई, श्री मुक्ताप्रसाद जी लेन-देन के व्यवहार में आस-पास के गाँवों में जाया करते थे। मेले के पश्चात् वे जिस ग्राम में जाते वहाँ के मुसलमान उनको कहते, "अब तो आपने इसलाम की सचाई देख ली है, फिर इसलाम को स्वीकार क्यों नहीं करते हो ? आपके क़बीर-पन्थ में पड़ा ही क्या है ?"

लोगों की नित्य की छेड़छाड़ और चिढ़ाने से श्री मुक्ताप्रसाद जी ने मन ही मन स्थिर कर लिया कि अब के वर्ष किसी ऐसे विद्वान् को बुलायेंगे, जो मुसलमानी मत को अच्छे प्रकार जानता हो और मौलवियों को वाद में नीचा दिखाकर हमारे पिछले सारे धब्बे को धो जाय। एक समीपस्थ ग्राम-वासी ने उनको बताया कि इस समय आर्यों में मुसलमानी मत के मर्म को जानने वाले इन्द्रमन जी मुरादाबादी हैं। उनके आने पर आपकी निश्चय ही

जीत होगी। इस विषय पर, श्री मुक्ताप्रसाद जी ने श्री इन्द्रमन जी से पत्र-व्यवहार किया। इन्द्रमनजी ने उनको उत्तर में लिखा, "मैं तो आ ही जाऊँगा, परन्तु इस समय भारत भर में वेद-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् श्री दयानन्द जी महाराज हैं। उनके सामने कोई भी मतवादी ठहरने नहीं पाता। यदि आप अपने विजय के निश्चय को सर्वथा सुनिश्चित बनाना चाहते हैं तो उनको अवश्य बुलाइए।"

इन्द्रमन जी के पत्र से पहले, इस छोटे से गाँव के अधिवासियों ने, महाराज का नाम भी न सुना था। उन्होंने इन्द्रमन जी से उनका पता पूछ कर, सहारनपुर में पत्रों द्वारा उनसे प्रबल प्रार्थना की कि आप चाँदापुर पधार कर हमारी डगमगाती नौका के नाविक बनें। उन्होंने महाराज के मार्ग-व्यय का भी प्रबन्ध कर दिया। श्री स्वामी जी चाँदापुर-वासियों को प्रोत्साहन का पत्र भेजकर आप भी दो-एक सेवकों सहित उसी ओर चल पड़े। शेष सेवकों को उन्होंने सहारनपुर ही में रहने का आदेश दिया। स्वामी जी पालकी में चाँदापुर पहुँचे। उस समय उनके साथ श्री इन्द्रमन जी भी थे। स्वामी जी ने गाँव में रहना स्वीकार न किया। मेले के स्थान पर ही एक स्वच्छ और उत्तम तम्बू में उनका डेरा कराया गया। यह स्थान, ग्राम से कोई आधा कोस दूर गर्रा नदी के किनारे था। वहाँ उस समय कबीरपन्थियों का एक छोटा सा आश्रम भी था। मेले का स्थान यद्यपि नदी तट पर था, फिर भी यात्रियों के आराम के लिए सात कूँये नये खुदवाये गये थे। १९ मार्च को मेला भरने लगा। मौलवी और पादरी अपने दल-बल-सहित बड़ी धूमधाम से उसी तिथि को वहाँ पहुँच गये। दर्शकों की संख्या भी पचास सहस्र से ऊपर थी। रात के समय, श्री इन्द्रमनजी ने कुछ भीत ध्वनि में स्वामी जी की सेवा में आ कर कहा, "महाराज! मौलवियों की मण्डली आ पहुँची है। मेले में दर्शक मुसलमानों की संख्या भी बहुत बड़ी होगी। ये लोग झटपट भड़क उठते हैं, इसलिए आप वाद के समय, अति कोमल शब्दों ही से काम लीजिएगा।" स्वामी जी ने उत्तर दिया, "असत्य का सम्भाषण और समर्थन करना मेरे लिए असम्भव है। सत्य मेरा बनाया हुआ नहीं है। वह सनातन है और ईश्वर का है। उस सत्य को यथावत् प्रगट करने में मैं किसी से, किंचिन्मात्र भी भय-भीत नहीं होता। आप भी न डरिये। मेरे होते कोई भी ऐसा माई

का लाल नहीं जो आपका बाल भी बाँका कर सके।"

२० मार्च को सवेरे के साढ़े सात बजे पण्डित, मौलवी और पादरी सभी सभा-मण्डप में आये और यथायोग्य कुर्सियों पर बैठ गये। बात की बात में वह विशाल मण्डप दर्शकों से ठसाठस भर गया। उस समय, श्री मुक्ता-प्रसाद जी ने अपने भाई प्यारेलाल जी की ओर से निम्नलिखित पाँच प्रश्न सब धर्म्मावलम्बियों के आगे रखकर उनका उत्तर माँगा :—

१. सृष्टि को ईश्वर ने किस वस्तु से, कब और क्यों रचा ? २. ईश्वर सर्वव्यापक है अथवा नहीं ? ३. ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है ? ४. वेद, बाइबल और कुरान के ईश्वर-वाक्य होने में क्या युक्ति है ? ५. मुक्ति क्या है और किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ?

मुक्ताप्रसाद जी जब प्रश्न उपस्थित करके बैठ गये तो थोड़ी देर, इस बात पर ही झगड़ा होता रहा कि पहले कौन बोले। अन्त में पादरी स्काट महाशय उठे और प्रथम प्रश्न पर कहने लगे कि यद्यपि, यह निकम्मा प्रश्न है; मेरी सम्मति में इस पर बोलना समय ही गँवाना है, तथापि इसका उत्तर देता हूँ। पादरी महाशय के उत्तर का सार यह था कि ईश्वर ने सृष्टि को 'नास्ति' से बनाया है। उसके बनाने के बरसों का हमें ज्ञान नहीं। संसार के सुख के लिए सृष्टि रची गई है।

फिर पहले प्रश्न पर मौलवी महाशय ने कहा कि ईश्वर ने सृष्टि को अपने स्वरूप से बनाया है। कब बनाया यह प्रश्न व्यर्थ है। हमें रोटी खाने से प्रयोजन है, न कि यह कब पकी थी, इससे। सारी वस्तुयें ईश्वर ने मनुष्य के लिए रची हैं और मनुष्य को अपनी स्तुति करने के लिए निर्माण किया है।

अपने-अपने कथन में पादरी और मौलवी एक दूसरे को कटुवचन कहते रहे थे, इसलिए, जब श्री स्वामी जी महाराज ने बोलना आरम्भ किया तो सबको सम्बोधन करके बोले, "यह मेला सत्य की जिज्ञासा से लगाया गया है। यह सबको निश्चयपूर्वक जानना चाहिए कि विजय सत्य की ही हुआ करती है। परस्पर पादरी को अथवा मौलवी को मिथ्यावादी और झूठा कहने से जीत नहीं हो सकती। हम सबका यह कर्तव्य कर्म्म है कि परस्पर के मेल-मिलाप से असत्य का खण्डन और सत्य का मण्डन करें। सत्यासत्य के निर्णय के लिए, वैर-विरोध छोड़कर संवाद करना विद्वानों का धर्म्म है।

कठोर, कटु वचन बोलना सभ्याचार के सर्वथा प्रतिकूल है।"

पहले प्रश्न के उत्तर में महाराज ने कहा, "सृष्टि को परमात्मा ने अव्यक्त प्रकृति से बनाया। वह परमाणु रूप प्रकृति जगत् का उपादान कारण है और आदि तथा अन्त से रहित है। अभाव से किसी वस्तु का भाव नहीं हो सकता। जैसे गुण कारण के होते हैं वैसे ही कार्य्य के भी हुआ करते हैं। इसलिए यदि जगत् का कारण नास्ति मानें तो कार्य्य को भी नास्ति रूप ही मानना पड़ेगा।"

महाराज ने यह भी कहा, "यदि यह माना जाय कि ईश्वर ने सृष्टि को अपने स्वरूप से रचा है तो जगत् भी ईश्वर रूप ही सिद्ध होगा। जैसे घड़ा मिट्टी से पृथक् नहीं हो सकता, ऐसे ही जगत् और ईश्वर भी एक ही ठहरें। फिर तो चोर, हत्यारा और पापात्मा होने का आरोप परमात्मा पर ही हो जायगा! इसलिए जो लोग जगत् के कारण प्रकृति को परमात्मा से पृथक् नहीं मानते उनका मत प्रमाण-प्रतिकूल और युक्तिशून्य है।"

सृष्टि कब बनी, इसका उत्तर भी अन्य मतावलम्बियों के पास नहीं है। हो भी कैसे? जब कि किसी मत को चले अठारह सौ, किसी को तेरह सौ, किसी को सात सौ और किसी को पाँच सौ वर्ष बीते हैं। इसका उत्तर तो हम आर्य्य लोग ही दे सकते हैं। क्योंकि हमारा ही धर्म्म सृष्टि के आदि में प्रवृत्त हुआ।

युगों का ब्योरा वर्णन करते हुए महाराज ने कहा कि प्रत्येक शुभ कर्म में आर्य्य पण्डित जो सङ्कल्प का पाठ उच्चारण करते हैं, उसमें सृष्टि के आदि से आज तक के वर्षों, मासों, दिनों और तिथियों की गणना विद्यमान है। इस सङ्कल्प के साथ आर्य्यजन सृष्टि के जन्म के इतिहास को अनवच्छिन्न रूप से ले आये हैं।

सृष्टि के रचने का प्रयोजन वर्णन करते हुए श्री महाराज ने कहा—"जीव और जगत् का कारण, स्वरूप से अनादि हैं और कार्य जगत् तथा जीवों के कर्म्म प्रवाह से अनादि हैं। जब सृष्टि का प्रलय हो जाता है तो उस समय भी जीवों के कुछ कर्म्म शेष रह जाते हैं। उन कर्म्मों का फल-भोग प्रदान करने के लिए न्यायकारी ईश्वर सृष्टि की रचना करता है।

"सृष्टि को रचने की शक्ति ईश्वर में स्वाभाविक है। उसने अपने सामर्थ्य

से, इसलिए सृष्टि निर्माण की है कि लोग धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करके सुख उपलब्ध करें।"

जब महाराज ने अपना कथन समाप्त किया तो उनके पक्ष पर मौलवियों और पादरियों ने कुछ शंकायें कीं, जिनका उन्होंने उसी समय सन्तोषजनक समाधान कर दिया।

महाराज के उत्तर देते समय सारी सभा में सन्नाटा छा रहा था। सभी जन प्रभावित हो रहे थे। ये सब बातें उस सभा के लोगों ने पहले कभी सुनी ही न थीं। उनको यह भी ज्ञान न था कि आर्य्य धर्म्म में भी ऐसा वीर हो सकता है, जो दूसरे मतवादियों को जीतकर दिखाये। इसलिए, दर्शक लोग आश्चर्यमय हो जाते थे। आर्य दर्शकों के हृदय तो प्रसन्नता-देवी के क्रीड़ा-केतन बन रहे थे। उस समय, सर्वत्र श्री स्वामीजी का ही यशोगान होता था।

दिन के ग्यारह बजे कार्यवाही समाप्त हुई। सभी मतों के प्रतिनिधि अपने-अपने तम्बुओं में चले गये। फिर दोपहर के पश्चात् एक बजे सभा लगी और सबने मिलकर यह स्थिर किया कि समय बहुत अल्प है, अन्य विषयों को छोड़कर केवल मुक्ति पर ही विचार किया जाय। पर उस समय पादरियों और मौलवियों में से कोई भी पहले बोलना न चाहता था। उनको यह भ्रम हो गया था कि सवेरे हमारा पक्ष इसलिए निर्बल सिद्ध हुआ कि हम पहले बोले थे।

जब कोई भी न उठा तो महाराज ने उठकर कहा— 'मुक्ति छूट जाने का नाम है। जितने भी दुःख हैं उनसे छूटकर सच्चिदानन्द परमात्मा की प्राप्ति से सदा आनन्द में रहना और फिर जन्म-मरण में न गिरना मुक्ति है।

"मुक्ति का पहला साधन सत्याचरण है, दूसरा वेद-विद्या का ठीक रीति से लाभ करना और सत्य का पालन करना है। तीसरा सत्पुरुषों और ज्ञानी जनों का सत्संग करना। चौथा योगाभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से निकालकर सत्य में स्थापन करना। पाँचवाँ ईश्वर की स्तुति करना, उसकी कृपा का यश वर्णन करना और परमात्म-कथा को मन लगाकर सुनना। और छठा साधन प्रार्थना है। प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए, हे जगदीश्वर कृपानिधे! हमारे पिता! मुझे असत् से निकालकर सत् में स्थिर

करो। अविद्यान्धकार और अधर्म्माचरण से पृथक् करके ज्ञान और धर्म्माचरण में सदा के लिए स्थापन करो। जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त कर अपनी अपार दया से मोक्ष प्रदान करो।"

"प्रार्थना का फल यह है कि जब कोई जन अपने सच्चे मन से, अपने आत्मा से, अपने प्राण से, अपने सारे सामर्थ्य से परमेश्वर का भजन करता है तब वह कृपामय परमात्मा उसको अपने आनन्द में निमग्न करदेता है। जैसे छोटा बालक, घर की छत पर से अथवा नीचे से, अपने माता-पिता के पास जाना चाहता है तो उसके माँ-बाप, इस भय से कि कहीं हमारे पुत्र को इधर-उधर गिर पड़ने से कष्ट न हो अपने सहस्रों कामों को छोड़, दौड़कर उसे गोद में उठा लेते हैं, ऐसे ही परम कृपानिधि परमात्मा की ओर यदि कोई सच्चे आत्मभाव से चलता है तो वह भी अपने अनन्त-शक्तिमय हाथों से उस जीव को उठाकर सदा के लिए अपनी गोद में रख लेता है। फिर उसको किसी प्रकार का कष्ट-क्लेश नहीं होने देता और वह जीव सदा आनन्द ही में रहता है। परमात्मा माता-पिता की भाँति अपने भक्तों को सदा सुख-सम्पन्न करने की ही कृपा करता है।"

इस प्रकार, महाराज ने नाना युक्तियों से अलंकृत भाषण किया। फिर कुछ परस्पर समालोचना के अनन्तर सायंकाल का कार्य समाप्त हो गया। यद्यपि स्वामीजी के कथनानन्तर दूसरे मतवादी भी बोले परन्तु उनके कथन में लोगों को कुछ भी तो रस नहीं आता था। जैसे सूर्य्य के सामने दीपक की ज्योति मन्द पड़ जाती है, ठीक ऐसी ही अवस्था स्वामीजी के सम्मुख अन्य मताभिमानियों की हो गई।

२१ मार्च को पादरी महाशय तो सवेरे ही वहाँ से चले गये। मण्डप में किसी ने यों ही झूठ-मूठ घोषणा कर दी कि मेला समाप्त हो गया है। स्वामी जी ने बहुतेरा बल लगाया कि यह मेला न्यून से न्यून पाँच दिवस तक तो होना चाहिए परन्तु मौलवी और पादरी ताड़ गये थे, इसलिए मेला बिखर ही गया। मेले की समाप्ति पर, बहुत से पादरी सज्जन श्री स्वामीजी के पास मिलापार्थ पधारे। महाराज ने उनका अत्यादर से स्वागत किया और फिर कुर्सियों पर बैठकर विविध धार्मिक विषयों पर वार्त्ताविनोद करने लगे।

एक पादरी ने मनोरञ्जन की रीति में स्वामीजी से कहा—"पण्डितजी !

आप सभ्य तो अवश्य हैं, परन्तु आर्य नहीं।" कारण पूछने पर उन्होंने कहा— "आर्य्य कहते हैं, श्रेष्ठ धर्मात्मा को। आपकी मान्य पुस्तक आपको श्रेष्ठ धर्म्मात्मा नहीं बताती।"

"एक बार श्री ईसा के शिष्यों ने उनसे पूछा था कि आप अन्धों और कोढ़ियों को चङ्गा कर देते हैं परन्तु हम क्यों नहीं कर सकते ? उत्तर में ईसा ने कहा कि तुम में राई जितना भी विश्वास नहीं है। जब गुरु के सामने ही शिष्यों में राई जितना विश्वास न था तो आज आप में कैसे हो सकता है ?" महाराज के इस कथन को सुनकर पादरी महाशय ने मूकभाव धारण कर लिया। वार्त्तालाप के प्रसंग में, स्वामीजी ने उनको यह भी कहा— "हमने बाइबल का आद्योपान्त पाठ किया है। उसमें ईसा ने कहीं भी नहीं कहा कि यदि मुझ पर विश्वास लाओगे तो तुम्हारी मुक्ति होगी। यह केवल पादरियों की ही कल्पना है।"

विदाई के समय, पादरियों ने उनके मिलाप पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और वे उनके विस्तृत ज्ञान का गुण-गान करते हुए चले गये।

एक दिन स्वामीजी ने श्री प्यारेलाल जी से भुने हुए चने मंगाए। उस समय श्री इन्द्रमन जी ने कहा—"स्वामीजी ! चनों में घुन हुआ करता है। चने भुनने पर भाड़ में वह भी भुन जाता है।" उन्होंने उत्तर दिया कि "गेहूँ में भी तो घुन हुआ करता है और दोनों के साथ ही चक्की में पिस जाता है, तो क्या आप आटा फेंकवा दिया करते हैं ?" इस पर इन्द्रमन जी अवाक् हो गये।

श्रीयुत प्यारेलालजी को निश्चय था कि स्वामीजी केवल सभा को जीतने वाले पण्डित ही हैं। योगविद्या में इनकी गति नहीं है। वे हमारे कबीर-पन्थियों की भाँति सन्त भी नहीं हैं। एक दिन प्यारेलाल श्री-सेवा में गये और परीक्षार्थ प्रश्न किया कि अजपा जाप क्या है ? स्वामीजी ने कहा कि अजपा जाप तो सबमें निरन्तर होता रहता है। उसको सुनने के लिए कुछ दिन साधन करना चाहिए। फिर प्यारेलालजी ने कहा—"हमारे मत में लिखा है, सोते समय साँस शब्दरूप होकर अनाहत नाद में मिल जाता है।" महाराज ने उत्तर दिया कि यह बात अनुभव विरुद्ध है इसलिये असत्य है। कालान्तर में अधिक अभ्यास करने पर प्यारेलाल जी को स्वामीजी के परम

योगी होने का पूर्ण विश्वास हो गया।

एक दिन, बक्षीरामजी मुरादाबादी और श्री इन्द्रमन जी स्वामीजी के निकट बैठे हुए बातें कर रहे थे। उस समय श्री महाराज ने उनको अपनी बीती कथा सुनाई, "जिन दिनों मैं एकाकी घूमता था, उन दिनों में मेरा एक ऐसे स्थान पर जाना हुआ जहाँ सभी शाक्त बसते थे। उन्होंने मेरी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। जब कई दिन के निवास के अनन्तर मैं वहाँ से चलने लगा तो उन लोगों ने अत्याग्रह से मुझे ठहरा लिया। मैं समझता रहा कि वे भक्ति-भाव से मुझे ठहराते हैं। ऐसे ही बहुत दिन बीत जाने पर उनका पर्व दिन आ गया। उस दिन सारे शाक्त, देवी के मन्दिर में एकत्र होकर गीत गाने लगे। उस दिन उन्होंने मुझे भी कहा कि आज हमारे मन्दिर में महोत्सव है, आप वहाँ अवश्य चलिए। मैंने बहुत समझाया कि देवी के दर्शनों में मेरा निश्चय नहीं परन्तु वे एक न सुनते थे। पाँव पकड़ कर कहने लगे कि यदि आज पर्व के दिन आप मन्दिर में न पधारेंगे तो हमारा सारा उत्साह भंग हो जायगा। आप मूर्ति को नमस्कार आदि कुछ भी न करना परन्तु हमारे लिए चले तो चलिए।

"वह मन्दिर, नगर से बाहर एक उजाड़ स्थान में था। उनके विवश करने पर मुझे उस मन्दिर में जाना पड़ा। उस समय वहाँ, आँगन में होम हो रहा था और लोग उत्सव मना रहे थे। मुझे वे दुर्गा की मूर्ति दिखलाने के बहाने भीतर ले गये। मैं सहज स्वभाव से दुर्गा की प्रतिमा के सम्मुख जा खड़ा हुआ। मूर्ति के पास ही एक बलिष्ठ व्यक्ति नंगी तलवार लिये खड़ा था। वहाँ, वे लोग मुझे कहने लगे कि 'महात्माजी! माता के आगे झुक कर नमस्कार अवश्य कीजिए।' मैंने उनको स्पष्ट शब्दों में कहा कि मुझ से ऐसी आशा करना दुराशामात्र है। मेरे वचनों से पुजारी चिढ़ गया और पास आकर मेरी ग्रीवा को पकड़ कर मेरे सिर को नीचा करने लगा! उसके इस वर्ताव से मैं चकित हो गया, परन्तु ज्यों ही मैंने दृष्टि फिराई तो क्या देखता हूँ कि वह खड्गधारी मेरे पास आ गया है और मेरी ग्रीवा पर खड्ग बरसाना ही चाहता है।

"इस दृश्य को देखकर मैं तुरन्त सावधान हो गया। मैंने झपट कर उसके हाथ से खड्ग छीनलिया। पुजारी तो मेरे बायें हाथ के एक ही धक्केसे मन्दिर

की दीवाल से जा टकराया। मैं तलवार लिये मन्दिर के आँगन में आ गया। उस समय आँगन के सभी लोग कुल्हाड़ा, छुरी आदि शस्त्र लेकर मुझ पर टूट पड़े। द्वार की ओर देखा तो उसको ताला लगा हुआ था। अपने आपको बलिदान से बचाने के लिए, मैं उछलकर दीवाल पर चढ़ गया और परले पार कूद कर भाग निकला। उस स्थान के समीप ही एक वन था। दिन भर तो मैं वहाँ छुपा बैठा रहा, परन्तु जब रात का राज्य विस्तृत हो गया तो रातों-रात ग्रामान्तर में जा पहुँचा। उस दिन से मैंने शाक्त लोगों का कभी भी विश्वास नहीं किया।"

उस समय महाराज ने दोनों सज्जनों को यह भी सुनाया, "एक बार गवर्नर जनरल महोदय से भी मुझे मिलने का अवसर मिला। मुझे मिलकर उन्होंने अति प्रसन्नता प्रकट की और मेरे विचारों को बड़े सम्मान से सुना। मेरी विपत्तियों की कहानी सुनकर उन्होंने आश्चर्य और खेद, दोनों प्रकाशित किये। चलते समय मुझे कहने लगे—'यदि आप चाहें तो आपकी रक्षा के निमित्त कुछ सैनिक नियत किये जाँय और भ्रमण में कष्ट न हो, इसलिए रेल के प्रथम दर्जे का आपको पास मिल जाय।' मैंने उनकी सहानुभूति और उदारता का धन्यवाद किया और कहा कि मैं आपकी इस सहायता को स्वीकार नहीं कर सकता। इसे स्वीकार करने पर लोग, मुझे राजनौकर अथवा ईसाई धर्म्म का नौकर समझने लग जायेंगे। उन्होंने कहा—"क्या आप राजनौकरी को बुरा समझते हैं?" इस पर मैंने उत्तर दिया कि मैं संन्यासी हूँ और सच्ची सरकार—परमेश्वर का—नौकर हो गया हूँ। उसी पर भरोसा रखता हूँ। इसलिए किसी मनुष्य की नौकरी करना मैं अपने लिए अच्छा नहीं समझता। मुझसे फिर पूछा गया—'क्या आप वर्तमान सरकार को सच्ची नहीं मानते?' मैंने कहा कि सच्ची से मेरा तात्पर्य न परिवर्त्तन होने वाली से है, सो ऐसा एक ईश्वर ही है। उसका नियम अटल और न्याय निर्भ्रान्त है। मनुष्यों के न्याय और नियम तो समयानुसार बदलते ही रहते हैं। लाट महोदय मेरी बातों से बहुत ही प्रसन्न हुए।"

चाँदापुर से स्वामीजी अति सम्मानपूर्वक विदा होकर शाहजहाँपुर से रेल गाड़ी में बैठ, सहारनपुर आये और राम-उद्यान में ठहरे। उस उद्यान ही में उनके चित्ताकर्षक भाषण होते थे।

: ४ :

नियम-निर्माण : मैंने कोई नया पन्थ नहीं चलाया

वैशाख वदी २ सवत् १९३४ को सहारनपुर से प्रस्थान कर श्री महाराज ने लुधियाना नगर को शोभा प्रदान की। पञ्चनद-प्रक्षालित पवित्र प्रान्त में, ऋषि-मुनियों के पुरातन निवास स्थान में और वीर सन्तति-सङ्कुल भूभाग में, श्री परमहंसजी का यह पहली ही बार पदार्पण था। लुधियाना में, वे नगर से पौन कोस के अन्तर पर लाला वंशीधर के उद्यान में ठहरे। उस समय उनके साथ दस-बारह कर्मचारी थे। स्वामीजी पण्डितों से वेदभाष्य लिखवाते थे।

वैशाख वदी द्वितीया संवत् १९३४ को महाराज का पहला उपदेश श्रीयुत जटमल खजाञ्ची के आवास में हुआ। व्याख्यान के आरम्भ ही में महाराज ने घोषणा कर दी कि यहाँ सात व्याख्यान होंगे। बीच में कोई प्रश्नादि न करे। आठवें दिन केवल शङ्का-समाधान ही होगा। उस दिन सभी स्वतंत्रता से प्रश्न पूछ सकेंगे।

उनके सातों व्याख्यानों में सहस्रों मनुष्य आये और अतीव प्रभावित होकर गये। एक दिन पादरी बेरी महाशय, अपने साथियों सहित स्वामीजी की सेवा में आये। वार्त्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा कि श्रीकृष्णजी के जो कर्म लोग वर्णन करते हैं उनसे उनका महात्मा होना बुद्धि नहीं मानती। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि श्रीकृष्णजी पर जो दोष लगाये जाते हैं वे सब मिथ्या और निर्मूल हैं, परन्तु बुद्धि के न मानने के विषय में क्या कहा जाय ? बुद्धि जब यह स्वीकार कर लेती है कि परमेश्वर की आत्मा कबूतर के स्वरूप में एक मनुष्य पर उतरी तो श्रीकृष्ण की लीला स्वीकार करने में उसे क्या कठिनाई है ?

एक पादरी महाशय ने पुनर्जन्म पर प्रश्न किये। इनका उत्तर देते समय स्वामीजी ने उनसे पूछा—"खाना, पीना, सुनना, देखना आदि कर्म देहधारी में होते हैं अथवा देह रहित में ?" पादरी ने कहा—"ये सारे कर्म देहधारी में ही होते हैं।" फिर महाराज ने उनसे पूछा—"एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करना ही पुनर्जन्म है ?" पादरी महाशय ने कहा—'हाँ, यही

पुनर्जन्म है।" तब स्वामीजी ने कहा—"आपने मान लिया कि खान-पान आदि कर्म देहधारी में होते हैं और एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करना पुनर्जन्म है। अब आपको मान लेना चाहिए कि मनुष्य देह छोड़ कर, जो लोग ईसाई धर्म्म के स्वर्ग में नाना भोगों को भोगते हैं उनका वहाँ पुनर्जन्म होता है।" यह सुनकर ईसाई महाशय चुप हो गये।

रामशरण नामक एक ब्राह्मणवंशीय व्यक्ति ईसाई लड़कियों के स्कूल में नागरी पढ़ाता था। उसकी आर्थिक अवस्था अति दीन थी। वह पादरियों का नौकर तो था ही, अन्त में, उन्होंने उसे एक ऐसा चकमा दिया कि वह ईसाई बनने के लिए समुद्यत हो गया। मेल-मिलाप वालों की प्रेरणा से, एक दिन रामशरण भी श्री-उपदेश सुनने आया। व्याख्यान के पश्चात्, श्री महाराज ने ईसाई धर्म्म की भूलभरी बातों को बताकर उसे इस प्रकार समझाया कि वह ईसाई बनने से बच गया।

भूत-प्रेत के भ्रम का खण्डन करते हुए, एक दिन, महाराज ने एक खेल दिखाया। जिस आवास में वे रहते थे उसके तीन द्वार और दो ताक थे। उन्होंने उन दोनों ताकों में दीपक जलाकर आमने सामने रख दिये। फिर उनमें से एक दीपक बुझा दिया और दूसरे को बुझा देने का आदेश किया। जिस समय दूसरा दीपक बुझाया गया तो तत्काल पहला दीपक अपने आप जल उठा। इस प्रकार एक दीपक के बुझने पर दूसरे के अपने आप जल उठने के खेल को लोग बड़ी देर तक देखते रहे। दर्शकों को आश्चर्य भी होता था कि बीस-पच्चीस हाथ अन्तर पर रखे हुए इन दीपकों में यह कैसा चमत्कार हो रहा है। खेल हो चुकने के पश्चात् महाराज ने कहा कि जो कुछ आपको दिखाया गया है वह विद्या की बात है। भूत-प्रेत कोई वस्तु नहीं हैं। उनका भ्रम न किया करो।

लुधियाने में श्रद्धाराम फिलौरी आदि कुछ पण्डित दूर-दूर बैठे स्वामी जी के विरुद्ध अण्डबण्ड बोला करते, परन्तु उनके सामने आने का साहस नहीं कर सके।

एक ब्राह्मण स्वामी जी के निकट आकर संस्कृत में बात करने लगा। महाराज ने, थोड़ी देर तक उससे संस्कृत में बातचीत करने के अनन्तर कहा—"अब तो आपको ज्ञात हो गया कि मैं संस्कृत जानता हूँ, अब भाषा

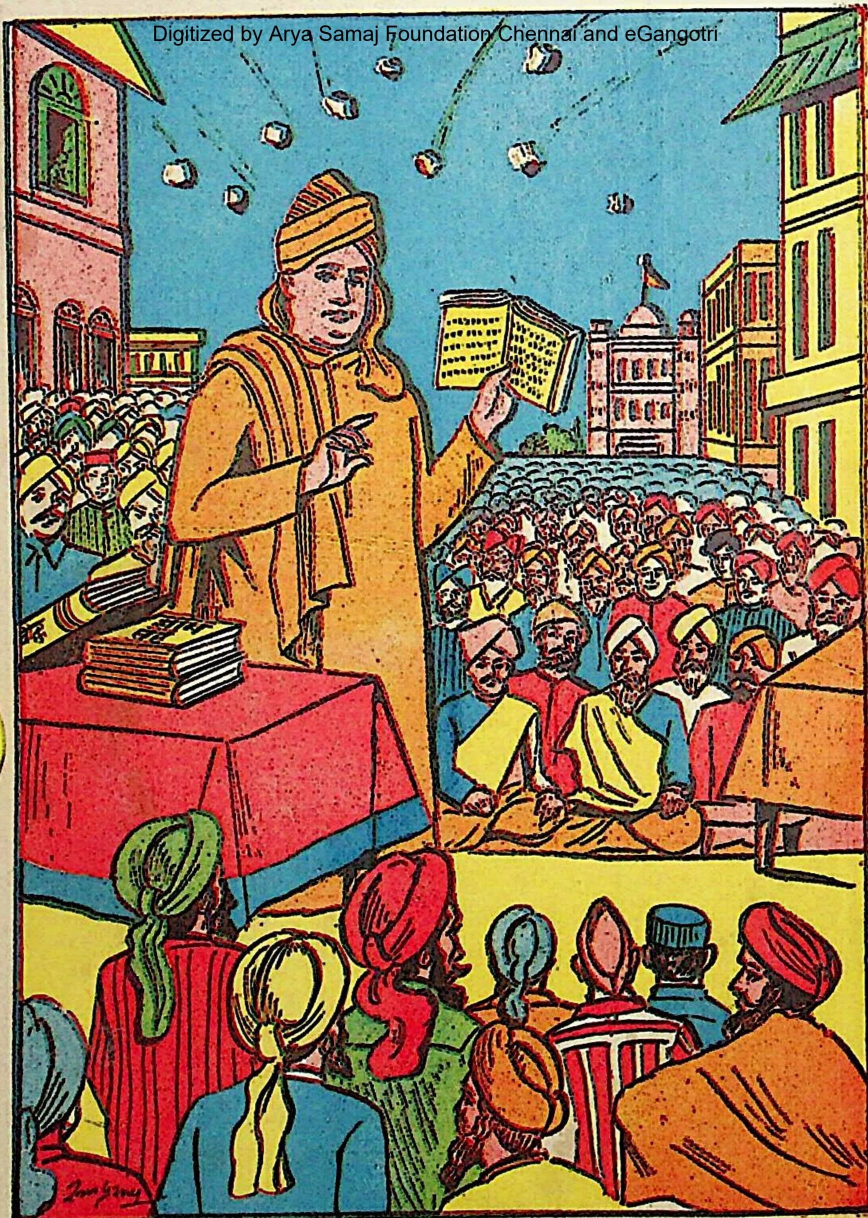
में बातचीत कीजिए, जिससे पास बैठे, दूसरे सज्जन भी कुछ समझ सकें।"

एक पण्डित ने अपने साथियों को कहा—"ऐसे दुष्ट का मुख देखना अधर्म है। चलो यहाँ से उठ चलें।" इस बात को सुनकर स्वामी जी ने कहा—"मेरा मुख देखने से यदि आपको घृणा है तो पीठ पीछे खड़े हो जाइए परन्तु मेरे कथन को अवश्य सुनिये।"

उन दिनों, श्रीमान् कार स्टीफन महाशय वहाँ जज थे। वे स्वामी जी को मानते थे। उनके उपदेशों में भी आया करते थे और चरण छूकर उनको नमस्कार किया करतेथे। उनकी विनीतिवश, श्री महाराज लुधियाने से प्रस्थान करने के समय, श्री कन्हैयालाल जी के साथ उनके बंगले पर पधारे। कार स्टीफन महाशय ने बड़े आदर से उनका स्वागत किया और बिदाई के समय कुछ द्रव्य लिफाफे में बन्द करके, श्रीचरणों में भक्तिभाव से भेंटस्वरूप रखकर नमस्कार किया।

लुधियाना-निवासियों के हृदयों में धर्म्मांकुर उत्पन्न करने के उपरान्त श्री महाराज वैशाख सुदी ६ संवत् १९३४ को वहाँ से प्रस्थान कर लाहौर में सुशोभित हुए। पण्डित मनफूल जी आदि सज्जनों ने रेल के स्टेशन पर उनका स्वागत किया और उनको अति सम्मान से लाकर श्रीमान् रत्नचन्द्र जी डाढ़ीवाला के उद्यान में ठहराया। उस समय स्वामी जी के साथ इतने ग्रन्थ थे कि एक चौपहिया गाड़ी में, केवल वे ही लादकर लाये गये। स्वामी जी के पधारने का समाचर पाकर लाहौरवासी भद्रजन सत्सङ्ग के लिए उनके उतारे पर आने लगे। उनके उपदेशों का अत्युत्तम प्रभाव पड़ता था। महाराज का पहला व्याख्यान वैशाख सुदी १३ को बावलीसाहब में बड़े समारोह से कराया गया। सायंकाल के ६ बजे वेद विषय पर व्याख्यान आरम्भ होना था, परन्तु सभास्थान नियत समय से बहुत ही पहले भरपूर हो गया था। सहस्रों मनुष्यों की भीड़ थी, दलों के दल उमड़े चले आते थे। महाराज ने अत्युत्तम रीति से विषय का वर्णन किया और श्रोताजन बड़े प्रभावित होकर घरों को लौटे।

महाराज ने, बावली साहब में दूसरा व्याख्यान, वैसाख पूर्णमासी संवत् १९३४ को दिया। इसमें सुनने वालों की संख्या और भी अधिक थी। महाराज के वचन, बिजली की भाँति, पंजाबियों के अन्तःकरणों में संचार करते



स्वामी जी के व्याख्यानों में पत्थरों की वर्षा होना और स्वामी का कहना कि मेरे लिए यह फूलों की वर्षा है।

जाते थे। आवेश में आकर लोग फड़क उठते थे। इस अदृष्टपूर्व महापुरुष के दर्शनों से, उसके अश्रुतपूर्व उपदेशों से और अनुभूत उपदेश-प्रभावों से लोग इतने मोहित हुए कि जहाँ सुनो श्री स्वामी जी के ही गुण-कीर्त्तन हो रहे थे। समाचार-पत्र भी उन्हीं का अनुराग-राग अलापते थे। कई सज्जनों ने अपने ठाकुर रावी-धाराशायी कर दिये।

बावली साहब के उपदेशों में, प्रसंगानुसार उन्होंने आप-बीती तीन बातें सुनाई थीं। एक तो यह कि एक बार मैं गङ्गा-तीर पर विचरता हुआ एक निविड़ सघन वन में जा निकला। वहाँ मुझे सामने आता एक सिंह दृष्टिगोचर हुआ। मैं सीधा चलता हुआ जब उसके पास पहुँचा तो वह सिंह मेरी ओर देख, मुँह फिराकर जङ्गल में चला गया।

दूसरी घटना यह थी—एक बार मैं एक पर्णकुटी में आसन रमाये बैठा था। उसके पास ही कुछ साधु रहते थे। वे अकारण ही मेरे द्वेषी बन गये। जब महाकाली निशा, आकाश की निविड़ कालिमा के साथ एकाकार हो रही थी तो वे साधु मुझे मार मिटाने के लिए मेरी कुटिया पर आये और वध की विधि सोचने लगे। उनकी बातें मुझे सुनाई पड़ती थीं। थोड़ी देर तक परस्पर परामर्श करने के अनन्तर, उन्होंने मेरी झोंपड़ी में आग लगा दी! जब घास-फूस की कुटी को आग की लपटें लपेट कर भस्मीभूत करने लगीं तो मैं छप्पर को उठाकर बाहर निकल आया।

तीसरी घटना यह है—बनारस में एक दिन, जब मैं व्याख्यान दे रहा था, एक मनुष्य ने मुझे पान लाकर दिया। ज्योंहीं मैंने उसे मुख में रख उसका रस चूसा तो मुझे ज्ञात हो गया कि इसमें विष मिला हुआ है। मैंने उसी समय वमनद्वारा उसे निकाल दिया।

स्वामी जी को लाहौर बुलाने में अधिक हाथ ब्राह्मसमाजियों का था। उनके निवासादि का प्रबन्ध भी प्रायः वे ही करते थे। पर परमहंस जी अपने सिद्धान्त के इतने पक्के थे कि व्याख्यान के समय सहायकों तक के धर्म्म और रुचि का किञ्चित्मात्र भी पक्षपात नहीं करते थे। न्यायानुकूल, सबको स्पष्ट सुना देते थे। महाराज के दो व्याख्यान ब्राह्मसमाजियों ने अपने धर्म्म-मन्दिर में कराये। उन्होंने अपने प्रथम व्याख्यान में यह सिद्ध किया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और दूसरे में पुनर्जन्म के वाद को युक्तियुक्त बताया। ये दोनों ही

व्याख्यान ब्राह्मसमाज के मन्तव्य के नितान्त विरुद्ध थे; इसलिए ब्राह्मसमाजियों को बहुत बुरे लगे। वे लोग इतनी बात से ही ऐसे अधीर हुए कि स्वामी जी का विरोध करने पर उतर आये।

स्वामी जी ने अपने भाषणों में पुराणों की निर्मूल कल्पनाओं की तीव्र समालोचना की जिससे पौराणिकों में बड़ी हलचल मच गई। बहुत से पण्डित तो विघ्न-विरोध करने पर इतने तुल गये, कि जिस उद्यान में महाराज निवास करते थे, वे उसके अधिपति श्री रत्नचन्द्र जी को भड़काने लगे कि आपने अपने उद्यान में किस नास्तिक को उतार रक्खा है। वह सब देवताओं का खण्डन करता है। न जाने कोई कृष्टान है अथवा कोई और है। लोकापवाद से भीत, रत्नचन्द्र जी ने स्वामी जी को उद्यान छोड़ देने के लिए विवश किया। स्वामी जी के प्रेमी उनको डाक्टर रहीमखाँ की कोठी में ले आये। यह कोठी भक्त छज्जू के चौबारे के पास थी।

पण्डित मनफूल जी, स्वामी जी के सत्कार करने वालों में, उस समय मुख्य माने जाते थे। ब्राह्मसमाजियों ने तो रुष्ट होकर स्वामी जी के व्यय के लिए द्रव्य देना बन्द कर ही दिया था, इसलिए, उनके आतिथ्य का प्रबन्ध पण्डित मनफूल जी को ही करना पड़ता होगा। परन्तु महाराज किसी के भी अनुचित दवाव में नहीं आते थे। एक दिन मनफूल जी ने स्वामी जी से कहा—"नगर के सारे लोग मूर्ति-पूजा खण्डन से अप्रसन्न हैं। आप अब उसका खण्डन न किया करें। ऐसा करने से महाराजा जम्मू और काश्मीर भी आप पर प्रसन्न हो जायेंगे।" महाराज ने तत्काल उत्तर दिया—"मैं महाराज जम्मू और काश्मीर को प्रसन्न करूँ या ईश्वरीय ज्ञान वेद के आदेशानुसार चलूं। चाहे जो हो, वेदाज्ञा को भंग नहीं करूँगा।" यह सुनकर मनफूलजी ने मनमुटाव उत्पन्न कर लिया और उनके समीप आना-जाना छोड़ दिया।

डाक्टर रहीमखाँ की कोठी में स्वामी जी एक दिन व्याख्यान देते और दूसरे दिन शङ्का-समाधान करते थे। उनके सत्सङ्गों में सहस्रों आर्य्य, मुसलमान और ईसाई आते, उपदेश सुनते और संशय दूर कराते। एक दिन स्वामी जी के पास पादरी हूपर महाशय आये और पूछने लगे कि वेद में जो अश्वमेध और गो-मेध यज्ञ का वर्णन है आप उसका क्या समाधान करते हैं? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वेदों में पशु-बलि का वर्णन कहीं भी नहीं है।

अश्वमेध का अर्थ न्यायपूर्वक प्रजा-पालन है, और गोमेध का अर्थ है अन्न का उपार्जन करना, इन्द्रियों को पवित्र बनाना, भूमि को शुद्ध रखना और मृतक का दाहकर्म करना।

दूसरा प्रश्न पादरी महाशय ने वैदिक वर्ण-व्यवस्था पर किया। इसके उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि 'वेदों में वर्ण गुण-कर्मानुसार माना गया है।' तब पादरी महाशय बोले कि यदि मेरे गुण-कर्म्म उत्तम हों तो क्या मैं भी ब्राह्मण कहला सकता हूँ। महाराज ने कहा कि निस्सन्देह, गुण-कर्म ब्राह्मण वर्ण के होने पर आप ब्राह्मण कहे जा सकते हैं।

डाक्टर रहमीखाँ की कोठी में एक दिन महाराज भाई दित्तसिंह को वेदान्तवाद का अधूरापन समझा रहे थे। उस समय वहाँ पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री जी भी विद्यमान थे। वे आप ही आप बीच में बोलने लग गये। स्वामीजी ने पण्डित महाशय को कहा—"आप यों ही बीच में हस्तक्षेप कर रहे हैं। आप यह बताइए कि भाईजी ने क्या प्रश्न किया और मैंने उसका उत्तर क्या दिया है?" अग्निहोत्री महाशय प्रश्न और उत्तर को ठीक-ठीक न बता सके। तब महाराज ने उनको कहा—"जिस बात की समझ ही न हो उसमें हस्तक्षेप करना अच्छा नहीं।" उनकी इस शिक्षा से पण्डित महाशय रुष्ट हो गये।

एक दिन पण्डित शिवनारायण जी ने स्वामीजी से कहा कि आप वेद में किस्से-कहानी नहीं मानते, परन्तु सामवेद में तो उल्लू की कहानी विद्यमान है। स्वामीजी ने उनको कहा—सामवेद में उल्लू की कहानी नहीं है। परन्तु वे कब मानते थे! वे यही कहते रहे कि सामवेद में उल्लू की कहानी अवश्यमेव है। तब स्वामीजी ने सामवेद उठाकर उनको दिया और कहा कि व्यर्थ का झगड़ा क्यों करते हो? इसमें से वह कहानी निकाल कर सबको दिखा दो। पण्डित महाशय पुस्तक के पृष्ठों को उथल-पुथल तो बहुत देर तक करते रहे, परन्तु कहानी न निकाल सके। स्वामीजी ने तो उन्हें कुछ न कहा, परन्तु लोगों ने उनको उस समय बहुत ही लज्जित किया।

स्वामीजी के प्रचार से अनेक सज्जन उनके अनुयायी बन गये और आर्य-समाज की स्थापना का उद्योग होने लगा। उस समय यह आवश्यक समझा गया कि समाज की स्थापना के पूर्व समाज के नियमों का नूतन संस्कार किया

जाय। इसलिए महाराज ने यहाँ, स्वयं आर्य्यसमाज के नियमों को संगठित किया। वे नियम ये हैं:—

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्म्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्योद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्म्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

नियम बनाते समय ब्राह्मसमाजियों ने स्वामीजी से कहा—"यदि आप तीसरा नियम न रक्खें तो हम भी आपके समाज में सम्मिलित हो सकते हैं।" परन्तु महाराज ने उनकी बात को स्वीकार नहीं किया।

रायबहादुर लाला मूलराजजी स्वामीजी के प्रेमियों में से एक थे। नियम-निर्माण के समय वे उपस्थित थे। संशोधन में वे सम्मति भी देते थे। उन्होंने महाराज से निवेदन किया—"आपने जो तीसरे नियम में 'वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है' यह वाक्य रक्खा है, यदि इसमें 'सत्य' शब्द निकाल कर 'वेद

विद्याओं का पुस्तक है' ऐसा वाक्य बना दिया जाय तो यह नियम बहुत व्यापी हो जायगा। फिर इसको मानने में किसी को कुछ भी हिचक न होगी।" महर्षि दयानन्द आचार्य्य थे। वे लोकमत के पीछे दौड़ने वालों में से न थे, किन्तु लोकमत के निर्माता थे। उन्होंने महाशय मूलराज की सम्मति को सर्वथा अस्वीकार किया।

संगठन का नवीन संस्कार हो जाने पर आर्य्यसमाज की शुभ स्थापना की गई। उस समय महाशय मूलराज जी प्रधान और श्रीमान् साईंदास जी मन्त्री नियत हुए। समाज का पहला सत्संग डाक्टर रहीमखाँजी की कोठी में स्वामी जी के पास ही लगाया गया। इस पर महाराज ने आशीर्वाद देते समय कहा—"अब यह समाज अवश्य ही फूले-फलेगा।" दूसरा सत्सङ्ग आषाढ़ वदी पञ्चमी संवत् १९३४ को सत्य सभा के स्थान पर लगाया गया। उसमें स्वामीजी ने एक प्रभावशाली भाषण किया।

लाहौर में स्वामीजी ने, आर्य्यसमाज के नियमों का नूतन संस्कार करके आर्यसमाज की नींव एक प्रबल चट्टान पर रख दी, आर्य्यसमाज के सिद्धान्तों को परिमार्जित कर दिया और उसके उद्देश्यों को एक अभेदनीय भित्ति पर चित्रित कर दिया।

बम्बई के नियमों की लड़ी जहाँ बड़ी लम्बी थी वहाँ साथ ही अधूरी भी थी। बम्बई के नियमों का निर्माण पारिख महाशय ने किया था। वे महर्षि की रचना न थे, इसलिए सिद्धान्त-दृष्टि में वे अनार्ष कल्पना थे। यह उनकी पहली त्रुटि थी। दूसरे, उनमें वेद को 'ईश्वरीय ज्ञान' कहीं भी नहीं कहा गया। तीसरे, उनमें से कोई भी नियम ईश्वर को सृष्टि का रचयिता नहीं बतलाता। चौथे, उनमें एक ऐसा नियम रक्खा गया है, जिसके आधार पर, श्रेष्ठ सभासदों की सम्मति से कोई भी नियम बदला जा सकता है, चाहे यह नियम ईश्वर की उपासना और वेदों की प्रामाणिकता वाला ही क्यों न हो।

बम्बई वाले नियमों में, यद्यपि स्त्रियों को सभासद् बनने का अधिकार है, परन्तु प्रधान और मन्त्री-पद के साथ पुरुष शब्द लगाकर, धर्म्म में समता के आदर्श को संकुचित कर दिया गया है। लाहौर के संस्कार में नियमों को सिद्धान्त का स्वरूप प्राप्त हो गया। वे सुस्पष्ट और निर्भ्रान्त बन गये। उनके परिवर्त्तन का किसी को भी अधिकार नहीं रहा। समुच्चय रूप होने से, वे स्त्री

और पुरुष दोनों के लिए समान हैं। लाहौर के नूतन संस्कार में उपनियमों को पृथक् किया गया और उनको प्राय: स्वामीजी के भक्तों ने ही कार्त्तिक सुदी १ संवत् १९३४ को बनाया और स्वीकार किया। महाराज ने केवल अनुमति ही प्रदान की।

एक दिन स्वामीजी ने कहा—"वैदिक धर्म्म-प्रचार का कार्य बहुत बड़ा है। हम जानते हैं कि वह हमारे इस सारे जीवन में पूर्ण न हो सकेगा। परन्तु चाहे दूसरा जन्म धारण करना पड़े, मैं इस महत् कार्य को अवश्य पूर्ण करूँगा।"

एक दिन, महाराज आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में उस समय पधारे, जब प्रार्थना और उपासना हो रही थी। गुरुदेव को आते देख सारे सभासदों ने उनका अभ्युत्थानपूर्वक स्वागत किया। जब प्रार्थना समाप्त हो चुकी तो महाराज ने उपदेश दिया—"उपासना के समय उपासक जन ईश्वर के सत्संग में निमग्न होते हैं, उस प्रभु से महान् कोई भी वस्तु नहीं है इसलिए, उपासना-काल में चाहे कितना ही बड़ा मनुष्य क्यों न आये, उठना नहीं चाहिए। ऐसे समय में किसी व्यक्ति के लिए अभ्युत्थान आदि आदर करना उपासना-धर्म्म का निरादर है।" सब सभासदों ने विनीतभाव से श्री-वचनों को स्वीकार किया।

यद्यपि, आर्य-समाज में संशोधन और परिवर्तन आदि के सारे अधिकार स्वामीजी के हाथ में थे, परन्तु वे इतने निरभिमान और निर्लेप थे कि जिसका दूसरा दृष्टान्त मिलना अति दुर्लभ है। आर्य्य-समाज लाहौर के साधारण अधिवेशन में महाशय शारदाप्रसादजी ने प्रस्ताव किया—"आर्य्य-समाज के संस्थापक को पदवी से विभूषित किया जाय।" सब सभासदों ने इस प्रस्ताव का सुप्रसन्नता से अनुमोदन किया। स्वामीजी महाराज ने हँसकर कहा—"मैंने कोई नया पन्थ चलाकर गुरु-गद्दी का मठ नहीं बनाया है। मैं तो लोगों को मतवादियों के मठों से स्वतन्त्र करना चाहता हूँ। ऐसी पदवियों से अन्त में हानियाँ ही हुआ करती हैं।"

शारदाप्रसाद जी ने दूसरा प्रस्ताव किया, "महाराज को इस समाज का परम सहायक नियत किया जाय।" इस पर उन्होंने कहा—"यदि मुझे परम सहायक मानोगे तो उस परम-पिता परमेश्वर को क्या कहोगे! परम-

सहायक तो वह जगदीश्वर ही है। हाँ, यदि आप मेरा नाम लिखना ही चाहते हैं, तो सहायकों की पंक्ति में लिख लीजिए।"

स्वामी जी के उपदेशों को सुनकर लोगों के हृदयों में संस्कृत भाषा सीखने के लिए बड़ा उत्साह उत्पन्न हो गया था। प्रायः सभी सभासद् संस्कृत पढ़ने लग गये थे। स्वामी जी के पास भी बहुत से लोग अध्ययन करने जाया करते थे।

मुजफ्फ़रगढ़-निवासी महाशय गणपतिराय उन दिनों लाहौर में कानून पढ़ते थे। वे भी स्वामी जी के निकट संस्कृत सीखने आते थे। एक दिन महाराज ने गणपतिराय जी से पूछा—"आप विवाहित हैं या कुमार?" उन्होंने उत्तर दिया कि "अभी तक मेरा विवाह तो नहीं हुआ, परन्तु सगाई कभी की हो चुकी है।" स्वामी जी ने कहा—"गणपति, आप विवाह कदापि न कराइयेगा। आपकी आयु का तार तीस वर्ष तक पहुँचने के पहले ही टूट जायगा।" महाशय गणपतिराय को पूर्ण विश्वास था कि उसके गुरु का ज्ञान अगम्य है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह अक्षरशः सत्य है। इसलिए उन्होंने 'मैं विवाह नहीं करूँगा' इस प्रण की पक्की गाँठ बांध ली।

कुछ काल के उपरान्त गणपति के बन्धु-बांधवों ने उसे विवाह के लिए अति बाधित किया और समझाया कि साधु-सन्तों के वचन सदा सच्चे नहीं हुआ करते। भ्रम-भरी बातों में पड़कर विवाह से विमुख हो जाना आपकी भारी भूल है। परिवार-परिजन की परवशता में पड़ गणपतिराय को, अन्त में विवाह करना ही पड़ा! परन्तु स्वामी जी के वचनों की सत्यता का उसे पूरा निश्चय था। वह मुलतान जिले में वकालत का काम करने लगा। वहाँ, एक दिन वह एकाएक रोग-ग्रस्त हो गया और थोड़े दिनों में ही, उसकी आयु के अट्ठाईसवें वर्ष, उसके प्राण-पक्षी परलोक की ओर उड्डीयमान होने लगे। उस समय उसने अपने कुटुम्बियों को बताया कि गुरुदेव ने जो बताया था वह आज सत्य हुआ चाहता है। फिर प्रियजनों की उपस्थिति में, गणपतिरायजी ने सदा के लिए नेत्र बन्द कर लिये।

एक दिन महाराज के पास आकर एक जन बोला—"महाराज! आप तो यह कहते थे कि ध्यान में तुमको प्रकाश दिखाई देगा। मुझे तो उलटा अन्धकार दिखाई देता है।" स्वामी जी ने उसे कहा—"श्रद्धा-भक्ति से

अभ्यास करते जाइए, अन्त में उसी अन्धकार में ज्योति दीखने लग जायगी।" प्रसङ्ग चलने पर महाराज ने सत्सङ्गियों को कहा—"योग-शास्त्र का सारा वर्णन सत्य है, परन्तु उसके बताने का यह समय नहीं है।"

डाक्टर रहीम खाँ की कोठी पर एक दिन बहुत से पण्डितों ने स्वामी जी से कहा कि आप वेदों का प्रचार करते हैं यह तो बहुत अच्छी बात है परन्तु यदि पुराणों को भी साथ मिलाये रखते तो सोने में सुगंध का संयोग हो जाता। महाराज ने कहा कि मैं कई वर्षों तक यह सोचता रहा कि किसी प्रकार पुराणों की संगति वेदों के साथ मिल जाय, परन्तु जब मैंने देखा कि ये किसी प्रकार भी वेदों से मेल नहीं खाते और सर्वथा वेद-विरुद्ध हैं तब से मैंने पुराणों की प्रमाणता का परित्याग कर दिया।

एक भद्र पुरुष ने स्वामी जी से कहा कि आप जो मुक्ति से पुनरावृत्ति मानते हैं, यह मन्तव्य कोई चिरकाल के विचार का परिणाम प्रतीत नहीं होता। उन्होंने उत्तर दिया कि आपका यह भारी भ्रम है। पुनरावृत्ति पर तो मैं कई मास तक विचार करता रहा हूँ। अन्त में मैंने यही परिणाम निकाला है कि सान्त कर्म का अनन्त फल नहीं हो सकता, इसलिए मुक्ति से पुनरागमन ही मानना समीचीन है।

: ५ :

ऋषिराज का योग-बल

महर्षि ने पंजाब प्रान्त के मस्तिष्क, लाहौर को अपने प्रभावशाली उपदेशों से प्रभावित कर लिया, वेद-शास्त्र के महत्त्व पर मोहित बना लिया और अपने प्रेम के परम पुनीत तार में पिरोकर उसे कार्यक्षेत्र में उतार लिया। पंजाबियों के सादा प्रेम से, सरल स्वभाव से, श्रद्धा-भक्ति से, कार्य-तत्परता से और धर्म्मविश से श्री महाराज अति प्रसन्न हुए।

लाहौर-वासियों में आर्य्यत्व का सच्चा अभिमान उत्पन्न करने के पश्चात्, श्री महाराज आषाढ़ वदी ९ संवत् १९३४ को अमृतसर में पधारे और सरदार दयालसिंह मजीठिया के प्रबन्ध से, रामबाग में, मियाँ मुहम्मदखाँ की कोठी में ठहरे। उनके पधारने से अमृतसर के अधिवासियों में, धर्म्म-प्रेम उमड़

पड़ा। शत-शत और सहस्र-सहस्र पुरुष, श्री दर्शनों को आने लगे। महाराज ने लोगों के उत्साह को देख कर उसी दिन सायंकाल, व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। श्री उपदेशों को नर-नारी श्रद्धापूर्वक सुनते थे।

यहाँ महाराज ने प्रतिमा-पूजन, अवतारवाद और मृतकश्राद्ध आदि मिथ्या-मूलक मन्तव्यों का घोर खण्डन किया, जिससे पण्डितों में हलचल मच गई। यजमान अपने पुरोहितों और पण्डितों को शास्त्रार्थ करने के लिए विवश करने लगे। पण्डित लोग स्थान-स्थान पर सभा लगाते, स्वामीजी को नास्तिक और ईसाई कहते, अगणित गालियाँ देते, परन्तु शास्त्रार्थ करने के लिए उनमें से कोई भी साहस नहीं करता था।

उन दिनों अमृतसर में श्री रामदत्त जी सबसे बड़े विद्वान् गिने जाते थे। पण्डित-मण्डल ने उनसे जाकर प्रार्थना की—"दयानन्द धराधाम से पौराणिक मत का, बिन्दु-विसर्ग तक मिटा देना चाहता है। इस समय हमारे मत की नौका भंवर में पड़ी डाँवाडोल हो रही है। इसलिए आप चलिए और शास्त्रार्थ करके उसे परास्त कीजिए। इस समय आप ही हमारी लाज रखने वाले हैं।" पण्डित रामदत्त जी ने उनको बहुत समझाया कि स्वामीजी वेद-शास्त्र के धुरन्तर पण्डित हैं, उनसे मैं शास्त्रार्थ नहीं कर सकता। परन्तु वे लोग उन्हें शास्त्रार्थ के लिए बहुत ही विवश करते थे। अन्त को पण्डित जी अमृतसर छोड़ कर हरिद्वार चले गये।

एक दिन, एक पाठशाला के अध्यापक पण्डित ने अपने छोटे-छोटे विद्यार्थियों को कहा, "आज कथा में हम सब चलेंगे। तुम अपनी २ झोलियों में ईंटों के रोड़े भर लो। वहां जिस समय मैं संकेत करूँ, तुम तत्काल, कथा कहने वाले पर इन्हें फेंकने लग जाना। इसके बदले में कल तुमको लड्डू दिये जायँगे।"

वे अबोध बालक अपने अध्यापक के बहकाने में आ गये, और झोलियों में ईंटों के टुकड़े लिये व्याख्यान के स्थान पर जा पहुँचे। व्याख्यान रात के आठ बजे समाप्त हुआ करता था। थोड़ा सा अन्धेरा होते ही अध्यापक का संकेत पाकर वे अनजान लड़के स्वामीजी पर कंकड़ बरसाने लगे। एक बार तो सारी सभा चलायमान हो गई, परन्तु स्वामीजी ने सभा को तुरन्त शान्त कर दिया।

पुलिस कर्मचारियों ने अपने चातुर्य से उन उपद्रवी बालकों में से कुछ-एक को पकड़ लिया और व्याख्यान की समाप्ति पर महाराज के सामने उपस्थित किया। पुलिस के पंजे में पड़े हुए वे बालक चिल्लाते और फूट-फूट कर रोते थे। स्वामीजी ने उनको ढाढस बँधाया और ईंट मारने का कारण पूछा। तब वे हिचकियाँ लेते हुए बोले—"हमको पण्डितजी ने लड्डुओं का लोभ देकर ऐसा करने को कहा था।" श्री स्वामीजी ने करुणारस में आकर तत्काल वहाँ मोदक मंगाए और उन बालकों में बाँटकर कहा—"तुम्हारा अध्यापक तो सम्भव है तुम्हें लड्डू न दे इसलिए मैं दिये देता हूँ।" फिर महाराज ने उन नासमझ लड़कों को छुड़ा दिया।

श्री स्वामीजी के उपदेशों में नगर के सभी सम्मानित मनुष्य आते। महाराज सिंहासन पर आरूढ़ होकर उपदेश दिया करते। अपने सामने एक कुर्सी रखवा देते कि उपदेश के अनन्तर यदि कोई प्रश्न पूछना चाहे तो उस पर बैठकर पूछे। एक दिन एक पण्डित उस कुर्सी के पास खड़ा होकर कहने लगा—"आपने हमको नीचा आसन दिया है। मुझे भी आपके समान ही कुर्सी मिलनी चाहिए।" स्वामीजी ने हँसकर कहा—"मैं तो व्याख्यान के कारण ऊँचे आसन पर बैठता हूँ, परन्तु आप यदि सामने की कुर्सी पर बैठना अपमान समझते हैं तो उसे मेज पर रखकर बैठ जाइए। आप विद्वान् होकर भी आसन पर बैठने में बड़ाई-छोटाई की कल्पना करते हैं, इसका मुझे बड़ा आश्चर्य है। क्या किसी चक्रवर्ती के मुकुट पर मक्खी, मच्छर बैठकर बड़े हो सकते हैं?"

एक दिन एक पण्डित ने कहा कि हम आपकी सभा में आकर क्या करें आप तो कहते हैं कि ब्राह्मणों को एक श्लोक भी नहीं आता। इनको गोदान लेने का अधिकार ही नहीं है। आप ही बतायें कि यदि हम लोग गोदान न लें तो खायें क्या, राख?

स्वामीजीने कहा कि हमने दान लेने का अनधिकारी अविद्वानों को बताया है। यदि तुम विद्वान् नहीं हो तो दान मत लो, और राख क्यों खाओ? घास खाया करो।

कमिश्नर महाशय की प्रार्थना पर एक दिन स्वामीजी उनके बङ्गले पर पधारे। वार्त्तालाप में कमिश्नर महाशय ने कहा—"स्वामीजी! यह तो

बताइए, हिन्दू धर्म्म को, सूत के तार के सदृश, कच्चा क्यों कहते हैं ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—'यह कच्चा नहीं, किन्तु लोहे से भी पक्का है। लोहा तो भले ही टूट जाय परन्तु यह कभी भी टूटने का नहीं।" कमिश्नर महाशय ने पूछा—"यह इतना दृढ़ क्योंकर है ?"

महाराज ने कहा—"हिन्दू धर्म्म समुद्र के समान है। इसमें भी अनेक अच्छे और बुरे मतों के तरङ्ग विद्यमान हैं। इस धर्म्म में ऐसे भी भले लोग हैं जो अत्यन्त दयावान् हैं, परोपकार-परायण रहते हैं, और एक निराकार परमेश्वर को अपने मनोमन्दिर में पूजते हैं। किन्तु इनके विपरीत लोग भी हिन्दू धर्म्म में पाये जाते हैं। यहाँ योगी, ध्यानी, तपस्वी और आजीवन ब्रह्मचारी रहने वाले भी विद्यमान हैं और ऐसे भी अनेक हैं, जिनका उद्देश्य आमोद-प्रमोद और संसार का सुख है। हिन्दू धर्म्म में जहाँ छूआछूत करने वाले सहस्रों हैं वहाँ सबके साथ खा लेने वाले भी सैकड़ों हैं। परमार्थदर्शी और तत्त्वज्ञानी लोग इस धर्म्म में उच्च पद के पाये जाते हैं और ऐसे भी मिल जाते हैं जो ज्ञान के पीछे डण्डा लिये डोलते हैं। उत्तम, मध्यम और निकृष्ट विचारों और आचारों के सभी मत और उनको मानने वाले मनुष्य इस मार्ग में मिलते हैं। वे सभी हिन्दू हैं, कोई उन्हें हिन्दूपन से निकाल नहीं सकता। इसलिए मैं कहता हूँ कि हिन्दू धर्म निर्बल नहीं किन्तु परम सबल है।"

फिर कमिश्नर महाशय ने पूछा कि, आप कैसे धर्म्म को फैलाना चाहते हैं ? स्वामीजी ने कहा कि मैं केवल चाहता हूँ कि लोग वेद पवित्र की आज्ञाओं को मानें। एक निराकार परमात्मा की उपासना करें, दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को ग्रहण करें।

महाराज अमृतसर में ईसाई धर्म्म पर भी युक्तियुक्त समालोचना किया करते थे। उसकी असम्भव कथायें सुनाकर लोगों को समझाते और आर्य्य धर्म्म के साथ उसे तर्क-तुला पर तोल कर त्रुटिपूर्ण सिद्ध कर देते थे।

ईसाइयों के स्कूलों में पढ़ाने वाले चालीस आर्य्य युवक मन से ईसाई बन चुके थे। उन्होंने 'प्रार्थना सभा' नाम से एक अपनी सभा बना रक्खी थी। आदित्यवार को वे वहाँ ईसाई रीति से प्रार्थना आदि किया करते थे। स्वामी जी के उपदेशों से वे सारे युवक अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके हृदयों से ईसाई

मत का एक-एक विचार कपूर की भाँति उड़ गया और वे अपने पुरातन धर्म्म के महत्त्व को मानने लग गये।

पादरी क्लार्क महाशय एक दिन स्वामी जी के पास आकर कहने लगे, "आओ हम और आप मिलकर, एक दिन एक ही मेज पर भोजन करें।"

पादरी महाशय बोले—"इकट्ठे खाने से परस्पर प्रीति बढ़ जायगी।"

इस पर श्री स्वामीजी ने कहा—"शीया और सुन्नी मुसलमान एक ही बर्तन में खाते हैं। रूसी और अंग्रेज, इसी तरह, आप और रोमन कैथोलिक ईसाई एक ही मेज पर जीम लेते हैं परन्तु यह सब जानते हैं कि परस्पर कितना वैर-विरोध है, एक दूसरे के साथ कितनी शत्रुता है!" यह सुनकर पादरी महाशय अवाक् हो गये।

सरदार दयालसिंह ने वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने पर कुछ प्रश्न किये परन्तु वे नियम का पालन नहीं करते थे। बहुत लम्बा व्याख्यान देने लग जाते और स्वामी जी के उत्तर पर कोई ध्यान नहीं देते थे। स्वामी जी ने उनको समझाया कि यदि आप निर्णय ही करना चाहते हैं, तो केशवचन्द्र जी को आमन्त्रित करके बातचीत करा लीजिए। सरदार महाशय ने स्वामी जी की शिक्षा को बहुत बुरा मनाया और रुष्ट होकर चले गये।

श्री बिहारीलाल एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर ने महाराज को कहा कि "यदि आप मूर्त्ति-पूजन का खण्डन छोड़ दें तो सभी हिन्दू आपके अनुगामी बन जायें।" उन्होंने कहा कि "मैं इस लोक की बातों के लिए सनातन सत्य का परित्याग नहीं कर सकता।"

मनसुख नाम का एक सज्जन अमृतसर में निवास करता था। वह धर्म्म-कर्म से विमुख था और किसी भी साधु-सन्त की नहीं सुनता था। स्वामी जी के उपदेशों के सुनने से उसके हृदय में भी भक्ति-भाव की शुभ-लता लहलहाने लगी। एक दिन वह मिश्री का थाल लेकर श्री-चरणों में उपस्थित हुआ और नमस्कारपूर्वक उसे समर्पण कर, उसने दीक्षा की याचना की। श्री स्वामी जी ने महाशय मनसुख को अपार दया से धर्म्म-दीक्षा दे दी और गुरुमन्त्र, गायत्री सिखाकर कृतकृत्य कर दिया।

स्वामी जी के निकट एक साधारण स्थिति का मनुष्य आया करता और अति श्रद्धा से सत्सङ्ग का लाभ उठाया करता था। एक दिन उसने हाथ जोड़कर

विनय की, "भगवन् ! धनी लोग तो अन्नादि दान और परोपकार से संसार-सागर पार कर जायँगे, परन्तु मेरे ऐसे निर्धन का निस्तार कैसे होगा ? मैं दान-पुण्य तो कुछ नहीं कर सकता ।" महाराज ने कहा—"सौम्य ! आप भी बड़े उपकारी और पुण्यात्मा बन सकते हैं। एक मनुष्य तो परोपकार और दान-पुण्य करने से पवित्र हो जाता है और दूसरा पर-अपकार और पाप कर्म्म न करने से भी अपना मङ्गल साधित कर लेता है; सो आप अपने हृदय में पर-अपकार और अनिष्ट-चिन्तन का भाव कदापि न लाइए। इससे आप बड़े धर्मात्मा बन जायँगे । अपकार न करना भी संसार का उपकार है ।"

एक दिन स्वामी जी महाराज अपने निवास-स्थान के एक कमरे में बैठे पण्डितों से वेद-भाष्य लिखवा रहे थे । बीच में एकाएक उठ खड़े हुए और कर्मचारियों को कहने लगे कि पुस्तकादि सभी उपकरण, झट-पट, इस कमरे से बाहर निकाल दो । कर्म्मचारियों ने उनकी आज्ञा का पालन तो किया, परन्तु वे मन ही मन यह कहते रहे कि स्वामी जी ने यह कष्ट व्यर्थ ही दिया है । जब सारे उपकरण दूसरे कमरे में पहुँच गए तो प्रथम कमरे की छत धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ी ! उस समय कर्मचारियों को महाराज की आज्ञा की उपयुक्तता का निश्चय, अति विस्मय के साथ हुआ ।

श्री स्वामी जी एक समय उपदेश दे रहे थे। उस समय एक ओर से घोर आँधी, धूलिराशि से भूतलाकाश को एकाकार करती, उमड़ी चली आती दिखाई दी । पवन भी प्रचण्ड रूप धारण करने लगा । झंझावात के उत्पात से जैसे मानसरोवर क्षुभित हो, ऐसे ही वह सत्सङ्ग-सरोवर चलायमान हो गया । उठने के लिए लोग दायें-बायें झांकने लगे । उस समय महाराज ने मेज पर करतल-प्रहार कर उच्च स्वर से कहा कि धैर्य्य रखिए, हिलिये नहीं, यहाँ आँधी नहीं आयगी । महाराज के कथन से लोग शान्त हो गये और सचमुच आँधी भी वहां नहीं आई ।

महाराज के उपदेशों से अमृतसर में आर्य्यसमाज स्थापित हो गया। अनेक सज्जनों ने ज्ञान-चक्षु लाभ किये, उन्होंने परोपकार का पवित्र पथ प्राप्त किया और उनमें लोक-हित की बुद्धि जागृत हो गई । अमृतसर के अधिवासियों को उपदेशामृत पान कराकर स्वामी जी गुरुदासपुर-वासियों की विनय-अनुनय से वहाँ जाने के लिए समुद्यत हो गये । गुरुदासपुर में स्वामी जी के

प्रेमी भक्त डाक्टर बिहारीलाल जी थे। उन्होंने अपने भाई को गाड़ी-सहित अमृतसर भेजा कि स्वामी जी को लिवा लाओ। गुरुदासपुर से अमृतसर तक के मार्ग में भी गाड़ियों की डाक लगा दी।

श्रावण सुदी ६ संवत् १९३४ को स्वामी जी अमृतसर से गुरुदासपुर को पधारे। नगर के सभी प्रतिष्ठित सज्जन, छोटे-बड़े, राज-कर्म्मचारी और सर्वसाधारण नागरिक लोग महाराज की अगुवाई के लिए पौन कोस तक आगे गये। जब वे समीप आ पहुँचे तो लोगों ने गगनगामी नमस्ते-नाद गुंजाकर, नम्र नमस्कारपूर्वक उनका स्वागत किया। महाराज भी गाड़ी से उतर पड़े और कुशल-क्षेम तथा आशीर्वाद आदि शब्दों से लोगों को आनन्दित करने लगे। शिष्टाचार के उपरान्त महाराज फिर गाड़ी में आरूढ़ हो गये और सज्जन-समूह-सहित धीरे-धीरे डाक्टर बिहारीलाल के मकान पर आकर ठहरे। उस समय सायंकाल के पाँच बजे थे। महाराज ने कोई आध घड़ी तक विश्राम करके स्नानादि किया और तत्पश्चात् लोगों को एक मधुर और मनोहर उपदेश सुनाया।

स्वामी जी के व्याख्यानों में सैकड़ों श्रोताजन आते थे। उच्च कर्मचारी भी सम्मिलित होते थे। डेरे पर भी रात-दिन सत्सङ्ग की गङ्गा बहती रहती थी। उन दिनों, गुरुदासपुर में मियाँ हरिसिंह, एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर और मियाँ शेरसिंह सुपरिण्टेण्डेण्ट पोलीस थे। ये दोनों महाशय कट्टर प्रतिमा-पूजक थे। स्वामी जी के खण्डन के व्याख्यानों से वे बहुत रुष्ट हुए। गणेशगिरि नामक एक विरक्त महात्मा नगर से बाहर एक उद्यान में रहते थे। उन दोनों ने उनके पास जाकर कहा कि दयानन्द जी हमारी देवमूर्त्तियों का खण्डन करते हैं। आप चलिए और शास्त्रार्थ से उनका मुख बन्द कीजिए।

महात्मा गणेश जी ने उनको समझाया कि हम विरक्त हैं, तुम्हारे झगड़े-बखेड़े में पड़ना नहीं चाहते। यदि अधिक सताओगे तो यह स्थान छोड़ कर कहीं अन्यत्र चले जायँगे।

गणेशगिरि से निराश होकर मियाँ हरिसिंह और शेरसिंह जी ने पण्डित लक्ष्मीधर और दौलतराम को दीनानगर से बुलाया। वे शास्त्रार्थ के लिए स्वामी जी के पास आये। जिस समय वे महाराज के पास पहुँचे, स्वामी जी शिवपुराण की कथा पर समालोचना कर रहे थे और बतला रहे थे कि

इन पुस्तकों में कसी अश्लील लीलायें भरी पड़ी हैं। मियाँ हरिसिंह और वीरसिंह अपने पंडितों सहित बीच-बीच में बार-बार कहते थे कि यह जो कुछ कह रहा है सर्वथा झूठ बकता है। डाक्टर महाशय ने उनको बहुत समझाया कि ऐसे कठोर शब्द कहना आपको उचित नहीं है और व्याख्यान के बीच में भी बोलना नहीं चाहिए। परन्तु उस समय वे लोग नियम, नीति और न्याय सब कुछ छोड़ बैठे थे।

महाराज ने जब देखा कि ये लोग व्याख्यान आगे चलने ही नहीं देते तो भाषण बन्द कर दिया और कहा कि "दोनों पण्डितों में से एक सामने की कुर्सी पर आ बैठे। जिस विषय पर उसका जी चाहे प्रश्न करे।" इस पर मियां महाशयों ने कहा कि क्या कोई कंजरियों का खेल है जो बीच में आ जायें। हम तो यहीं से शास्त्रार्थ करेंगे और सभी बोलेंगें। महाराज ने दुर्जनतोष-न्याय' से उन पण्डितों को कहा कि अच्छा, आप मनमानी विधि से ही शास्त्रार्थ कर लीजिए।

तब पण्डितों ने 'गणानां त्वा' इस मन्त्र को पढ़कर कहा कि इस से गणेश की प्रतिमा का पूजन सिद्ध होता है। महाराज ने उत्तर दिया कि अपना अर्थ किसी भाष्य में दिखलाइये। उन्होंने महीधर भाष्य निकाल कर आगे किया। महाराज ने महीधर के अत्यन्त अश्लील अर्थों को सुनाकर कहा कि इसमें न तो मूर्त्ति-पूजन है और न ही गणेश-पूजन। फिर आपने इस मन्त्र का सच्चा अर्थ परमात्मा पर लगा कर जनता को बताया। इससे लोगों को पण्डितों के पानी की पेंदी का पूरा पता लग गया। परन्तु मियाँ महाशय आपे से बाहर हो गये। वे दुर्वचन-बाण बरसाते हुए बोले कि यदि कोई देशीय राजा होता तो कोई आपका सिर काट डालता। यहाँ पर भी मजिस्ट्रेट और पोलीस दोनों विद्यमान हैं। उनका भी कुछ ध्यान कीजिए। डाक्टर विहारीलाल जी तो आवेश में आ गये, परन्तु श्री महाराज के प्रशान्त और गम्भीर मुख-मण्डल पर कोप की एक रेखा भी तो न आई। वे हाथी की भाँति गम्भीरता से शंका-समाधान करते रहे। उन्होंने मियाँ महाशयों की अनुचित क्रिया पर कर्णपात तक नहीं किया।

उन दिनों में 'काक' महाशय वहाँ इञ्जिनीयर थे। वे भी महाराज के व्याख्यानों में आया करते थे। एक दिन भाषण के प्रसङ्ग में स्वामीजी ने

कहा कि अंग्रेज लोगों को इस देश में आये हुए चिर हो गया है। परन्तु इन लोगों ने अपने उच्चारण को अभी तक नहीं सुधारा। तकार के स्थान टकार ही बोलते हैं। इससे काक महाशय रुष्ट हो गये और चलते हुए बोले कि यदि तुम पश्चिम में पेशावर की ओर जाओ तो तुम्हें स्वाद चखाया जाय।

श्रीस्वामीजी के उपदेशों से लोगों ने भाद्रपद वदी १ संवत् १९३४ को गुरुदासपुर में आर्य्यसमाज स्थापित कर दिया। महाराज के पास आकर अनेक मौलवी और पण्डित प्रश्न पूछते थे और सन्तोषजनक उत्तर पाकर चले जाते थे।

भाद्रपद वदी २ संवत् १९३४ को गुरुदासपुर से चलकर महाराज ने बटाले में राय भागमल के उद्यान में एक घण्टा विश्राम किया और फिर अमृतसर में आ विराजे। भाद्रपद सुदी ६ संवत् १९३४ को अमृतसर से प्रस्थान कर उसी दिन दो बजे जालन्धर आ पहुंचे और अपना डेरा सरदार विक्रमसिंह की कोठी में किया। स्वामीजी का पहला व्याख्यान कुंवर सुचेतसिंह के मकान पर 'सृष्टि की उत्पत्ति' पर हुआ। परन्तु वह स्थान संकीर्ण था इसलिए जनता को सूचना दे दी गई कि कल से व्याख्यान सरदार विक्रमसिंह के मकान पर हुआ करेंगे। जालन्धर में महाराज के विविध विषयों पर कोई चौंतीस-पैंतीस व्याख्यान हुए।

स्वामीजी अपने व्याख्यानों में प्रकरणानुसार मनोरञ्जक कहानियाँ भी सुनाया करते थे। चापलूसी पर, हाँ में हां मिलाने पर और सत्यवचनियापन पर महाराज बैंगन का दृष्टान्त दिया करते थे कि एक राजा ने बैंगन खाने की इच्छा प्रकट की। पुरोहित ने अनुमोदन करते हुए कहा कि राजन्! बैंगन एक प्रत्युत्तम पदार्थ है। यह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण की तरह श्यामल है। इसके सिर पर मनोहर मुकुट विराज रहा है और इसका नाम भी बहुगुण है। पुरोहित के प्रशंसा करने पर राजा महाशय अति प्रसन्न हुए और प्रतिदिन दोनों काल, बैंगन का यथेष्ट भोग लगाने लगे। बैंगनों के आहार से उसकी देह में पित्त प्रकुपित हो गया और अर्श-रोग से रक्त-स्राव होने लगा। जब राजा महाशय का स्वास्थ्य बिगड़ गया तो उसने पण्डित जी से कहा कि बैंगन तो बहुत बुरे हैं। पुरोहित जी ने कहा कि श्रीमन्त का कथन सर्वांश में सत्य है। राजन्! इसका रङ्ग ही देखिए, विधाता ने कैसा भूंडा, कोयले-

सा काला-कलूटा रचा है। इसके सिर पर काँटों का मुकुट है और सीधी शूल ठुक रही है।

लोग सुगम धर्म को अधिक स्वीकार करते हैं। सत्यासत्य का कोई ध्यान नहीं रखते। हमारे बड़े-बूढ़े ऐसा ही करते आये हैं। इसलिए हम भी इस टेर को लिये चलेंगे, ऐसी बातों पर स्वामीजी दिल्ली की मिठाई का दृष्टान्त दिया करते थे कि एक बार बहुत से गँवार दिल्ली में आए। अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ देखकर मुँह में पानी भर आया। परन्तु पर्याप्त पैसे पास न होने के कारण वे मिठाई मोल न ले सके। एक हलवाई ने उन्हें सस्ती मिठाई देने का वचन दिया और भीतर जाकर ऊँट के लेंडों और बकरी की मेंगन पर खाँड़ चढ़ा दी। फिर बाहर आकर उनसे कहने लगा कि लो तुम्हें सस्ती मिठाई देता हूँ। ऐसी मिठाई यहाँ से नित्य ले जाया करो। उन गँवारों ने उसे दाम देकर अपनी झोलियाँ भर लीं और उस मिठाई का आनन्दपूर्वक भोग लगाया! वे दिल्ली में प्रतिदिन आकर वह मिठाई मोल ले लेते थे। एक दिन एक बुद्धिमान् मनुष्य ने उनको समझाया कि तुम्हारी मिठाई अच्छी नहीं है और भीतर से बकबकी-सी है। गँवार बोले कि तुम हमें यों ही बहकाते हो। यह तो दिल्ली की मिठाई है और बड़ी सस्ती है। फीकी है तो क्या हुआ! हमारे बाप-दादा इसी को खाते आये हैं। इसको छोड़कर हम दूसरी मिठाई कभी भी न लेंगे।

स्वामीजी एक राजा की कथा सुनाया करते कि एक ठग एक राजा को मिला और कहने लगा कि मैं एक ऐसा वेष निर्माण कर सकता हूँ, जो केवल उसी को दृष्टिगोचर हो सकता है जो निर्दोष माता-पिता की सन्तान है। राजा ने ऐसे वेष के लिए उत्कण्ठा प्रकट की। वह वंचक मनुष्य कुछ दिनों के अनन्तर आकर, राजा महाशय से कहने लगा कि वह अद्भुत दिव्य-वेष बन गया है। भीतर पधारिये श्रीमन्त को उससे विभूषित कर दिया जाय। राजा सुप्रसन्नता से उसके साथ भीतर गया और वंचक ने उसके बहुमूल्य वस्त्र उतरवा लिये। फिर यों ही इधर-उधर हाथ फिराकर वह कहने लगा कि श्रीमन्तजी! अब आपको दिव्य-वेष पहरा दिया है। मुझे पारितोषिक दीजिए और स्वच्छंदता से राज्य-पाट का काम-काज करने लग जाइए। अब वह राजा, यद्यपि अपने को वस्त्रहीन देखता था परन्तु वंचक के वचनानुसार

अपनी मां ही को दूषित समझता था। जो कोई उसे उसकी अवस्था सुझाता तो वह उसके माता-पिता में भी चरित्र-दोष की कल्पना कर लेता। इस प्रकार, विहंगम दशा में राजा महाशय न्यायालय में आ पहुँचा।

बुद्धिमान् मन्त्री ने अपने मुग्ध महाराजा से कहा कि राजन्! आपका वेष तो विदेशी है, परन्तु यदि एक स्वदेशी कौपीन कस लो तो बहुत अच्छा हो। मन्त्री महाशय के बहुत समझाने से राजा ने माना कि मैं वास्तव में ठगा गया हूँ।

स्वामीजी इस दृष्टान्त से यह शिक्षा निकाला करते थे कि जो लोग अपनी बुद्धि से काम नहीं लेते और दूसरे के बहकाने में फँस जाते हैं; जो अपने धर्म्म-कर्म को आप नहीं समझते, अपने देश तथा जाति की दशा को आप नहीं निहारते, अपने धर्म्म-ग्रन्थों और इतिहासों को आप नहीं पढते, केवल पर-कथन ही पर निर्भर करते हैं, वे अन्त में उस मूर्ख राजा की भाँति, दीन-हीन होकर दूसरों की दृष्टि में उपहास की वस्तु बन जाते हैं।

महाराज ने वहाँ वेश्या-कुव्यसन का घोर खण्डन किया, तीर्थ-माहात्म्य और गङ्गा-स्नान के फल को भी अमूलक बताया। अमृतसर के दरबार साहब के विषय में स्वामीजी ने कहा कि दीपमाला के दिन सिख वहाँ सकेश स्नान करते हैं। हमारा जी तो वहाँ आचमन करने को भी नहीं चाहता। इस पर सरदार विक्रमसिंह ने कहा कि स्वामीजी! आज तो हम पर भी वर्षा हो गई। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि व्याख्यान में पक्षपात नहीं किया जा सकता। सत्य बात को कहना ही पड़ता है।

मुक्ति के विषय पर बोलते हुए महाराज ने कहा—"जीव और ब्रह्म को एक मानना भारी भ्रम है। पिता-पुत्र का सम्बन्ध और परमानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है। मोक्ष से जीव कल्पान्तर में फिर जन्म धारण करता है। श्री कृष्ण आदि महापुरुष मोक्ष से ही आये थे। पापों का नाश किसी तीर्थ आदि स्थान पर नहीं हो सकता। दुष्कर्म तो शुद्ध सङ्कल्प, तपस्या और फल-भोग से नष्ट होता है।"

स्वामीजी के शुभागमन के समय वेद-ज्ञान के विषय में पंजाब की यह दशा थी कि महाशय रामनाथ ने स्वामीजी से निवेदन किया कि महाराज! जब हम लोग अपने पुरोहितों से पूछते हैं कि अथर्ववेद क्या है? तो वे उत्तर

देते हैं कि स्त्रियाँ जो गीत विवाह में गाती हैं वही अथर्ववेद है। स्वामीजी ने कहा कि अथर्ववेद व्याहों के गीत नहीं है। वह एक अत्युत्तम ग्रन्थ है। उस समय महाराज ने उसे अथर्ववेद के दर्शन भी करा दिये।

मौलवी अहमद हसन ने स्वामीजी के साथ पुनर्जन्म और चमत्कार पर विवाद किया। इसमें मौलवी महाशय को पूर्ण पराजय प्राप्त हुई। यह वाद कई समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित हुआ था।

जालन्धर नगर में अमृत-वर्षा करके श्री स्वामीजी आश्विन सुदी ११ संवत् १९३४ में दशहरे के एक दिन पीछे लाहौर में पधारे। अब की वे नवाब रजाअलीखाँ के उद्यान में ठहरे। इसी उद्यान में, एक पादरी एक कुमारी सहित स्वामीजी के मिलापार्थ आये। वार्तालाप में महाराज ने कहा—"सम्पत्ति का बहुत ही बढ़ जाना अन्त में अवनति का साधन हो जाया करता है। आर्य्य जाति के अधःपतन का यही कारण है। अति धन के कारण अब अंग्रेजों की प्रकृति भी बदल रही है। जिन दिनों हम जङ्गलों में रहा करते थे तो प्रातःकाल, जब भ्रमणार्थ निकलते तो अंग्रेज भी घूमते हुए, बहुधा मिलते थे। परन्तु आजकल ये लोग बहुत दिन चढ़े उठते हैं।"

जिन दिनों स्वामीजी अमृतसर आदि में उपदेश दे रहे थे उन्हीं दिनों में एक साप्ताहिक सत्संग में, श्री शारदाप्रसाद जी ने एक व्याख्यान दिया और उसमें कहा—"वेद, कुरान और बाइबल आदि सभी ग्रन्थ एक से ईश्वरीय आदेश हैं।" आर्य्य पुरुषों ने इस कथन को अच्छा नहीं समझा और स्वामी जी के आने पर उनसे व्यवस्था माँगी। स्वामीजी ने शारदा महाशय को उपालम्भपूर्वक कहा—"आर्यसमाज के नियमों के विरुद्ध आपको बोलना न चाहिए था। ऐसा करने का अधिकार किसी भी सभासद् को नहीं है।" महाराज ने सब सभासदों को अभिमुख करके कहा—"चाहे प्रधान भी क्यों न हो, यदि कोई आर्यसमाज में इस समाज के नियमों के प्रतिकूल कथन करे तो प्रत्येक सभासद् का अधिकार है, उसे रोके और बैठा दे।"

एक दिन का वर्णन है कि एक लाट पादरी महाशय स्वामीजी से मिलने आये। बात-चीत में उन्होंने कहा—"स्वामीजी महाशय! हमें तो 'हिरण्यगर्भः' इत्यादि मंत्र से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में ऋषि-मुनिजन ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे।" स्वामीजी ने राय मूलराज से उस

मंत्र का अंग्रेजी अनुवाद सुना और फिर बिशप महाशय को कहा—"इस मंत्र का अंग्रेजी में अशुद्ध अनुवाद किया गया है। इसका यथातथ्य अर्थ यह है कि प्रकाश के धाम, जगत् के कर्त्ता-धर्त्ता, स्वामी और सुखमय सनातन परमेश्वर की हम उपासना करते हैं।" फिर लाट पादरी महाशय बोले—"बाइबल का महत्त्व देखिये। इसकी शिक्षा सूर्य के उदयास्त तक फैल रही है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"यह बाइबल का महत्त्व नहीं है, परन्तु आप लोगों के परिश्रम का परिणाम है। आर्य लोग वेदानुसार ब्रह्मचर्य, विद्या-प्राप्ति, एक स्त्री से विवाह, दूर देश की यात्रा और स्वदेश-प्रेम आदि शुभ कर्मों का परित्याग कर बैठे हैं। इसलिए इनकी यह अधोगति हो रही है। आप लोग इन वैदिक नियमों के अनुसार चलते हैं इसीलिए इतनी उन्नति के दिन देख रहे हैं। वास्तव में आर्य्य जाति के प्रताप से ही दूसरी जातियों में शिक्षा, सभ्यता और सदाचार विस्तृत हुआ है।"

आश्विन सुदी १४ संवत् १९३४ आदित्यवार को आर्य्यसमाज का साप्ताहिक सत्संग था। उसमें महर्षि भी सम्मिलित हुए। उसी दिन स्थानीय ब्राह्म-समाज का वार्षिकोत्सव था। साप्ताहिक सत्संग समाप्त हो जाने पर भगवान् दयानन्द अपने दो ढाई सौ भक्तों सहित ब्राह्म-समाज के उत्सव पर पधारे। ब्राह्म-समाजियों और सर्वसाधारण पर उनकी इस उदारता का अत्युत्तम प्रभाव पड़ा।

: ६ :

सरदार विक्रमसिंह और ऋषि का ब्रह्मचर्य-बल

लाहौर में स्वामीजी के प्रचार और आर्यसमाज की स्थापना से पंजाब के सारे नगरों में धर्म्मान्दोलन होने लगा। धर्म्म के नूतन संस्कार-कर्त्ता की उज्ज्वल कीर्ति सर्वत्र फैल रही थी। प्रत्येक नगर में ऐसे मनुष्यों की पर्याप्त संख्या उत्पन्न हो गई जो धर्म के नूतन संस्कार के पक्षपाती थे, जिनके हृदयों में जातीय सुधार के उत्ताल-तरल तरङ्ग उठ रहे थे। ऐसे ही कुछ एक महानुभाव महाशयों ने फीरोजपुर छावनी में 'हिन्दू सभा' नाम से एक सत्संग स्थापित कर रक्खा था। इस सभा के दो एक सभ्य लाहौर में श्री स्वामीजी

के उपदेश भी सुन गये थे। उन्होंने अपने नगर में जाकर अपने भाइयों के चित्त-पट पर महाराज के परम पवित्र चरित्र का चित्र ऐसा चित्रण किया कि वे लोग श्री-दर्शनों के लिए अति व्यग्र हो गये। उन्होंने श्री-सेवा में विनय पत्रों का तार लगा दिया।

इस हिन्दू सभा के प्रधान श्रीमान् मथुरादास थे। उनके हृदय में श्री महाराज के लिए इतना गहरा, इतना प्रबल और उच्च भक्ति-भाव उत्पन्न हुआ कि उन्होंने एक नूतन आवास इसीलिए बनवाया कि उसमें महाराज का निवास कराया जायगा।

फीरोजपुर छावनी के सभ्यों ने स्वामीजी को लिवा लाने के लिए अपने एक सभ्य को लाहौर भेज दिया। स्वामीजी कार्त्तिक वदी ४ संवत् १९३४ को फीरोजपुर में पधारे। जो आवास महाराज के निवास के निमित्त निर्माण किया गया था वह वस्ती में था, इसलिए स्वामीजी लाला वनवारीलाल की कोठी में ठहरे। व्याख्यानों के लिए श्री मथुरादासजी के आवास के सामने एक स्वच्छ स्थान पर मण्डप बनाया गया और पुष्पादि से सुसज्जित किया गया। वहीं महाराज के उपदेश होने लगे।

स्वामी जी का पहला व्याख्यान 'सृष्टि की उत्पत्ति' पर था। व्याख्यान के बीच में ही एक पण्डित कहने लगा कि हमको कुछ प्रश्न करने हैं इसलिए अवसर दिया जाय। महाराज ने कहा कि व्याख्यान के पश्चात् पूछ लीजिएगा। उसने कहा कि तबतक तो मैं पूछने योग्य बातें भूल जाऊंगा। तब महाराज ने कहा कि यदि भूल जाने का भय है तो लिखते जाइए। व्याख्यान की समाप्ति पर आपका समाधान कर दिया जायगा। परन्तु वह पण्डित ऐसा अधीर हो गया कि उसे यह भी सुध-बुध न रही कि मैं कह क्या रहा हूं? उसकी जीभ तुतला गई और काया कांपने लगी। मुंह से झाग फेंकता और अण्ड-बण्ड बकता सभा-स्थान से निकल गया।

पण्डित कृपाराम नामक एक सज्जन प्रश्न पूछने के लिए आया और महाराज को सिंहासन पर विराजमान देख कर कहने लगा, "आप तो ऊंचे आसन पर बैठे हैं, हम नीचे खड़े होकर आपके साथ शास्त्रार्थ क्यों करें? हमें भी अपने बराबर की कुर्सी दीजिए।" महाराज ने उसके लिए कुर्सी लाने की आज्ञा देकर कहा,—"कुर्सी के बिना भी आपके बोलने में तो कोई बाधा नहीं

पड़ती, परन्तु यदि मेरा ऊँचा बैठना आपको खटकता है तो ईर्ष्या न कीजिए। मैं भी नीचे स्थान पर बैठ जाता हूं।" इन्हीं बातों में कुर्सी आ गई। तब कृपाराम महाशय ने पूछा—"खुदा महदूद है या ला-महदूद ?" महाराज ने कहा—"मैं अरबी नहीं जानता; आर्यभाषा में भाषण कीजिए। क्या आपका तात्पर्य एक-देशी अथवा सर्वव्यापक से है ?" उसने कहा—"हाँ, इसी से है !" तब उन्होंने कहा—"परमात्मा सर्वव्यापक है।"

कृपाराम जी ने अपनी जेब से तत्काल घड़ी निकाल कर मेज पर रख दी और कहा "यदि ईश्वर सर्व-व्यापक है तो बताइए कि इस घड़ी में कहाँ बैठा है ?" महाराज ने उत्तर दिया कि "परमात्मा आकाश की भाँति परम सूक्ष्म और सर्वव्यापक है। इसलिए चर्म-चक्षुओं से अगोचर है।" फिर अपना सोटा उठाकर कहा—"आकाश सर्वव्यापक है, इस सोटे के भीतर और बाहर भी रमा हुआ है। जैसे इस सोटे में आकाश तो है पर दीखता नहीं, इसी प्रकार आपकी घड़ी में ईश्वर है, परन्तु परम सूक्ष्म होने से इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता।" यह सुनकर कृपाराम निरुत्तर हो गये।

एक दिन फीरोजपुर छावनी के बड़े मन्दिर का पुजारी रघुनाथ, स्वामी जी के निकट गया। स्वामी जी ने उससे कहा कि प्रश्न पीछे कीजियेगा, पहले यह तो बताइए कि पुजारी शब्द का क्या अर्थ है ? रघुनाथ इस पर अवाक् बना रहा। तब श्री स्वामी जी ने बताया कि पुजारी पद का अर्थ है पूजा का शत्रु ! आप लोग पण्डित होकर ऐसे नाम क्यों रख लेते हैं ?"

रघुनाथ ने महाराज से कहा—"वेद के आधार पर सारे शास्त्र रचे गये हैं, इसलिए उनका भी तो वेदों की तरह प्रमाण मानना चाहिये।" महाराज ने उत्तर दिया कि "वेद के आश्रय से तो अन्य ग्रन्थ बने हैं, परन्तु थैली में रक्खे रुपयों को जैसे परीक्षक ही परख सकता है ऐसे ही दूसरे ग्रन्थों की सत्यता का निर्णय करना केवल विद्वानों का ही काम है।"

स्वामी जी से अनेक पण्डितों और मौलवियों ने प्रश्न पूछ कर अपने सन्देह मिटाये, भ्रम दूर किये और आत्मिक प्रसाद उपलब्ध किया। महाराज के प्रताप से उस हिन्दू सभा ने ही आर्यसमाज का चोला धारण कर लिया। विधिपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

भक्त स्वरूपसिंह जी एक भजन-पाठ करने वाले पुरुष थे, सत्संग-रस के

रसिक थे। एक दिन वे श्री महाराज से बहुत देर तक योग-चर्चा करते रहे। भक्त जी ने भगवान् से योग-मार्ग के अनेक बहुमूल्य मोती उपलब्ध किये और अपने को कृतार्थ बनाया।

फीरोजपुर-निवासियों को धर्म्म-जीवन दान करने के पश्चात् स्वामी जी कार्तिक वदी १५ संवत् १९३४ की सायं को वहाँ से चलकर अगले दिन प्रातःकाल लाहौर में आ विराजे।

कार्तिक सुदी १ संवत् १९३४ को लाहौर आर्यसमाज की अन्तरङ्ग सभा का अधिवेशन था। उसमें आर्यसमाज के उपनियम निर्मित, परिवर्त्तित और संशोधित होकर सभासदों के समाने स्वीकृति के लिए रक्खे गये थे; सभासद् उन पर मतामत प्रकाशित कर रहे थे। दैवयोग से उस समय उस सभा में स्वामी जी विराजमान थे। सभासदों ने उनसे विनय की कि आप भी अपनी सम्मति प्रदान कीजिए। महाराज ने कहा, जब मैं आपकी अन्तरङ्ग सभा का सभासद् ही नहीं हूं तो सम्मति कैसे दे सकता हूँ। महाराज की महामूल्य सम्मति से अलभ्य लाभ उपलब्ध करने के लिए, सभासदों ने सर्व-सम्मति से, उनको उसी समय सभासद् बना लिया।

लाहौर से प्रस्थान कर श्री महाराज कार्त्तिक सुदी द्वितीया संवत् १९३४ को प्रातःकाल रावलपिण्डी में पहुंचे। वहाँ उनको श्रीयुत गिरीशचन्द्र महाशय ने स्वागतपूर्वक लाकर 'जामसनजी' पारसी की कोठी में उतारा। गिरीश महाशय ने विज्ञापन आदि बाँटकर व्याख्यानों का उचित प्रबन्ध कर दिया। यहाँ स्वामी जी बीस दिन पर्यन्त प्रति सायं उपदेश देते रहे। उनके व्याख्यान मूर्ति-पूजा-खण्डन और अवतारवाद के विरुद्ध भी बड़े धड़ल्ले के हुए। इससे पोठोहार के पौराणिक जगत् में भयङ्कर भूकम्प आ गया। अबोधजन विविध प्रकार के विघ्न-बाधा और विरोध करने पर तुल गये। उस समय, उनसे और तो कुछ न बन आया, परन्तु सेठ जामसन जी को भड़काने लगे। स्वामी जी ने जब देखा कि सर्वप्रियता के बनाये रखने के लिए, सेठ महाशय कोठी छुड़वाना चाहते हैं तो वे प्रबन्ध करके सरदार सुजानसिंह के उद्यान की बारहदरी में जा विराजे। उस उद्यान में भी वे प्रति सायं को सत्सङ्ग लगाते और सत्योपदेश देते थे।

स्वार्थ-सिन्धु और उदरार्थी लोगों ने सारे नगर में यह बात फैला

रक्खी थी कि दयानन्द अभ्यन्तर से ईसाई है; लोगों को भ्रमाने के लिए भगवे पहने फिरता है। इसका उद्देश्य लोगों को धर्म्म से भ्रष्ट करना और सनातन हिन्दू धर्म्म को नष्ट करना है। कोई-कोई यह भी कहते थे कि यह नास्तिक है; इसके पास जाने से पातक चढ़ता है। इसका मुंह देखने से पाप लगता है! फिर भी, प्रेम-प्रधान पोठोहार प्रान्त के मुख्य नगर में, ऐसे सैकड़ों सत्संगी थे जो अति भावना से, अपार प्रीति से, अतुल लगन से, असीम श्रद्धा से उपदेशों को श्रवण करने जाते थे। उस नगर में महाराज की कीर्ति-कथा कहने वाले भक्त भी बीसियों थे। ऐसे ही सज्जनों के उत्साह से वहाँ समाज की स्थापना भी हो गई।

एक दिन व्याख्यान के उपरान्त अनेक सज्जन श्री सेवा में बैठे सत्सङ्ग कर रहे थे। प्रसङ्ग चलने पर स्वामी जी ने कहा—"आर्य लोगों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। ये लोग अपनी रक्षा करना तो जानते ही नहीं। अन्य बातें तो जाने दो, जब कभी कोई ईसाई अथवा मुसलमान इनके धर्म्म पर आक्रमण करता है और ब्रह्मा की कथा सुनाता है तो यह मुंह ताकते रह जाते हैं। इनसे उत्तर तक नहीं बन पाता। ब्रह्मा की कहानी तो किसी प्रामाणिक पुस्तक में नहीं है, परन्तु लूत की कथा बाइबल में विद्यमान है। यदि ये लोग दूसरों के ग्रन्थ देखें तो ऐसी बातों से उनका मुख बन्द कर सकते हैं।"

अगले दिन ईसाई आपस में सम्मति करके स्वामी जी के पास आये और उनमें से एक ने कहा कि आपने कल जो लूत महाशय के विषय में सुनाया था वह सब झूठ है। महाराज ने उसे बहुतेरा समझाया कि संन्यासी जन असत्य भाषण नहीं करते परन्तु वह ईसाई अपना दुराग्रह किये ही जाता था। अन्त में महाराज ने बाइबल में से वह कहानी निकाल कर उसके आगे रख दी। इससे वह बहुत कटा और फीका पड़ गया।

वहाँ के पौराणिक पण्डित अपने घरों में, मन्दिरों में, धर्म्मशालाओं में और यजमानों के मकानों पर शास्त्रार्थ करने के लिए भुजायें तो बहुत संवारते थे परन्तु उस महामल्ल के सम्मुख होने से, भीतर ही भीतर, सभी जी चुराते थे। उन्हीं दिनों में वहाँ एक विद्वान् संन्यासी, सम्पत्गिरी जी आये हुए थे। पण्डितों ने अपनी विपत्ति उनके सिर पर डालनी चाही। उन्होंने उनके पास जाकर अत्याग्रह किया कि दयानन्द से शास्त्रार्थ करने के लिए आप

हमारे साथ चलिए। उन देवताओं के टालने के लिए गिरी जी ने साथ चलना स्वीकार कर लिया, परन्तु जब पण्डित लोग उनके भरोसे दल बाँधकर स्वामी जी पर चढ़ चले तो गिरी जी ने, ठीक समय पर किनारा कर लिया। जब गिरी जी, मक्खन में से बाल की भाँति, उनमें से बाहर निकल गये, तो 'गले पड़ा ढोल' उन्हें आप ही बजाना पड़ा!

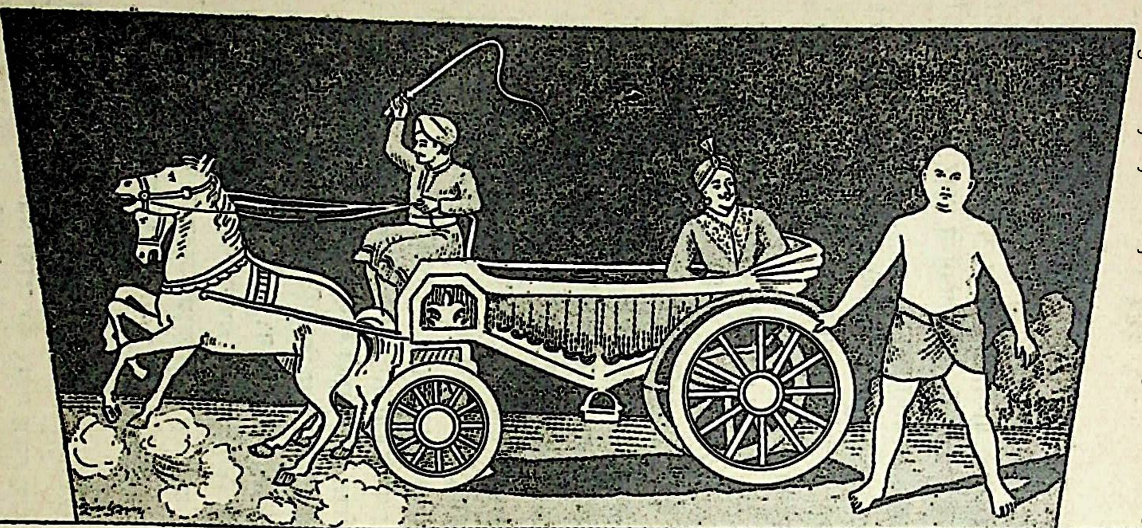
उस दिन सारे नगर में धूम मच गई थी कि आज भूदेव-दल स्वामीजी से शास्त्र-समर करने जा रहा है। इसलिए दर्शकों की टोलियाँ भी सुजानसिंह जी के उद्यान में पहुँचने लगीं।

ऐसे समय में, एक प्रेमी ने स्वामीजी से कहा, "आज पण्डित लोग बड़ी धूम-धाम से शास्त्रार्थ करने आ रहे हैं।" जिस केसरी ने ऐरावत हस्ती का मदमर्दन किया हो वह क्षुद्र पशुओं की कोरी भबकियों से कब डरता है? जिस महात्मा ने काशी, वङ्ग और दक्षिण के महाविद्वानों का मुख बन्द कर दिया हो वह भला रावलपण्डी के पण्डितों की कब चिन्ता करने लगा था! महाराज ने उसे उत्तर दिया, "उन्हें आने तो दो, फिर देखना क्या होता है।"

पण्डित-दल आकर महाराज के पास बैठ गया। थोड़ी देर तक तो इधर-उधर की बातें होती रहीं। अन्त में पण्डित व्रजलालजी ने एक श्लोक उच्चारण किया। स्वामीजी ने उससे पूछा कि यह श्लोक किस ग्रन्थ का और किस समय का है? इस पर व्रजलाल निरुत्तर हो गये।

हरिपुर के पण्डित हरिश्चन्द्रजी ने एक महा अशुद्ध श्लोक बोला। इस पर स्वामीजी ने उनको डाँटकर कहा कि यदि कोई सार-मर्म की बात करना जानते हो तब तो वार्त्तालाप करो, नहीं तो यों ही वितण्डावाद में मेरा समय क्यों बिगाड़ते हो? यह कोई अबोध बालकों की पाठशाला नहीं है कि जो भी मुँह में आये कहते चले जाओ, शुद्धाशुद्ध पर कुछ भी ध्यान न दो। व्रजलाल ने भी हरिश्चन्द्र की अशुद्धि को स्वीकार किया। इस पर वे शान्त होकर चले गये।

रावलपिण्डी में स्वामीजी के पास महाराजा जम्मू तथा काश्मीर का निमंत्रण आया कि राज्य में पधार कर शोभा प्रदान कीजिए। स्वामीजी ने उत्तर में कहा—"महाराजा जम्मू ने बहुत से मन्दिर बनवाये हैं। वे हैं पक्के प्रतिमापूजक। मैं यदि वहाँ जाऊँ तो खण्डन अवश्य करूँगा। इससे वे चिढ़



ऋषि दयानन्द का सरदार विजयसिंह को ब्रह्मचर्य के बल का चमत्कार दिखाना

तो जायेंगे परन्तु मुझ से लाभ नहीं उठा सकेंगे, इसलिए अभी मैं वहाँ नहीं जाना चाहता।" उस समय स्वामीजी ने एक कहानी सुनाई कि "मारवाड़ के एक राजा के यहाँ हम गये। वह पन्द्रह सेर तक माला रूप में रुद्राक्ष का बोझ उठाये फिरता था। सवेरे स्नान आदि से निवृत्त होकर पाँच सेर मिट्टी की छोटी-छोटी गोलियाँ बनाता और एक ब्राह्मण उन पर जल चढ़ाता जाता था। हमने उसको कहा कि आप जब तक हमारा उपदेश न सुनेंगे हम आपका आतिथ्य स्वीकार नहीं करेंगे। तीस दिन तक हमने वहाँ निवास किया और प्रतिदिन उसे उपदेश देते रहे। अन्त में उसके विचार-नेत्र निर्दोष हो गये और उसने वह अखिल दण्ड-पाखण्ड परित्याग कर दिया।"

एक दिन भ्रमण करते समय स्वामीजी को सम्पत्गिरी जी मिल गये। शिष्टाचार के अनन्तर महाराज ने उससे कहा कि कुछ उपदेश भी दिया करो। जब गिरी जी अपने डेरे पर गये तो लोगों ने उनसे पूछा कि आज दयानन्द जी से क्या बात-चीत हुई है? उन्होंने उत्तर दिया कि वह ब्राह्मणवंशीय एक विद्वान् संन्यासी है। हम दोनों कभी इकट्ठे पढ़ा करते थे। लोगों ने कहा—आप भी उनकी भांति व्याख्यान क्यों नहीं देते? उन्होंने उत्तर दिया कि वह निधड़क हो गया है, परन्तु हमसे तो ऐसा हुआ नहीं जाता।

एक दिन सरदार विक्रमसिंह जी ने निवेदन किया कि सुनते हैं कि ब्रह्मचर्य से मनुष्य महाबली बन जाता है, क्या यह सत्य है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि ब्रह्मचर्य्य धारण करने का जो महत्त्व शास्त्रों ने वर्णन किया है वह सर्वथा सत्य है। तब सरदार महाशय बोले कि महाराज! आप भी तो ब्रह्मचारी हैं। हमें आप में कोई विशेष बल तो प्रतीत नहीं होता। महाराज ने इस बात का कोई उत्तर न दिया। सरदार महाशय बड़ी देर तक सत्संग में बैठे रहे। चलते समय जब नमस्कार करके गाड़ी में आरूढ़ हुए तो महाराज ने उनकी गाड़ी को पीछे से पकड़ लिया। विक्रमसिंह जी ने घोड़ों को बहुतेरे कोड़े लगाये परन्तु वे गाड़ी को न खींच सके। सरदार महाशय ने जब पीछे की ओर मुड़कर देखा तो महाराज ने गाड़ी को छोड़ दिया और कहा कि ब्रह्मचर्य्य के बल का प्रमाण आपको मिल गया। सरदार महाशय उनके इस सामर्थ्य पर अति विस्मित हुए।*

---

*नोट—ऐसा कहा जाता है कि यह घटना जालन्धर की है।

रावलपिण्डी में धर्म्म प्रचार करके श्री स्वामी जी गुजरात को जाते हुए, मार्ग में झेलम ठहर गये और सेठ जामा जी के बङ्गले में उतरे। झेलम में महाराज ने पहला व्याख्यान एक सराय में दिया और दूसरा अपने उतारे पर। वहाँ स्थान पर्याप्त न था इसलिए पादरी महाशयों की प्रार्थना पर स्वामी जी ने शेष सारे व्याख्यान स्कूल में दिये।

दो-चार दिन तक तो पादरी लोगों ने धर्म्म-चर्चा की, परन्तु बार-बार की पराजय से बचने के लिए उन्होंने वह क्रम तोड़ दिया। झेलम की ईसाई-पाठशाला के मुख्याध्यापक महाशय शिवचरण घोष थे। वह बङ्गाली ईसाई थे। उन्होंने भी स्वामी जी से धर्म्म-चर्चा की। परन्तु महाराज ने बाइबल के वाक्य बोलकर उनकी ऐसी युक्ति-संगत समालोचना की कि घोष महाशय देखते ही रह गये। उनसे कोई उत्तर न बन पड़ा।

स्वामी जी के प्रभावशाली उपदेशों से झेलम में आर्य-समाज स्थापित हो गया और सभासद् बड़े उत्साह से धर्म्म-कार्य्य में लग गये। आर्य-समाज के पहले संगीत-शास्त्री और प्रसिद्ध भजन-निर्माता, महता अमीचन्द जी ने श्री महाराज के दर्शन पहले झेलम में ही किये। उसी समय उनके हृदय में श्री-चरणों की भक्ति का अंकुर उग आया। अन्त को धीरे-धीरे महता जी पक्के स्वामी-भक्त बन गये।

उन दिनों स्वामी जी के साथ वेद-भाष्य लिखने के लिए तीन पण्डित थे। अंग्रेजी के पत्रव्यवहार के लिए एक अंग्रेजी जानने वाला था। अन्यान्य कार्यों के लिए चार-पाँच सेवक थे। स्वामी जी निवास-स्थान पर तो साधारण वेश में ही रहते थे, परन्तु जब व्याख्यान देने जाते थे तो सिर पर एक रेशमी पीताम्बर, नीचे एक पीली रेशमी धोती और ऊपर एक ऊनी चोगा पहन लेते थे। वे इस वेष में पूर्ण तेजोधाम दिखाई देते थे, गौरव की मोहिनी मूर्ति जान पड़ते थे। उनकी उज्ज्वल, गम्भीर, प्रभावशालिनी और दैवी आकृति को देखकर लोगों के अन्तःकरण में आप ही आप श्रद्धा, भक्ति और प्रेम उमड़ आता था। महाराज रात का अधिक भाग ध्यान में बिताया करते थे। भोजन उनका परिमित था।

एक वृद्ध संन्यासी बरसों से तटिनी-तट पर निवास करते थे। वे संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। लोगों में प्रसिद्ध था कि वे एक योगी महात्मा हैं। स्वामी

जी और यह वयोवृद्ध महात्मा मिलकर, चिरकाल तक वार्त्तालाप किया करते। इनका परस्पर प्रेम भी हो गया था।

गुजरात में डाक्टर बिशनदास जी एक प्रसिद्ध वेदान्ती थे। वे सामाजिक सुधार भी चाहते थे। स्वामीजी की व्यापिनी कीर्ति से वे भी प्रभावित थे। उन्होंने महाराज को पत्र लिख कर प्रार्थना की कि कृपया लाहौर लौटते समय गुजरात-वासियों को भी कृतार्थ करते जाइएगा। डाक्टर महाशय की विनती पर स्वामी जी लगभग पोष सुदी ९ संवत् १९३४ को झेलम से गुजरात आये। एक दिन तो दमदमा में ठहरे, परन्तु आगामी दिन नगर से बाहर फतेह-सर में जा विराजे। स्वामी जी के प्रेमियों ने, वहाँ के विद्यालय के मुख्याध्यापक,बुकैनयन महाशय की आज्ञा लेकर शाखा पाठशाला में महाराज की व्याख्यान-माला आरम्भ कराई। उनके उपदेश बड़े ही प्रभावजनक होते थे।

गुजरात में नन्दलाल जी और होशनाकराय जी, दो प्रधान पण्डित थे। होशनाकराय जम्मू में पढ़ाने का काम करते थे। एक दिन उन्होंने स्वामी जी से कहा, "मूर्ति-पूजा का विधान मनुस्मृति में विद्यमान है।" स्वामी जी ने मनुस्मृति की पुस्तक उठाकर कहा, "लीजिए यह मनुस्मृति है; इसमें मूर्ति-पूजा का विधान जिस स्थल में है वह दिखाइए।" पण्डित महाशय ने झेंपकर कहा, "यह आपकी मनुस्मृति है, इसमें न होगा, परन्तु हमारी मनुस्मृति में अवश्य है। कल आपको दिखा दूंगा।"

अगले दिन होशनाकराय जी श्री उपदेश में तो आये, परन्तु सर्व-साधारण में छिपकर बैठ गये। व्याख्यान की समाप्ति पर श्री महाराज ने कहा, "कल-वाले पण्डित यदि आये हैं तो मनुस्मृति में प्रतिमा-पूजन का विधान दिखाकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करें।" होशनाकराय जी आप तो न उठे परन्तु दर्शकों ने आग्रहपूर्वक उनको खड़ा कर ही दिया। उस समय उनकी बगल में एक पुस्तक भी थी। पण्डित महाशय ने एक श्लोक बोलकर कहा, "यह मनु-स्मृति का है। इसमें मूर्ति-पूजा का उपदेश विद्यमान है।" स्वामी जी ने कहा, मिथ्या क्यों बोलते हो ? यह श्लोक मनुस्मृति का नहीं, किन्तु विष्णुपुराण का है। आपने बगल में भी विष्णुपुराण ही दबा रक्खा है। इस पर पण्डित जी मारे लज्जा के पानी-पानी हो गये।

फिर एक दिन पण्डित होशनाकराय जी ने स्वामी जी से तर्क-शास्त्र पर

वाद करने की इच्छा प्रकट की। महाराज तो सदा तैयार ही रहते थे। उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस वाद का मध्यस्थ पण्डित नन्दलाल जी को नियत किया गया। शास्त्रार्थ व्याप्ति-वाद पर होने लगा। पण्डित महाशय नव्य न्याय की रीति से व्याप्ति के लक्षण करते थे और स्वामी जी उनके लक्षणों में दोष दिखाकर, महाभाष्य में वर्णित लक्षण बताते थे। जब मध्यस्थ महाशय की सम्मति का समय आया तो उसने महाराज के पक्ष की पुष्टि में अपना मत प्रकाशित किया। इसके उपरान्त होशनाकराय जी शान्त हो गये। पण्डित नन्दलाल जी ने भी स्वामी जी से प्रश्न पूछकर अपने सन्देह दूर किए। अन्त में ये दोनों ही पण्डित स्वामी जी के अनुयायी बन गये।

विरोधी जन भी चुपके नहीं बैठे थे। व्याख्यानों में ईंट-पत्थर फेंकते रहते थे। एक दिन बहुत अधिक ईंट पत्थर बरसे। सारी सभा हिल गयी, परन्तु स्वामी जी स्थिरता से बैठे रहे।

विरोधियों ने बुकैनयन महाशय को कहना आरम्भ किया कि आप इनके व्याख्यान पाठशाला में न होने दें। एक दिन बुकैनयन महाशय ने स्वामी जी के पास आकर कहा—"आप मृत देह का दाह-कर्म्म करना कहते हैं, परन्तु वेद में भूमि में गाड़ना लिखा है।" प्रमाण में उसने मोक्षमूलर का अनुवाद सुनाया कि हे भूमि! तू अपनी भुजा पसार, जिसमें मृतक की देह रक्खी जाय! स्वामी जी ने मोक्षमूलर के अनुवाद का भली भाँति खण्डन किया, फिर उसी मन्त्र से जलाना सिद्ध कर दिया। उन्होंने कहा, "यहाँ यह वर्णन है कि भूमि को खोदकर वेदी बनाई जाय और फिर उसमें मृत-देह को जलाया जाय।"

लोगों ने महाराज के कथन पर अति प्रसन्नता का प्रकाश किया, जिससे बुकैनयन महाशय कुछ लज्जित होकर चले गए। अगले दिन उन्होंने स्वामी जी को लिख भेजा कि पाठशाला में व्याख्यान देना बन्द कर दीजिए। इस पर महाराज के प्रेमियों ने पाठशाला के सामने का स्थान ले लिया और वहीं महाराज के उपदेश होते रहे।

नवीन वेदान्त का खण्डन सुनकर महाशय बिशनदास जी भी बहुत रुष्ट हुए। पहले वे प्रतिदिन स्वामी जी को व्याख्यान-स्थान पर लिवा ले जाया करते थे; अब यह भी छोड़ दिया। परन्तु महाराज की हृदय-भूमि पर ऐसी बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ता था।

एक दिन, एक सिख साधु लोई ओढ़े स्वामी जी के पास आया। उस साधु ने प्रारब्धवाद पर शास्त्र-चर्चा चलाई। महाराज ने युक्तियों और प्रमाणों द्वारा उसको बताया कि "प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही ठीक हैं। प्रारब्ध पूर्व के भोग का नाम है। इस जन्म में जो शास्त्रीय कर्म किए जाते हैं वह पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ अवश्य ही करना चाहिए। वह साधु महाराज की बात नहीं मानता था और यही कहे चला जाता था. "पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं; जो होना होता है वह स्वयमेव होकर ही रहता है।" स्वामीजी ने सेवक को आदेश किया — "इस महात्मा की लोई उतार कर सड़क पर फेंक दो। देखें, पुरुषार्थ के बिना यह इसके पास कैसे आ जाती है।" जब वह सेवक उससे लोई लेने लगा तो वह साधु लोई से इतना लिपट गया कि सेवक उसे बल लगाकर भी न उतार सका। एक दिन बहुत से मनुष्यों ने मिल कर विचार किया कि स्वामीजी सबका मुख बन्द कर देते हैं। उन पर कोई ऐसा प्रश्न करो, जिससे एक बार तो उनको भी नीचा देखना पड़े। वहाँ सर्व-सम्मति से निश्चय हुआ कि कल यह पूछा जाय कि आप ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी ? यदि वे कहें कि मैं ज्ञानी हूँ तो उनको कहा जाय कि महापुरुष अहङ्कार नहीं किया करते और यदि वे अपने को अज्ञानी कहें तो उनसे कहा जाय कि जब आप स्वयं अज्ञानी हैं तो हमें क्या समझायेंगे।

आगामी दिन जब यह प्रश्न स्वामीजी से किया गया तो उन्होंने तत्काल उत्तर दिया कि "मैं कई विषयों में ज्ञानी हूँ और कइयों में अज्ञानी। वेदादि शास्त्रीय विषयों में पूर्ण ज्ञानी हूँ और फारसी, अरबी और अंग्रेजी आदि विषय में नहीं जानता, इसलिए उनमें अज्ञानी हूँ।" यह उत्तर पाकर प्रश्न-कर्त्ता लोग हक्के-बक्के रह गए और एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उस दिन गुजरात-वासियों को निश्चय हो गया कि स्वामीजी को जीतना सर्वथा असम्भव है, उनकी तात्कालिक स्फुरणशक्ति आश्चर्यकारिणी है।

एक दिन दो उच्च राजकर्म्मचारी स्वामीजी से मिलने आए। वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में वे कटाक्षपूर्वक बोले, "स्वामीजी ! खण्डन में क्या पड़ा है ? इससे लोग बहुत भड़क उठते हैं। हम तो जिस कर्म में अपने को लाभ हो उसी को अच्छा समझते हैं। परहित-चिन्तन और परोपकार एक व्यर्थ का ढकोसला है।" स्वामीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया—"यदि, अपना भला

करना ही उद्देश्य हो तो मनुष्यता क्या हुई ? अपने भले का भाव तो गधों में भी पाया जाता है। परोपकार और परहित साधना का नाम ही तो मनुष्यत्व है।" वे सज्जन इस उत्तर से शान्त होकर वहाँ से चले गए।

स्वामीजी महाराज परोपकारी और देश-हितैषी जनों से अतीव प्रसन्न हुआ करते, उनको प्रोत्साहन देने में सदा समुद्यत रहते। भारतवासियों की हित-कामना का भाव उनके अन्तःकरण में कितना प्रबल था, इसका प्रकाश निम्नलिखित पत्र से होता है। पौष सुदी १३ संवत् १९३४ को महाराज ने गुजरात से दानापुर आर्यसमाज के मंत्री महाशय को लिखा —

"जब मैं वङ्गदेश को जाऊंगा तो आप सबके मिलाप से अवश्य प्रसन्नता लाभ करूंगा। आप सज्जनों की कामना और प्रयत्न से देश-वासियों की उन्नति अवलोकन कर मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। यह देखकर कि आप अपने देश को उन्नत करने का यत्न करते हैं, मुझे इतनी प्रसन्नता हुई है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। कुछ सन्देह नहीं कि आप इसके फलों का अपने जीवन में आस्वादन कर लेंगे। ईश्वर आपको स्वस्थ और हरा-भरा रक्खे। आप सबको मेरा आशीर्वाद।"

गुजरात] दयानन्द सरस्वती

गुजरात नगर में धर्म्म का उपदेश देने के अनन्तर स्वामीजी २ फरवरी को वजीराबाद में सुशोभित हुए। इस नगर में उनके आगमन के पूर्व ही आर्यसमाज स्थापित था। सामाजिक सज्जनों ने उनको राजा फकीरुल्ला के उद्यान में ठहराया। महाराज ने वजीराबाद में एक सप्ताहपर्यन्त व्याख्यान दिये। उनके भाषणों में सैकड़ों लोग बड़े उत्साह से आते थे। विरोधियों के विघ्न डालने पर भी श्रोताओं की संख्या नहीं घटती थी।

स्वामीजी का आगमन सुनकर वजीराबाद के प्रसिद्ध पण्डित तो अपना बोरिया-बदना बाँधकर नगरान्तर में चले गये। परन्तु इस नगर में एक वासुदेव नामक पण्डित आया हुआ था। वह अच्छा हृष्ट-पुष्ट था और शाक्त पुजारियों की तरह लम्बायमान केश रखता था। नगर के उपद्रवी लोग सौ रुपये का प्रलोभन देकर वासुदेव को स्वामीजी के सम्मुख ले आये। उस दिन वहाँ लोगों की भारी भीड़ लग गई। ऐसा प्रतीत होता था, मानों सारा नगर वहाँ आ गया है।

शास्त्रार्थ के आरम्भ में, पण्डित ने वेद-मंत्र के नाम से श्लोक पढ़कर कहा कि इसमें शालिग्राम और तुलसी का पूजन कहा है। स्वामीजी ने वासुदेव को कहा कि यह वेद-मंत्र नहीं है। आप झूठमूठ से वेद का नाम लेकर अनर्थ ढा रहे हैं। जब वासुदेव कोई उत्तर न दे सका तो क्षुद्र प्रकृति के लोग गोलमाल करने पर उतर आये। दो-एक राजसत्ताधारी मनुष्य भी विद्यमान थे, परन्तु ऐसे समय में, वे चुपके से चल दिये। ज्यों-ज्यों महाराज वासुदेव को वेद में से वह मंत्र दिखलाने के लिए बल देते थे त्यों-त्यों गड़बड़ बढ़ती जाती थी। उसी समय एक छोकरे ने सीटी बजाना प्रारम्भ कर दिया। आर्यसमाज के प्रधान ने उस युवक को डाँटकर ऐसा करने से रोका। फिर क्या था, वासुदेव सहित पण्डित और कलहप्रिय लोग स्वामीजी तथा आर्यसमाज के प्रधान श्री लद्धारामजी पर टूट पड़े। ज्यों-त्यों करके, स्वामीजी अपने पुस्तक-पन्नों-सहित अपने डेरे में आ गये। परन्तु उपद्रवियों ने फिर भी पीछा न छोड़ा! उन्होंने ईंट-पत्थर बरसाते सावन-भादों की झड़ी लगा दी। महाराज द्वार बन्द करके भीतर बैठ गये और उन लोगों की धर्मान्धता पर हँसने लगे। महाराज का एक कर्मचारी पीछे रह गया। उपद्रवियों ने उसे पकड़कर बहुत ही पीटा। जब स्वामीजी को उसके पिटने का समाचार मिला तो वे आप उसे छुड़ाने के लिए बाहर आये और सिंह की भाँति गर्जे। उनकी गम्भीर गर्जना मात्र से, कलहकारी लोग भाग गये। इसके पश्चात् तीन-चार दिवस तक उपदेश देकर उन्होंने गुजराँवाला को प्रस्थान किया।

माघ सुदी पंचमी संवत् १९३४ को महाराज गुजराँवाला में पधारे। सरदार सन्तसिंहजी तथा सरदार धर्मसिंहजी आदि सज्जन उनके स्वागत के लिए रेल के स्टेशन पर गये और उनको अति सम्मान से लाकर सरदार महासिंह के विशाल भवन में उतारा।

प्रतिदिन साँझ को महाराज व्याख्यान देते थे। पंजाब में वे सर्वत्र, बहुधा 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' के विषयों पर ही व्याख्यान देते थे। क्रमशः एक-एक विषय लेकर उसकी विस्तृत व्याख्या किया करते थे। बीच ही में वेद मंत्र, दर्शनों के सूत्र और धर्म्म ग्रन्थों के श्लोक सुनाते थे। पाखण्ड-खण्डन भी साथ होता रहता था। समय-समय पर युक्तियों-प्रतियुक्तियों का भी तार लगा देते और प्रकरणानुकूल मनोरंजक कहानियाँ तथा प्रहसन-रस बना देने वाले चुटकुले भी कहते थे।

गुजराँवाला में उन्होंने 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' के सारे विषय अठारह दिन में समाप्त कर दिये। उपदेश के पश्चात्, लोग उनके कथन पर तर्कनायें और शंकायें किया करते। उनका उत्तर वे अति कोमल शब्दों में तुरन्त देते, उत्तर के लिए उन्हें सोचना नहीं पड़ता था।

: ७ :

पंजाब की वीर भूमि में परोपकारी का पुण्य-प्रभाव

स्वामीजी के आगमन के पहले, पंजाब में पादरियों का बड़ा प्रभाव था। बहुत से नवशिक्षित ईसाई-धर्म्म की ओर झुक रहे थे। भोले-भाले ग्रामीण भी, उनकी चिकनी-चुपड़ी बातों की भूल-भूलैया में फँस जाते थे। परन्तु स्वामीजी के पधारने पर उनका सारा मोहनमन्त्र दूर हो गया। आर्य लोग समझने लगे कि हमारा धर्म्म सर्वांग सम्पूर्ण है। धर्म्म-शिक्षा के लिए, हमें भिखमंगा बनकर, किसी दूसरे के द्वार पर भटकने की आवश्यकता नहीं। इसलिए पादरियों की ओर से स्वामीजी का विरोध होना इसका एक स्वाभाविक परिणाम था। गुजराँवाला के पादरियों ने स्वामीजी से उनके सिद्धान्त पूछे। उन्होंने उत्तर में आर्योद्देश्य-रत्नमाला की पुस्तक उनके पास भेज दी। तत्पश्चात् पादरी महाशयों ने नगर के पण्डितों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए उत्तेजित किया। किन्तु कई पण्डित तो उन दिनों में नगर ही छोड़ गये थे। एक-आध ने स्वामीजी के सम्मुख जाना, पातक का कारण बताकर छुटकारा करा लिया।

पण्डित विद्याधर जी गुजराँवाला में चोटी के विद्वान् थे। उन्होंने एक पाठशाला भी चला रक्खी थी। ईसाई महाशयों ने उनको जाकर कहा—"दयानन्दजी आपके और हमारे दोनों मतों के विरोधी हैं। इसलिए हमारे साथ मिलकर उनसे शास्त्रार्थ कीजिए। श्री विद्याधरजी ने उनको उत्तर दिया—"मैं ऐसा नहीं कर सकता। स्वामीजी का और हमारा घरेलू मत-भेद है। इस पर हम आपस में, अपनों की तरह, जब चाहें बात-चीत कर सकते हैं। आपके साथ मिलकर उनसे शास्त्रार्थ करना तो स्वजन-द्रोहरूप महापाप का भागी बनना है।" पण्डित विद्याधरजी एक दिन महाराज के निकट आकर बड़ी देर तक वार्त्तालाप भी करते रहे।

जब पादरियों को पण्डितों से निराशा हो गई तो वे, आप धर्म्म-चर्चा करने के लिए उद्यत हो गये। दोनों की सम्मति से वाद का समय दिन के चार बजे और स्थान ईसाइयों की पाठशाला का मकान, निश्चित हुआ। फाल्गुन वदी द्वितीया संवत् १९३४ को दिन के चार बजे स्वामी जी ईसाई पाठशाला के मकान में पहुँच गये। उस दिन नगर के प्रतिष्ठित जन और प्रायः सारे राज-कर्मचारी वहाँ उपस्थित थे। मकान लोगों से खचाखच भरा हुआ था। लिखित-वाद होने का निश्चय हुआ था, इसलिए, पहले दिन ईसाइयों ने जीवन के अनादित्व पर लेखबद्ध शंकायें कीं। स्वामी जी ने भी उनको युक्ति-युक्त उत्तर दिया। इस प्रकार दो दिन तक इसी विषय पर वाद होता रहा। वाद प्रतिदिन रात के आठ बजे समाप्त किया जाता था।

यह स्थान बहुत ही संकुचित था। जन-संख्या की अधिकता के कारण लोगों का साँस रुका जाता था। इस कारण दूसरे दिन, वाद-समाप्ति के समय, श्री स्वामी जी ने पादरियों को कहा कि कल किसी विस्तृत स्थान में वाद होना चाहिए। यहाँ लोगों को अति कष्ट होता है। यह स्थान आपका है, इसलिए प्रबन्धकर्त्ता कुछ पक्षपात भी करते हैं। उस समय तो पादरी महाशयों ने कोई स्पष्ट उत्तर न दिया, परन्तु अगले दिन, बिना स्वामी जी को बताये कुछ ईसाइयों को घरों से बुलाकर दिन के बारह बजे, अपनी पाठशाला में एकत्र हो गये। उसी समय, उन्होने स्वामी जी को समाचार भेजा कि वाद का समय हो गया है, शीघ्र आ जाइए। स्वामी जी को पादरियों से ऐसी बात की आशा न थी, इसलिए इस समाचार से आश्चर्यचकित हो गये। उनका वह समय वेद-भाष्य करने का था। उस समय वे अन्य किसी विषय की ओर ध्यान नहीं दिया करते थे।

महाराज ने समाचारदाता को कहा कि पादरियों को जाकर कहियेगा कि जब दोनों पक्षों की सम्मति से चार बजे का समय नियत हो चुका है और जनता को भी उसी समय का पता है तो आपने नियम-विरुद्ध काम क्यों किया है ? यदि आपको बारह बजे ही वाद करना था तो एक दिन पहले सम्मति लेते और जनता को विदित करते। आप ही आप समय-परिवर्तन का आपको अधिकार नहीं है। जब आपने धींगा-धींगी से नियम-न्याय का उल्लङ्घन किया है तो मेरे लिए आवश्यक नहीं कि वेद-भाष्य जैसे सर्वोत्तम कार्य्य को छोड़कर

वहाँ आऊँ। कल मैंने किसी विशाल स्थान में वाद करने के लिए निवेदन किया था। यदि आप किसी ऐसे स्थान का प्रबन्ध नहीं कर सके तो भी दिन के चार बजे के लिए सुसज्जित रहिये। मैं निश्चित समय पर पहुँच जाऊँगा।

पादरी महाशय तो अपना पिण्ड छुड़ाना ही चाहते थे। इसलिए स्वामी जी का उत्तर पहुँचने पर उन्होंने घोषणा की कि स्वामी दयानन्द जी नहीं आये इसलिए सभा विसर्जन की जाती है। उस समय उनके मकान में पाठशाला के बालकों और थोड़े से ईसाइयों के बिना और कोई नहीं आया था। उसी सायं को ठीक चार बजे, स्वामी जी के प्रेमियों ने सरदार हरिसिंह की समाधि के पास वाद का प्रबन्ध कर दिया। पादरी महाशयों को वहाँ आकर वाद करने के लिए बार-बार आहूत किया गया, परन्तु वे अपने मकान से बाहर नहीं निकले। जब उनके आने की कोई आशा न रही तो श्री स्वामी जी ने ईसाई-धर्म्म पर ही व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। उन्होंने बाईबिल की आयतों पर आयतें पढ़कर उनपर ऐसी युक्ति-युक्त टिप्पणियाँ चढ़ाईं कि सुनने वाले आश्चर्यनिमग्न हो गये। उनके सामने ईसाई धर्म्म का पूरा चित्र खिंच गया। सभी सज्जन स्वामी जी के विस्तृत ज्ञान की प्रभूत प्रशंसा करने लगे।

जिस दिन ईसाइयों की पाठशाला में धर्म्म-चर्चा होने लगी थी, उस दिन वजीराबाद के लोग भी सुनने आये। उनमें अधिकाँश वे ही थे जिन्होंने स्वामी जी पर ईंटें बरसाईं थीं। जब वे पाठशाला के भीतर जाने लगे तो ईसाइयों ने उन्हें भीतर आने का टिकट नहीं दिया। वे निराश होकर पाठशाला के आँगन में मण्डराने लगे। उसी समय वहाँ स्वामी जी आ पहुँचे। उन वजीराबाद-निवासियों को पहचानकर, महाराज ने पूछा—"आप यहाँ घूमते हैं, भीतर क्यों नहीं जाते ?" वे बोले—"महाराज ! ईसाई लोग हमें टिकट नहीं देते।" महाराज ने अति प्रेम से उनको कहा—"आप बिना संकोच मेरे साथ चले आइए। आपको भीतर प्रवेश करा दूँगा।" वे लोग महाराज के दयालु स्वभाव से प्रभावित तो उसी समय हो गये, परन्तु जब भीतर जाकर उन्होंने आर्य्य-धर्म के रक्षक की युक्तियाँ सुनीं तो अपने पिछले कर्म पर पश्चात्ताप भी किया।

भलाई मनुष्यों को कितना कोमल बना देती है और प्रेम और सहानुभूति आदि गुण मनुष्य को कैसे खींच लेते हैं इसका ज्वलन्त प्रमाण श्री स्वामीजी

के जीवन में मिलता है। एक दिन का वर्णन है कि श्री स्वामीजी अपने आसन पर विराजमान थे। उस समय एक मनुष्य सजल नेत्र उनके निकट आया और पाँव पकड़कर कहने लगा—"भगवन्! वजीराबाद के अधिवासियों ने जो श्री-चरणों की अवज्ञा की है उसका मूलकारण मैं ही हूँ। उस समय मैं अभिमान-मद में मत्त और मदान्ध हो रहा था। मुझे यह ज्ञान न था कि आप ही सनातन धर्म्म के सच्चे रक्षक हैं। आपके वास्तविक गुण-गण का ज्ञान मुझे तब हुआ, जब मैंने आपको ईसाइयों के साथ धर्म-चर्चा करते देखा, उनका मुख बन्द करने वाली आपकी युक्तियाँ सुनीं। इस समय अपने पातक के पश्चात्ताप और अनुताप से मेरा आत्मा संतप्त हो रहा है। अपनी दयालुता से क्षमा प्रदान कर मुझे शान्त कीजिए।" स्वामीजी ने पहचान लिया कि यह पण्डित वासुदेव है। उन्होंने उसको आश्वासन देते हुए कहा—"उस समय आपने जो कुछ किया वह अपने पक्ष के पोषणार्थ ही किया। मैंने, जब उसे, उस समय भी बुरा नहीं मनाया तो इस समय कौनसी बात है जिसको मैं क्षमा कर दूँ? वासुदेव! किसी कर्णकटु वचन और घोर कठोर कर्म से संन्यासियों के अन्तःकरण कलुषित नहीं हुआ करते। निश्चय रखिये, किसी अवहेलना और अवज्ञा से हमारी भद्र-चिन्तन-भावना में भेद नहीं आता। स्वस्थ और शान्त हूजिये। परमात्मा आपकी यह शुभ मति बनाये रक्खे।"

एक दिन स्वामीजी प्रातःकाल भ्रमण कर रहे थे। मार्ग में पादरी मैकी महाशय से भेंट हो गई। नमस्कारादि के अनन्तर मैकी महाशय ने कहा—"स्वामीजी आप ईसाई धर्म्म का खण्डन करते हैं।" उन्होंने उत्तर दिया—"मैं जो सुनाता हूं वह आपके ग्रन्थों का पाठ होता है। यदि आपकी धर्म्म-पुस्तकों को सुनाना खण्डन है तो ऐसा खण्डन आप करते हैं। मैं द्वेष-बुद्धि से कुछ नहीं कहता, और न अनुचित समालोचना करता हूँ।"

एक दिन, कुछ मनुष्य, पश्चिमी दर्शन के पूर्ण पण्डित, एक वङ्गीय महाशय को स्वामीजी के पास ले आये। उनका आशय यह था कि उनको दार्शनिक जटिलजाल में उलझाया जाय। महाराज ने उस वंगीय सज्जन के प्रश्नों का ऐसा युक्तियुक्त, उपयुक्त उत्तर दिया कि वह सर्वथा सन्तुष्ट हो गया। एक लम्बे दार्शनिक वार्त्तालाप के अनन्तर, जब वे लोग उठकर चलने लगे तो स्वामीजी ने पूछा—"क्या वह वंगीय महाशय कुछ दार्शनिक ज्ञान-

सम्पन्न हैं ?" उन सज्जनों ने इसका यह परिणाम निकाला कि स्वामीजी अपने से इतर जनों को यों ही तृणतुल्य समझे बैठे हैं। नगर में आकर उन्होंने उस वङ्गीय महाशय से पूछा—"स्वामीजी का दार्शनिक ज्ञान कितना है ?" उसने उत्तर दिया—"वे तो ज्ञान की अगाध गङ्गा और विद्या के अथाह समुद्र हैं। मैं तो उनके समक्ष कुछ भी नहीं जानता।"

एक दिन स्वामीजी ने ब्रह्मचर्य्य का महत्त्व वर्णन करते हुए कहा—"सरदार हरिसिंहजी जो इतने वीर हुए हैं इसका प्रबल कारण यही था कि वे पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहे थे। यद्यपि मेरी आयु इस समय पचास वर्ष से ऊपर है परन्तु कोई भी बलिष्ठ व्यक्ति सामने आये, मैं उसका हाथ पकड़ता हूँ, वह छुड़ाकर दिखलाये। अथवा मैं भुजा अकड़ाता हूँ, कोई उसे झुकाकर दिखाये।" उस बड़ी सभा में अनेक महा-मल्ल भी उपस्थित थे, परन्तु आगे आने का साहस किसी ने भी न किया।

गुजराँवाला में अनेक सज्जनों के भ्रम दूर करने, संशय मिटाने और आर्य्यसमाज की स्थापना करने के पश्चात् महाराज फाल्गुन वदी १४ संवत् १९३४ को लाहौर पधारे और नवाव निवाजिश अली खाँ की कोठी में ठहरे। इसी कोठी में एक दिन महाराज व्याख्यान देते हुए मुसलमान मत की समालोचना कर रहे थे। उस समय नवाब महाशय उसी उद्यान में आये हुए थे। व्याख्यान हो चुकने पर एक सज्जन ने उनसे निवेदन किया—"आपको कोई आर्य्य, ईसाई और मुसलमान उतरने के लिए मकान नहीं देता। नवाव महाशय का यह बड़ा भारी अनुग्रह है कि उन्होंने कोठी दे दी है। आप यहीं मुसलमान मत पर समालोचना करने लग गये हैं। आज तो नवाब महाशय भी सुन रहे थे। कहीं ऐसा न हो कि वे भी रुष्ट हो जायँ।"

महाराज ने उत्तर दिया—"मैं यहाँ वैदिक धर्म्म का प्रचार करने आया हूँ। जहाँ भी रहूँगा उसी का उपदेश दूँगा। मेरे यहाँ आने का प्रयोजन मुसलमान-मत अथवा किसी अन्य पन्थ का यश गाना नहीं है। जब नवाव महाशय व्याख्यान सुन रहे थे तो मैंने उन्हें देख लिया था। मैंने जान-बूझकर उनको आर्य्य-धर्म्म का महत्त्व सुनाया है। मुझे एक नारायण के बिना किसी नर-नारी का डर नहीं है।"

मुलतान छावनी के प्रेमीजनों ने प्रार्थनापूर्वक महाराज को आमन्त्रित

किया था। उनके आग्रहवश वे फाल्गुन सुदी ८ संवत् १९३४ को मुलतान छावनी में पहुंचे। स्वागत के लिए अनेक भद्र पुरुष रेलवे स्टेशन पर उपस्थित थे। उन्होंने स्वामीजी को सम्मानपूर्वक ले जाकर, वेगी के उद्यान में ठहराया। उसी दिन, सायं समय उनके व्याख्यानों का आरम्भ हो गया। उनके भाषणों से नगर और छावनी के लोग प्रभावित होने लगे। धर्म्म-कार्यों में विघ्न डालने वालों का भी वहाँ अभाव न था। ऐसे लोग गली-गली और कूचे-कूचे में चक्कर लगाते कहते फिरते थे कि यह ईसाइयों का नौकर है। उन्होंने इसे कह रक्खा है कि जब सारे भारतवासियों को ईसाई बना दोगे तो तुम्हें एक लाख रुपया दिया जायगा।

गोसांइयों ने सबसे अधिक ऊधम मचाया। एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे, गोसाँई लोग अपने-अपने सेवक-समूह सहित वहाँ आ पहुँचे और लगे शंख और घड़ियाल बजाने! जयजयकार का भी उन्होंने तार बाँध दिया। महाराज ने उनकी कलह-जनक कलुषित क्रीड़ा पर कुछ भी ध्यान न दिया और गम्भीरता से उपदेश देने में परायण रहे। अन्त में पुलिस के कान्स्टेबलों ने उन्हें खदेड़ दिया। दूसरे दिन गोसाँई-दल फिर चढ़ आया, और विघ्न-बाधा तक ही बस न करके, लड़ाई लड़ने पर उतर आया। स्वामीजी को उस दिन व्याख्यान बन्द कर देना पड़ा। होलियों के दिन थे, इस कारण क्षुद्र लोगों को उपद्रव करने का बहाना मिल जाता था। इसलिए सेठ दिनशाह बहरामजी ने, कुछ एक सज्जनों की सम्मति से, अपनी कोठी में व्याख्यान कराने आरम्भ किये। वहाँ भी स्वामीजी ने विविध विषयों पर अत्युत्तम भाषण दिये। मुलतान छावनी के निवासियों के प्रबन्ध से वहाँ, महाराज के कोई छत्तीस उपदेश हुए।

एक दिन स्वामीजी ने ब्राह्मणों के धर्म्म और कर्तव्यों का वर्णन किया और कलिकाल में उनकी अधोगति के कारण अविद्यादि बताये। उन्होंने उस समय दृष्टान्त दिया कि एक सेठ अपने मिस्सरजी के साथ देशान्तर को जा रहा था। एक मुसलमान पठान भी उनका साथी बन गया। वह सेठ जब प्रातःकाल उठता तो ब्राह्मण-देव को नमस्कार करता। नहाने के समय उससे जल मंगवाता। रसोई के समय भोजन बनवाता और चलते समय, अपना कम्बल और कोट तक उतार कर उस पर लाद देता!! पठान को इन बातों

पर बड़ा अचम्भा होता था। एक दिन चलते-चलते सेठ और 'मिस्सरजी' बहुत पीछे रह गये और पठान आगे ठहर कर उनकी प्रतीक्षा करने लगा। सेठजी तो ज्यों-त्यों करके पठान को जा मिले परन्तु मिस्सरजी न पहुँच सके। सेठ को अकेले आते देखकर पठान ने पूछा—"कहाँ गया है वह नर, पुरोहित, पाचक, कहार और खर ?"

इससे उन्होंने शिक्षा निकाली कि सर्व प्रकार के ऊँच-नीच-कर्म करने वाले अबोध जन 'ब्राह्मण पद के अधिकारी नहीं हैं। विद्वान् जन ही ब्राह्मणत्व के योग्य होते हैं।'

एक व्याख्यान में महाराज ने अन्य सर्व पन्थाई मन्त्रों का खण्डन करके गायत्री मन्त्र की प्रधानता बतलाई और कहा कि इसका प्रतिदिन जप करना चाहिए।

एक दिन स्वामीजी ने स्वास्थ्य-रक्षा पर एक उपयुक्त भाषण दिया। उसकी समाप्ति पर एक पारसी सेठ ने उनसे कहा कि जब आप यह कहते हैं कि मनुष्य-मात्र एक हैं तो हमारे साथ मिलकर आप खाना क्यों नहीं खाते ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मुसलमान आदि जातियोंके साथ आप लोग खान-पान का व्यवहार करते हैं, नहीं तो दूसरी कोई रुकावट नहीं है। यदि आप आर्य लोगों से अधिक मेलजोल करने लग जायँ तो कालान्तर में यह रुकावट हटाई जा सकती है। एक थाल में भोजन पाने का जब विषय चला तो सेठ ने कहा कि इससे प्रेम बढ़ता है। स्वामीजी ने कहा कि प्रेम यदि इकट्ठे होकर खाने से बढ़ता हो तो यहाँ मुसलमान मिलकर खाते हैं, उनमें झगड़ा-बखेड़ा नहीं होना चाहिए। जब तुर्की पर रूस ने आक्रमण किया था तो इकट्ठे मिलकर खाने वाले अफगानों ने, माँगने पर भी तुर्की को सहायता नहीं दी थी। फिर स्वामीजी ने कहा कि मिलकर खाने से कई संक्रामक रोग लग जाते हैं। चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार भी एक दूसरे का जूठा खाना हानिकारक है।

मुलतान के वेदान्तियों को समझाते समय स्वामीजी ने कहा—"चार महावाक्य उपनिषद्-वचन हैं। आप लोग एक टुकड़ा लेकर मन-माना अर्थ करने लग जाते हो। यदि सारा प्रकरण लगाओ तो उनसे नवीन वेदान्त सिद्ध नहीं होता।"

एक दिन आर्य्य, मुसलमान और ईसाई सब मिलकर आये। उन्होंने, महाराज पर एक बार ही, नाना विषयों के अनेक प्रश्न कर डाले। उन लोगों की ऐसी धारणा थी कि एक बार ही अनेक विषयों के प्रश्न आ पड़ने पर स्वामीजी घबरा जायँगे, वे सबका उत्तर न दे सकेंगे। परन्तु स्वामीजी ने उनके एक-एक प्रश्न का उत्तर, ऐसी उत्तमता से दिया कि वे अतीव आश्चर्य-मग्न हो गये और उनके योग-बल का माहात्म्य मुक्त-कण्ठ से वर्णन करने लगे।

एक दिन स्वामीजी ने माँस-भक्षण को वेद-विरुद्ध बताया। इस पर महाशय कृष्णनारायण ने कहा—"इसके खाने में कोई हानि तो नहीं है।" स्वामीजी ने कहा—"परमात्मा की आज्ञा का न पालन करना यही एक बड़ी हानि है।" तब कृष्णनारायण ने कहा—"मैं माँस खाता हूं। यदि इससे कोई हानि होती तो मैं उसका अनुभव कर लेता।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"आज्ञायें दो प्रकार की होती हैं—एक शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाली और दूसरी आत्मा के साथ। शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाली आज्ञा को भङ्ग करने से रोग-शोक आदि दुःख होते हैं। आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली आज्ञा के लोप से शारीरिक दुःख तो नहीं होते, परन्तु आत्मा उच्च पद को प्राप्त नहीं होता। मांस खाना आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली परमात्म-आज्ञा का भङ्ग करना है, इसलिये माँस खाने वाले को योग-विद्या नहीं आती। उसे योग की सिद्धियाँ भी नहीं प्राप्त होतीं।"

स्वामीजी अपने प्रेम-भरे पत्रों द्वारा अपने प्रेमी जनों को, समय-समय पर, उत्साहित करते रहते थे। उनके कार्यों की श्लाघा करते और अधिक अग्रसर होने के लिये उत्तेजना भी देते थे। महाराज ने चैत्र वदी १३ संवत् १९३४ को मुलतान से एक पत्र महाशय माधोलालजी को लिखा। उसका साराँश यह है:—

"महाशय माधोलाल जी आनन्दित रहो.....आर्य समाज के ठीक नियमों को समझकर आपको वेदाज्ञानुसार सबके हित में अवश्य लग जाना चाहिए, विशेषता से अपने आर्यावर्त देश के सुधारने में अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम और भक्ति होनी चाहिये। सबको अपने समान जानकर उनके क्लेशों के काटने और सुखों को बढ़ाने के लिये प्रयत्न और उपाय करना उचित है। सबका हित करना ही परम धर्म्म है। इसी

के प्रचार की वेद में आज्ञा पाई जाती है।"

महाराज अपने अनुयायियों को, समय पर अथवा योग्य कार्य्य न करने पर उपालम्भ भी दिया करते थे। उनके आलस्य पर भर्त्सना भी करते थे। स्वामीजी ने चैत्र सुदी एकादशी संवत् १९३५ को मुलतान से लाहौर आर्य्य-समाज के मुखिया जनों को लिखा कि:—

"राम रक्खा के पत्र मिल सके तो आपको भेज देंगे। अथवा नवीन लिखाकर भेज दिये जायेंगे। परन्तु जैसे आजतक नहीं छपे ऐसी ही अवस्था इनकी हो तो परिश्रम करना व्यर्थ है। ऐसा न हो जैसे अन्त-रंग सभा के नियमों का झमेला आज तक नहीं निपट सका। इसके लिखने का यही प्रयोजन है कि उचित समय पर ही कार्य करना चाहिये। समय पर कार्य करना सफलता का साधन है और बुद्धिमत्ता का चिह्न है।

यहां हम बहुत आनन्द में हैं और आशा है कि आप भी आनन्द में होंगे।"

मुलतान छावनी और नगर के अधिवासियों को निहाल करने के पश्चात् महाराज लाहौर पधारे। यहाँ प्रतिदिन उनके प्रभावोत्पादक उपदेश होने लगे। महाराज का विचार था कि उनका वेद-भाष्य विद्यालयों और महा-विद्यालयों में पढ़ाया जाय। लाहौर की एक यात्रा में उन्होंने राय मूलराज को कहा कि पंजाब के छोटे लाट महोदय के पास भेजने के लिए एक आवेदन-पत्र प्रस्तुत कीजिए और उसमें बलपूर्वक लिखिये कि राज-प्रबन्धान्तर्गत पाठशालाओं में मेरा भाष्य अवश्य पढ़ाया जाय। राय मूलराजजी यह कार्य शीघ्रता से न कर सके। अन्त को महाराज पंजाब के लाट महोदय, सर रावर्ट अजर्टन को आप जा मिले। स्वामीजी ने जब वेदभाष्य पढ़ाने पर बल दिया तो लाट महाशय ने अपने मार्ग की कठिनाइयाँ बताकर वेद-भाष्य के प्रथम अङ्क की कुछ प्रतियां लेकर, पण्डितों की सम्मति जानने और उसके अनुकूल कार्य करने का वचन दिया।

राज्य की ओर से स्वामीजी के भाष्य के प्रथम अङ्क की कुछ प्रतियाँ मोल ली गई और स्वदेशी तथा विदेशी पण्डितों के पास भेजकर उनके मत मंगाए गये। वे सम्मतियाँ प्रायः स्वामीजी के भाष्य के विरुद्ध थीं। जब वे राज्य की

ओर से मुद्रित होकर प्रकाशित हुईं तो स्वामीजी ने उनका सन्तोषजनक उत्तर भी प्रकाशित कराया।

एक दिन भक्तों के साथ वार्त्तालाप करते हुए, महाराज ने प्रसंगवश कहा - "आप मुझे इस समय अच्छा हृष्ट-पुष्ट समझते हो, परन्तु मैं तो गङ्गा-तीर-वास की अपेक्षा अब कृश हो गया हूँ। आप लोगों की हित-चिन्ता ने मुझे दुर्बल बना दिया है।"

स्वामीजी का एक कर्मचारी, बाँके बिहारीलाल बड़ी चिड़चिड़ी प्रकृति का मनुष्य था। वे उससे अतिकोमलता से काम लेते थे। उसके सड़ियल-पन पर खिजते नहीं थे। एक दिन वह नौकरी छोड़कर जाने लगा तो महा-राज ने उसके वेतन के रुपया के स्थान उसको नोट निकाल कर दिया। उसने आवेश में आकर कहा कि आपने हस्ताक्षर तो किये ही नहीं। स्वामीजी ने अपना नाम लिख दिया। उसने अधिक ऊँचे स्वर में कहा कि मेरा नाम भी तो लिखना था, महाराज ने लिख दिया कि बिहारीलाल को दिया। वह अवज्ञापूर्वक बोला कि आपने बाँकेबिहारीलाल ठठेरा तो लिखा ही नहीं। स्वामीजी ने हँसकर कहा कि कुपित न हूजिये। यदि आप ठठेरा ही बना चाहते हैं तो लो यह भी लिखे देता हू।

एक प्रेमी जन ने पूछा—"भगवन्! इसका क्या कारण है कि जहाँ नाच होता है, राग-रंग होता है, हास-विलास होता है वहाँ तो सारी-सारी रात बैठे बीत जाती है और नींद नहीं आती, परन्तु जहाँ सत्संग हो, धर्म्मोपदेश हो, वहाँ लोग थोड़ी देर में ही ऊँघने लग जाते हैं।" स्वामीजी ने कहा—"हरि-कथा तो एक सुकोमल शय्या है। यदि उस पर नींद न आये तो और कहाँ आये? नृत्य-गीतादि उत्तेजक भाव आत्मा के लिए काँटों का बिछौना है, उस पर निद्रा कैसे आ सकती है?"

लाहौर से महाराज अमृतसर में पधारे और सरदार भगवान्सिंह के मकान में ठहरे। पण्डितों ने इस बार भी विरोध आरम्भ कर दिया। वे शास्त्रार्थ करने के लिए उद्योग करने लगे। आर्य्यसमाज अमृतसर की ओर से विज्ञापन द्वारा उनको शास्त्रार्थ के लिए आहूत भी किया गया। शास्त्रार्थ करने का स्थान सरदार भगवान्सिंह जी का मकान निश्चित हुआ। उस दिन उस मकान में छः-सात सहस्र मनुष्य एकत्र हो गये। नगर के सभी प्रतिष्ठित पुरुष भी

उपस्थित हुए। आमने-सामने दो चौकियाँ लगा दी गईं, जिससे वादी और प्रतिवादी को प्रश्नोत्तर करने में सुगमता हो और दूसरा कोई बीच में गड़बड़ भी न कर सके।

नियत समय पर स्वामीजी तो जाकर एक कुर्सी पर विराजमान हो गये, परन्तु प्रतिपक्षियों के आने का कोई पता तक न था। बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर एक व्यक्ति ने आकर कहा कि पण्डित लोग बाहर खड़े हैं और भीतर आने के लिए आज्ञा माँगते हैं। उत्तर में कहा गया कि वे लोग बिना सङ्कोच, अति प्रसन्नता से पधारें। उन्हीं की तो प्रतीक्षा करते, यह समय होने को आया है।

थोड़ी देर में पण्डित-दल जय-जय नाद गुँजाता हुआ भीतर प्रविष्ट हुआ। सात-आठ पण्डित तिलक लगाये और बगल में पुस्तकें दबाये अकड़कर स्वामीजी के सम्मुख बैठ गये। इतने में ही उनके चेले-चाँटों ने चारों ओर से ईंट-पत्थर फेंकने आरम्भ कर दिये। सभा-स्थान को धूलि-वर्षा से धूम्रांधार बना दिया। बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हुआ। ऐसे समय में, जब पुलिस के कान्स्टेबल प्रबन्ध करने के लिए आगे बढ़े तो पण्डित देवता, एक-एक करके, चुपके से चम्पत हो गये। उस समय, भगवान् दयानन्द के भक्त अपने भक्ति-भाजन का निरादर होते देखकर, कोपावेश से शान्त न रह सके। वे चाहते थे कि उद्दण्ड और दुष्ट जनों को वहीं दण्डित किया जाय, परन्तु स्वामीजी ने उनको शान्ति प्रदान करते हुए कहा कि—"मत-मदिरा से उन्मत्त जनों पर कोप नहीं करना चाहिए। हमारा काम एक वैद्य का है। उन्मत्त मनुष्य को वैद्य औषध देता है, न कि उसकी लीला पर उसे मार-पीट करता है। निश्चय जानिये आज जो लोग मुझ पर ईंट, पत्थर और धूल बरसाते हैं वही लोग आप पर कभी पुष्प-वर्षा करने लग जायंगे।"

जब महाराज अपने डेरे पर पधारे तो एक भक्त ने कहा—"महाराज! आज दुष्ट लोगों ने आप पर बहुत धूल-राख फेंकी और आपका घोर अपमान किया।" महाराज ने कहा—"परोपकार और परहित करते समय अपना मानापमान और पराई निन्दा का परित्याग करना ही पड़ता है। इसके बिना सुधार नहीं हो सकता। मैंने आर्य्यसमाज का उद्यान लगाया है। इससे मेरी अवस्था एक माली की है। पौधों में खाद डालते समय, राख और

मिट्टी माली के सिर पर भी पड़ जाया करतीहै। मुझ पर धूल-राख चाहे जितनी पड़े, मुझे इसका कुछ भी ध्यान नहीं। परन्तु वाटिका हरी-भरी बनी रहे और निर्विघ्न फूले-फले।"

महाराज का एक व्याख्यान मलवई बुंगे में ब्रह्मचर्य्य पर हुआ। लोगों पर उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इस बुंगे में उनके और भी उत्तमोत्तम भाषण हुए। महाराज ने एक भाषण ब्राह्मण-धर्म्म पर दिया। उसमें उन्होंने ब्राह्मणों के अधःपतन के कारण ऐसे शब्दों में कहे और उनकी दुर्दशा का चित्र कुछ इस प्रकार खींचकर दिखाया कि बीसियों ब्राह्मणों की आँखों से अनर्गल अश्रु धारा बह निकली। उनके वज्र-शिला सदृश कठोर मन मोम हो गये। उस दिन पण्डितों ने महाराज के अन्तरात्मा को पहचाना। तत्पश्चात् सबने विरोध करना छोड़ दिया।

एक दिन स्वामीजी व्याख्यान देने जा रहे थे। बाजार में एक प्रसिद्ध पण्डित ने एक थाल में मिश्री और रुपये रखकर उनको नमस्कारपूर्वक भेंट की और स्तुति करने लगा कि आप तो कलिकाल में साक्षात् विष्णु का अवतार हैं। स्वामीजी ने उसको आशीर्वाद देकर कहा कि मैं तो अगले दस अवतारों का खण्डन करता हूँ और आप मुझे ग्यारहवाँ अवतार बना रहे हैं! उस पण्डित की दूकान पर एक ऊँचा सिंहासन बना हुआ था। महाराज ने उससे पूछा कि यह क्या है? वह बोला भगवान्! कमा खाने की चक्की है। कथा करने का स्थान है। महाराज ने कहा कि पण्डितजी! यदि चक्की ही चलानी है तो सत्य की चक्की चलाओ। आजीविका का कोई विचार न करो। वह पुष्कल प्राप्त हो जायगी।

कुछ भक्तजन रात के समय महाराज के डेरे पर ही सो जाया करते थे; इस प्रकार वे एक तो सत्सङ्ग का दुर्लभ लाभ उपलब्ध करते और दूसरे उनकी रक्षा का भी ध्यान रखते थे। एक दिन का वर्णन है कि एक भक्त ने महाराज को सूचना दी कि आपने जो सिक्ख मत पर आक्षेप किये हैं उनसे चिढ़कर, कुछ निहङ्ग आप का वध करने पर तुले बैठे हैं। रात को आपके पास बहुत से महाशय सोते हैं इसलिए निहङ्गों का दाँव नहीं चलता। यह सुनकर महाराज ने वहां, भक्तों का सोना बन्द कर दिया और कहा कि हम अकेले ही रहेंगे। जिसकी आज्ञा का मैं पालन कर रहा हूँ वही परमेश्वर मेरा रक्षक है।

स्वामी जी के एक व्याख्यान में बहुत से निर्मले आदि साधु आये और खड़े-खड़े ही भाषण सुनने लगे। महाराज ने उस समय कहा—सहस्रों भारत-वासी पेट भर अन्न नहीं पाते, दाने-दाने के लिए तरसते हैं। भूख के मारे बिल्ली-कुत्ते की मृत्यु मरते जाते हैं। देश की ऐसी शोचनीय दशा में धड़ा-धड़ लोटेशाही और तूम्बेशाही बनने की क्या आवश्यकता है ? इस समय तो प्रत्येक को परिश्रम करके आजीविका चलानी चाहिए।"

पण्डित पोलोराम जी का महाराज से बड़ा प्रेम था। उन्होंने एक दिन हाथ जोड़कर विनय की, "भगवन् ! आर्य्यसमाज में केवल थोड़े से मनुष्य ही सम्मिलित हुए हैं। इतनी तुच्छ संख्या कोई महान् कार्य्य तो क्या ही कर सकेगी।" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"आप तो बहुत हैं; सहस्रों मनुष्यों को अपना संगी बना सकते हैं, परन्तु टुक मेरी ओर तो देखिये। जब मैंने कार्य्य का आरम्भ किया तो एकाकी और निस्सहाय था। आज परमात्मा की यह कृपा है कि आप जैसे सहस्रों सज्जन सच्चे हृदय से मेरे साथी हैं, आर्य-धर्म्म पर न्योछावर होने को समुद्यत हैं। पोलोराम, शुभ सवका चाहो और परिणाम परमात्मा पर छोड़ दो, निश्चय सफल हो जाओगे।"

महाराज ने उनसे यह भी कहा—"यदि कृष्ण शास्त्री और विशुद्धानन्द जी मेरे साथी बन जाते तो हम तीनों सारे संसार को विजय कर लेते। शोक ! मेरे आत्मगत भावों को जाने बिना उन्होंने मुझे भिन्न समझा, मेरा घोर विरोध किया। परन्तु मेरे हृदय में जो मङ्गल-भावना है उसे ईश्वर ही जानता है।"

एक दिन का वर्णन है कि पण्डित पोलोराम को किसी ने एक नवीन कुरती दान की। वे उसे लिये श्री चरणों में आये और कहने लगे कि भगवन् ! यह कुरती आज ही मुझे एक दाता ने दी है। मेरा भक्ति-भाव मुझे विवश करता है कि मैं इससे आपके चरण पोंछकर, फिर यह आपके किसी सेवक को दे दूं। स्वामी जी तो नहीं मानते थे परन्तु भक्त पोलोराम ने प्रभु-पद-पद्म पकड़ लिये और कुरती से चरण-रज झाड़कर, वह एक नौकर को प्रदान कर दी।

महाराज ने अपार दया से उनको उपदेश दिया कि "गायत्री का जप प्रतिदिन किया करो। यह कल्याणकारी मन्त्र है। मेरे पास यही वस्तु है जो

मैंने आपको दे दी है।" एक दिन महाराज ने उनको यह भी कहा—"जब शय्याशायी होने लगो तो प्रणव पवित्र का जप किया करो। जब तक नींद न आये पाठ करते रहो, यहाँ तक कि उसी नाम-स्मरण में ही सो जाओ। इससे उत्तमोत्तम लाभ होते हैं। वासनामय देह बदल जाती है।"

महाराज ने तालु का काग गिराकर ध्यान करना भी बताया। स्वामी जी ने उनको प्राणायाम करना सिखाकर कहा कि इससे चित्त स्थिर होता है, बुद्धि की वृद्धि होती है, बल बढ़ता है, रोग नष्ट हो जाते हैं।

पोलोराम जी ने, एक दिन, महाराज के ध्यानारूढ अवस्था में दर्शन किये। उस समय वे अचल समाधिस्थ थें। उनके अङ्गों में क्रिया का कोई सूक्ष्म चिह्न भी दिखाई नहीं देता था। महाराज की मूर्त्ति मनोमोहिनी थी। उनके व्यक्तित्व का अद्भुत प्रभाव था। वे, रेशमी वस्त्र पहने अथवा कौपीन-धारी, सब दशाओं में प्रिय प्रतीत होते थे, उनका चलना, टहलना, उठना, बैठना आदि सब व्यापार प्यारा लगता था। वे सब क्रियाएँ करते मन को भाते थे। उनका कृपाकटाक्ष मनको मोह लेता था और उनकी प्रेम-भरी वाणी सबको तत्काल अपना लेती थी।

उनके मुखमण्डल पर तेज, प्रभाव, उदारता, गम्भीरता, धैर्य्य, अनुग्रह और आशीर्वाद निवास करते थे। उनके रसीले नेत्रों में प्रेम, कृपा, आकर्षण, रस और माधुर्य था। उनका वर्ताव अति मृदु, सुकोमल और चित्ताकर्षक था। उनकी प्रकृति कोमल थी, सरल थी और निष्कपट थी। वे कभी किसी व्यक्ति की समालोचना तथा निन्दा पर कर्णपात नहीं करते थे। वे अपने प्रतिपक्षियों को भी रुष्ट नहीं होने देते थे। प्रश्नोत्तर में उनके भावों पर सदा ध्यान रखते थे। वार्त्तालाप में, व्यवहार में, कहने-सुनने में और उपदेश में वे इतने समदर्शी थे कि प्रत्येक छोटा-बड़ा यही समझता कि महाराज मुझे ही अभिमुख कर कह रहे हैं; मुझे ही समझाते हैं; उनका अधिक अनुग्रह, अधिक कृपा और अधिक प्रीति मुझ पर ही है।

महाराज पूर्व की यात्रा के लिये समुद्यत थे इसलिए पंजाबी भक्त उनके प्रस्थान-दिवस का दुःख से अनुभव करते थे। एक प्रेमी ने विनय की, "भगवन्! आपने इस प्रान्त में आर्य्यसमाज रूपी उद्यान तो स्थान-स्थान पर लगा दिए हैं परन्तु आप के चले जाने के पश्चात् इनकी रक्षा कौन

करेगा ?" महाराज ने उत्तर दिया कि "इस प्रान्त के लोग उत्साह और साहस वाले हैं, श्रद्धालु और वीर हैं, मुझे इन पर बड़ी आशा है। मैंने अपने सकल सामर्थ्य से भूमि को स्वच्छ बनाकर उद्यान लगाया है। खाद भी इसमें पड़ गया है। जल भी सींचा जा चुका है। अब इसके मुरझाने और कुम्हलाने की कुछ भी चिन्ता नहीं है। यह सब कुछ होते हुए भी, ऐसे सब कार्य भगवान्-भरोसे ही किये जाते हैं। इसलिए, आर्य्य-समाज का भी वही रक्षक है, जो चन्द्र और सूर्य को चलाता और उनकी रक्षा करता है।"

श्री स्वामी जी श्रावण वदी १ संवत् १९३५ को अमृतसर से प्रस्थान करके लुधियाना पहुँचे और वहाँ लाला बंशीधर के उद्यान में ठहरे। इस बार भी उनके सत्सङ्ग में सभी मतों के लोग बड़े उत्साह से आते और प्रश्नादि पूछते रहे। श्रावण वदी ८ को लुधियाना से चलकर वे अम्बाला पहुँचे और श्रावण वदी ११ संवत् १९३५ को वहाँ से रुड़की को पधार गये।

स्वामी जी महाराज, छः सात दिन कम डेढ़ वर्ष पर्य्यन्त पजाब में रहे और इस प्रान्त के कोई बारह-तेरह नगरों में घूमे। परन्तु उनका अधिक समय तीन-चार नगरों में ही व्यतीत हुआ। वे लाहौर आदि नगरों में रहते हुए, बीच-बीच अमृतसर आदि स्थानों में भी भ्रमण कर आया करते थे। यद्यपि, पंजाब प्रान्त को पूज्यपाद आनन्दकन्द श्री दयानन्द जी ने थोड़े मास ही दर्शन दिये और केवल बारह नगरों को ही पदार्पण से पुनीत किया परन्तु इस स्वल्प समय में ही, उन्होंने इस प्रान्त के अधिवासियों को इतना प्रभावित किया, उनको इतना जीवन दिया, उन्हें इतना कार्य्य-परायण बनाया और उनमें इतनी आत्मा और ऊष्मा भरी कि उसका दूसरा दृष्टान्त नहीं मिलता; उसकी तुलना नहीं की जा सकती है।

: ८ :

समय-पालन एवं नियम-पालन में दृढ़ता

श्रावण वदी १५ संवत् १९३५ को महाराज रुड़की पधारे और देहली निवासी श्री शम्भुनाथ जी के बङ्गले में ठहरे। उसी सायं को 'ईश्वरीय आदेश' पर उनका व्याख्यान हुआ। रुड़की के महाविद्यालय के उपाध्याय और विद्यार्थी और शहर के लोग उस व्याख्यान में आये और अतीव प्रसन्न हुए।

स्वामी जी के व्याख्यान प्रतिदिन होते थे। वे नियम के इतने पक्के थे कि वेद-भाष्य का गुरुतर कार्य-भार होते भी ठीक समय, व्याख्यान-स्थान पर पहुँच जाते। सभी लोग उनकी सुनियमता पर आश्चर्य करते थे। श्रावण सुदी ६ संवत् १९३५ को महाराज के व्याख्यान का समय सायं के पाँच बजे था। श्री उमरावसिंह जी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को साथ लेकर सवा चार बजे श्री-सेवा में पहुँचे। महाराज ने घड़ी देख कर कहा, "अभी सवाचार बजे हैं। मार्ग केवल पाव घण्टे का है इतना पहले जाकर क्या करेंगे? मैं तो पाँच मिनिट ही पहले पहुँचना चाहता हूँ।"

स्वामी जी के समालोचनात्मक व्याख्यानों से कुछ एक मतवादी लोग भड़क उठे, परन्तु सामने आकर शास्त्र-चर्चा करने का साहस किसी ने न किया। जिज्ञासु जन उनके स्थान पर भी जाकर संशय मिटाते थे।

अमेरिका-निवासी कर्नल अल्काट के पत्र स्वामीजी के पास पंजाब में ही आ गये थे। परन्तु उनका उत्तर अभी तक नहीं दिया गया था। पण्डित उमरावसिंह जी ने उन पत्रों का अनुवाद रुड़की की जनता को सुनाया। इससे लोग बड़े प्रोत्साहित हुए। रुड़की में स्वामीजी ने उन पत्रों के उत्तर लिखे और उमरावसिंह जी ने उनका अंग्रेजी अनुवाद करा कर बम्बई-निवासी चिन्तामणि द्वारा उन्हें अमेरिका भिजवा दिया।

एक दिन अपने आसन पर बैठे महाराज सत्संगियों को उपदेश दे रहे थे कि भारतवर्ष का ऐसा अभाग्य है कि यहां के अधिवासी अपने धर्म्म की और कर्तव्य-कर्म्म की कुछ भी चिन्ता नहीं करते। उस समय उस सत्सङ्ग में एक पंजाबी मजहबी सिक्ख भी बैठा हुआ सुन रहा था। उसी समय एक मुसलमान डाकिया वहाँ आया। उसने उस मजहबी सिक्ख को पहचान कर ताड़ना की कि तू इन लोगों में क्यों आकर बैठा है? नीच! तुझे ध्यान नहीं आया कि मैं कहाँ बैठने लगा हूँ। उस डाकिये ने उसे इतना डाँटा कि उसके आँसू निकल आये। महाराज ने डाकिये को ऐसा कहने से रोक कर उस मजहबी सिक्ख को बड़े प्रेम से आश्वासन दिया और कहा कि बिना सङ्कोच नित्य सत्सङ्ग में आया करो। हमारी दृष्टि में ईश्वर की सृष्टि के सारे मनुष्य समान हैं। यहाँ तुमसे कोई घृणा न करेगा। श्री वचनों से उत्साहित होकर वह प्रति दिन सत्सङ्ग में आता और उपदेशामृत पान करता।

उन दिनों कन्हैयालाल नाम के इन्जीनीयर रुड़की में रहते थे। उन्होंने श्री स्वामीजी को कहा—"मादक वस्तुओं के सेवन से ध्यान अत्युत्तम लगता है; चित्त इधर-उधर भटकना छोड़ देता है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—'यह तो ठीक है कि मादक वस्तु से मत्त मनुष्य का मन एक ही विचार में गड़ जाता है, परन्तु इससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। यथार्थ ज्ञान तो एक दूसरे के साथ गुणों की तुलना करने से होता है। गुण-गुणी का ज्ञान और सत्यासत्य का विवेक मादक वस्तुओं के प्रभाव में होना असम्भव है।" स्वामीजी के कथन का कन्हैयालालजी ने हार्दिक समर्थन किया।

एक दिन एक युरोपीय कर्नल और कप्तान स्वामीजी के व्याख्यान में आये। उस दिन स्वामीजी इञ्जील की समालोचना कर रहे थे। कर्नल महाशय आक्षेप सुनकर उत्तेजित हो प्रश्न करने लगे। प्रश्नोत्तर-क्रम में उनकी प्रकृति में उबाल तो अवश्य आया, परन्तु महाराज के उत्तर ऐसे युक्तिसङ्गत थे कि अन्त में, उनके लिये मौनी बने विना दूसरा कोई मार्ग न रहा।

मौलवी मुहम्मद कासिम ने बड़ा लम्बा-चौड़ा पत्र-व्यवहार किया, परन्तु सरलतापूर्वक संवाद करने के लिए सामने न आये।

भोटूसिंह नाम का एक वेदान्ती सज्जन स्वामीजी के पास आकर कहने लगा कि आप परा-विद्या नहीं जानते। यदि आपको परा-विद्या आती होती तो आप द्वैतवाद का प्रचार कभी न करते। उस समय उसने अनेक उपनिषद्-वाक्य बोल कर बताया कि यह जीवात्मा ही ब्रह्म है। महाराज ने कहा कि भोटूसिंह ! क्या आप भी ब्रह्म हैं ? उसने उत्तर दिया कि निस्सन्देह मैं ब्रह्म हूँ। फिर स्वामीजी ने उससे पूछा कि इस चराचर सृष्टि को किसने रचा है ? भोटूसिंह ने कहा कि ब्रह्म ने।

तब स्वामीजी ने पास ही मरी पड़ी मक्खी को उठाकर उसके आगे रक्खा और कहा कि यदि आप ईश्वर हैं तो इसमें जीवन तो डाल दीजिये, जिससे आपके ईश्वरत्व का पूरा परिचय प्राप्त हो जाय। इस पर भोटूसिंह मूक और लज्जित हो गया।

स्वामीजी नियत समय पर व्याख्यान आरम्भ कर दिया करते थे। उपस्थिति की प्रतीक्षा नहीं करते थे। मनुष्य थोड़े हों अथवा अधिक, वे समय के परिपालन में नहीं चूकते थे। एक दिन, दैव-योग से व्याख्यान के आरम्भ

के समय पण्डित बलदेवसहाय और उमरावसिंह जी, ये ही दो श्रोता उपस्थित थे। इन्होंने श्री-चरणों में बहुतेरी विनय की कि भगवन् ! दस-बारह पलपर्यन्त प्रतीक्षा कर लीजिये। लोग अभी आ जाते हैं। परन्तु स्वामीजी ने नहीं माना। ठीक समय पर भाषण आरम्भ कर दिया। उस दिन से लोग इतने समयपालक हो गये कि व्याख्यान के नियत समय से बहुत पहले ही आकर बैठ जाते।

श्री स्वामीजी सदैव सुप्रसन्न रहते थे। जब जाओ, उनका मुख-मण्डल विकसित ही दिखाई देता था। उनकी भौंहों में खिचावट और उनके माथे पर बल कभी किसी ने नहीं देखा। उनके दोनों होठों पर मन्द मुस्कान की विद्युत् रेखा सदा अठखेलियाँ लेती रहती। कोई कितने ही कुवचन कहता उनकी चित्तवृत्ति स्वस्थान से विचलित न होने पाती। व्याख्यान के समय एक मनुष्य ने पुकार कर कहा—"यह बाबा ऊपर से वेद-वेद पुकारता है, भीतर से हिन्दुओं पर कैंची का काम कर रहा है। ईसाई है, भेष बदलकर हिन्दुओं के कर्म्म-धर्म्म को नष्ट-भ्रष्ट करने आया है। यह पूरा कपट-वेषी पाखण्डी है। भोले-भाले हिन्दू भाइयों को भ्रम-जाल में फँसाने के लिए संन्यासी बना फिरता है।" महाराज उसके वचनों पर हँसते ही रहे। उन्होंने उसकी बाल-लीला को कुछ भी बुरा नहीं मनाया।

जिस कोठी में महाराज विराजमान थे उसी के एक कमरे में रुड़की आर्य्यसमाज की अन्तरङ्ग सभा हो रही थी। सभासद् अभी सभा के कार्यों को यथावत् परिपालन करने में प्रवीण न हुए थे, इसलिए उन्होंने श्री स्वामीजी से निवेदन किया कि सभा में पधार कर शुभ सम्मति से हमें कृतार्थ कीजिए। उन्होंने उत्तर दिया कि सभासद् बने बिना मैं सम्मति नही दे सकता। इस पर तत्काल उन्हें प्रतिष्ठित सभासद् बनाया गया। उस समय स्वामीजी ने परमोपयोगिनी सम्मति के साथ उपयुक्त उपदेश दिया—"सभा में हठ और दुराग्रह नहीं करना चाहिए। अपने पक्ष की पुष्टि में चाहे जितनी युक्तियाँ दो, परन्तु प्रकृति और हृदय में ऐंठन न आने दो। किसी बात को पकड़ कर इतना नहीं खींचना चाहिए कि परस्पर के भ्रातृ-भाव का तार ही टूट जाय। बहुमतानुसार जो मत उत्तीर्ण हो जाय, उस पर फिर हठ नहीं करना चाहिए। अन्तरङ्ग सभा के कार्यों को प्रकाशित करना उचित नहीं है। वह मनुष्य

अतीव तुच्छ और ओछा होता है जो किसी गुप्त सम्मति को गोपन नहीं रख सकता। ऐसा मनुष्य विश्वास-पात्र भी नहीं रहता।"

रुड़की में एक वैद्य, थानासिंह जी निवास करते थे। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि महाराज! जब आप योग-विद्या को इतना प्रबल मानते हैं तो हम आर्य्यों को उसकी शिक्षा क्यों नहीं देते? महाराज ने उत्तर दिया कि पहले दूसरी विद्याओं को उपलब्ध कर लीजिए, फिर इसकी भी बारी आ जायगी।

रुड़की में धर्म्मोपदेश देने के अनन्तर महाराज ने वहाँ से भाद्रपद वदी ८ संवत् १९३५ को प्रस्थान किया और अगले दिन वे अलीगढ़ पहुँच गये। ठाकुर मुकुन्दसिंह जी तथा भूपालसिंह जी आदि सज्जन श्रीमान् मूलसी की कोठी में ठहरे हुए थे। उन्होंने महाराज को भी अपने पास ही ठहराया। यहाँ उनके दर्शन करने के लिए बम्बई से श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि और श्यामजी कृष्ण वर्मा आये। उनसे धर्म्मादि विषयों पर बड़ी देर तक वार्त्तालाप होता रहा।

अलीगढ़ में स्वामीजी से एक सज्जन ने पूछा—"महाराज! अन्य मत के लोगों के हाथ का पका भोजन खाना अच्छा है अथवा बुरा?" उन्होंने उत्तर दिया कि "ऐसा करने में न तो कोई भलाई ही है और न कोई बुराई।"

स्वामीजी अलीगढ़ से प्रस्थान कर भाद्रपद वदी १३ संवत् १९३५ को मेरठ में सुशोभित हुए और लाला दामोदरदास की कोठी में ठहरे। उनके शुभागमन का समाचार सारे नगर में कानों-कान फैल गया। धर्म्म-जिज्ञासु आने लगे। उसी दिन उसी कोठी के बराण्डे में उनका पहला भाषण हुआ। अगले दिन, लोगों की प्रार्थना पर दूसरा व्याख्यान राय गणेशीलाल की कोठी पर हुआ। इस कोठी में कई एक दिन तक स्वामीजी के व्याख्यान होते रहे। महाराज ने घोषणा कर दी थी कि—"मेरे कथन पर जिसे जो भी शङ्का हो, वह उसे व्याख्यान की समाप्ति पर उपस्थित करे। नियत समय पर उत्तर अवश्य दिया जायगा।" वे एक दिन शङ्का-समाधान के लिए ही नियत कर देते थे।

श्रीमान् लाला रामसरण दास जी के विनीत आग्रह से महाराज ने पाँच अगस्त को उनके मकान पर उपदेश दिया। वहाँ छः दिन तक व्याख्यान-वर्षा

होती रही। उन व्याख्यानों में पुराणों पर अति मनोरञ्जक समालोचना हुई।

संवत् १९३५ आश्विन वदी ३ से ११ तक श्री छोटेलाल जी की कोठी पर सत्सङ्ग लगते रहे। वहाँ महाराज़ ने अच्छी तरह से पाखण्ड का खण्डन किया और ऋग्वेद के कुछ सूक्त सुनाकर लोगों को मोहित कर लिया।

मेरठ की धर्म्म-सभा ने स्वामी जी से ये प्रश्न पूछेः—(१) चार धाम और सप्तपुरी आदि नगरों और ग्रामों में, जो उन्नत-शिखर मन्दिर हैं और उनमें जो देव मूर्तियाँ हैं उनका पूजन परम्परा से होता चला आता है। सुना है कि आपको इन बातों में सन्देह हो गया है। यदि सचमुच आपको सन्देह है तो उसकी निवृत्ति स्मृतियों के प्रमाणों से कर लेना और यदि संशय न हो तो सूचना दीजिएगा। (२) गङ्गा-नदी के श्रेष्ठ और पूज्यतमा होने में प्रमाण दीजिए। यदि आप उसके ऐसा होने में सन्देह करते हैं तो वह सन्देह प्रकट कीजिए। (३) जितने अवतार हुए हैं उनको किसने अवतार बनाया और किसने अतुल सामर्थ्य दिया?

स्वामी जी ने इनका जो उत्तर दिया उसका क्रमपूर्वक सार यह है—

(१) "मुझे पाषाणादि की प्रतिमाओं के पूजन में सन्देह नहीं है; मैं तो मूर्तिपूजा को निश्चय रूप से वेद-विरुद्ध मानता हूँ। किसी वेद-शास्त्र में प्रतिमा-पूजन का विधान नहीं है। किसी भी ऋषि-मुनि ने मूर्ति का पूजन नहीं किया और न ही ऐसा करने के लिए किसी को उपदेश ही दिया। वेद में कहा है कि 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति' पवित्र परमेश्वर की प्रतिमा नहीं है। जो लोग जड़ पदार्थों को परमेश्वर मानकर पूजते हैं उनके लिए कहा गया है—'अन्धं तमः प्रविशन्ति'—अर्थात् वे अविद्यादि घोर दुःख रूप अन्धकार में फँस जाते हैं। इसलिए वेद-आज्ञानुसार एक परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिए।

"अब जड़-पूजन के भी विरुद्ध युक्तियाँ दी जाती हैं। आप यदि कहें कि हम मूर्तियों को देव तो नहीं मानते, किन्तु देव की भावना उनमें करते हैं इसलिए फल मिल जायगा। तो हम पूछते हैं कि आप की वह भावना सच्ची है अथवा झूठी? यदि उसे सच्ची मानते हो तो यह बताओ कि सारा संसार जो सुख की भावना करता है, वह पूर्ण क्यों नहीं होती? यदि प्रतिमा में देव-भाव से स्वर्ग मिलता है तो पानी में दूध और मिट्टी में मिश्री का भाव करने

से भी कार्य-सिद्धि होनी चाहिए। यदि भावना झूठी करते हो तो मिथ्या-व्यवहार वाले मनुष्य की बात विश्वास के भी योग्य नहीं रहती। यदि ईश्वर को सर्वव्यापक मानकर मूर्ति में पूजते हो तो वह परमात्मा पुष्पों में भी तो पाया जाता है। उनको तोड़कर मूर्ति पर क्यों चढ़ाते हो ? सर्वव्यापक को एक स्थान में मानकर पूजना उसकी व्यापकता के साथ उपहास करना है।

"यदि यह मानते हो कि मूर्ति-पूजा परमेश्वर के ज्ञान के लिए एक साधन है तो यह कथन भी अयुक्त है। गुणों से गुणी का ज्ञान होता है। मूर्ति में तो ईश्वर का एक भी गुण नहीं है।"

(२) दूसरे प्रश्न के उत्तर में महाराज ने कहा कि "प्रथम तो आपका प्रश्न ही विचित्र है। आप मुझ से पूछते हैं कि गङ्गा नदी के श्रेष्ठ और पूज्य होने का प्रमाण दीजिए। इससे दो बातें निकलती हैं—प्रथम तो यह कि आप को गङ्गा के श्रेष्ठ और पूज्य होने में सन्देह है; दूसरे सन्देह नहीं है, तो आपको उसके श्रेष्ठ और पूज्य होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए मुझसे प्रमाण पूछते हो।" मुझे तो इस बात का पूर्ण निश्चय है कि दूसरी सब नदियों से गङ्गाजल उत्तम है। साथ ही मैं यह भी निश्चित मानता हूँ कि गङ्गा में स्नान करने अथवा गङ्गा-जल पान करने से मुक्ति नहीं होती; इससे पाप नहीं धुलते।"

श्री स्वामी जी महाराज श्री कृष्ण आदि महापुरुषों को निर्दोष मानते थे। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने लिखा है—श्री कृष्ण जी का उत्तम वर्णन महाभारत में मिलता है। महाभारत में ऐसी कोई बात नहीं मिलती, जिससे पता लगे कि श्री कृष्ण ने जन्म से मरण पर्यन्त कोई भी पापाचरण किया था। पुराणकर्त्ताओं ने ही उन पर मिथ्यारोप किये हैं। बारहवें समुल्लास में उन्होंने लिखा है कि श्रीकृष्ण आदि महापुरुष धर्मात्मा और महात्मा-जन थे।

(३) धर्म्म-सभा, मेरठ के तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज ने लिखा था "कि जिनको आप परमेश्वर का अवतार कहते हैं वे ईश्वरावतार तो नहीं, किन्तु बड़े उत्तम पुरुष थे। वे परमेश्वर की आज्ञा में चलने वाले थे। वे सद्धर्म्म और न्याय आदि गुणों से अलंकृत और वेद-शास्त्र के पूर्ण विद्वान् थे। उन जैसा उत्तम पुरुष न पहले हुआ और न अब है। आप उन

उत्तम पुरुषों को ईश्वरावतार मानते हैं, यह आपकी भारी भ्रान्ति है। जो अजर, अमर और सर्वव्यापक है वह अवतार धारण नहीं कर सकता। जो सर्वत्र परिपूर्ण है उसे अवतार धारण करने की आवश्यकता ही क्या है? अवतार लेने से वह सर्वत्र परिपूर्ण नहीं रह सकता। यदि कहो कि दुष्टों को दण्ड देने के लिए परमेश्वर देह धारण करता है तो यह भी अयुक्त है। जो बिना देह के सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करता है, क्षुद्र कार्य्यं के लिए उसके काया-धारण की कल्पना करना कितना तुच्छ और मिथ्या विचार है।"

फिर महाराज ने कहा—"जो आपने पूछा कि अवतारों को कौन बनाता और सामर्थ्य देता है, उसका उत्तर यही है कि परमेश्वर ही सबका रचने वाला है। वही बल-भण्डार सबको सामर्थ्य प्रदान करता है। बड़े शोक की बात है कि आप लोग श्रीरामचन्द्र जी और श्रीकृष्ण जी आदि उत्तम पुरुषों को परमेश्वर का अवतार मानकर भी उनका घोर अपमान करते हो। उनकी मूर्त्तियों को बाजार और गली में घुमाकर भीख मँगाते हो। उनके स्वांग निकालकर तो, और भी अधिक निरादर प्रदर्शित करते हो। राम आदि महापुरुषों और सीता आदि सतियों के जब आप स्वाँग निकालते हैं तो पर-मत वाले उन्हें देखकर हँसी उड़ाते हैं। अश्लील कटाक्ष और संकेत करते हैं। दुकानवालों के लिए तो यह रास मनोरञ्जन का एक साधन है, परन्तु इससे आर्य्य जाति के महापुरुषों की, दूसरों की दृष्टि में, बड़ी अवहेलना होती है। 'माखनचोर' आदि के स्वांग भी कुछ कम अपमानजनक नहीं। अपने देश के जो राजे-महाराजे लाखों मनुष्यों का शासन, पालन, रक्षण करते थे; जो महापुरुष आजीवन परमात्मा की आज्ञा में रहे; जो सत्य में, धर्म्म में और न्याय में अद्वितीय थे; महाशोक है कि आप लोग उनके स्वांग बनाकर पैसे-पैसे के लिए हाथ पसारते हो और साथ ही अपने को उन महात्माओं का भक्त प्रख्यात कर रहे हो। हाँ! आप तो उनके स्वांग भरते, लीला करते और उनको नाचते तथा माँगते देखते हो, परन्तु मेरा हृदय तो इस वर्णन से ही विदीर्ण हो रहा है। इस समय शोक-सागर इतना उमड़ पड़ा है और जी इतना भर आया है कि कुछ अधिक वर्णन करना वाणी की सामर्थ्य से बाहर है। केवल इसी को पर्याप्त जानिए कि ईश्वर का अवतार नहीं होता। प्रमाण के लिए एक मन्त्र भी उपस्थित करता हूँ:—

"स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

मौलवी अब्दुल्ला महाशय ने धर्म्म-चर्चा करने के लिए स्वामी जी से पत्र-व्यवहार किया। स्वामी जी ने उनकी प्रार्थना को तुरन्त स्वीकार कर लिया और लिख भेजा कि 'धर्म्म-चर्चा लेखबद्ध ही होगी।' मौलवी महाशय ने लेखबद्ध वाद करना स्वीकार न किया।

महाराज ने अपने प्रभावशाली व्याख्यानों में अमूलक मतों की पोल खोलकर सर्वसाधारण को दिखला दी। उनकी काल्पनिक कथाओं के अच्छे चित्र खींचे। असम्भव बातों पर मनोगम टीका-टिप्पणी चढ़ाई। इससे पौराणिक दल में हलचल मच गई। खण्डन की प्रबल पवन से पौराणिक-सागर झकझोरे खाने लगा। पण्डित लोग स्थान-स्थान पर सभा करते और हस्ताक्षरहीन पत्र भेजकर महाराज को अपनी सभा में बुलाते। परन्तु स्वामी जी यही उत्तर देते कि किसी प्रामाणिक पुरुष के हस्ताक्षरयुक्त पत्र लाइए; मैं शास्त्रार्थ के लिए चाहो जहाँ चला चलता हूँ। बहुतेरे मनुष्य इधर-उधर गये; दोनों ओर के प्रतिष्ठित पुरुषों ने मिलकर बड़े लम्बे-चौड़े नियम भी बनाये, परन्तु परिणाम फिर भी वही रहा। स्वामी जी के पास उधर से जो भी पत्र आया वह हस्ताक्षर-शून्य ही आया। अन्त में महाराज ने सारा पत्र-व्यवहार जनता को सुनाकर व्यर्थ के समय-नाश को बन्द कर दिया।

महाशय वेणीप्रसाद जी श्री-सत्संग में प्रतिदिन जाया करते थे। उन्होंने एक दिन पूछा—"भगवन्! गङ्गा-माहात्म्य, तिलक आदि का लगाना सब यों ही प्रवृत्त हो गया है अथवा इसका कोई कारण भी है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"माहात्म्य तो सारे निर्मूल हैं, परन्तु ये गङ्गादि पर बने स्थान हमारे पूर्वज महर्षियों के आश्रम-स्थान थे। इन पवित्र और स्वच्छ प्रदेशों में वे तप, जप और योगानुष्ठान किया करते, विद्यार्थियों को ज्ञान-दान देते थे। सांसारिक कार्य्यों के भूरि भार से परिश्रान्त जन इन स्थानों में जाकर विश्राम किया करते थे। तपोधन महात्माओं के दर्शनों से उनको आत्मिक शान्ति भी लाभ हो जाती। बहुत से जन दुर्वासना से मलिन मनको उन सन्तों के सत्संग में बैठकर शुद्ध कर लेते। परन्तु आज वे बातें नहीं रहीं। अब तो ये स्थान स्वार्थ-परायण लोगों से घिरे हुए हैं।"

"तिलक लगाने का भी कोई पुण्य नहीं है। यह रीति व्यर्थ में चल गई है। हाँ, यह बात तो ठीक है कि पुरातन आर्य्य लोग दोनों भौंहों के मध्य में ध्यान किया करते थे। अपने शिष्यों को भी इसकी शिक्षा देते थे। इस स्थान में ध्यान करने से लाभ भी महान् होता है। त्रिकुटी के अभ्यासियों में से किसी-किसी को विन्दु समान उज्ज्वल ज्योति-कण दीखने लगता है। कोई तेजोमय चक्राकार को देख पाता है। कोई अर्द्धचन्द्राकार तथा पूर्ण-चन्द्राकार प्रकाश-पुंज के दर्शन करता है और किसी को दीप-शिखा के आकार की ज्योति दिखाई देती है। ये सब योग-चमत्कार हैं, आत्मिक उन्नति के चिह्न हैं। कोरे तिलकों का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।"

वेणीप्रसाद जी ने विनय की—"महाराज ! आप परमात्मा की सिद्धि युक्तियों से तो कर देते हैं, परन्तु युक्तियाँ सदा बदलती रहती हैं। जो युक्ति आज अकाट्य कही जाती है कोई आश्चर्य नहीं कि कालान्तर में वह किसी के कर्णपात करने योग्य भी न रहे।" महाराज ने उत्तर दिया कि—"हम निरे बौद्ध नहीं हैं, जो युक्तियों के बिना अन्य किसी प्रमाण का आदर ही न करें। हमारे सर्वोपरि प्रमाण वेद हैं। उनमें ईश्वर-विश्वास की आज्ञा है। ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।

"ईश्वर सब के समीप है और प्रतिदिन सबको उपदेश देता है। जो लोग अविद्यान्धकार में ग्रस्त हैं वे उसको नहीं समझते। सोचिये, एक मनुष्य चला जा रहा है। एक मूल्यवान् वस्तु को मार्ग में पड़ी देखकर उसका जी ललचा जाता है। उसे उठाने के लिए ज्यों ही वह हाथ आगे बढ़ाता है तो उसे, उसके भीतर से उपदेश मिलता है; ऐं ! ऐसा काम मत करना, यह महा अधम कर्म है, इसका फल अति दुःखदायक होता है। ऐसे ही, जब कोई मनुष्य परोपकारादि शुभ कर्म करने लगता है तो उसमें उत्साह तथा हर्ष की मात्रा बढ़ जाती है। उसके अन्तःकरण में यह ध्वनि होने लगती है कि यह कर्म अत्युत्तम और सुखमय फल देने वाला है। यह दोनों प्रकार का उपदेश सबके अन्तरात्मा में परमात्मा की ओर से होता है। यह देव-वाणी सबके हृदयों में गुंजायमान बनी रहती है। परन्तु इसे सुनते और समझते वे ही हैं जिनके अन्तःकरण से कलिमल-कालिमा का कलंक दूर हो गया है। ईश्वर-प्रत्यक्षता में यही प्रबल प्रमाण है।"

महाशय वेणीप्रसाद उन दिनों में तरुण थे। एक दिन वे अपने छः-सात मित्रों-सहित श्री-सेवा में गये। रात के नौ बजे का समय था। उन्होंने महाराज से निवेदन किया कि भगवन्! आज हम आपके पाँव दबाना चाहते हैं। स्वामीजी ताड़ गये कि ये लोग, पैर दबाने के मिस मेरा बल देखना चाहते हैं। वे मुस्कराते हुए बोले कि पाँव पीछे दबाना, पहले आप सब मिल कर हमारे पाँव को भूमि पर से तो उठाओ। स्वामीजी ने पाँव पसार दिया और वे सात-आठ युवक, सारा बल लगाकर भी, उसे न उठा सके। अन्त को पानी-पानी होकर हँसने लगे।

एक दिन अनेक मुसलमान सज्जन तथा पादरीगण स्वामीजी के साथ ईश्वरीय आदेश पर संवाद करने आये। सबने स्वमतानुसार युक्तियाँ दीं और अपने धर्म्म-पुस्तकों को ईश्वर का आदेश बताया। उत्तर देते समय महाराज ने उन मतवादियों की युक्तियों का भली भाँति खण्डन किया, वेद के पक्ष में अटूट युक्तियाँ दीं, और कहा—"संस्कृत भाषा ही एक स्वाभाविक और ईश्वर-प्रदत्त भाषा है। इसके स्वरों को लीजिए इनकी ध्वनि सब देशों में पाई जाती है। सब प्रचलित भाषाओं में इसी की अक्षरमाला नैसर्गिक है। छोटा-सा बच्चा भी अ, इ, उ का उच्चारण बिना सिखाए करने लग जाता है। क, ख आदि व्यंजन अक्षरों का उच्चारण भी ऐसा ही सुगम और स्वाभाविक है। जो भाषा स्वाभाविक ध्वनि के अक्षरों से बनी है वही भाषा स्वाभाविक और आदिम होनी चाहिए। ईश्वरीय आदेश भी उसी भाषा में होना उचित है।"

बख्तावरसिंहजी उन दिनों मेरठ में सब-जज थे। वे प्रतिदिन महाराज की सेवा में आया करते थे। एक दिन, वे अपने एक युवक बन्धु के साथ दर्शनार्थ आये। महाराज ने जज महाशय से कहा—"इस युवक की आयु सोलह वर्ष की प्रतीत होती है। इतनी छोटी आयु में आपने इसका विवाह क्यों किया है? आप पढ़े-लिखे सज्जन हैं। यदि आप लोग ही इस कुप्रथा को न हटायँगे तो आर्य्य जाति का सुधार कैसे होगा? यह बाल-विवाह आपकी जाति के जीवन-जड़ में घुन बनकर उसका सर्वनाश कर रहा है। अब जो होना था सो तो हो गया, परन्तु पच्चीस वर्ष के पहले, इसकी वधू का द्विरागमन न कराना।"

स्वामीजी का परमात्मा पर परम विश्वास था। उसी के भरोसे कार्य्य करते और निर्भय होकर विचरते थे। मेरठ छावनी का एक सेठ स्वामीजी का घोर विरोधी बन गया। स्वामीजी पर छापा मारने के लिये उसने छः सात गूजर सुसज्जित कर लिए। इस बात का पता शिवलाल आदि महाशयों को भी लग गया। उन्होंने यह समाचार श्री स्वामीजी को सुनाकर कहा—"भगवन् ! ऐसे दुष्ट लोगों से सावधान रहना उचित है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि "आप मेरी चिन्ता न कीजिए। मैं तो परब्रह्म पर ही निर्भर करता हूँ। वही मेरा एकमात्र रक्षक है।"

स्वामीजी ने श्राद्ध-खण्डन पर, मेरठ नगर में, एक व्याख्यान दिया। इससे वहाँ के ब्राह्मण और आचार्य्य बहुत चिढ़े। जिस मार्ग से स्वामीजी को अपने डेरे पर जाना था उस पर वे लाठियाँ लेकर स्थान-स्थान पर बैठ गये और कहने लगे—"आज दयानन्द इधर से निकले तो सही, हम उसे जीता न जाने देंगे।" इस गोलमाल का भेद, स्वामीजी के प्रेमियों को भी मिल गया। व्याख्यान के पश्चात् जब महाराज चलने लगे तो भक्तों ने विनय की, "भगवन् ! कुछ देर ठहर जाइए। पहले प्रबन्ध कर लेने दीजिये। आज कुछ उपद्रवी जन मार्ग में लठ्ठ लिये बैठे हैं, गड़बड़ करना चाहतेहैं।" वे हँसते हुए बोले, "वे लोग कुछ नहीं कर सकेंगे। ऐसी घटनाओं से मैं सर्वथा निर्भय हूँ। मैंने एक सभ्य को समय दे रक्खा है, इसलिए ठहर नहीं सकता।" महाराज उस सारी गली में गम्भीर गति से चलते हुए उसके दूसरे छोर पर पहुँच गये परन्तु किसी को 'ओ' तक कहने का साहस न हुआ। वे उपद्रवी एक दूसरे का मुँह ताकते ही रह गये।

पण्डित गौरीशंकर जी ज्योतिषी, सज्जन मित्रों सहित स्वामीजी की सेवा में गए। उस समय मध्याह्नकाल था। स्वामीजी ने उनसे कहा कि मैं पच्चीस मिनट तक नींद लेने के उपरान्त आप से वार्त्तालाप करूंगा। इतनी देर आप सुखपूर्वक विराजिए। वे सब कमरे से बाहर बैठ गए। थोड़ी देर में स्वामीजी का प्रेमी एक तहसीलदार दर्शनार्थ आया। गौरीशङ्करजी ने उसे कहा कि महाराज को पच्चीस मिनट तक सोना है। उनको सोये पन्द्रह मिनट हुए हैं। दस मिनट बीतने पर वे अवश्य जाग उठेंगे। इसलिए आप भी बैठ जाइए। ठीक पच्चीस मिनट बीतने पर महाराज की निद्रा भङ्ग हो गई और

वे जाग उठे। इससे उन महाशयों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। गौरीशङ्कर से महाराज ने वार्त्ता-विनोद में पूछा—"आप किस प्रयोजन के लिए यहाँ आये हैं ?" उसने निवेदन किया—"भगवन् ! मैं ज्योतिषी हूँ। कुछ प्राप्ति की ललसा से ही यहाँ आया हूँ।" महाराज ने हँसते-हँसते कहा—"यहाँ आते समय यदि आपको यह ज्ञान था कि कुछ प्राप्ति हो जायगी तो आपका ज्योतिष-ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि मैं आपको कुछ भी न दूँगा। यदि आपका ज्योतिष यह बताता था कि कुछ प्राप्ति नहीं होगी तो आप व्यर्थ-कार्यकर्त्ता सिद्ध हो गये। तब इस बात का क्या प्रमाण है कि आप ज्योतिष-विद्या की व्यर्थ ही बातें नहीं बताते फिरते ?" गौरीशंकरजी को इसका कुछ भी उत्तर नहीं सूझा।

एक दिन महाराज की सेवा में नहर के जिलेदार श्री सेवाराम जी आये। जब वे जाने लगे तो उन्होंने स्वामी जी से निवेदन किया—"भगवन् ! यदि मैं नहर-विभाग में डिप्टी हो गया तो पहले मास का वेतन वेदभाष्य के लिए अर्पण करूँगा।" कुछ कालान्तर में उनकी मनःकामना पूरी हो गई। अभी उन्होंने अपने इष्ट-मित्रों को भी इसका समाचार नहीं दिया था कि स्वामी जी का पत्र उन्हें प्राप्त हुआ, जिसमें महाराज ने उन्हें नवीन पद-प्राप्ति की बधाई देते हुए उनका प्रण भी स्मरण कराया। इस पर सेवाराम जी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि स्वामी जी को इस बात का पता कैसे लग गया।

एक दिन अनेक, तिलक-मालाधारी ब्राह्मण, स्वामी जी के निकट बैठे थे। उसी समय एक भद्र पुरुष ने आकर उनको नमस्कार किया और कुशल पूछा। महाराज ने उत्तर दिया कि "हमें कुशल कहाँ ?" भक्तों ने फिर पूछा—"भगवन् क्या कोई मानस खेद है ?"

उस समय महाराज ने एक लम्बी साँस भर कर कहा—"इससे बढ़कर खेद और क्या हो सकता है कि ये ब्राह्मण, जो पास बैठे हैं अपने कर्त्तव्य-कर्म से कोसों दूर हैं। बाहरी आडम्बर और पाखण्ड से अधिक प्यार करते हैं। धर्म्म के प्रचार का इन्हें ध्यान तक नहीं। आर्य्य-सन्तान की दीन-हीन दशा पर इनको टुक दया नहीं आती !" महाराज की प्रकृति कोमल थी। उनका हृदय इतना मृदु था कि आर्य्य जाति तथा आर्य्य धर्म्म की दुःख-कथा और दुर्दशा का वर्णन करते समय उनका जी भर आता था और नेत्र अश्रु-मोचन करने लग जाते थे।

महाराज के मेरठ में विराजने से नगर में बड़ा धर्म्मान्दोलन हुआ। लोगों में सत्य की जिज्ञासा प्रकट हो गई। अनेक व्यक्तियों ने अपने जीवनों को शुद्ध किया। वहां आर्य्यसमाज भी स्थापित हो गया। लाला रामसरणदास जी और श्री छेदीलाल जी प्रभृति, अनेक प्रतिष्ठित पुरुष, उसके सभासद बन गये। मेरठ से चलकर कोई आश्विन सुदी १२ संवत् १९३५ को महाराज देहली आये। सब्जी मण्डी में लाला बालमुकुन्द केसरीचन्द्र के उद्यान में विराजमान हुए। विज्ञापनों द्वारा सारे नगर में श्री-उपदेशों की सूचना दे दी गई। शाहजी के छत्ते में उनके प्रभावजनक व्याख्यान हुए।

स्वामी जी यज्ञों में और यज्ञोपवीत आदि संस्कारों में गायत्री-पुरश्चरण कराया करते। बहुत से विद्वान् मिलकर बारह-चौदह दिन तक गायत्री जप करते। यजमान से भी यह पवित्र जप कराया जाता। जयपुर के ठाकुर श्री रणजीतसिंह ने एक बड़ा भारी यज्ञ करने का सङ्कल्प किया था। इस पर महाराज ने उन्हें कह रक्खा था कि हमारे कथनानुसार गायत्री का अनुष्ठान कराइएगा। उस चिरकालिक सङ्कल्प को सफलीभूत बनाने के लिए, ठाकुर महाशय ने, जोशी रामस्वरूप को श्री स्वामी जी की सेवा में भेजकर, उन्हें यज्ञ कराने के लिए आमन्त्रित किया। स्वामी जी ने देहली से जयपुर जाना स्वीकार कर लिया।

स्वामी जी के दर्शन करने और उन्हें दानापुर ले जाने के लिए भोलानाथ और मक्खनलाल जी, दो सभ्य आये और नमस्ते कहकर महाराज के पास बैठ गये। उनके नम्र निवेदन को सुनकर स्वामी जी ने उत्तर दिया कि, "यहाँ से तो मैं जयपुर जाने का वचन दे चुका हूँ। फिर जब पुष्कल अवकाश होगा तो आपके नगर में अवश्य आऊँगा।" वेद-भाष्य पर बातचीत करते हुए उन्होंने कहा कि यह कार्य मैं आप लोगों के लिए ही कर रहा हूँ; मेरे शरीर छोड़ने के अनन्तर यह अतिशय उन्नति का साधन होगा।

महाराज देहली में आर्य्यसमाज की शुभ स्थापना करके कार्तिक शुक्ला एकादशी अथवा द्वादशी संवत् १९३५ को जयपुर को प्रस्थान कर गए। जब वे जयपुर के रेलवे स्टेशन पर पहुँचे तो वहाँ जोशी रामस्वरूप जी को उपस्थित पाया। उन्होंने सारा सिर मुण्डवाया हुआ था। स्वामी जी ने कारण पूछा तो जोशी जी अविरल आँसू बहाते बोले—"भगवन्! अति शोक है कि

ठाकुर रणजीतसिंह जी का देहान्त हो गया है।" स्वामी जी ने, उस समय उन्हें कहा कि ऐसे समय में मैं जयपुर नहीं जाता। आप ठाकुर महाशय के बन्धुओं को मेरी ओर से आश्वासन दीजिएगा और कहिएगा कि अजमेर से लौटते समय, मैं जयपुर अवश्य आऊँगा।

महाराज वहाँ से अजमेर का ठिकट लेकर गाड़ी में बैठ गये और कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी संवत् १९३५ को, दिन के तीसरे पहर,अजमेर जा पहुँचे। कई प्रतिष्ठित सज्जन, उनके स्वागत के लिए, रेल के स्टेशन पर विद्यमान थे। स्वामी जी सरदार भक्तसिंह इञ्जीनीयर की बग्घी में बैठ कर, सेठ राम-प्रसाद के उद्यान में गए, वहीं विश्राम लिया। कार्त्तिक पूर्णिमा को पुष्कर जी में मेला हुआ करता है। महाराज उस पर धर्म्म-प्रचार करना चाहते थे, इस-लिए उसी दिन अजमेर से चलकर महाराज जोधपुर के घाट पर, ईश्वरनाथजी के बगीचे में विराजे। आगामी दिन विज्ञापन द्वारा सबको धर्म्म-प्रचार की सूचना देकर सत्संग लगाया गया। महाराज के धर्म्म-नाद को सुनकर पन्थाई लोगों में भारी हलचल मच गई। इसके पश्चात् महाराज अजमेर लौट आये। मार्गशीर्ष वदी चतुर्थी संवत् १९३५ को वहाँ व्याख्यान-वारि-वर्षा करने लगे। वहाँ उनके विविध विषयों पर अनेक उत्तमोत्तम भाषण हुए।

उनका एक भाषण ईसाई-धर्म्म पर था। उसमें वे बाइबल की आयतों का पाठ सुनाकर उन पर समालोचना करते थे। उस समय एक योरुपीय पादरी ने कहा—"आप जिन बाइबल-वचनों पर आक्षेप करते हैं वे सब लिखकर हमारे पास भेज दीजिए। हम जब उनको भलीभाँति विचार लेंगे तो फिर, यहाँ आकर उनका उत्तर आपको सुना देंगे।" अगले दिन स्वामी जी ने चौबीस वाक्य लिखकर असिस्टेण्ट कमिश्नर पण्डित भागराम जी द्वारा पादरियों के पास भिजवा दिये। दस दिन पर्यन्त पादरी महाशय उनका समाधान सोचते रहे और अन्त में मार्गशीर्ष सुदी चतुर्थी को संवाद के लिए आये। उस दिन संवाद-सभा में दर्शकों की बड़ी भारी संख्या थी। उच्च कर्मचारी भी आये थे। संवाद को आरम्भ करते समय स्वामी जी ने कहा—"पादरियों के साथ मेरा बहुत बार सम्वाद हुआ, परन्तु कभी कोई गड़बड़ नहीं हुई। सो आशा है कि यहाँ भी शान्ति भङ्ग न होगी।" इसके उपरान्त महाराज ने पूर्व पक्ष की स्थापना की, "तौरेत की उत्पत्ति पुस्तक पर्व १,

आयत २ में लिखा है कि पृथ्वी बे-डौल है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है तो उसका कार्य्य बे-डौल नहीं हो सकता। यह काम तो किसी अल्पज्ञ जीव का ही कहा जा सकता है।" इस पर पादरी ग्रे महाशय ने कहा—"यहाँ, बे-डौल से तात्पर्य उजाड़ से है।"

इस पर स्वामी जी ने समालोचना की, "इससे पहली आयत में यह कहा गया है कि आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथ्वी को सृजा और पृथ्वी बे-डौल सूनी थी। जब सूनी शब्द विद्यमान है तो बे-डौल का अर्थ उजाड़ नहीं हो सकता।" इसका उत्तर पादरी महाशय ने यह दिया—"एक अर्थ के दो शब्द सभी भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं।"

महाराज इस पर प्रत्यालोचना करने ही लगे थे कि पादरी महाशय कह उठे—"महाशय! एक वाक्य पर दो प्रश्नोत्तर ही होने चाहियें। नहीं तो चौबीस वाक्यों पर हम आज नहीं बोल सकेंगे।" स्वामी जी ने बहुत बल लगाया कि "तीसरी बार भी बोलने दीजिए। जो वाक्य आज रह जायेंगे उन पर कल विचार कर लिया जायगा।" परन्तु पादरी महाशय ने ऐसा करना स्वीकार न किया। स्वामी जी ने कहा—"उसी आयत में कहा है कि ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था। इसके पहले केवल आकाश और पृथ्वी की रचना कही गई है। जब जल की रचना ही न हुई थी तो जल पर डोलना कैसे सिद्ध हो सकता है? जल पर डोलना हमारी तरह देहधारी के लिए होना सम्भव है। जब आपके मतानुसार ईश्वर देहधारी सिद्ध हुआ तो साकार से आकाशादि की रचना नहीं हो सकती।" इसका उत्तर पादरी महाशय ने यह दिया कि—"पृथ्वी की रचना में जल भी आ गया। तौरेत के आद्योपान्त में ईश्वर को आत्म रूप वर्णन किया है।"

स्वामीजी ने समालोचना की—"ईश्वर का जो वर्णन बाइबल में आता है उससे प्रतीत होता है कि वह किसी प्रकार का शरीर रखता है—जैसे आदम की बाड़ी बनाना, फिर ऊपर चढ़ जाना, मूसा आदि से वार्त्तालाप करना, तम्बू में आना और याकूब से मिलकर युद्ध करना आदि।" प्रत्युत्तर में पादरी ने कहा—"ये सब बातें उस आयत के साथ सम्बन्ध नहीं रखतीं ये केवल अनजान-पन की बातें हैं।"

फिर स्वामीजी ने कहा—"उसी आयत में वर्णन है कि तब ईश्वर ने

कहा कि आदम को अपने स्वरूप में, अपने समान बनावें। इससे तो स्पष्ट होता है कि जैसे आदम देहधारी था ठीक वैसा ही इस आयत का ईश्वर है।" पादरी महाशय ने उत्तर दिया कि—"इस वाक्य में शरीर का कोई वर्णन नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि ईश्वर ने आदम को पवित्र, ज्ञानवान् और आनन्दयुक्त बनाया।"

इस पर महाराज ने प्रत्यालोचना करते कहा—"जब आपकी धर्म्म-पुस्तक में यह विद्यमान है कि ईश्वर ने आदम को अपने समान बनाया तो इसका पवित्र और ज्ञानवान् आदि अर्थ कैसे करते हो ?यदि पवित्र रचा था तो उसने ईश्वर की आज्ञा, क्यों भङ्ग की ? आपके धर्म्म-ग्रन्थ में लिखा है कि जब आदम ने ज्ञान के पेड़ का फल खाया तो उसकी आँख खुली। इससे सिद्ध होता है कि वह ज्ञानवान् नहीं बनाया गया था; ज्ञान उसे पीछे प्राप्त हुआ। यदि आप आदम की आँख खुलने और अपने को नग्न आदि समझने को अज्ञान मानते हो तो क्या ईश्वर को और ईश्वर समान स्वरूप वालों को इन अवस्थाओं का ज्ञान नहीं होता ? इससे तो आपके ईश्वर की सर्वज्ञता ही खण्डित हो जायगी।"

इसके पश्चात् पादरी महाशय ने कहा—"अब समय समाप्त हो गया है। इससे अधिक काल हम नहीं ठहर सकते। इस प्रकार संवाद करने में बोलना और लिखना, दोनों काम करने पड़ते हैं। इससे समय अधिक व्यय होता है। अच्छा तो यह है कि आप, अपने सारे आक्षेप लिखकर हमारे मकान पर भेज दीजिए। हम भी आपको लेखबद्ध उत्तर भेज देंगे।" स्वामीजी ने कहा कि—"जब आपने पहली प्रतिज्ञा वदल डाली तो दूसरी का आप पालन करेंगे, यह कैसे माना जाय ? लिखकर पत्र-व्यवहार करने में जनता को कुछ भी लाभ नहीं होता। हमारा प्रयोजन है, लोगों को समझाना। घर में बैठकर पत्र-व्यवहार करने से तो, यह क्रम, एक वर्ष में भी समाप्त नहीं हो सकेगा।" पर पादरी महाशय ने स्वामीजी का कथन स्वीकार नहीं किया और वे उठकर चले गए।

इस संवाद का अजमेर की जनता पर अत्युत्तम प्रभाव पड़ा। लोग ईसाई धर्म्म की वास्तविक मूर्त्ति को समझ गये।

अजमेर के मुसलमान भी संवाद करने की बातें करते थे, परन्तु जब

उनको कहा गया कि आप अपने गुरु से स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराइये तो वे संवाद करने से टल गये।

अजमेर में एक दिन व्याख्यान देते समय, स्वामीजी ने ढाई पुराने पन्ने उठाकर दिखाये और कहा कि मैंने अखिल आर्य्यावर्त्त में धनुर्वेद को खोजा परन्तु केवल ये ढाई पन्ने ही मिले। यदि मेरे जीवन की लड़ी बनी रही तो मैं वेदों से धनुर्वेद का प्रकाश अवश्यमेव कर दूंगा।

स्वामीजी के हृदय में भारत के निर्धनों के लिए अपार दया निवास करती थी। एक दिन वे व्याख्यान दे रहे थे। उसी समय समाचार मिला कि भरतपुरिये चमारों के गंज में आग लग गई है और उनके घास-फूस के मकान जलकर राख का ढेर हो गये हैं। यह सुनते ही, उनके दयालु हृदय में दया उमड़ आई। उनके त्राण तथा सहायता के लिए, उन्होंने अपने पास से कुछ द्रव्य दिया और दूसरे लोगों को भी इसके लिए प्रबल प्रेरणा की। उनके उपदेश से तत्काल पर्याप्त रुपया एकत्र हो गया।

मसूदा राज्य के राव श्री बहादुरसिंह जी ने प्रबल-प्रार्थनापूर्वक, स्वामी जी को अपने नगर में निमन्त्रित किया। उनके आग्रह से स्वामीजी मार्गशीर्ष सुदी अष्टमी १९३५ को मसूदा में सुशोभित हुए। महाराज के यहाँ तीन-चार व्याख्यान हुए। राव महाशय व्याख्यानों में तो आते ही थे, परन्तु स्वामी जी के सत्संग में उनको इतना रस आता कि वे सारा दिन श्री-चरणों में ही बैठे-बैठे बिता देते। मन-चाहे प्रश्न पूछते और संशय निवारण कराते रहते।

पौष वदी पड़वा संवत् १९३५ को स्वामीजी मसूदा से चलकर नसीराबाद में पधारे और मसूदा राज्य के उद्यान में ठहरे। वहाँ महाराज ने अपने अमृतमय उपदेशों से लोगों को कृतार्थ कर दिया। नसीराबाद में तीन दिवस रह करके चौथे दिन वे जयपुर को प्रस्थान कर गये।

पौष वदी ५ संवत् १९३५ को स्वामीजी जयपुर पहुँचे और डेढ़ उद्यान में ठहरे। उनके खण्डन विषय के प्रभावशाली व्याख्यान हुए। ठाकुर रघुनाथसिंह ने महाराजा महाशय को स्वामीजी के दर्शनार्थ प्रेरित किया और वे समुद्यत भी हो गये। परन्तु दो-एक ब्रह्मचारियों ने उनको कुछ उलट-फेर में डाल दिया और श्री-दर्शनों से वंचित रक्खा। जयपुर-राज्य के एक बहुत बड़े सत्ताधारी मनुष्य को एक सज्जन ने कहा कि यहाँ स्वामीजी पधारे हुए

हैं, आप भी उनके दर्शन कीजिए। उसने आवेश में आकर उत्तर दिया कि आप तो दर्शनों की कहते हैं हमारा वश चले तो उन्हें कुत्तों से नुचवा डालें।

महाराज ने जब मृतक श्राद्ध और मूर्ति-पूजा का खण्डन किया तो महाराजा जयपुर भी अप्रसन्न हो गये। उनकी अप्रसन्नता से कम्पितकाय होकर ठाकुर लक्ष्मणसिंह जी ने कहा—"भगवन्! ऐसी अवस्था में यहाँ आपका रहना अच्छा नहीं है। श्री-चरणों को कहीं कोई कष्ट-क्लेश न भोगना पड़े।" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"ठाकुर महाशय! आप हमारे विषय में सर्वथा निश्चिन्त रहिये। मैं विपत्ति और बाधाओं के कारण, अपने उद्देश्य को नहीं छोड़ सकता। मुझे इन बातों का भय भी नहीं है। हाँ, आप राजकर्मचारी हैं। इसलिए आपको भय भी हो सकता है। सो उससे बचने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि श्रीमन्त मेरे समीप न आया करें, परन्तु मैं तो किसी मनुष्य का नौकर नहीं हूँ। मेरे आत्मा को तो कोई मनुष्य छीन सकता ही नहीं। शेष कौन-सा पदार्थ है, जिसके छिन जाने का मुझे डर हो सकता है।"

स्वामीजी के सामर्थ्य को जयपुर के पण्डित जानते थे। वे आप तो उनके सामने आने का साहस न करते, किन्तु विद्यार्थियों को सिखा-समझाकर भेजते थे। महाराज उनकी चातुर्य्ययुक्त चाल को जान गये। उन्होंने विद्यार्थियों को कहा—"यदि तुम शास्त्रार्थ करना चाहते हो तो हमारे शिष्यों के साथ कर लो, हम तो तुम्हारे गुरुओं से संवाद करेंगे।" जयपुर में स्वामीजी के तीन अत्युत्तम भाषण, ठाकुर लक्ष्मणसिंह जी की हवेली में हुए। इन व्याख्यानों में कई ठाकुर और उच्च राजकर्मचारी भी आते थे।

स्वामीजी के प्रेमियों के कोमल अन्तःकरणों को ठेस लगाने के लिए, दुष्ट जन अनेक मिथ्या समाचार उड़ा देते थे। कभी उनकी मृत्यु का समाचार और कभी उनके बन्दी बनाए जाने का समाचार उड़ा देते थे। जब स्वामी जी जयपुर में थे, तो रुड़की में किसी दुर्जन ने यह बात फैला दी कि महाराजा जयपुर ने स्वामीजी को, उनके कर्म्मचारियों सहित, कारावास में आबद्ध कर लिया है। यह समाचार सुनने के पश्चात् जब तक भक्तजनों ने स्वामीजी का सुख-समाचार न माँग लिया तब तक वे व्याकुल ही रहे।

रेवाड़ी में राव युधिष्ठिर सिंह नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति वास करते थे। वे अति सज्जन थे और कोई पचास गाँव के भूमिहार थे। उन्होंने श्री

महाराज के दर्शन, राजमहोत्सव के समय, देहली में किये थे। तभी से उनके हृदय में स्वामीजी के प्रति भक्ति निवास करती थी। उनकी विनीत विनती पर,श्रीस्वामीजी पौष सुदी १ संवत् १९३५ को रेवाड़ी में सुशोभित हुए। नगर से दूर एक उद्यान में उन्होंने डेरा किया। वहाँ राव महाशय के प्रबन्ध से स्वामीजीके उत्तमोत्तम व्याख्यानहुए। उन व्याख्यानोंमें उन्होंने कुरीतियों का बड़े बल से खण्डन किया। गायत्री के महत्त्व पर भी उनका एक अत्युत्तम उपदेश हुआ। गङ्गाप्रसाद नामक एक व्यक्ति ने महाराज की सेवा में निवेदन किया—"भगवन्! ब्राह्मण यह कहते हैं कि ब्रह्म गायत्री को ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है।"

स्वामी जी ने उत्तर दिया कि "उनका ऐसा मानना अमूलक है। शास्त्र में तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णों के लिए एक ही गायत्री और सन्ध्या विधान की है।" इसके साथ ही स्वामी जी ने गङ्गाप्रसाद को अपनी पञ्च-महायज्ञ-विधि पुस्तक की एक प्रति प्रदान की। एक घण्टा लगाकर उसे गायत्री का शुद्ध उच्चारण सिखाया। जब वह गायत्री सीखकर नगर में गया तो ब्राह्मण उसे कहने लगे—"तू जो कुछ सीखकर आया है वह ब्रह्म गायत्री नहीं है।" गङ्गाप्रसाद ने आकर यही बात श्री-सेवा में निवेदन कर दी। स्वामी जी ने उसे कहा—"जो कोई आप से कहे कि यह ब्रह्म-गायत्री नहीं है, उसे मेरे पास ले आना। मैं उसे अच्छी तरह समझा दूँगा।" तब तो गङ्गाप्रसाद सिंह हो गया। नगर में सबको ललकारने लगा कि यही ब्रह्म गायत्री है।

राव महाशय ने स्वामी जी के व्याख्यान सुनने के लिए, अपनी विरादरी के लोग बड़ी दूर-दूर से बुलाये थे। इसलिए रेवाड़ी के आस-पास के गाँवों में भी धर्म्म-प्रचार हो गया।

राव महाशय को उत्तम जीवन प्रदान करने के अनन्तर, महाराज माघ वदी १ संवत् १९३५ को रेवाड़ी से चलकर देहली आये और सब्ज़ी मण्डी के पास बालमुकुन्द किशोरचन्द के मोती-उद्यान में विराजमान हुए। इस बार उन्होंने वहाँ दो-तीन ही व्याख्यान दिये और फिर वे हरिद्वार के कुम्भ मेले पर जाने के लिए प्रस्थान कर गये। माघ वदी ९ को महाराज मेरठ में उतरे। वहाँ से उन्होंने विज्ञापन छपवाकर साथ ले लिए और मार्ग में सहारनपुर और

रुड़की में ठहरते हुए फाल्गुन सुदी ६ संवत् १९३५ को ज्वालापुर में पहुँचे। वहाँ वे मूला मिस्त्री के बङ्गले में विराजे और प्रतिदिन धर्म्मोपदेश करते रहे।

ज्वालापुर में राव ओजखाँ नाम के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति निवास करते थे। वे स्वामी जी के सत्सङ्ग में आया करते थे। उन्होंने प्रार्थना की—"महाराज ! क्या गो-रक्षा सब जीव-रक्षा से अच्छी है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"हाँ, गो-रक्षा सर्वोत्तम है और इसमें सबसे अधिक लाभ है। गो-रक्षा करना सब मनुष्यों का कर्तव्य है।"

ओजखाँ महाशय ने यह भी पूछा—"आर्य्यों में नित्य नहाने का नियम किस नींव पर रक्खा गया है ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"आयुर्वेद-विद्या के अनुसार प्रतिदिन स्नान करना बल-पुष्टि का वर्धक, आरोग्यदाता तथा स्वास्थ्य-सम्पादक है। इससे देह में स्वच्छता और स्फूर्ति बनी रहती है।" राव महाशय ने स्वामी जी का कथन स्वीकार कर लिया और प्रभावित होकर मांस खाना भी छोड़ दिया।

फाल्गुन सुदी ६ संवत् १९३५ को स्वामी जी ज्वालापुर से हरिद्वार पधारे। वहाँ उन्होंने श्रवणनाथ के उद्यान और निर्मलों की छावनी के सामने, मूला मिस्त्री के खेत में अपना डेरा डाला। वहीं तम्बू ताने गये, पर्ण-कुटियायें निर्माण की गईं। सत्सङ्ग के लिए भी एक सुन्दर मण्डप सुसज्जित हो गया। उस समय स्वामी जी की सहायतार्थ उनके शिष्य श्री रामशरणदास जी मेरठ से आ गये। पण्डित उमरावसिंह जी आदि अन्य भी अनेक शिष्य, अपने गुरुदेव के साथ सहयोग देने को उपस्थित हुए और उसी छावनी में ठहरे। विज्ञापनों द्वारा सर्वसाधारण को विदित कर दिया गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज, विक्रमी संवत् १९३५ फाल्गुन शुक्ला ६ गुरुवार को हरिद्वार में आकर, निर्मलों की छावनी के सामने, मूला मिस्त्री के खेत में ठहरे हैं। जो महाशय उनसे लाभ उठाना चाहें, वे उपर्युक्त स्थान में उपस्थित होकर सभ्यता और प्रीतिपूर्वक वार्त्तालाप करें।

विज्ञापन के निकलते ही, सारे मेले में स्वामी जी का नाम गूँज गया। सहस्रों नर-नारी उनके उपदेशों में आने लगे। साधु लोग भी टोलियाँ और मण्डलियाँ बनाकर आते थे। महाराज ने जब, तत्कालीन कुरीतियों पर टीका-

टिप्पणी चढ़ाई, कुप्रथाओं पर कठोर कुठाराघात किया और वेषमात्रोपजीवी जनों की समालोचना की तो सारा साधु-सागर संक्षुब्ध हो गया। महन्तों के आसन डोलने लगे। मण्डलेश्वर अपनी मण्डलियों सहित घबरा उठे। उन दिनों में जहाँ जाओ, जिधर देखो, लोग स्वामी दयानन्द जी का ही कथोपकथन करते मिलते। कई पौराणिक पण्डित विरोध करने के लिए कटि-बद्ध हुए, परन्तु जब सारा सामर्थ्य लगाकर भी वे कुछ न कर सके तो, अन्त में जी छोड़ बैठे।

दो नागे साधु स्वामी जी के निकट आकर, अपमान-जनक वचनों द्वारा, बात-चीत करने लगे। वे दोनों विनय-विहीन और हठीले थे। श्री महाराज उनके साथ हँसते-हँसते सादर उत्तर देते थे। इस वार्त्तालाप में नागे कई बार कुपित हुए परन्तु स्वामी जी की प्रकृति-लता पर उनके क्रोधाङ्गार की एक भी चिनगारी उड़कर न पड़ी। वे प्रशान्त और प्रसन्न बने रहे। महाराज की शान्ति का यह प्रभाव हुआ कि उन नागों ने अपनी जटा-लटा को उसी दिन विसर्जन कर दिया और श्री-चरण-शरण लेकर अपने अपराध क्षमा कराये।

एक दिन तम्बू के द्वार खुले हुए थे। महाराज उसमें बैठे कार्य्य कर रहे थे। उसी समय, एक आनन्दवन नामक परमहंस वहाँ पधारे। उनके एक हाथ में कमण्डलु, दूसरे में दण्ड और तन पर एक लम्बा, उज्ज्वल चोला शोभायमान था। उनके साथ कोई दस शिष्य थे। ज्यों ही, स्वामी जी ने आनन्दवन जी को भीतर पदार्पण करते देखा, वे तत्काल, आसन से उठ खड़े हुए और तम्बू-द्वार पर जाकर उनका स्वागत किया। उनको उचित आसन पर बैठाया। उसी समय दोनों में शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। जब दिन के ग्यारह बजे तो स्वामी जी के सेवक ने आकर निवेदन किया—"भगवन्! भोजन प्रस्तुत है।" स्वामी जी ने अतिथि से भोजन के लिए कहा तो वे बोले कि जब तक इस प्रश्न का निर्णय न हो ले, हम भोजन नहीं करेंगे। शास्त्रार्थ द्वैताद्वैत पर था। स्वामी जी, चारों वेदों और पचास-साठ अन्य पुस्तकों को अपने पास रखकर, प्रमाणों के प्रबल अस्त्रपात से परमहंस आनन्दवन जी के सघन-संशय-वन को उड़ाने लगे। जब द्वन्द्व-युद्ध होते दिन के दो बज गये तो वे दोनों महात्मा उठ खड़े हुए। थोड़े से वार्तालाप के उपरान्त आनन्दवन जी

ने अपने शिष्यों को सम्बोधन करके कहा—"मैंने स्वामी दयानन्द जी के द्वैत-सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। आज इनकी युक्तियों की वायु ने मेरे अहं-ब्रह्मवाद के घमण्डरूप, घोर घनघटाटोप को उड़ा दिया है। अब आप को भी ऐसा ही करना उचित है।"

तत्पश्चात् वे महात्मा चले गये।

आनन्दवन जी श्री-उपदेशों में प्रायः आया करते और एकाग्र चित्त से सुना करते थे। वे संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे। उनकी आयु उस समय कोई अस्सी वर्ष के लगभग होगी।

एक निर्मला साधु, जोतसिंह स्वामी जी के निकट आया और वार्त्तालाप करने लगा। वह स्वामी जी के विरुद्ध बार-बार जले-कटे वचन कहता था। यद्यपि स्वामी जी के शिष्य आवेश में आ जाते, परन्तु महाराज उनको शान्त करके उस मूर्ख महात्मा से कथोपकथन करते ही जाते थे। दो दिन तक तो वह साधु टेढ़ी ही चाल चलता रहा। वक्रवाक्य और व्यङ्गच-वचन-बाण-वर्षा में उसने कोई त्रुटि न छोड़ी, परन्तु जब वह तीसरे दिन श्री-सेवा में आया तो उसके चित्त का चित्र और ही था। उसके दोनों कपोलों पर आँसुओं की धारा का तार बँधा हुआ था। वह बद्धांजलि श्रीचरणों पर गिर पड़ा और अपने किये अपराधों के लिये क्षमा माँगने लगा। जोतसिंह के पश्चात्ताप के उत्ताप से महाराज को अति अनुकम्पा आ गई। उसे ढाढस बँधाकर उन्होंने उसे अपने पास ही रख लिया। अन्त में वह निष्ठावान् आर्य्य बन गया।

एक दिन, एक अमृतसर-निवासी आर्य ने श्री-सेवा में आकर निवेदन किया कि भगवन्! मुझे अमृतसर के आर्यसमाजियों ने आर्य्यसमाज की सभासदी से निकाल दिया है। स्वामी जी ने उससे पूछा कि आपको किस अपराध पर बहिष्कृत किया गया? उसने उत्तर दिया कि पुस्तक चुराने का दोषारोप करके उन्होंने मुझे निकाला है। भगवान् ने गम्भीर भाव में उसे कहा कि सच-सच कहना, क्या आपने पुस्तकें चुराई भी थीं? उसने कह दिया कि महाराज! यह दोष हुआ मुझसे अवश्य है। स्वामी जी ने परिलक्षित कर लिया कि सच्चे अन्तःकरण से अनुताप कर रहा है। इसलिये उन्होंने उसे शिक्षा दी कि फिर ऐसे पाप-सोपान पर पदार्पण कभी न करना और आर्य्य-समाज, अमृतसर के नाम भी पत्र लिख दिया कि हमने इसका अपराध क्षमा कर दिया है। अब इसे सभासद् बना लीजिएगा।

एक दिन स्वामीजी को महात्मा रत्नगिरिजी मिले। बात-चीत में महाराज ने कहा—"सारे मठधारियों, महन्तों और मण्डलेश्वरों में सुखदेव गिरि जी, जीवनगिरिजी और विशुद्धानन्द जी, ये तीन पूरे पण्डित हैं। शेष तो निरे घाऊघप हैं। केवल लड्डू-पूरी उड़ाना ही जानते हैं। आप इन तीन महात्माओं के पास मेरे प्रश्न-पत्र ले जायँ।".

स्वामीजी के कथनानुसार, रत्नगिरि जी उनका पत्र सुखदेव गिरि जी के निकट ले गये। वे श्री दयानन्द का पत्र पाते ही तिलमिला उठे और झुंझला कर कहने लगे—"तुम दो-घरी बिल्ली की नाईं बन गये हो। हम तुम पर विश्वास नहीं करते। आगे को, हमारे पास उनका कोई पत्र न लाना।"

श्री स्वामीजी महाराज का ईश्वर की प्रार्थना और उपासना में बड़ा विश्वास था। उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा भी है कि स्तुति से ईश्वर-प्रेम बढ़ता है। उसके गुण, कर्म और स्वभाव से अपने गुण, कर्म और स्वभाव सुधर जाते हैं। ईश्वर की प्रार्थना से निरभिमानता आती है और उत्साह प्राप्त होता है, प्रभु की सहायता मिलती है। परोपकार करने की प्रार्थना ही में परमेश्वर सहायता देता है। महाराज व्याख्यान के आरम्भ में पहले परमात्मदेव की प्रार्थना किया करते। वे ईश्वर-गुणगान ऐसे स्वर से करते कि उनका गला गद्गद हो जाता। श्रोता भी भक्ति-रस में झूमते हुए प्रेमाश्रु बहाने लग जाते। उनकी प्रार्थना में एक विशेष अलौकिक रस होता था।

एक दिन, निर्मला महात्मा रामसिंह जी ने स्वामीजी से विनय की, "महाराज ! इतने पण्डित और ज्ञानी होकर भी, आप भिखारियों की भाँति ईश्वर से भीख माँगते हैं। ऐसे कर्म तो अज्ञानियों के लिए कहे हैं। जिस ज्ञानी ने 'अहं ब्रह्मास्मि" का मनन कर लिया उसे इस प्रकार रोने-झीखने की क्या आवश्यकता है ?" महाराज ने उत्तर दिया—"मनुष्य में प्रार्थना की वृत्ति स्वाभाविक है। जैसे आप में खाने, पीने और सोने की वृत्ति तो विद्यमान हैं, परन्तु परितृप्ति प्राप्त करने के लिये, आप उस वृत्ति को जगाते हैं। ऐसे ही प्रार्थनारूप, भक्तिवृत्ति को जगाने की आवश्यकता है। यह सत्य नहीं है कि ज्ञानी-जन प्रार्थना नहीं करते। आप अपने को पूरे वेदान्ती मानते हैं, परन्तु फिर भी वेदान्त-वाक्य दुहराते रहते हैं। जिस वस्तु का किसी को जितना अधिक ज्ञान होता है, वह उसे उतना ही अधिक स्मरण करता है। जितनी

अधिक प्रीति परमेश्वर में बढ़ेगी उसका उतना ही अधिक प्रकाश होगा। भाई रामसिंह ! ऊपर से चाहे जो कहो, परन्तु जब तक भूख-प्यास और सुख-दुःख आदि का अनुभव करते हो तब तक आप पूर्ण नहीं हो। आप में न्यूनता अवश्य है। अपनी न्यूनता को पूर्ण करने के लिये—तीन गुणमयी माया से ऊपर होने के लिये प्रार्थना आवश्यक है।" रामसिंह जी ने सिर झुकाकर श्री-वचनों को स्वीकार किया।

स्वामीजी के व्याख्यानों में निर्मल साधु बड़ी भारी संख्या में आया करते थे। उनमें से बहुतों का महाराज से प्रेम भी हो गया था। निर्मलों के अखाड़े में ये साधु झण्डे को नमस्कार किया करते हैं। जब एक दिन व्याख्यान में निर्मलों का एक दल आया तो महाराज ने मुस्कराकर कहा—"आओ भाई लक्कड़-पूजको ! बैठ जाओ।" यह सुनकर सारे साधु खिलखिलाकर हँस पड़े। इसके उपरान्त स्वामीजी ने उनको उपदेश दिया—"आप लोग रात-दिन तो आत्मवाद छाँटते रहते हो, उपनिषद्-वचनों के घोटे लगाते हो; वेदान्त-सूत्रों की छान-बीन में प्रवीणता प्रकट करते हो; कर्म्मकाण्ड की कतर-ब्योंत में कौशल दिखाते हो, परन्तु भ्रम में इतने ग्रस्त हो कि जड़ वस्तुओं को भी नमस्कार करते हो।" स्वामीजी के कथन का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

महाराज को सम्प्रदायों के आडम्बर देखकर, देश की अधोगति पर अति दया आती थी। वे कहा करते थे कि इन पन्थाई लोगों ने सन्मार्ग का लोप कर दिया है। ये लोग अपनी प्रतिष्ठा की लालसा में अपनी-अपनी खिचड़ी पृथक् ही पकाते हैं। जनता में एक मत होने ही नहीं देते। वे भारत के सामाजिक बिगाड़ पर भी भारी मार्मिक वेदना का अनुभव करते थे। एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी बैठे-बैठे लेट गये और फिर उठकर टहलने लगे। एक भक्त ने विनयपूर्वक पूछा—"महाराज को आज क्या कोई वेदना हो रही है ?" उन्होंने एक लम्बी साँस भर कर कहा—"भाई ! इससे अधिक हृदय-विदारक दारुण वेदना और क्या हो सकती है कि विधवाओं की दुःख-भरी आहों से, अनाथों के निरन्तर आर्त्तनाद से और गो-वध के जघन्य पाप से इस देश का सर्वनाश हो रहा है।"

एक दिन सवेरे, मेरठ के कमिश्नर कई राजकर्म्मचारियों-सहित स्वामीजी के मिलापार्थ आये। स्वामीजी के सेवकों ने उन्हें आदर से आसन दिया।

थोड़ी ही देर में महाराज भी अपने तम्बू से बाहर आये और अतिथियों से सम्मानपूर्वक मिले। कमिश्नर महाशय स्वामीजी से बात-चीत करके अति प्रसन्न हुए और उनकी रक्षा आदि के लिये पुलिस के कई कान्स्टेबल नियुक्त कर गए।

एक दिन स्वामीजी अपने आसन पर विराजमान थे। एक मनुष्य ने आकर चरण-वन्दन किया और कहा—"भगवन्! मुझे जम्मू-काश्मीर के महाराजा रणवीरसिंह जी ने श्री-सेवा में भेजा है। लोगों ने आपकी मृत्यु का समाचार भी उड़ा रक्खा है। परन्तु उस पर पूर्ण विश्वास न करके, महाराजा जी ने कहा है कि यदि स्वामीजी जीवित हैं तो हरिद्वार के कुम्भ पर अवश्य आयेंगे। उनके पास जाकर हमारा विनय-पत्र उपस्थित करना।" तब उस भद्र पुरुष ने एक पत्र श्री-सेवा में उपस्थित किया। उस पर महाराजा की मुहर थी। उसमें स्वामीजी से एक ऐसी पुस्तक के बनाने के लिए प्रार्थना की गई थी, जिसमें शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया हो कि जो जन हिन्दू-धर्म्म से पतित होकर मुसलमानादि मतों में मिल गए हैं वे फिर हिन्दू बन सकते हैं। साथ ही यह भी कहा गया था कि यदि हो सके तो इसमें यह भी सिद्ध कर दीजिए कि ईसाई और मुसलमान जातियों के लोग भी हिन्दू-धर्म्म में आ सकते हैं। उनके साथ खान-पान का व्यवहार करने में कुछ भी दोष नहीं है।

उस समय महाराज ने उस आगन्तुक पुरुष को कहा—"ईसाई और मुसलमानों को शास्त्र-रीति से आर्य्य बनाना सिद्ध करने में कोई भी कठिनाई नहीं है। यह बड़ी सुगमता से सिद्ध हो जायगा। मैं श्री महाराज के नाम, इस विषय पर आपको एक पत्र लिखकर दूंगा।"

उमीदखाँ और पीरजी इब्राहीम ने स्वामीजी से विनय की—"महाराज! हमने सुना है कि आप मुसलमानों को भी आर्य्य बना सकते हैं।" महाराज ने उत्तर दिया—"आर्य्य, सन्मार्ग पर चलने वाले श्रेष्ठ मनुष्य को कहते हैं। सो यदि आप आर्य्य धर्म्माचार को ग्रहण कर लें तो आप भी आर्य्य बन जायेंगे।" तब उन दोनों ने पूछा—"हमारे आर्य्य बन जाने पर क्या आप हमारे साथ मिलकर भोजन करेंगे?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"हमारे धर्म्म में केवल किसी का जूठन खाना विवर्जित है। सहभोजन में तो कुछ भी दोष नहीं है।" वे बोले—"जूठा खाने से परस्पर प्रेम बढ़ता है।" इस पर

महाराज ने कहा--"इस प्रकार प्रीति बढ़ती हो तो कुत्ते भी तो इकट्ठे खाते हैं, परन्तु खाते-खाते एक दूसरे को काटने-नोचने लग जाते हैं।" यह सुनकर वे दोनों महाशय अवाक् रह गये।

रुड़की के तहसीलदार नजफ अली तो स्वामीजी का उपदेश सुनकर मोहित हो गये। उन्हें सिद्ध पुरुष मानने लगे। उनको निश्चय हो गया कि जैसा आत्मिक ज्ञान संस्कृत पुस्तकों में पाया जाता है वैसा दूसरे धर्मों की पुस्तकों में नहीं मिलता।

एक दिन नजफ अली महाशय ने निवेदन किया कि हमारे मत में अनेक स्त्रियों से विवाह करने की आज्ञा है। इसमें आपकी क्या सम्मति है ? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि अनेक स्त्रियों से विवाह करना सर्वथा अनुचित है और अन्याय है। बहुत विवाह में महाराज ने अनेक दोष दिखाकर कहा कि वेद पवित्र में केवल एक स्त्री-पुरुष ही के विवाह का उपदेश है। तहसीलदार महाशय ने श्री-वचनों को सिर आंखों से स्वीकार किया।

: ६ :

हिन्दी को राष्ट्रभाषा का रूप देने वाले प्रथम पुरुष

महाराज के उपदेशों और शङ्का-समाधान से सहस्रों मनुष्यों ने अपने भ्रम निवारण किये। भक्त-जनों के लिए तो भगवान् का सत्सङ्ग गङ्गा-स्नान, कुम्भ के पर्व और मठधारियों के दर्शनों से कहीं अधिक मूल्यवान् वस्तु बन रहा था। वे लोग अति प्रेम से श्री-उपदेश श्रवण करते और अपने को पवित्र हुआ मानते थे।

आर्य्य-भाषा के प्रचार में सबसे पहले यदि किसी ने प्रयत्न किया तो वे स्वामी दयानन्द जी थे। गुर्जर देश में उत्पन्न होकर देश-देशान्तरों में आर्य्य-समाज स्थापित करने के अनन्तर भी आर्य्यभाषा को अपनाया, यह उनका एक तुलनातीत कर्म है। उन्होंने आर्य्यसमाज का सङ्गठन करते हुए, बम्बई के पाँचवें नियम में संस्कृत और आर्य्यभाषा का पुस्तकालय स्थापित करना औरआर्य्य-भाषा में 'आर्य प्रकाश' नामक पत्र निकालना, आवश्यक ठहराया। लाहौर के संगठन-संस्कार में, एक उपनियम बनाकर सब आर्य्यसामाजिकों के

लिए आर्य्य-भाषा का सीखना अत्यावश्यक कर दिया। उपर्युक्त प्रमाणों से बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आर्यभाषा को राष्ट्रीय भाषा का रूप देने वाले प्रथम पुरुष दयानन्द ही थे।

स्वामी दयानन्द गुर्जर भाषा के पूर्ण पण्डित थे। अपने बम्बईवास में उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, परन्तु वे सब आर्य्यभाषा में ही लिखे; गुर्जर भाषा में एक भी नहीं लिखा। अपने जन्म-प्रान्त में भी वे अपनी मातृ-भाषा को छोड़कर, आर्य्यभाषा में ही व्याख्यान देते रहे। उनकी सारी पुस्तकें आर्य्य-भाषा में प्रकाशित हुईं। इन सब बातों को ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हुए, मुक्त कण्ठ से कहना पड़ता है कि आर्य्यभाषा की मौलिक जड़ में जीवन डालने वाले श्री दयानन्द जी ही थे। निम्नलिखित प्रश्नोत्तर से उनका आर्य्य-भाषा के प्रति असीम स्नेह प्रकट होता है :—

हरिद्वार में एक दिन महाराज अपने आसन पर बैठे सत्सङ्गियों को समझा रहे थे। बीच में एक सज्जन ने निवेदन किया—"यदि आप अपनी पुस्तकों का अनुवाद कराकर फारसी अक्षरों में छपवा दें, तो पञ्जाबादि प्रान्तों में जो लोग नागरी अक्षर नहीं जानते उनको आर्य्य धर्म्म के जानने में बड़ी सुविधा हो जाय।"

महाराज ने उत्तर दिया—"अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करता है। नागरी के अक्षर थोड़े दिनों में सीखे जा सकते हैं। आर्य-भाषा का सीखना भी कोई कठिन काम है ? फारसी और अरबी शब्दों को छोड़कर, ब्रह्मावर्त की सभ्य भाषा ही आर्य्यभाषा है। यह अति कोमल और सुगम है। जो इस देश में उत्पन्न होकर अपनी भाषा के सीखने में कुछ भी परिश्रम नहीं करता, उससे और क्या आशा की जा सकती है ?उसमें धर्म्म-लगन है, इसका भी क्या प्रमाण है ? आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं, परन्तु--दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं कि जब, काश्मीर से कन्या-कुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। मैंने, आर्य्यावर्त्त भर में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने केलिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्य्यभाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।"

महाराज को हरिद्वार में बम्बई का तार मिला कि श्रीयुत अल्काट यहाँ आ गये हैं और श्री-दर्शनों के लिए आतुर हैं। उन दिनों महाराज का स्वास्थ्य

कुछ बिगड़ रहा था, इसलिए वे विश्राम लेना चाहते थे। उन्होंने बम्बई समाचार भेज दिया कि अल्काट महाशय अभी आने का कष्ट न उठायें। स्वामीजी ने यहाँ, अन्तिम उपदेश की समाप्ति पर परमेश्वर का धन्यवाद किया कि हे जगदीश्वर! आपकी अपार कृपा से प्रचार का यह कार्य्य निर्विघ्न समाप्त हुआ है। फिर उन्होंने अपने साथियों को सम्बोधन करके कहा—"अब आप यथासम्भव शीघ्र ही अपने-अपने घरों को चले जाइए। कोई आश्चर्य नहीं कि मेरे इस कथन का यह परिणाम निकाला जाय कि अंग्रेज मेले को बखेरना चाहते हैं और स्वामीजी भी उनके साथ ही मिल गये हैं। परन्तु मैं तो आपको चेतावनी देता हूँ। जलवायु के बिगड़ जाने से महामारी, विषूचिका के फैलने का पूरा भय है। यदि आप शीघ्र ही चले जायेंगे तो इस संक्रामक, महा भयङ्कर रोग के चंगुल से बच जायेंगे।" स्वामीजी का कथन सत्य ही हुआ। मेले के अन्तिम दिनों में सचमुच ही विषूचिका रोग फूट पड़ा।

महाराज की सावधानता भी आदर्श-रूप थी। उनके डेरे पर कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करके सब जला दिया जाता था। वे अपने डेरे में जूठनसहित पत्ते और कागज पड़े नहीं रहने देते थे। वहाँ इधर-उधर सड़ी-गली वस्तुयें सड़ाँद नहीं छोड़ा करती थीं। उनकी सारी छावनी स्वच्छ और मार्जित रहती। वहाँ प्रतिदिन हवन होता, जिससे वायु में विकार नहीं उत्पन्न हो पाता था।

उस महामेले में बहुत थोड़े साधु-सन्त ऐसे थे जो स्वामी जी के अतिशय उच्च आशय को जानते थे। अधिकाँश साम्प्रदायिक लोग तो हठ-धर्म्मी और धड़ेबन्दी की दलदलों में धँसे हुए थे। वे लोग महाराज का जी खोलकर विरोध करते थे। बहुतेरे ऐसे भी वेष-विडम्बक थे, जो धर्म्म की ओट में और भगवे बाने की आड़ में, उस महापुरुष को मार मिटाने की चेष्टा भी करते फिरते थे। स्वामी जी महाराज भी मानवी कौशल की परमावधि पर पहुँचे हुए थे। वे सचेत थे और ऐसी प्रत्येक खटके की आहट लेते रहते थे।

एक दिन, एक जटाजूट, नागा उनके निकट आया और कहने लगा—"मैं आपके पास रहकर अध्ययन करना चाहता हूँ। आपको कोई कष्ट नहीं दूँगा। अन्न माँग कर ले आया करूँगा और आपकी सेवा करता रहूँगा।" स्वामी जी उसके भीतरी भाव को ताड़ गए और बोले—"आपको पढ़ाने के लिए मुझे अवकाश नहीं है।"

एक दिन दो नागों ने आकर शिष्य बनने की विनय की। उनको भी महाराज ने टाल दिया। स्वामीजी प्रायः जिस-किसी के हाथ का लेकर नहीं खाते थे, अपनी रक्षा में आप चौकस रहते थे।

हरिद्वार में प्रचार करने के अनन्तर महाराज ने विश्राम लेने के लिए देहरादून जाने का निश्चय किया और अपने शुभागमन की वहाँ सूचना भेज दी। पण्डित कृपाराम गौड़ महाराज के प्रेमी थे। गुरुदेव के आगमन का प्रेम-पत्र पाकर वे पुलकित-गात हो गए। कुछ वङ्गीय सज्जनों के साथ मिलकर उन्होंने एक बंगला ले लिया। साथ ही उन्होंने अपने भतीजे और दो नौकरों को हरिद्वार की सड़कपर खड़ा कर दिया कि जब स्वामी जी की गाड़ी आये तो उन्हें उस बङ्गले में ले जाकर उतार देना। महाराज वैशाख वदी ८ संवत् १९३६ को देहरादून पहुँचे। उस समय उनके साथ तीन-चार कर्म्मचारी थे। बहुत से वङ्गीय सज्जन स्वागत के लिए पहुँच गए और उपर्युक्त बङ्गले में उनका डेरा कराया गया।

महाराज के पहुँचते ही सारे नगर में उनके शुभागमन का समाचार फैल गया और सत्सङ्गियों की टोलियाँ आने लगीं। यद्यपि स्वामी जी स्वस्थ नहीं थे फिर भी अति प्रसन्नतापूर्वक वार्त्तालाप करते। कृपाराम जी से पूछने पर स्वामी जी को पता लगा कि भोजनादि के व्यय का प्रबन्ध ब्राह्म-समाजियों ने किया है। उन्होंने कृपाराम को कहा, "यह आपने अच्छा नहीं किया, हमारे प्रचार से तो वे लोग रुष्ट हो जायँगे। उस समय आपको कठिनता का सामना करना पड़ेगा।" श्री कृपाराम जी ने हाथ जोड़कर विनती की—"वे लोग भले ही अप्रसन्न हो जायं; पूज्यपाद का आतिथ्य करने को सेवक के पास पत्र-पुष्प पर्याप्त हैं।"

कुछ दिन विश्राम करने के उपरान्त स्वामी जी ने व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। लोग बड़े प्रेम से सुनने आते थे। एक दिन उनके व्याख्यान का विषय बाइबल और कुरान की समालोचना था। उस दिन चार-पाँच यूरोपीय पादरी सुनने आये हुए थे। उनकी यौक्तिक समालोचना को सुन कर एक पादरी आवेश में आ गया। व्याख्यान की समाप्ति पर उसने कहा कि पण्डित जी ने जो कुछ कहा है निरी धूल उड़ाई है। इस धूल में इनका वेद भी ढंप गया है। स्वामीजी की युक्तियों का खण्डन करने के लिए उसे अवसर

दिया गया। जब वह बोल कर बैठ गया तो महाराज ने खड़े होकर, उसका प्रत्युत्तर देना आरम्भ किया। पादरी महाशय की प्रकृति में बार-बार उबाल उठते थे। वे आपे से बाहर हुए जाते थे और बात-बात में बोल पड़ते थे। अन्त में उसके साथियों ने ही उसे शान्त किया। व्याख्यान के पश्चात् दूसरे पादरी बड़ी देर तक स्वामी जी से धर्म्म-चर्चा करते रहे।

इस व्याख्यान में मुसलमानों की उपस्थिति बहुत थी। कुछ मौलवी महाशय भी बैठे सुनते थे, वे लोग भी भड़क उठे।

स्वामी जी जिस बङ्गले में रहते थे वह फूस से छत्ता हुआ था। कृपाराम जी ने सुना कि कुछ एक मुसलमान, आज रात उस बङ्गले को जला देना चाहते हैं। उन्होंने इसकी सूचना, तत्काल, स्वामी जी को दे दी। अपने तीन-चार नौकर वहीं पहरे के लिए भेज दिये। स्वामी जी अति निर्भय थे। वे यही कहते थे कि डरो नहीं, ये विरोधियों की कोरी धमकियाँ हैं। परन्तु पण्डित भीमसेन जी ने जागते हुए, सारी रात आँखों में काटी।

स्वामी जी के वेद-विषयक व्याख्यान से ब्राह्मसमाजी चिढ़ गये और सहायता देना छोड़ बैठे। ब्राह्मसमाजी कालिमोहन घोष जी ने स्वामी जी को भोजन का निमन्त्रण दिया; उन्होंने कहा कि आपका भोजन ग्रहण करने में मुझे केवल इतना ही सङ्कोच है कि आप लोगों के यहाँ भङ्गी भी भोजन बनाते हैं। घोष महाशय ने कहा कि यह तो सत्य है कि हम लोग किसी के भी हाथ से खाने में कोई हानि नहीं मानते, परन्तु कर्म में ऐसा नहीं आता। तब महाराज ने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

इस बात का पता जब कृपाराम जी को लगा तो वे भोजन का थाल लेकर श्री-सेवा में पहुंचे। उस समय घोष महाशय के घर से भी थाल आ गया था। कृपाराम जी ने निवेदन किया कि भगवन्! घोष महाशय के घर पर भङ्गिन पाचिका है, इसलिए उसका भोजन पीछे लौटा दीजिए और निज जन की रूखी-सूखी चपाती स्वीकार कीजिए। महाराज ने उसी समय घोष महाशय का थाल लौटा दिया और कृपाराम जी का अन्न ग्रहण किया।

स्वामी जी के भाषणों को सुनकर कई सज्जन उनके अनुयायी बन गये और आर्य्यसमाज की स्थापना का यत्न करने लगे।

श्रीमान् कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की सहारनपुर में आ पहुंचे

और वहाँ के आर्यों ने अत्युत्तम रीति से उनका आतिथ्य किया। उन्होंने स्वामी जी को तार दिया कि हम आपके दर्शनों के लिए देहरादून आते हैं। महाराज ने उनको तार द्वारा सूचित किया कि आप आने का कष्ट न कीजिए, मैं स्वयं सहारनपुर आ रहा हूं। महाराज वैशाख सुदी १० संवत् १९३६ को सहारनपुर में आये, बड़े वत्सल भाव से अपने भक्तों को मिले। वैशाख सुदी १२ को स्वामी जी कर्नल तथा मैडम सहित मेरठ पधारे। आर्य्य-समाज के सभी सभासद् उनके स्वागत के लिए, रेलवे स्टेशन पर उपस्थित थे। अपने पूज्यतम गुरुदेव को, पश्चिमी शिष्यों सहित देखकर, आर्य्य पुरुषों के तन हर्ष-पूर से पुलकित हो रहे थे। उन्होंने बड़े उत्साह से उनको ले जाकर, एक कोठी में तो महाराज को और दूसरी में उन दोनों अतिथियों को ठहराया।

वैशाख सुदी १३ से ज्येष्ठ वदी २ तक स्वामी जी के तथा उनके शिष्यों के व्याख्यान बड़ी धूम से हुए। कर्नल महाशय और मैडम ने भाषणों में भली भाँति वेद का महत्व गान किया और क्रिश्चियन धर्म्म की त्रुटियाँ प्रदर्शित कीं। इन व्याख्यानों में योरुपियन भी बहुत आते थे। कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की स्वामी जी के स्थान पर जाकर सत्सङ्ग में ज्ञान-चर्चा करते, आत्मा-सम्बन्धी प्रश्न पूछते और योगाभ्यास की विधियाँ सुनते थे। वे दोनों अपने को आर्य्य कहते। नीचे बैठकर भोजन पाते। उन्होंने 'ओ३म्' का पदक और यज्ञोपवीत धारण किया हुआ था। वे महाराज को गुरु मानते थे और उनके प्रति अति-विनय प्रदर्शित करते थे।

महाराज एक दिन श्रीयुत छेदीलाल जी की कोठी में आसनारूढ़ थे। सत्सङ्गी-जन ज्ञान-गङ्गा में गोते लगा रहे थे। उसी समय अल्काट महाशय और ब्लैवट्स्की महाशया भी आ गईं। उन्होंने महाराज को भक्तिभाव से नम्रीभूत नमस्कार किया। योग-चर्चा चलने पर, अलकाट महाशय ने विनय की—"भगवन्! सुना है कि शङ्कराचार्य्य अपने कलेवर से आत्मा को निकालकर परकाया में प्रवेश कर जाते थे। इसमें आपकी क्या सम्मति है?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"शङ्कराचार्य्य का परकाया-प्रवेश करना एक ऐतिहासिक विषय है। उसके सत्यासत्य में, कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, इतना तो मैं भी दिखा सकता हूँ कि चाहे जिस अङ्ग में, अपनी सारी जीवनशक्ति को केन्द्रित कर दूँ। इससे शेष सारा शरीर जीवन-शून्य हो जायगा। परकाया-

प्रवेश तो इससे आगे एक पाँव उठाना मात्र ही है।" अल्काट महाशय अपने गुरु के ऐसे योग-बल को जानकर अतीव हर्षित हुए।

कुछ दिनों के पश्चात् अल्काट महाशय और ब्लैवट्स्की महाशया स्वामी जी से आज्ञा लेकर बम्बई चले गये।

मौलवी महम्मद कासिम मेरठ में आकर संवाद के लिए मुसलमानों को उकसाने लगे। जब स्वामी जी को पता लगा कि मुसलमान महाशय संवाद करना चाहते हैं तो उन्होंने अपने सदा समुद्यत होने की घोषणा करदी। दोनों ओर के प्रतिष्ठित पुरुषों की एक सभा, नियम-निर्णय के लिए जुटी। उसमें राज-पाठशाला के मुख्याध्यापक श्री कैस्पन महाशय भी सम्मिलित कर लिए गये। अनेक नियमोपनियम बनते-बनाते, जो कहीं आकर बात अटक गई और टूटने लगी तो वह इस नियम पर, स्वामी जी कहते थे कि संवाद लेखबद्ध हो और एक विशेष सभा में जनता के सामने हो; परन्तु मौलवी महाशय, रुड़की की भाँति, यहाँ भी अड़ते थे कि नहीं, संवाद मौखिक ही होना चाहिए। लिखने और फिर बोलने में चित्त उचट जाता है, स्मृति ठिकाने नहीं रहती। संवाद जनता के सम्मुख भी नहीं होना चाहिए। इसमें भीड़-भड़क्का बहुत होगा। कोई आश्चर्य नहीं कि परस्पर कोई लड़ाई-भिड़ाई तक नौबत आ जाय।

स्वामी जी ने कहा—"केवल मौखिक संवाद से कोई परिणाम पर नहीं पहुँच सकता। कई वादी अपने सिद्धान्त को निर्बल देखकर, चातुर्य्य और प्रवञ्चना की पेचीली चालों से, अपने पक्ष ही को बदल डालते हैं? वे अपने पहले कहे शब्दों से नकार कर बैठते हैं। एक-एक वचन पर अटककर सारा समय व्यर्थ में खो देते हैं। लिखकर बोलने में ऐसी बातों की सम्भावना न रहेगी। ठीक प्रबन्ध हो जाने से झगड़े-टण्टे का सन्देह मिट जायगा।" मुख्या-ध्यापक कैस्पन महाशय ने मौलवी जी को कहा—"स्वामी जी का कथन युक्ति-संगत है। प्रश्नोत्तर लिख कर बोलने में बहुत लाभ है। जो आपने चित्त उखड़ जाने और युक्तियाँ भूल जाने की बात कही वह उपहास-जनक है। भला वह विद्वान् ही क्या है जिसके विचार इतने में ही उलट-पलट हो जाते हैं और जिसकी स्मृति ठिकाने ही नहीं रहती?"

मौलवी महाशय ने एक न मानी; किसी की न सुनी। वे यही पुराना

तराना गाते रहे कि "संवाद में लिखकर बोलना अनुचित है।" उनकी इसी बात पर तान टूटी कि सर्वसाधारण के सामने संवाद न करना चाहिए। इस प्रकार मौलवी महाशय की टालमटोल से मेरठ में भी संवाद न हो सका, परन्तु वैदिक धर्म्म की सचाई का सिक्का लोगों के हृदयों पर बैठ गया।

मेरठ में धर्म्म-प्रचार करने के पश्चात् स्वामी जी अलीगढ़ आये। यहाँ उनके परम भक्त ठाकुर मुकुन्दसिंह जी और भूपालसिंह जी आकर उन्हें छलेसर ले गये। उन दिनों में स्वामी जी का स्वास्थ्य अच्छा न था इसलिए वे वार्त्तालाप द्वारा ही सत्सङ्गियों को निहाल करते रहे। श्रीयुत इन्द्रमन जी स्वामी जी के दर्शनार्थ छलेसर आये। उन्होंने स्वामी जी से मुरादाबाद पधारने की प्रार्थना की। एक मास से अधिक ही छलेसर में निवास करने के उपरान्त ३ जुलाई १८७९ को स्वामी जी मुरादाबाद को प्रस्थान कर गये।

मुरादावाद में महाराज का निवास राजा जयकृष्ण जी के बंगले में हुआ। उनका स्वास्थ्य अभी तक, पूर्ववत् नीरोग न हुआ था इसलिए इस बार उनके तीन व्याख्यान ही हा सके।

स्वामी जी जहाँ अद्वितीय दार्शनिक थे, परम योगी थे, धर्म्म के मर्म के अतुल्य ज्ञाता थे, अपने समय के असमान सुधारक थे और भारत भर में एक ही विख्यात वक्ता थे, वहाँ वे राजनीति और राज-धर्म्म के भी एक धुरन्धर पण्डित थे। महाराज का समय, राज-तन्त्र-शास्त्र और दमन-नीति के यौवन का युग था। निर्भय परिव्राजकाचार्य्य समयानुसार तीव्र समालोचना और टीका-टिप्पणी भी किया करते थे। परन्तु उनके कथन इतने दार्शनिक, इतने निर्मल और इतने व्यापी होते थे कि उन्हें सुनकर राज-कर्म्मचारी भी प्रसन्नता प्रकाशित करते थे।

मुरादाबाद के कलेक्टर स्पेडिङ्ग महाशय ने एक दिन श्री-सेवा में निवेदन किया कि आप राष्ट्र-नीति पर एक व्याख्यान देना स्वीकार कीजिए। उसका सारा प्रबन्ध मैं आप करूँगा। महाराज ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। कलेक्टर महाशय ने छावनी में व्याख्यान का प्रबन्ध किया और लोगों के प्रवेश के लिए टिकट वितरण कर दिये। नगर के सज्जनों और सब आर्य्य जनों को टिकट मिल गये। नियत समय पर महाराज ने भारतीय और यूरोपियन सज्जनों को सम्बोधन करते हुए राष्ट्र-नीति के उदात्त सिद्धान्तों

का निरूपण किया। शासकों और शासितों के सम्बन्ध बताये, शासन-नीति के पक्षपात आदि दोषों का वर्णन किया। उनका यह व्याख्यान, कई घण्टों तक होता रहा और देशी-विदेशी सभी दत्तचित्त होकर सुनते रहे। समाप्ति पर स्पेडिङ्ग महाशय ने खड़े होकर धन्यवादपूर्वक स्वामी जी की प्रशंसा की और कहा—"महाराज ने जो कुछ वर्णन किया है वह सर्वथा सत्य है। यदि इस नीति के अनुसार राजा-प्रजा के सम्बन्ध होते तो जो कष्ट हलचल में उठाने पड़े हैं वे कभी सामने न आते।"

उसी स्थान में, कालीप्रसन्न नामक एक वकील स्वामी जी के निकट बैठा, अंग्रेजी में बात-चीत कर रहा था। उन्होंने उसे कहा—"महाशय! अपनी भाषा में वार्त्तालाप करना ही उत्तम है। स्वदेशियों में बैठकर विदेशी भाषा में बोलने लग जाना, भला प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत ऐसा करना भद्दा लगता है और इससे घमण्ड भी प्रकट होता है। यदि छिपाकर बात करने का प्रयोजन हो तो भी ठीक नहीं। यहाँ अंग्रेजी समझने वाले अनेक बैठे हैं। किसी से छिपाकर काना-फूसी करना धर्म्म विरुद्ध, चोर कर्म है।"

स्वामी जी में हठ नहीं था। वे अति कोमल और सरल थे। यदि कोई साधारण जन भी उन्हें नीति-न्याय की कोई बात कहता तो वे तत्काल मान लेते। एक दिन, महाराज के पास एक पण्डित आया और संस्कृत में वार्त्तालाप करने लगा। दैवयोग से उनके मुख से एक अशुद्ध शब्द निकल गया। उस पण्डित ने उसी समय उन्हें कहा कि 'आपसे यह अशुद्धि हुई है'। स्वामी जी ने मान लिया कि "हाँ मुझसे भूल हो गई है।" थोड़ी देर के पश्चात् जब स्वामी जी के एक-दो प्रेमी वहाँ आ गये तो उस पण्डित ने फिर कहा—"स्वामी जी! आज मैंने आपकी एक अशुद्धि पकड़ी थी।" उन्होने उत्तर दिया कि "ठीक आपने आज मेरी भूल निकाली है और मैंने उसे स्वीकार कर लिया है।" परन्तु वह पण्डित महाशय तो सोंठ की एक गाँठ पाकर पूरा पंसारी बन बैठा था। लगा बार-बार आलापने कि आज मैंने आपकी एक भूल पकड़ ली है! महाराज ने जब देखा कि यह सिर ही चढ़ा जाता है तो उसे कहा—"तुम परले सिरे के सिड़ी मनुष्य हो। मेरी सरलता से लाभ उठाकर वक्र-चाल चलने लग गये हो। अशुद्ध शब्द पर हठ करना अधर्म्म है। मैं ऐसा हठ कदापि नहीं करूंगा, परन्तु तुम में ऐसी सामर्थ्य कहाँ कि उसे

अशुद्ध सिद्ध कर सको। इस बाल-लीला में क्या पड़ा है ? यदि कुछ पूछना चाहते हो तो कोई धर्म्म-कर्म्म की बात पूछो।" इससे वह पण्डित अतीव लज्जित हुआ।

श्रावण सुदी १ संवत् १९३६ को दुबारा आर्य्यसमाज की स्थापना करना नियत हुआ। राजा जयकृष्ण के बङ्गले पर हवन-सामग्री मंगाई गई। यज्ञ के अनन्तर बाँटने को मोहन-भोग भी आ गया। परन्तु ठीक समय पर वर्षा होने लगी। जब वृष्टि थमने में ही न आई तो स्वामी जी के आदेश से एक कमरे में हवन-यज्ञ करके समाज की शुभ स्थापना की गई और सब उपस्थित सज्जनों को मोहन-भोग वितरण किया गया।

श्री इन्द्रमन जी ने स्वामी जी से निवेदन किया—"आप परस्पर 'नमस्ते' कहने का आदेश करते हैं परन्तु हमने पहले 'जयगोपाल' शब्द चलाया था और फिर 'परमात्मा जीते' कहना आरम्भ कर दिया। पहले शब्दों पर ही लोगों ने बहुतेरे कटाक्ष किये थे अब यदि नया 'नमस्ते' शब्द चलाया तो लोग हमारी खिल्ली उड़ाने लग जायंगे। वैसे भी देखें तो मेल-मिलाप में 'परमात्मा जीते' ऐसा कहना बहुत ही उचित है। छोटा तो बड़े को 'नमस्ते' करता अच्छा लगता है, परन्तु पिता पुत्र को, स्वामी नौकर को और राजा अपने एक चपरासी को 'नमस्ते' कहे यह बात शोभा नहीं देती।" स्वामीजी ने कहा—"इन्द्रमन जी! अभिमानी पुरुष बड़ा नहीं होता! बड़ा वही है जिसने अपने अहङ्कार को जीता! जो वास्तव में बड़े हैं वे अपने बड़प्पन को आप प्रकट नहीं किया करते। हमारे पूर्वजों में जितने भी ऋषि-महर्षि और राजे-महाराजे हुए हैं उनमें से एक ने भी अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं बताई। 'नमस्ते' का अर्थ पाँव पकड़ना नहीं है, इसका अर्थ है सम्मान-सत्कार। सभी ऊँच-नीच और छोटे-बड़े, मेल-मिलाप में सम्मान-सत्कार के भागी हैं। सर्वत्र होता भी ऐसे ही है। अच्छा, आप ही अपने अन्तःकरण से कहें कि जब कोई मनुष्य आपके आवास पर आता है तो उस समय आपके हृदय में क्या भाव उत्पन्न होता है ?"

इन्द्रमन जी इस पर मौन साध रहे। तब स्वामीजी ने फिर कहा—"महाशय! इस बात को सभी जान जाते हैं कि जब कोई पूज्य और प्रतिष्ठित मनुष्य घर पर आता है तो उसे देखकर अभ्युत्थान और झुककर सम्मान देने

को जी चाहता है। पुत्र से प्यार करने का भाव उत्पन्न होता है। नौकर-चाकरों को अन्न-जल और आइए, बैठिए आदि शब्दों से सत्कृत करने की हृदय प्रेरणा करता है। ऊपर कहे सारे भावों का प्रकाश 'नमस्ते' से तो हो जाता है परन्तु उस समय परमेश्वर का नाम लेना असङ्गत है, आत्मगत भावों के विपरीत है। जो भाव भीतर हो उसी को बाहर करना शोभा देता है। पुरातन काल में आर्य्य लोग 'नमस्ते' ही कहा करते थे। यह शब्द वेदों में भी अनेक बार आया है। आर्य जनों में इसी का प्रचार होना चाहिए।"

कायमगंज के निवासी, श्रीरामलालजी वर्षा ऋतु के कष्ट झेलते हुए, मुरादाबाद में इसलिए आकर ठहरे थे कि स्वामीजी से यज्ञोपवीत धारण करें। वे महाशय इन्द्रमन जी के पास टिके हुए थे। एक दिन इन्द्रमनजी ने रामलाल जी को साथ ले जाकर महाराज की सेवा में विनय की—"भगवन्! यह महाशय बड़े श्रद्धालु भक्त हैं। आप से धर्म्म-दीक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। इसी लगन में कड़े कष्ट सहते यहाँ आये हैं।" महाराज ने रामलाल के धर्म्म-भाव और दृढ़ धारणा को देखकर, शुभ समय पर विधिपूर्वक, उसे यज्ञोपवीत प्रदान किया। गायत्री का उपदेश करके शुभ शिक्षा दी। जब उसने गायत्री का शुद्ध उच्चारण स्वामीजी को सुनाया तो उन्होंने बड़े वत्सल भाव से उसे आशीर्वचन दिया। अपना परम पुनीत हाथ उसकी पीठ पर प्रेम से फेरते हुए कहा—"वत्स! हमारा शरीर बहुत देर तक नहीं रहेगा। आप आजीवन हमारी पुस्तकों से उपदेश लेते रहना। जहाँ तक बन पड़े अपने भूले-भटके भाइयों को भी सन्मार्ग दिखलाते रहना।"

महाशय रामलाल ने गुरुदेव के उपदेशामृत को सिर-आँखों पर स्वीकार किया, अन्तःकरण में बसा लिया। रामलाल जी दस दिन पर्यन्त श्री चरण-शरण में सत्सङ्ग लाभ करते रहे। एक दिन उन्होंने बद्धाञ्जलि होकर विनय की—"भगवन्! आपके आरोग्य पर कोई आघात हुआ जान पड़ता है।" महाराज ने कहा—"इस देह को कई बार विकट तथा विषम विष दिया गया है। ऐसे कालकूट विषों को, कितना ही योग-क्रियाओं से वमन तथा वस्ति-कर्म्म द्वारा, निकाल दिया जाय परन्तु रक्त में मिश्रित हुआ हलाहल विष सर्वांश में नहीं निकलता। उसका प्रभाव कुछ न कुछ बना ही रहता है।

यही कारण है जो मेरे स्वास्थ्य की आधार-शिला हिल गई है। यदि मुझ पर ऐसे भीषण विष-प्रयोग न किये जाते तो इस शरीर पर शिथिलता का चिह्न, एक शताब्दी में तो कदापि न दीख पड़ता और न ही इतनी देर तक जरा-रोग इसके पास फटकने पाता।"

रामलाल जी ने फिर प्रार्थना की—"गुरुदेव ! जब आप, अपने जनों को नैराश्यनिशा दिखाने वाला शब्द कहने लग गये है तो आप ऐसे सुयोग्य शिष्य क्यों नहीं बनाते जो नौका के निपुण नाविक बन सकें, जो सर्वस्व स्वाहा करके भी आपके उद्देश्य की पालना करें ?"

महाराज ने गम्भीर भाव से कहा—"वत्स ! मैंने पहले-पहल पाठशालायें चलाकर अनेक पण्डित शिष्य बनाये। वे लोग मेरे सम्मुख तो बहुतेरी विनय-अनुनय प्रदर्शित करते परन्तु मुझ से पृथक् होकर वैसे के वैसे पौराणिक बने रहते। कई एक तो मेरे प्रतिकूल अपनी चालों का ताना-बाना तनने लगे जाते। अब तो मुझे निश्चय हो गया कि इस जन्म में, मुझे सुयोग्य शिष्य नहीं मिलेगा। इसका प्रबल कारण भी है। मैं तीव्र वैराग्य-वश, यौवन-काल ही में अपने पूज्य माता-पितादि परिवार-परिजन का परित्याग कर मृत्यु को जीतने के लिए योगाभ्यास करता रहा हूँ। मैंने घर छोड़ते समय माता की ममता का कोई ध्यान नहीं किया। पितृ-ऋण भी नहीं उतारा। ये ऐसे कर्म हैं जो मुझे सुयोग्य शिष्य मिलने के मार्ग में प्रबल प्रतिबन्धक हैं। परन्तु निराशा की कोई बात नहीं है। आर्य्य-समाज में ऐसे जन अवश्य प्रकट होंगे, जो मेरे परम लक्ष्य की पूर्णता मे पालना करेंगे।"

: १० :

पादरी स्काट से संवाद

मुरादाबाद में धर्म्म-प्रचार करने के उपरान्त श्री स्वामीजी श्रावण सुदी १३ सवत् १९३६ को बदायूँ में सुशोभित हुए और साहू गंगाराम के उद्यान में ठहरे। यहाँ उनके दो-तीन प्रभावशाली उपदेश हुए। लोगों ने सत्संग का भी बहुत लाभ लूटा।

बदायूँ के मुसलमानों ने संवाद करने के लिये मौलवी मुहम्मद कासिम को बहुतेरा बुलाया परन्तु वे अन्तिम दिन तक न आये। कुछ एक पौराणिक

पण्डित स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और अपने प्रश्नों का यथायोग्य उत्तर पाकर चले गये।

रक्षा-बन्धन के दिन बहुत से तरुण और वृद्ध रक्षा बाँधने के लिये स्वामी जी के निकट आये। महाराज ने मुस्करा कर कहा कि आप लोग अपनी देश-रीति तक भूल गये हैं। पूर्वकाल में बूढ़े रक्षा बाँधे नहीं फिरते थे। उस समय, इस पर्व के दिन सब विद्यार्थियों के हाथ में, राजा की ओर से रखड़ी बाँधी जाती थी। उससे यह सूचित किया जाता था कि इनकी रक्षा करना राजा-प्रजा दोनों का कर्त्तव्य है।

एक वैद्य ने अपने एक साथी को स्वामीजी के सामने करके कहा कि महाराज! इसमें चिरकाल से भूतावेश है। स्वामीजी ने हँसकर कहा कि आप वैद्य होकर भी ऐसे भ्रमजाल में फँसे पड़े हैं। भूत तो बीते हुए समय का नाम है। यह कोई योनि-विशेष नहीं है। आयुर्वेद में ऐसे अनेक रोग वर्णन किये गये हैं, जिनमें रोगी की उन्मत्त दशा हो जाती है। स्वामीजी ने उसे औषध-प्रदान किया और कहा कि यदि अनुपान और पथ्यपूर्वक इसका यथा-विधि सेवन करोगे तो इस व्याधि का उपशमन हो जायगा।

बदायूँ-वासियों को उपदेशामृत पान कराकर श्री महाराज भाद्रपद वदी द्वादशी संवत् १९३६ को बरेली आये और बेगम उद्यान में लाला लक्ष्मी-नारायण की कोठी में विराजमान हुए। वहाँ उनके कई दिन तक अति प्रभावजनक व्याख्यान हुए। उसमें पादरी महाशय और उच्च राजकर्मचारी सभी सम्मिलित होते थे।

स्वामीजी अपने प्रण-पालन पर बड़ा ध्यान दिया करते। एक शनिवार को लोगों ने कहा––"महाराज! कल छुट्टी का दिन है। इसलिये, नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान आरम्भ कीजियेगा। उन्होंने उत्तर में कहा––"मैं नगर से डेढ़ कोस के अन्तर पर ठहरा हुआ हूँ, यदि गाड़ी समय पर पहुँच गई तो समय पर अवश्य आ जाऊँगा।" लाला लक्ष्मीनारायण ने निवेदन किया कि गाड़ी का प्रबन्ध, मैं कर दूँगा। अगले दिन, लोग तो समय पर पहुँच गये, परन्तु स्वामीजी पौन घण्टा पीछे, सार्वजनिक भवन में प्रविष्ट हुए। व्याख्यान के आदि में उन्होंने कहा––"मैं समय पर समुद्यत था, परन्तु गाड़ी नहीं पहुँच सकी। अन्त में पैदल चलकर आ रहा था कि

मार्ग में गाड़ी मिली। समय अतिक्रम करने में मेरा दोष नहीं, किन्तु बच्चों के बच्चों का है, अर्थात् बाल-विवाह की सन्तान में ऐसी निर्बलता का होना आश्चर्य नहीं है।"

एक दिन महाराज पुराणों की कथाओं की समालोचना करते हुए कहने लगे कि इन ग्रन्थों के कर्त्ताओं ने कुन्ती आदि कन्याओं पर कितने कपोलकल्पित कलङ्क मढ़े हैं! तारा और दामोदरी पर कैसे मिथ्या आरोप किये हैं। स्वामीजी के कथन में उपहास-रस इतना रहता था कि व्याख्यान चाहे जितना लम्बा हो, किसी को खलता न था। किसी का भी जी ऊबता न था। कभी-कभी तो सारा सभा-समुद्र हँसी से झकझोरा खाने लग जाता था। पुराणों की समालोचना पर पादरी महाशय, कलेक्टर और कमिश्नर महाशय तथा अन्य योरुपीय सज्जन जी खोलकर हंसते रहे। थोड़ी देर ही में स्वामीजी ने कहा—"यह तो पौराणिकों की लीला, अब किरानियों की सुनिये। ये लोग ऐसे हैं कि कुमारी के पुत्र होना बताते हैं और उसका दोष सर्वज्ञ शुद्ध-स्वरूप परमेश्वर पर लगाते हैं। यह घोर कर्म करते, ये लोग तनिक भी लज्जित नहीं होते।" यह सुनकर कमिश्नर महाशय का चेहरा कोपावेश से तमतमा उठा। स्वामीजी उसी वेग में व्याख्यान देते चले गये और अन्त तक ईसाई मत पर ही बोलते रहे।

अगले दिन कमिश्नर महोदय ने लाला लक्ष्मीनारायण को बुलाकर कहा—"आप पण्डितजी को कह दीजिए कि अधिक कठोर खण्डन से काम न लिया करें। हम ईसाई लोग तो सभ्य और सुशिक्षित हैं, वाद-प्रतिवाद में नहीं घबराते। परन्तु यदि हिन्दू-मुसलमान उत्तेजित हो गये तो उनके व्याख्यान बन्द हो जायेंगे।"

श्री लक्ष्मीनारायण, स्वामीजी तक यह समाचार पहुँचा देने का वचन देकर कमिश्नर महाशय से विदा हो आये परन्तु इस समाचार को स्वामीजी की सेवा में पहुँचाए कौन इसका उत्तर उन्हें नहीं सूझता था। आप तो वे क्या ही साहस कर सकते थे, परन्तु अपने मित्रों में से भी जिस किसी को कहते, वह कानों पर हाथ धर लेता। अन्त में एक नास्तिक ने बीड़ा उठाया कि चलिए, मैं स्वामीजी को सब कुछ कह दूंगा। श्री लक्ष्मीनारायण उस मनुष्य और कुछ अन्य सज्जनों-सहित श्री-सेवा में उपस्थित हुए। उस नास्तिक

पर महाराज की तेजोमयी मूर्त्ति का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बड़ी कठिनता से इतने ही शब्द कह सका—"कमिश्नर महाशय ने लाला महाशय को बुलाया था, इसलिए ये कुछ निवेदन करना चाहते हैं।"

लाला महाशय ने जब देखा कि घूम-घामकर विपत्ति उन्हीं के सिर पर आ पड़ी है तो वे बहुत घबराये। कितने ही पलों तक वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने रहे। अन्त में खाँसते-खखारते वे रुक-रुककर बोले—"महाराज ! यदि नर्मी से काम लिया जाय तो बहुत अच्छा है। इससे जनता पर प्रभाव भी बहुत अच्छा पड़ेगा और अंग्रेज भी प्रसन्न रहेंगे।" यह सुनकर स्वामीजी हँस पड़े और कहने लगे—"इतनी सी बात पर ही आप गिड़गिड़ा रहे हैं। इसी के लिए ही आपने हमारा इतना समय नष्ट किया है। कमिश्नर महाशय ने यही कहा है न कि आपका पण्डित बड़ा खण्डन करता है। उसके व्याख्यान बन्द हो जायंगे। भाई ! मैं कोई हौआ तो नहीं था जिससे आप इतना डरते रहे। सरलता से, यही बात सुनाने में झिझकते क्यों रहे हो ?"

इस समय एक विश्वासी जन बोल उठा—"स्वामीजी तो सिद्ध पुरुष हैं, मन की जान लेते हैं।"

अगले दिन का व्याख्यान आत्मा के स्वरूप पर था। जब स्वामीजी नागरिक भवन में पधारे तो वह श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। पादरी स्काट महाशय को छोड़कर, पहले दिन वाले अन्य सभी योरुपीय सज्जन उपस्थित थे। महाराज ने व्याख्यान में आत्मा के गुणों को वर्णन करते हुए सत्य पर कहना आरम्भ कर दिया। उन्होंने गम्भीर गर्जना से कहा, "लोग कहते हैं कि सत्य का प्रकाश न कीजिए, क्योंकि कलेक्टर कुपित हो जायगा, कमिश्नर प्रसन्न नहीं रहेगा, गवर्नर पीड़ा पहुँचायगा। अजी ! चाहे चक्रवर्ती राजा भी अप्रसन्न क्यों न हो जाय, हम तो सत्य ही कहेंगे।" इसके पश्चात् महाराज ने कुछ उपनिषद्वाक्य बोलकर कहा—"आत्मा सत्य है। उसकी सत्ता को न कोई शस्त्र छेदन कर सकता है और न अग्नि जला सकती है। वह एक अजर, अमर और अविनाशी पदार्थ है। शरीर तो अवश्यमेव नाशवान् है, जिसका जी चाहे इसका नाश कर दे परन्तु हम देह की रक्षा के लिए सनातन धर्म्म को नहीं त्यागेंगे। सत्य को नहीं छोड़ेंगे।" फिर वे अपने दोनों उद्दीप्त नेत्रों की ज्योति का चारों ओर संचार करके बोले—"वह

शूरवीर पुरुष मुझे दिखाइए, जो मेरे अन्तरात्मा को भिन्न-छिन्न करने का घमण्ड करता हो। जब तक ऐसा पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता, दयानन्द के लिए सत्य में सन्देह करना स्वप्न में भी असम्भव है।" भगवान् के सिंह-नाद से सारा भवन निनादित हो गया। सब ओर से उन्हीं के शब्द प्रतिध्वनित होने लगे। सारी सभा पर सन्नाटा छा रहा था। महाराज ने भाषण समाप्त भी कर दिया, परन्तु लोगों के कानों में उनका नाद गूंजता ही रहा।

पादरी स्काट के साथ महाराज की प्रीति थी। स्काट महाशय, अत्यादर से प्रतिदिन व्याख्यान में आते थे। वह पहला ही दिन था कि उनके निरन्तर आने में अन्तर पड़ा। स्वामीजी ने व्याख्यान के पश्चात् पूछा कि भक्त स्काट नहीं आये ? किसी ने उत्तर दिया कि आदित्यवार को उनका गिर्जा होता है, इसीलिए वे नहीं आ सके। भवन से बाहर आकर महाराज ने कहा कि चलो, आज भक्त स्काट का गिर्जा देख आयें। तीन-चार सौ मनुष्यों के साथ स्वामी जी गिर्जे में पहुँचे। स्वामीजी को आते देख स्काट महाशय तत्काल वेदी पर से नीचे उतर आये और प्रार्थना-पूर्वक महाराज को वेदी पर ले जाकर उपदेश के लिए विनय की। उनके आग्रह पर स्वामीजी ने वहाँ कोई एक घड़ी पर्यन्त उपदेश दिया और मनुष्यों को ईश्वर न मानने में दोष दिखाये। लोगों ने उनके भाषण को एकाग्रचित्त होकर श्रवण किया।

बरेली में स्वामीजी के साथ स्काट महाशय का सवाद भी हुआ। यह संवाद संवत् १९३६ की भाद्रपद सुदी ७ से ९ तक बरेली पुस्तकालय में लाला लक्ष्मीनारायण के सभापतित्व में हुआ। उत्तर-प्रत्युत्तर लिख कर सुनाये जाते थे। इसमें तीन लेखक थे—एक स्वामीजी के पास, दूसरा पादरी महाशय के निकट और तीसरा सभापति के पास। प्रत्येक प्रति पर तीनों के हस्ताक्षर होते थे। इस सवाद का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

भाद्रपद सुदी ७ संवत् १९३६ को पुनर्जन्म पर व्याख्यान आरम्भ करते हुए स्वामीजी ने कहा—"जीव और जीव के स्वाभाविक गुण, कर्म और स्वभाव अनादि हैं। न्यायादि परमेश्वर के गुण भी अनादि हैं। जो मनुष्य जीव के गुणों की उत्पत्ति मानता है उसे उनका नाश भी मानना पड़ेगा। कारण के बिना कार्य का होना असम्भव है, इसलिए उसे सिद्ध करना होगा कि सत्य का कारण क्या है। जीव के शुभाशुभ कर्म प्रवाह से अनादि हैं।

उनका यथावत् फल देना ईश्वराधीन है। स्थूल और कारण शरीर के विना जीव सुख-दुःख का भोग नहीं कर सकता। इसलिए उसका बार-बार देह-धारण करना आवश्यक है। प्रत्येक शरीर में क्रियावान् होने के कारण, जीव नये-नये क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध कर्म उत्पन्न करता रहता है। दिन और तिथि के बार-बार लौट आने से भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि सृष्टि में फिर-फिर आने का नियम विद्यमान है।" इस पर पादरी महाशय ने कहा—'पुन-र्जन्म का सिद्धान्त है तो पुरातन, परन्तु अब लिखी-पढ़ी जातियाँ इसे छोड़ती चली जाती हैं। यह विचार अब मिट रहा है। मैं स्वामीजी से पूछता हूं कि क्या ईश्वरीय आत्मा के बिना अन्य आत्मायें भी अनादि हैं? वे आत्मायें कभी जन्म के चक्र से पार भी होंगी? क्या पुनर्जन्म दण्ड भोगने के लिए ही है? परमेश्वर सदा सगुण ही रहता है अथवा कभी निर्गुण भी होता है? पुनर्जन्म लेना उसी के नियम पर निर्भर करता है अथवा किसी अन्य नियम पर?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"जीव, ईश्वर और प्रकृति ये तीन अनादि पदार्थ हैं। जीव पुनर्जन्म से कभी निवृत्त न होंगे। जन्म का होना दुःख-सुख दोनों के लिए है। ईश्वर सदा ही सगुण और निर्गुण है। कोई जीव जैसा पुण्य-पाप करता है उसे वह वैसा ही, अपने अटल न्याय से फल प्रदान करता है।" पादरी महाशय ने कहा कि—"इस पुरानी शिक्षा को सुधरी हुई जातियाँ छोड़ती चली जाती हैं।" इस पर स्वामीजी ने कहा—"मैं पूछता हूँ कि क्या नवीन शिक्षा सर्वांश में सत्य है? क्या पुरानी शिक्षा मानने के योग्य नहीं है तो बाईबल की शिक्षा भी तो आज की अपेक्षा पुरानी है तब तो यह भी आपको छोड़नी पड़ेगी।"

पुनर्जन्म पर उत्तर-प्रत्युत्तर होकर यह विषय समाप्त किया गया और अगले दिन भाद्रपद शुक्ला ८ को पादरी महाशय ने 'ईश्वर देह धारण करता है' के विषय पर संवाद आरम्भ किया। उन्होंने कहा—"आज का प्रश्न यह है कि परमेश्वर देह धारण करता है अथवा नहीं? मनुष्य को चाहिए कि इस विषय पर सोच-विचार कर बात-चीत करे। अहंकार से काम न ले। हम इसके ज्ञान और सामर्थ्य को कुछ भी नहीं जानते। यदि जानते भी हैं तो बहुत स्वल्प जानते हैं। आज के प्रश्न के दो भाग हैं—एक तो यह कि क्या

ईश्वर देह धारण कर सकता है ? और दूसरे यह कि क्या कभी ऐसा हुआ भी है ? मनुष्य के और परमात्मा के आत्मा में बहुत से गुणों में समानता है। इनके दयादि गुण आपस में मिलते हैं। इस अवस्था में, जब हम देह धारण करते हैं तो ईश्वर क्यों न देह धारण करेगा ?"

इस पर स्वामीजी ने समालोचना की—"पादरी महाशय ने जब यह कह दिया कि हम ईश्वर-विषय में कुछ नहीं जानते और यदि जानते भी हैं तो अति स्वल्प, तो फिर पादरी महाशय को कुछ कहने का अधिकार नहीं रहा। पादरी महाशय ने कहा—कि ईश्वर देह धारण कर सकता है। मैं पूछता हूँ, उसे ऐसा करने की क्या आवश्यकता है ? दूसरे उसकी इच्छा का कोई नियम है या नहीं ? तीसरे वह निराकार है अथवा साकार ? चौथे वह सर्वव्यापी है या एकदेशी ? जीव और ईश्वर के दयादि गुण क्या पूर्णता से मिलते हैं ? यदि गुणों से दोनों बराबर हैं तो दोनों परमेश्वर सिद्ध हुए। ईश्वर जब देह धारण करता है तो वह अखिल स्वरूप से देह में आता है अथवा अंश-अंश होकर ? यदि अंश का आना मानते हो तो परमात्मा नाशवान् सिद्ध हो जायगा। यदि यह मानो कि परमात्मा अपने सकल स्वरूप से शरीर में प्रवेश करता है तो वह शरीर से छोटा सिद्ध हुआ। अल्प-काय महान् ईश्वर नहीं हो सकता। देहधारी हो जाने से ईश्वर और जीव दोनों समान हो जाते हैं। दोनों में कुछ भी भिन्न भेद न रहने से उसमें से एक को ईश्वर मान लेना, सर्वथा अयुक्त है।

यदि ईश्वर एकदेशी है तो वह एक स्थान में रहता है अथवा सर्वत्र घूमता-फिरता है ? यदि उसे एक स्थान में स्थित माना जाय तो उसे सर्वत्र का ज्ञान नहीं हो सकता। उसका घूमते रहना मानना भी दोषयुक्त है। फिर उसका अटक जाना और दूसरे पदार्थों से टकराकर आघात-प्रत्याघात का सहन करना भी मानना पड़ेगा।

परमात्मा सृष्टि की रचना निराकार स्वरूप से करता है अथवा साकार से? निराकार स्वरूप से रचना मानना तो ठीक है, परन्तु यदि साकार स्वरूप से आप सृष्टि की रचना मानते हैं तो यह युक्ति-संगत नहीं है। साकार ईश्वर से सृष्टि का रचा जाना सर्वथा असम्भव है। जब त्रसरेणु ही साकार की पकड़ में नहीं आते तो वह साकार ईश्वर, सृष्टि के कारण रूप, परमाणुओं को कैसे वशीभूत कर सकेगा ?"

वाद-प्रतिवाद हो जाने के अनन्तर यह विषय समाप्त हो गया। फिर भाद्रपद शुक्ला नवमी को 'ईश्वर पाप क्षमा भी करता है' इस विषय पर संवाद आरम्भ हुआ। पादरी महाशय ने पूर्वपक्ष स्थापन करते हुए कहा—"मेरी यह प्रतिज्ञा नहीं है कि ईश्वर दण्ड नहीं देता। वह दण्ड तो अवश्य देता है, परन्तु देता है समयानुसार और उचित रीति से। वह मनुष्य की भलाई के लिए पाप क्षमा भी कर देता है। जब वह पूर्ण है, सगुण है और चेतन है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें देखता है और हमारी चिन्ता भी करता है। ईश्वर की और हमारी समानता अवश्य है। बहुधा जीव और ईश्वर के गुण मिलते हैं। इससे हमें समझना चाहिए कि ईश्वर के साथ भी हमारा वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा हमारे सम्बन्धियों के साथ। वेद आदि सभी धार्मिक ग्रन्थ ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध राजा-प्रजा और पिता-पुत्र का वर्णन करते हैं। उनके इस कथन में, अवश्यमेव यह बात समाई हुई है कि परमात्मा भी राजा और माता-पिता के तुल्य ही वर्त्ताव करता है। यद्यपि राजा और माता-पिता दण्ड देते हैं परन्तु उनका इसमें यही आशये होता है कि ये लोग सुधर जायें। यदि वे समझें कि सुधार क्षमा से हो सकता है तो वे क्षमा भी कर देते हैं।"

स्वामीजी ने पादरी महाशय के पक्ष का प्रतिवाद करते हुए कहा—"इनका यह कथन कि परमेश्वर क्षमा कर देता है और दण्ड भी अवश्य देता है, परस्पर विरुद्ध है। क्या वह आधे कर्मों के लिए दण्ड देता और आधे कर्म क्षमा करदेता है, अथवा कुछ न्यूनाधिक। जैसे हममें ज्ञान और न्याय आदि गुण हैं: क्या वैसेही ईश्वर में हैं?

मैं मानता हूँ कि ईश्वर के साथ हमारा राजा और पिता के समान सम्बन्ध है, परन्तु वह अन्याय के लिए नहीं है। ईश्वर में अन्याय नहीं है, इसलिए वेदादि शास्त्रों में पाप का क्षमा करना नहीं कहा। ईश्वर पाप क्षमा कर देता है यह मानने से वह पाप का बढ़ाने वाला सिद्ध हो जाता है। क्षमा की आड़ में पापी जन पाप-कर्म करने में उत्साहित हो जाते हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है। इसलिए उसके कर्मों में भूल और भ्रांति नहीं होती। वह अपने स्वभाव से उलटा कार्य्य भी नहीं करता। न्याय उसका स्वाभाविक गुण है। इससे उलटा कर्म क्षमा कर देना—भला वह कब करने लगा? परमात्मा

दयालु ठीक है, परन्तु उसका न्याय और दया एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। यदि एक डाकू को क्षमा कर दिया जाय तो यह कर्म दया में नहीं गिना जायगा। वह सहस्रों मनुष्यों की हत्या करने वाला दस्यु, क्षमा-प्राप्ति के अनन्तर चौगुने साहस से भ्रूण-हत्या तक करने लगेगा। ईश्वर की दया का जो अर्थ पादरी महाशय ने समझा है वह यथार्थ नहीं।"

इस विषय पर उत्तर-प्रत्युत्तर सविस्तार होते रहे और अन्त में बड़ी शांति से संवाद समाप्त हुआ।

जिन दिनों में महाराज बरेली में धर्म्म-प्रचार कर रहे थे उन्हीं दिनों महात्मा मुन्शीराम जी के पिता वहाँ नगर के कोतवाल थे। महात्माजी भी अपने पिता के पास ही आये हुए थे। उस समय वे राजकीय महाविद्यालय में अध्ययन करते थे। ईश्वर और वेद में उनका विश्वास न था। धर्म्म-कर्म्म में भी उनकी धारणा न थी।

महात्माजी के पिता पुराण-धर्म्म में बड़े निष्ठावान् थे। प्रतिदिन तीन घण्टे तक पूजा-पाठ में परायण रहते। उन्होंने स्वामीजी का पहला व्याख्यान श्रवण किया और घर पर आकर अपने पुत्र से कहा "मुन्शीराम! यहाँ एक दण्डी स्वामी आये हैं। बड़े विद्वान् और योगीराज हैं। उनके उपदेश सुनने से तुम्हारे सारे संशय अवश्य दूर हो जायँगे।" पुत्र ने विनीत भाव से पिता के सम्मुख निवेदन किया कि बहुत अच्छा, कल मैं आपके साथ अवश्य चलूँगा। परन्तु उनके मन में यही धारणा बनी रही कि वह संस्कृत-मात्र जानने वाला साधु कोई बुद्धि की बात क्या बता सकेगा। आगामी दिन जब सत्संग में गये तो महाराज के दर्शन से ही वे प्रभावित हो गए। स्काट महाशय आदि योरुपीय सज्जनों के हृदय में स्वामीजी का महत्व देख, उनमें और भी लगन बढ़ी। परन्तु जब पाव घड़ी पर्यन्त उपदेश सुन लिया तो महात्मा मुन्शीराम की विचार-परम्परा में बड़ा भारी पलटा आ गया। वे भगवान् के यौक्तिक कथनों पर आश्चर्यचकित हो गए। दैव-योग से उस दिन उपदेश भी परमात्म-देव के "ओम्" नाम पर था। वह व्याख्यान उनके लिए अश्रुत-पूर्व था। इसलिए उनको अपार प्रसन्नता प्राप्त हुई। उस दिन से वे प्रायः श्री-उपदेशों को सुनते रहे।

अब महात्मा मुन्शीराम को यह धुन समाई कि महाराज की जीवनचर्य्या

को देखना चाहिए। इस लगन में मग्न वे पहली बार तो रात के ढाई बजे ही गाड़ी में बैठकर उस उद्यान के निकट जा पहुंचे, जहाँ महाराज का निवास था। कौपीन-मात्र धारण किए महामुनि उद्यान-द्वार से बाहर भ्रमणार्थ जाने लगे तो वे पीछे-पीछे हो लिये। महाराज की गति का वेग इतना तीव्र था कि महात्मा जी थोड़ी देर ही पीछे चलकर हाँपने लगे और गाड़ी में बैठ कर घर चले आये। परन्तु अगले दिन उनकी लगन की मात्रा इतनी बढ़ गई कि वे रात के बारह बजे उठ बैठे और उद्यान के समीप जा खड़े हुए। इस बार वे बहुत दूर तक उनके पीछे गए। वे महाराज को कुछ काल तक ध्याना-वस्थित भी अवलोकन कर सके।

महात्मा मुन्शीराम जी ने अपने तर्क-शक्ति के अभिमान में महाराज के साथ ईश्वर विषय में प्रश्न किए, परन्तु स्वामीजी की युक्तियों ने उन्हें दस पल में ही अवाक् बना दिया। महात्माजी ने तीन बार ये वाक्य दुहराए—"महाराज ! आपने मेरा मुँह तो बन्द कर दिया, परन्तु अभी तक मुझ में विश्वास का अंकुर उत्पन्न नहीं हुआ।" स्वामीजी ने उत्तर दिया– 'महाशय! आपकी युक्तियों का मैंने युक्तियों से खण्डन कर दिया है। विश्वास तो परमात्मा की कृपा से हुआ करता है।"

बरेली में विष्णुलाल नामक एक वकील निवास करते थे। उन्होंने पाश्चात्य पद्धति पर उच्चतम शिक्षा पाई थी। पदार्थ-विद्या और पाश्चात्य दर्शन के पूर्ण पण्डित माने जाते थे। आर्य्य-दर्शन को वे तुच्छ दृष्टि से देखा करते थे। एक दिन इष्टमित्रों के साथ वे श्री-सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने आर्यों के दार्शनिक विचारों पर हृदय खोलकर आक्षेप किए। अपनी ओर से उन्होंने पूर्वीय दर्शन की धज्जियाँ उड़ा दीं। परन्तु जब स्वामीजी के बोलने की वारी आई तो वकील महाशय को अपना निश्चय भारी भ्रम से भरा हुआ दीखने लगा। महाराज के दार्शनिक कौशल पर वह लट्टू हो गए। उन्होंने अपने मित्रों को कहा—"स्वामीजी पूर्वीय तथा पश्चिमीय, दोनों दर्शनों को जानते हैं। इनका तात्विक ज्ञान हम लोगों से बहुत बढ़ा-चढ़ा है।"

महाराज लोगों को सदाचार की अत्युत्तम शिक्षा दिया करते। पारि-वारिक जीवन को विशुद्ध बनाये रखने के लिए पतिव्रत और पत्नीव्रत धर्म का उपदेश देते। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर कई धनाढ्यों ने सुचिर

रक्षित वारांगनायें अपने भवनों से निकाल दीं। इस सत्यानाशी कुव्यसन के कीचड़ से अपने कुल को कलङ्कित न करने का उन्होंने पक्का प्रण धारण कर लिया।

महाशय लक्ष्मीनारायण ने एक वेश्या रखी हुई थी। इसका ज्ञान महाराज को भी हो गया। एक दिन लक्ष्मीनारायण जी उनके निकट आये तो महाराज ने पूछा—"लाला महाशय ! आपका वर्ण क्या है ?" उन्होंने उत्तर दिया—"महाराज, आप तो गुण-कर्मानुसार वर्ण मानते हैं, इसलिए मैं उत्तर दूँ तो क्या दूँ ?"

स्वामीजी ने कहा—"आपका जो वर्ण लोग कहते हैं वही बतलाइये।" लाला महाशय ने निवेदन किया कि "लोग तो मुझे क्षत्रिय कहते हैं।" तब महाराज ने गम्भीर भाव से कहा—"लाला महाशय ! आप हमारे यजमान हैं सही, परन्तु हम सत्य के कहने में कुछ भी संकोच नहीं करेंगे। भला यह तो बताइए कि क्षत्रिय से वेश्या में पुत्र उत्पन्न हो तो उसे आप क्या कहेंगे।"

महाराज के वचन सुनकर लाला महाशय के सिर पर घड़ों पानी पड़ गया। वे लज्जा के मारे भूमि ताकते लगे। भवन पर जाकर उन्होंने तत्काल वेश्या को निकाल दिया।

बरेली में बहुत दिनों तक व्याख्यान-वारि वर्षा करने के पश्चात् श्री स्वामीजी आश्विन वदी ४ संवत् १९३६ को शाहजहाँपुर पधारे। विज्ञापन द्वारा सबको विदित कर दिया कि धर्म के प्रेमी जन नियत समय पर आकर व्याख्यान श्रवण करें और लाभ उठावें। जिन को प्रश्न पूछने हों वे स्वामी जी के आसन पर जाकर अपनी शङ्काओं का समाधान करायें। शाहजहाँपुर में सत्य पर व्याख्यान देते हुए महाराज ने कहा, "संसार में अनेक मत फैल रहे हैं। पन्थाइयों पर विश्वास कर जिज्ञासु के लिए सत्य का जानना कठिन है। जिससे पूछो वही अपने पन्थ को सच्चा और दूसरों को झूठा वर्णन करता है।" इस पर महाराज ने दृष्टान्त दिया कि" एक जिज्ञासु किसी तत्त्वदर्शी पण्डित के पास जाकर कहने लगा कि 'महाराज ! मुझे वह सच्चा धर्म बताइए, जिसके आराधन से मेरा कल्याण हो, मुझे परम धाम की उपलब्धि हो।"

तत्त्वदर्शी महात्मा ने उसे कहा—'चलो आपको सद्धर्म्म का बोध करायें।' वे उसे एक मतवादी के पास ले गये। उन्होंने उस मतवादी से पूछा कि

'सत्य धर्म कौन सा है ?' उस पन्थाई पुरुष ने अपने मत की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की और दूसरे मतों की निन्दा में भूतलाकाश एक कर दिया। इस प्रकार वह जिज्ञासु सभी मतवादियों के निकट गया। सभी अपने उठने-बैठने की रीति को, अपनी उपासना की पद्धति को और अपने धर्म्म-मन्दिरों को 'धर्म्म' वर्णन करते रहे। प्रत्येक ने अपने ही तीर्थों का यशोगान किया। अपनी ही देव-मूर्त्तियों को उत्तम बताया। अपने ही धर्म्म-चिह्नों को, बहिरंग साधनों को और अपने महापुरुषों के वाक्यों को 'धर्म' प्रदर्शित किया और अपने से भिन्न मतों की प्रत्येक बात की भर पेट निन्दा की।

प्रत्येक मतवादी की नवीन धारणा, नवीन पद्धति, नूतन धर्म्म-चिह्न, नई मूर्त्तियां और भिन्न तीर्थ देख और सुनकर उस जिज्ञासु का जी घबरा उठा। मतवादियों के सघन निविड़ वन में फंसकर वह दिशा-मूढ़ हो गया। अन्त में वह तत्त्वदर्शी महात्मा की सेवा में उपस्थित होकर सच्चे धर्म्म की जिज्ञासा करने लगा। उस महात्मा ने जिज्ञासु को कहा सत्य वह है जिस पर सब की एक-सी साक्षी हो। जिस पर सौ में से निन्नानवें मनुष्यों की साक्षी समान होती है, न्यायाधीश उसी बात को सत्य मान लेता है और एक की साक्षी असत्य समझता है। इसी प्रकार धर्म के जिन कर्मों को सब मतवादी स्वीकार करें—उनमें कोई ननु-नच न करें--वही सच्चा धर्म्म है। उसी को मानो। किसी एक मत के आडम्बर में न फँसो। वह साधारण धर्म्म जिसमें कोई भी मत-धारी किन्तु-परन्तु नहीं कर सकता यह है--एक तो परमेश्वर का विश्वास और उसकी उपासना, दूसरे जैसा भाव और ज्ञान भीतर हो उसी का वाणी द्वारा प्रकाश करना और उसी के अनुसार आचरण करना, तीसरे जितेन्द्रिय रहना, चौथे किसी के अधिकार और वस्तु को न छीनना, पाँचवें निर्बलों और दीनों पर दया करना। यह साधारण धर्म्म ऐसा है कि इसमें किसी मतावलम्बी को नकार नहीं है। यह धर्म्म कल्याणकारी और मोक्ष-दाता है।"

एक दिन लक्ष्मण शास्त्री स्वामीजी के निकट जाकर शास्त्रार्थ करने लगे। शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति-पूजन था। स्वामीजी ने शास्त्रीजी को कहा कि अपने पक्ष के पोषण में आप कोई वेद का प्रमाण उपस्थित कीजिए। शास्त्री महाशय ने कहा कि वेद का प्रमाण कहाँ से दूँ? वेद तो शंखासुर

ने हरण कर लिये हैं ! स्वामीजी ने तत्काल वेद हाथ में उठाकर कहा—"पण्डित जी आपके आलस्य और प्रमाद-रूप शंखासुर का वध करके ये वेद मैंने जर्मनी से मगाये हैं। लीजिए, इनमें से खोजकर कोई प्रमाण निकालिए।"

उस समय सारी सभा हास्य-रस में लोट-पोट हो गई। पण्डित जी ने भी मौन साधना ही अच्छा समझा।

लक्ष्मण शास्त्री की पराजय से पौराणिकों में खलबली पड़ गई। अन्त में, उन्होंने शास्त्रार्थ करने के लिए अङ्गदशास्त्री को पीलीभीत से बुलाने का प्रबन्ध किया। अङ्गदशास्त्री बड़ा अभिमानी पुरुष था। वह अपने से बढ़कर, किसी को भी विद्वान् नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में सारे पण्डित तृण-तुल्य थे। उसने शाहजहाँपुर में आते ही जनता को उकसाना, भड़काना आरम्भ कर दिया और शास्त्रार्थ के समय ऊधम मचाने के उपाय उपस्थित कर लिये। साथ ही शास्त्रार्थ के लिए अपनी सुसज्जता का एक पत्र स्वामीजी की सेवा में भेज दिया। उसका उत्तर महाराज ने शास्त्रार्थ के नियमों सहित जो दिया उसका सारांश यह है—

'क्या आप लोग वेद से विमुख होकर, मूर्त्ति-पूजा आदि वेद-विरुद्ध कर्म नहीं करते ? और क्या वेदोक्त एक परमेश्वर की पूजा न कर उलटे नहीं चलते ? क्या आपने मेरा कोई भी कर्म्म वेद के प्रतिकूल देखा-सुना है ? यदि शास्त्रार्थ करने की आपकी सच्ची इच्छा होती तो सभ्यता और विनयपूर्वक शास्त्रार्थ करने से मैंने आपको कब रोका था ? सभ्यता से संवाद करना चाहते हो तो मेरा द्वार अब भी खुला है। परन्तु आप तो शास्त्रार्थ करना ही नहीं चाहते। यदि इच्छा थी तो मेरे पास क्यों न आ गये ? जहाँ मूर्ख लोग असभ्यता पर उतर आते हैं, और हल्ला-गुल्ला करने लगते हैं मैं तो वहाँ खड़ा होना भी नहीं चाहता। आपका यह लिखना कि जहाँ-जहाँ मैं जाता हूं वहाँ-वहाँ से आप किनारा काटकर निकल जाते हैं, कोरा झूठ है। आपसे मुझको कभी किंचिन्मात्र भी भय नहीं हुआ और न कभी होगा। आप में ऐसी योग्यता ही नहीं, जिससे कोई डर जाय। आपको तो लोगों को परस्पर लड़ाना-भिड़ाना आता है। आपकी इसी करतूत पर बरेली में लक्ष्मीनारायण जी ने आपको उद्यान तक में ता आने नहीं दिया था। वह तिरस्कार आपकी कलहकारिणी प्रकृति का कड़वा फल था। इस समय हम दोनों शाहजहाँ-

पुर में हैं। अब जो बहाने बनाकर भाग जाय वह झूठा समझा जायगा। अपने सर्व सामर्थ्य से शास्त्रार्थ कर लीजिए, टाल न जाइए। परन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना कि जय सचाई की ही होती है। सब आप्त जनों का यही मार्ग है कि सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन किया जाय। मुझे अपनी विद्या और बुद्धि के अनुसार पूर्ण निश्चय है कि मैं लोगों को सन्मार्ग पर चला रहा हूँ। यदि इसमें आपको कोई भ्रम है तो शास्त्रार्थ के समय वह दूर हो जायगा।

"मथुरा में अनेक विद्यार्थी श्री विरजानन्दजी से अध्ययन करते थे। आप भी कदाचित् उनकी सेवा में गये होंगे। परन्तु यदि आप उनके शिष्य होते तो उनके उपदेश के प्रतिकूल आचरण न करते। बड़ा-छोटा और ऊँच-नीच तो मनुष्य अपने गुण-कर्म्म से होता है। आपका पत्र कल मध्याह्नकाल में मिला था। इसलिए कल उत्तर नहीं दिया जा सका। आपके पत्र में संस्कृत और भाषा की अनेक अशुद्धियाँ हैं। सो जब आपका मिलाप होगा उस समय सब कुछ समझा दिया जायगा।"

श्रावण कृष्णा एकादशी १९३६।]

इसके अनन्तर भी अङ्गद महाशय स्वामीजी के सामने न आये। दूर बैठे ही गप्पशप उड़ाते रहे और लम्बे-लम्बे पत्र लिखकर समय टालते रहे। स्वामी जी के नियमों को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। इसलिए वह शास्त्रार्थ न हो सका।

कितना भी बड़ा मनुष्य कोई क्यों न होता यदि, वह कोई दबाव की बात कह बैठता तो महाराज तुरन्त करारा उत्तर देकर, उसका मुँह बन्द कर देते। एक दिन डिप्टी कलेक्टर, अलीजान महाशय उस मार्ग से निकले, जहाँ स्वामी जी व्याख्यान दिया करते थे। डिप्टी महाशय ने कहा कि—पण्डितजी! अपने व्याख्यान में कुछ सम्भलकर बोला कीजिए। महाराज ने तत्काल उत्तर दिया कि—"कोई भय की बात नहीं है, अब राज्य अंग्रेजी है, औरंगजेबी नहीं।"

स्वामीजी को मितव्ययिता का भी ध्यान रहता था। वे व्यर्थ व्यय के बड़े विरोधी थे। धन के सदुपयोग की सबको शिक्षा दिया करते थे। स्वामीजी को व्याख्यान-स्थान पर पहुँचाने के लिये जो सज्जन गाड़ी भेजा करता था वह एक दिन अपनी गाड़ी न भेज सका। किराये की गाड़ी स्वामीजी के

निवास पर आ गई। महाराज ने उस गाड़ी को देखकर कहा—"आप किराये की गाड़ी क्यों लाये हैं ? मुझे गाड़ी में बैठने का कोई व्यसन नहीं है। आने-जाने में अधिक समय न व्यय हो जाय इसलिये मैं गाड़ी में बैठता हूँ, वैसे तो मुझे पैरों चलने ही में आनन्द आता है।"

पण्डित भीमसेनजी एक दिन बाज़ार से भोजन-सामग्री लिवा लाये। महाराज ने भोज्य-पदार्थों का निरीक्षण कर पण्डित जी को कहा—"आटे आदि का दाम आप से अधिक लिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि आपने निरख की पूछ-ताछ कुछ भी नहीं की। पदार्थ भी उत्तम कोटि के नहीं हैं। भाई, धन एक उपयोग की वस्तु है। यह बड़े परिश्रम से प्राप्त होता है। किसी ने यदि कलकत्ते जाना हो तो वहाँ न पहुँच सकने से चाहे उसे कितनी ही हानि क्यों न उठानी पड़े, परन्तु वह किराये में एक भी पैसे की कमी से वहाँ नहीं जा सकता। किसी समय तो एक कौड़ी की कमी भी करोड़ों रुपयों की हानि का कारण हो सकती है। इसलिए एक पैसे के व्यय में भी सावधान रहना चाहिए।"

महाराज समय को एक बहुमूल्य वस्तु मानते थे। उन्होंने दिन-रात के सारे पल अपने लिए तो नियम के तार में पिरो ही रखे थे, परन्तु कर्म्मचारियों को भी व्यर्थ में समय बिताने नहीं देते थे। एक दिन उनके लेखक कार्य करने के लिये समय पर समुद्यत न हो सके। वे कोई आध घण्टा देर करके काम पर आये। महाराज ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा—"हमारे देश के लोग समय का महत्त्व नहीं जानते। नियमबद्ध कार्य्य करना इनके लिए दुष्कर कर्म है। प्रातः से सायं पर्यन्त, इनके सारे काम अनियमित होते हैं। समय का व्यर्थ खोना इनकी अस्तव्यस्त अवस्था का एक भारी कारण है। समय कितने मूल्य की वस्तु है, इसका ज्ञान उस समय होता है, जब किसी का मरणासन्न प्रिय बन्धु शय्या पर पड़ा होता है और वैद्य आकर कहता है कि यदि पाँच पल पहले मुझे बुलाया होता तो मैं इसे मरने न देता। चाहे सहस्रों रुपये व्यय कर डालो अब इसकी आँख नहीं खुल सकती।" महाराज के इस उपदेश का कर्मचारियों पर अत्युत्तम प्रभाव पड़ा।

महाराज शाहजहाँपुर-निवासियों को अपने सुधा-समान उपदेशों से तृप्त करने के अनन्तर आश्विन सुदी २ संवत् १९३६ को लखनऊ आये। वहाँ छः दिन

तक निवास किया और आश्विन सुदी दशमी संवत् १९३६ को फर्रुखाबाद में पधारे। अब की बार महाराज ने लाला कालीचरण के उद्यान में आसन लगाया।

महाराज के वहाँ प्रतिदिन भाषण होते। सहस्रों मनुष्य सुनने आते। कलेक्टर आदि राजकर्मचारी भी सम्मिलित हुआ करते और अत्यन्त प्रसन्न होते। उनके भाषणों का प्रभाव वर्णनातीत होता था। एक व्याख्यान में गो-रक्षा के लाभ वर्णन करते हुए महाराज ने कहा—"गो-हत्या से इतनी हानि हो रही है परन्तु खेद है कि राजपुरुष इस पर कुछ भी ध्यान नहीं देते। यह दोष अधिक हमारा अपना है। हममें एकता का सर्वथा अभाव है। यदि मिल कर गो-वध बन्द कराने का निवेदन करें तो क्या नहीं हो सकता? जो लोग दान करते हैं वे भी हानि-लाभ को नहीं सोचते। भोले-भाले भाई समझ लेते हैं कि गो-संकल्प करने से वैतरणी पार हो जायँगे। वे मर जाते हैं और गौ पुरोहित-देवता के आँगन में खूँटे से बँधी रहती है, प्रत्युत बार-बार कई स्थानों में सङ्कल्प कराई जाती है। बहुत से ऐसे भी कुल-कुपूत हैं जो तुरन्त उसे कसाई के हाथ बेच डालते हैं।"

एक दिन, दान पर बोलते हुए महाराज ने कहा—"अन्न-जल का दान कोई भी भूखा-प्यासा मिले उसे दे देना चाहिए। ऐसा दान पहले अपने दीन-दुःखी पड़ोसी को देना चाहिए। पास के रहने वाले की दरिद्रता दूर करने में सच्ची अनुकम्पा और उदारता का प्रकाश होता है। इससे वाह-वाह नहीं मिलती, इसलिये अभिमान को भी अवकाश नहीं मिलता। समीपस्थ दुःखी को देखकर और पीड़ित को अवलोकन करके ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं। जो समीपवर्त्ती दीन-दुखिया जन पर तो दयादि भावों को नही दिखलाता किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के लिए उनका प्रकाश करता है उसे दयावान्, अनुकम्पाकर्त्ता और सहानुभूति-प्रकाशक नहीं कह सकते। ऐसे मनुष्य का दान बाहर का दिखलावा और ऊपर का आडम्बर है। दान आदि वृत्तियों का विकास, दीपक की ज्योति की भाँति, समीप से दूर तक फैलना उचित है।

"यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'जो निर्धन जन अन्नादिक दान नहीं कर सकते वे दूसरों को क्या दें?' उत्तर स्पष्ट है कि जो अन्नादि का दान करने

में असमर्थ हैं वे अपने पड़ोसी आदि को कष्ट और क्लेश में सहायता दें। निर्बलों का पक्ष करें। विपत्त और आधि-व्याधि से ग्रस्त जनों की सेवा करे। पर-पीड़ितों और व्याकुल मनुष्यों से प्रेम करें। उन्हें मीठे वचनों से शांति दें। ये सब दान हैं और आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले दान हैं। ऐसे दान नित्यप्रति, निर्धन जन भी कर सकते हैं।"

महाराज ने एक दिन वर्णन किया—"अनेक जन कहते हैं कि आपके खण्डन-परक व्याख्यानों से तो लोगों में घबराहट उत्पन्न हो जाती है। उनके हृदय भड़क उठते हैं। इसका परिणाम शुभ कैसे होगा! भाई, जब रोग दूर होने में नहीं आया करता तो अच्छे वैद्य लोग, देर के बढ़े दोषों को शांत करने और मल को बाहर निकालने के लिए विरेचक औषधियाँ दिया करते हैं। विरेचक औषध पहले पहल घबराहट उत्पन्न करती है। व्याकुलता लाती है। कभी-कभी उससे मुँह भी मचलाने लग जाता है। परन्तु जब विरेचन होकर कुपित दोष शांत हो जाते हैं, तब प्रसन्नता लाभ होती है। धीरे-धीरे वास्तविक पुष्टि प्राप्त हो जाती है। आर्य-जाति में अनेक कु-रीतियों के दोष और मिथ्या मन्तव्यों के मल बढ़ गए हैं। उनके कारण यह इतनी रुग्ण हो गई है कि इनके स्नेहियों को इसके जीवन के संशय पड़ गए हैं। लोग इसकी आयु के वर्षों को अंगुलियों पर गिनने लगे हैं। हमारे उपदेश, आज विरेचक औषध की भाँति, घबराहट अवश्य लाते हैं, परन्तु है वे जातीय शरीर के संशोधक और आरोग्यप्रद। वर्त्तमान आर्यसन्तान हमें चाहे जो कहे परन्तु भारत की भावी सन्तति हमारे धर्म-सुधार को और हमारे जातीय संस्कार को अवश्यमेव महत्त्व की दृष्टि से देखेगी। हम लोगों की आत्मिक और मानसिक नीरोगता के लिए, जो कुरीतियों का खण्डन करते हैं वह सब कुछ हित-भावना से किया जाता है।"

पौराणिक पण्डितों ने स्वामीजी के पास पच्चीस प्रश्न भेजे। उनका उत्तर महाराज ने लिखा दिया। वे प्रश्नोत्तर ये थे—

प्रश्न १—वेदादि शास्त्रों में संन्यासियों के धर्म्म क्या कहे हैं? संन्यासियों को यानारूढ़ होना चाहिए अथवा नहीं?

उत्तर—वेदादि शास्त्रों में संन्यासियों के धर्म्म ये बताए हैं—ज्ञानपूर्वक, वेदानुकूल, शास्त्रोक्त रीति से पक्षपात, शोक, वैर, हठ और दुराग्रह का

त्यागना। स्वार्थ-साधन, निन्दा-स्तुति और मानापमान आदि दोषों को छोड़ना। संन्यासियों का धर्म्म है कि सत्यासत्य की आप परीक्षा करें। सर्वत्र विचरते हुए लोगों से असत्य छुड़ावें और सत्य ग्रहण करायें, जिससे उनकी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति हो और वे साधनों सहित विद्या लाभ कर अपने पुरुषार्थ से व्यावहारिक और पारमार्थिक सुखों को उपलब्ध करें। लोगों से दुराचार हटाना सन्यासियों का धर्म्म है। हर्ष-शोक से रहित संन्यासी जन यदि यानारूढ़ हों तो भी दोष नहीं है।

प्रश्न २—यदि आपके मत में क्षमा नहीं मानी जाती तो मनुस्मृति के प्रायश्चित्तों का क्या फल है ? ईश्वर की दयालुता का क्या प्रयोजन है ? यदि मनुष्य स्वतन्त्रता से आगन्तुक पापों से बचा रहे तो ईश्वर की क्षमाशीलता किस काम आयगी ?

उत्तर—हमारा मत वेदोक्त है, कोई कपोल-कल्पित नहीं है। वेदों में कहीं भी किये पापों की क्षमा नहीं लिखी। पापों की क्षमा मानना युक्ति-संगत भी नहीं है। उन मनुष्यों पर शोक होता है जिन्हें प्रश्न करने तो नहीं आते परन्तु वे पाँचों में सवार बनने की चेष्टा करते हैं।

क्षमा और प्रायश्चित्त का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। प्रायश्चित्त कोई सुख-भोग का नाम नहीं है। जैसे कारावास में अपराधी मनुष्य चोरी आदि कर्मों का फल भोग लेता है; ऐसे ही प्रायश्चित्त में पाप-फल भोगा जाता है। अनेक नास्तिक जन ईश्वर का खण्डन करते हैं। दुःखों में और दुर्भिक्षादि में मनुष्य परमात्मा को गालियाँ तक देने लग जाते हैं। वह सब सहन कर लेता और अपनी कृपा का परित्याग नहीं करता। यही उसकी क्षमा और दया है। न्यायकारी, यदि किये कर्मों को क्षमा कर दे तो वह अन्यायकारी हो जाता है। परमेश्वर अपने स्वाभाविक गुण के विरुद्ध कभी कुछ नहीं करता। जैसे न्यायाधीश पापियों को विद्या और शिक्षा द्वारा पाप से पृथक् कर प्रतिष्ठा और दण्ड से शुद्ध और सुखी कर देता है ऐसे ही ईश्वर का न्याय समझना चाहिए।

प्रश्न ३—यदि आपके मत में तत्त्वों के परमाणु नित्य हैं और कारण का गुण कार्य में रहता है तो यह बताइए कि सूक्ष्म परमाणुओं से स्थूल सृष्टि कैसे हो गई ?

उत्तर—जो परम सूक्ष्म है उसी को परमाणु और अव्याकृत आदि नामों

से पुकारा जाता है। ऐसे परमाणु अनादि और सत्य हैं। कारण के जो गुण समवाय-सम्बन्ध से हैं वे कारण में नित्य हैं और कार्यावस्था में भी नित्य बने रहते हैं। परमाणुओं में संयोग और विभाग का गुण भी नित्य है। इसलिये इनके मिलने और बिछड़ने से इनके स्वरूप में अनित्यता नहीं आती। परमाणुओं में गुरुत्व और लघुत्व दोनों का सामर्थ्य भी नित्य है। गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध है।

प्रश्न ४—मनुष्य और ईश्वर का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? ज्ञान से मनुष्य क्या ईश्वर बन सकता है ? जीवात्मा और परमात्मा में क्या सम्बन्ध है ? क्या वे दोनों नित्य हैं ? यदि दोनों चेतन हैं तो जीव ईश्वराधीन है कि नहीं ? आधीन है तो क्यों ?

उत्तर—मनुष्य और ईश्वर का राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक आदि का सम्बन्ध है। अल्पज्ञ होने से जीव ईश्वर नहीं हो सकता। जीव और ईश्वर में व्याप्य-व्यापक आदि सम्बन्ध हैं। जीवात्मा सदा ईश्वराधीन रहता है, परन्तु कर्म करने में वह स्वतन्त्र है और फल भोगने में ही पराधीन है। ईश्वर का सामर्थ्य अनन्त है और जीव का अल्प, इसलिए जीव का परमात्मा के अधीन होना आवश्यक है।

प्रश्न ५—क्या आप संसार की रचना और प्रलय मानते हैं ? प्रथम सृष्टि में एक मनुष्य उत्पन्न हुआ था अथवा अनेक ? आदि में जब उनके कर्म समान थे तो परमेश्वर ने कुछ एक मनुष्यों ही को वेद ज्ञान क्यों दिया ? ऐसा करने से उसमें पक्षपात का दोष आ जाता है।

उत्तर—सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय हम मानते हैं। ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव अनादि हैं। इसलिए सृष्टि भी प्रवाह से अनादि है। यदि ऐसा न न माना जाय तो रचना से पूर्व ईश्वर को निकम्मा मानना होगा। परमेश्वर की तरह प्रकृति और जीव भी अनादि हैं। जैसे इस कल्प की सृष्टि की आदि में अनेक स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए वैसे ही पूर्व कल्पों में होते रहे और आगामी कल्पों में होते रहेंगे। जीवों के कर्म भी अनादि हैं। जिन चार आत्माओं में परमात्मा ने वेद का प्रकाश किया उनके सदृश अथवा उनसे अधिक किसी के भी पुण्य नहीं थे। इसलिए परमात्मा में पक्षपात का दोष नहीं आता।

प्रश्न ६—आपके मतानुसार कर्म-फल यथा-कर्म न्यूनाधिक होता है तो मनुष्य स्वतन्त्र कैसे हुआ ? परमेश्वर का जैसा ज्ञान है जीव वैसा ही कर्म करेगा इसलिए स्वतन्त्र न रहा।

उत्तर—कर्म-फल न्यूनाधिक कभी नहीं होते। जिसने जैसा और जितना कर्म किया हो उसे वैसा और उतना ही फल न दिया जाय तो अन्याय हो जाता है। हे आर्य जनो ! ईश्वर में भूत-भविष्यत् काल का सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर का ज्ञान सदा एकरस है। जैसे ईश्वर अपने ज्ञान में स्वतन्त्र है वैसे ही जीव कर्मों के करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है।

प्रश्न ७—मोक्ष क्या पदार्थ है ?

उत्तर—सब अशुभ कर्मों से रहित होकर केवल शुभ ही कर्म करना जीवन-मुक्ति है, और दुःख मात्र से छूटकर आनन्दपूर्वक परमेश्वर में रहना मुक्ति है।

प्रश्न ८— धन बढ़ाना, कला-कौशल द्वारा लोगों को सुखी करना और रोगग्रस्त पापी मनुष्य को औषधादि देना धर्म है अथवा अधर्म ?

उत्तर—न्याय से धन बढ़ाने, कला-कौशल निकालने और औषध आदि बनाने में धर्म्म है। यदि कोई मनुष्य ऊपर कहे कर्म अन्याय से करे तो अधर्म है। पापी मनुष्य को रोग से छुड़ाकर धर्म्म-कार्यों में लगाना धर्म्म है।

प्रश्न ९—मांस खाने में पाप है अथवा नहीं ? यदि पाप है तो वेद और आप्त ग्रन्थों में, यज्ञ में हिंसा का विधान क्यों है और भक्षणार्थ मारना क्यों लिखा है ?

उत्तर—मांस खाने में पाप है। वेदों तथा आप्त ग्रन्थों में यज्ञादि में हिंसा करना कहीं भी नहीं लिखा। गोमेध आदि शब्दों के अर्थ वामियों ने बिगाड़े हैं। इनका वास्तविक अर्थ हिंसा-परक नहीं है। जैसे डाकू आदि दुष्ट जनों को राजा लोग मारते हैं ऐसे ही हानिकारक पशुओं का मारना भी लिखा है, परन्तु खाने का लेख नहीं है। आजकल तो वामियों ने मिथ्या श्लोक बनाकर गो-मांस तक खाना भी बताया है ! जैसे मनुस्मृति में धूर्तों का मिलाया हुआ लेख है कि गो-मांस का पिण्ड देना चाहिए। क्या कोई पुरुष ऐसे भ्रष्ट वचन मान सकता है ! ❀

❀ यह उत्तर पं० लेखरामजी के नाम से बनाये स्वामी दयानन्दजी के जीवन चरित्र से लिखा गया है। परन्तु 'भारत सुदशा प्रवर्तक' नामक पत्र में उस समय, इस प्रश्न का जो उत्तर छपा था वह इससे अपवाद सहित भिन्न है।

प्रश्न १०—जीव का क्या लक्षण है ?

उत्तर—जीव के लक्षण न्याय-शास्त्र में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान लिखे हैं।

प्रश्न ११—सूक्ष्म यन्त्रों से ज्ञात होता है कि जल में अनन्त जीव हैं। इस अवस्था में क्या जल-पान करना चाहिए ?

उत्तर—जब पात्र और पात्रस्थ जल अन्त वाले हैं तो उनमें अनन्त जीव नहीं समा सकते। जल को आँख से देखकर और वस्त्र से छानकर पीना चाहिए।

प्रश्न १२—पुरुष के लिये बहुत स्त्रियों से विवाह करने का कहाँ निषेध है ? यदि है तो धर्म्म-शास्त्र में यह क्यों आता है कि यदि एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ हों और उनमें से एक पुत्रवती हो जाय तो सब पुत्र वालियाँ समझी जायँ।

उत्तर—वेद में वहु विवाह का निषेध है। संसार में सभी मनुष्य अच्छे नहीं होते। इसलिए यदि कोई अधर्मी पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर ले तो उसकी स्त्रियों में परस्पर विरोध अवश्य होगा। यदि एक के पुत्र हो तो दूसरी उसे विष आदि से मार न दें, इसलिए धर्म्म-शास्त्र में लिखा है कि उसे अपना पुत्र ही समझें।

प्रश्न १३—ज्यौतिष-शास्त्र के फलित-भाग को क्या आप मानते हैं ? क्या भृगु-संहिता आप्त ग्रन्थ है ?

उत्तर—हम ज्यौतिष-शास्त्र के फलित-भाग को नहीं मानते, किन्तु गणित भाग को मानते हैं। ज्यौतिष के जितने सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनमें फलित का लेश भी नहीं है। भृगु-संहिता में गणित है इसलिए उसे हम मानते हैं। ज्यौतिष-शास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थों में भूत-भविष्यत् काल का ज्ञान नहीं लिखा है और न ही उनमें मनुष्य के सुख-दुःख के ज्ञान का लेख है।

प्रश्न १४—ज्यौतिष सिद्धान्त में आप किस ग्रन्थ को सिद्धान्त-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं ?

उत्तर—जितने भी वेदानुकूल ग्रन्थ हैं उन सबको हम आप्त ग्रन्थ मानते हैं।

प्रश्न १५—क्या आप पृथ्वी पर सुख-दुःख, विद्या, धर्म्म और मनुष्य

संख्या की न्यूनता और अधिकता मानते हैं ? यदि मानते हैं तो क्या पहले इनकी वृद्धि थी ? अब है ? अथवा आगे होगी ?

उत्तर– हम पृथ्वी पर सुखादि की वृद्धि सापेक्ष होने से अनित्य मानते हैं और मध्यम अवस्था में बराबर स्वीकार करते हैं।

प्रश्न १६—धर्म्म का क्या लक्षण है ? वह ईश्वर कृत सनातन है अथवा मनुष्य कृत ?

उत्तर—धर्म्म का लक्षण पक्षपात-रहित न्याय है और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का परित्याग है। वह वेद प्रतिपादित और ईश्वर कृत सनातन है।

प्रश्न १७—यदि कोई ईसाई, मुसलमान आपके मत में दृढ़ विश्वासी हो जाय तो क्या आपके अनुयायी उसे अपने में मिला लेंगे और उसका बनाया भोजन खा लेंगे ?

उत्तर—वेद ही हमारा मत है। बड़े शोक और अन्धेर की बात है कि आप लोगों ने केवल खान-पान, शौच-स्नान, वेष-भूषा और उठने-बैठने आदि को ही धर्म्म मान रक्खा है ! ये तो अपने-अपने देशों की रीतियाँ हैं।

प्रश्न १८—क्या ज्ञान के बिना भी मुक्ति हो जाती है ?

उत्तर—परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान के बिना किसी की मुक्ति नहीं होती। जो धर्म्म पर आरूढ़ होगा उसे ज्ञान भी अवश्य होगा।

प्रश्न १९—श्राद्ध करना क्या शास्त्रानुसार है ? शास्त्रानुकूल नहीं तो पितृ-कर्म का क्या अर्थ है ? क्या मनु-स्मृति आदि ग्रन्थों में इसका विधान मिलता है ?

उत्तर—जीवित पितरों को श्रद्धा से, सेवा से, पुरुषार्थ से और पदार्थों से तृप्त करना श्राद्ध है। ऐसे ही श्राद्ध का विधान वेद में मिलता है। मनुस्मृति में भी जो लेख वेदानुकूल हैं वे ही मानने योग्य हैं।

प्रश्न २०—कोई मनुष्य यह समझकर आत्मघात कर ले कि मैं पापों से नहीं बच सकता तो क्या ऐसा करने में कोई पाप होता है ?

उत्तर– आत्मघात करने में पाप ही होता है। पापाचरण के फल भोगे बिना कोई मनुष्य पापों से नहीं बच सकता।

प्रश्न २१—जीवात्मा असंख्य हैं अथवा संख्या-सहित ? क्या कर्मवश मनुष्य पशु और वृक्षादि की योनियों में जा सकता है ?

उत्तर—ईश्वर के ज्ञान में जीवों की संख्या है, परन्तु अल्पज्ञान में वे असंख्य हैं। पाप-कर्म्मों की अधिकता से जीव, पशुओं और वनस्पतियों की योनियों में जाता है।

प्रश्न २२—क्या विवाह करना उचित है। सन्तान-प्राप्ति से किस को पाप लगता है ?

उत्तर—जो जन पूर्ण विद्वान् और जितेन्द्रिय होकर सबका उपकार करना चाहें उन्हें तो विवाह करना उचित नहीं है। जो मनुष्य ऐसा नहीं कर सकते उन्हें विवाह करना चाहिए। वेदानुसार विवाह करके ऋतुगामी रहते जो सन्तान प्राप्त हो उसमें कोई भी दोष नहीं है। व्यभिचार अन्याय है। इसलिए उससे उत्पन्न हुई सन्तान दोष युक्त होती है।

प्रश्न २३——क्या अपने सगोत्र में विवाह-सम्बन्ध करना दूषित है ? यदि है तो क्यों ? क्या सृष्टि की आदि में ऐसा हुआ था ?

उत्तर—सगोत्र में विवाह करने से शरीर और आत्मा की यथावत् उन्नति नहीं होती और बल तथा प्रेम भी ठीक-ठीक नहीं बढ़ता। इन दोषों के कारण भिन्न गोत्र में विवाह करना उचित है। सृष्टि की आदि में तो गोत्र ही नहीं थे। इसलिए उस समय का प्रश्न करना व्यर्थ प्रयास है।

प्रश्न २४—गायत्री के जाप से कोई फल भी होता है कि नहीं ? यदि होता है तो क्यों ?

उत्तर—वेद में गायत्री के अर्थानुसार आचरण करना लिखा है इसलिए वैदिक विधि से गायत्री का जप किया जाय तो उत्तम फल प्राप्त होता है। किया हुआ अच्छा या बुरा कोई भी कर्म्म निष्फल नहीं जाता।

प्रश्न २५—धर्माधर्म्म मनुष्य के अन्तरङ्ग भावों से सम्बन्ध रखता है अथवा बाहर के परिणामों से ? यदि कोई मनुष्य किसी डूबते मनुष्य को बचाने के लिए नदी में कूद पड़े और आप भी डूब जाय तो क्या उसे आत्म-घात का पाप लगेगा ?

उत्तर—धर्म्माधर्म्म मनुष्य की बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग सत्ता से होते हैं। इनको कर्म और सुकर्म-कुकर्मभी कहा जाता है। परोपकार के लिए परिश्रम करते यदि बीच ही में प्राणान्त हो जाय तो भी वह मनुष्य पुण्य-पुञ्ज उपार्जन कर लेता है। ऐसे जन को पाप कदापि नहीं लगता।

ऊपर लिखे प्रश्नोत्तर आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद में सुनाये गये और 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' नाम के पत्र में प्रकाशित कराए गये ।

स्वामीजी महाराज, अच्छे, सुन्दर और सार्थक नाम रखने की शिक्षा दिया करते । एक दिन महाराज के पास अनेक सत्संगी बैठे थे । उस समय कई स्त्रियाँ भी आ गईं । उनमें से एक के पास एक नन्हा सा बच्चा था । महाराज ने उसका नाम पूछा तो बालक की माता बोली—'इसका नाम भीमा है ।' स्वामीजी ने उस समय कहा कि ऐसे नाम न रक्खा करो । नाम अत्युत्तम होने चाहियें । आज से इस बालक को 'भूदेव' कहा करो ।

महाराज साधारण बात से भी कोई न कोई शिक्षा निकाल लिया करते । एक दिन, वे अपने डेरे से आर्यसमाज के स्थान को गाड़ी में आ रहे थे । मार्ग में एक कुत्ता, भोंकता हुआ, गाड़ी के पीछे दौड़ने लगा । थोड़ी दूर तक तो वह पीछे आया, परन्तु अन्त में थककर रह गया । उस समय महाराज ने अपने साथी सज्जन को कहा—"कपोल-कल्पित मतों को मानने वाले, पहले-पहल तो बहुतेरी बक-झक करते हैं, परन्तु अन्त में इस कुत्ते की तरह हार-कर रह जाते हैं ।"

फतेहगढ़ में महाराज ने व्याख्यान में वर्णन किया कि आर्य्यसमाज के दस नियम ऐसे पूर्ण हैं कि इनमें आज तक कोई मनुष्य भी त्रुटि नहीं दिखा सका । उस व्याख्यान के मध्य में मदिरा में उन्मत्त एक मनुष्य चिल्लाने लग गया । लोगों ने उसे चुप कराने का बहुत यत्न किया, परन्तु उसने एक न मानी । अन्त में महाराज के सिंह-नाद को सुनकर वह सर्वथा शान्त हो गया ।

स्वामीजी प्रतिपक्षी को उसके ही कथन से निरुत्तर कर देते थे । एक वकील से महाराज ने पूछा कि आपका क्या मत है ? उसने कहा कि मेरा कोई मत नहीं । मैं किसी पक्ष में विश्वास नहीं करता । स्वामीजी ने कहा, किसी को भी न मानना यह भी तो एक पक्ष है ।

स्वामीजी के सत्संग में बहुधा आत्मा-परमात्मा और आचार-विचार पर ही बात-चीत हुआ करती थी । महाराज-जगत् सम्बन्धी, व्यर्थ के जाल-जंजाल पर कान नहीं देते थे । सेठ निर्भयरामजी, एक दिन श्री-सेवा में उपस्थित हुए । स्वामीजी ने उनका कुशल-क्षेम पूछा तो सेठजी ने कहा कि महाराज ! आपकी कृपा से धन-धान्य और पुत्र-पौत्र सभी । इसलिए आनन्दित हूँ ।

स्वामीजी ने हँसकर कहा—"सेठजी ! धर्म्म-कर्म्म और आत्मा से भिन्न वस्तुओं में आनन्द समझना अविद्या का एक लक्षण है।"

एक दिन कई सज्जनों के साथ वार्त्तालाप करते हुए महाराज ने कहा—"इस देश में अनेक दयानन्द उत्पन्न होंगे। वैदिक धर्म्म की वृद्धि के समय, उन मायिक पुरुषों से इस धर्म्म की रक्षा करना आर्यों के लिए बड़ी सावधानी और बुद्धिमत्ता का काम होगा।"

स्काट महाशय फर्रुखाबाद में मजिस्ट्रेट थे। वे बड़े सज्जन और उदार-चेता थे। महाराज के व्याख्यानों में निरन्तर आया करते थे। जिस दिन व्याख्यान न होता तो दर्शनार्थ अवश्य आ जाते। श्री-चरणों में वे अति प्रीति रखते थे। उनके पाँव में कोई दोष था। इस कारण वे लङ्गड़ाकर चलते थे। एक दिन स्काट महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि कर्म्म-फल का पता हमें कैसे लगे? स्वामीजी ने उनको कहा कि आपके पाँव में लङ्गड़ापन क्यों है? उन्होंने उत्तर दिया कि ईश्वर की इच्छा। इस पर महाराज ने कहा—"इसे ईश्वर-इच्छा न कहिए। यह कर्म-फल है। सुख-दुःख के भोग का नाम कर्म्मफल है। जिस भोग का यहाँ कोई कारण दिखाई न दे, उसे पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम कहते हैं।"

फर्रुखाबाद के बाजार की नाप हो रही थी। उसी सड़क में एक छोटी-सी मढ़िया थी। उसमें लोग धूप-दीप किया करते थे। श्री मदनमोहनलाल ने आकर स्वामीजी को कहा—"महाराज ! स्काट महाशय आपको बहुत मानते हैं। यदि आप उनको संकेत भी कर दें तो यह मढ़िया मार्ग में से मार्जित हो सकती है। भ्रम का स्थान दूर हो सकता है।" स्वामीजी ने उनसे कहा—"ऐसी उलटी पट्टी मुझे न पढ़ाइए। ऐसे ठेढ़े, तिरछे और तीखे मार्गों से किसी मत को हानि पहुंचाना अधर्म्म है। द्रोह, नीचता और अन्याय है। मुसलमान बादशाहों ने सैकड़ों मन्दिरों को मूर्तियों सहित मलियामेट कर दिया, परन्तु मूर्ति-पूजा बन्द करने में सफल न हो सके। हमारा काम तो, मनुष्यों के मनोमन्दिरों से मूर्तियां निकालना है, न कि ईंट-पत्थर के बने देवालयों को तोड़ना-फोड़ना।"

महाराज में सहानुभूति का भाव बड़ा प्रबल था। दीन-हीन जन को देख-कर उनका हृदय तुरन्त पिघल जाता था। एक दिन वे, श्री कालीचरण के

उद्यान में, अपने सत्संगियों समेत बैठे शङ्का-समाधान कर रहे थे। उसी समय, एक स्त्री मरा हुआ बच्चा, एक मैले-कुचैले वस्त्र में लपेटे लिये जाती दिखाई दी। उससे महाराज ने पूछा—"माई! आपने इस पर श्वेत, स्वच्छ वस्त्र क्यों नहीं लपेटा ?" उसने रोकर कहा—"महाराज! मुझ धन-हीन के पास स्वच्छ और नवीन वस्त्र कहाँ हैं जो इस पर डालती।" उसके वचन सुनकर स्वामीजी की आँखों से आँसुओं की लड़ी टूट पड़ी। उन्होंने आँसू पोंछते हुए कहा—"कभी यह भारत विभूति का भव्य भवन था, ऐश्वर्य्य का स्थान था, शोभा और सुखों का क्रीड़ा-धाम था, परन्तु आज यह दशा है कि भारत के मरे बालकों के तन को ढाँपने के लिए, उनके बन्धुओं को नया कपड़ा भी नहीं जुड़ता।"

स्वामीजी के उपदेशों से आर्य्य पुरुषों में असीम उत्साह उत्पन्न हो गया। आर्य्यसमाज के कार्यों को दृढ़ बनाने के लिए उन्होंने एक सभा की। उसमें सहस्रों रुपये एकत्र किये और उनका कुछ भाग वेदभाष्य के काम में लगाने के लिए भी दिया।

: ११ :

धर्म एक है : जोन्स का गो-मांस-परित्याग व्रत

फर्रुखाबाद में धर्म्मोपदेश करने के अनन्तर श्री स्वामीजी महाराज द्वितीय आश्विन वदी ८ संवत् १९३६ को कानपुर पधारे। वहाँ से उन्होंने एक विज्ञापन निकाल आर्य्य समाजों को सूचित कर दिया कि निम्नलिखित भद्र पुरुषों को वेद-भाष्य के लिए चन्दा उगाहने का अधिकार है :—

ठाकुर मुकुन्दसिंह और मुन्नासिंह छलेसर-निवासी; समर्थदान जी बम्बई-निवासी; इन्द्रमनजी; बख्तरसिंह जी, मन्त्री आर्य्यसमाज शाहजहाँपुर; श्री रामशरणदास जी, उपप्रधान आर्य्य समाज, मेरठ; श्रीमान् साईंदासजी, मन्त्री आर्य्यसमाज, लाहौर; बलदेवदास जी तथा डाक्टर बिहारीलालजी, मन्त्री आर्य्यसमाज, गुरुदासपुर; चौधरी लक्ष्मणदास जी, सभासद् आर्य्यसमाज, अमृतसर; पण्डित सुन्दरलाल जी, प्रयाग; श्री अर्जुनाधार वाजपेयी, लखनऊ; माधोलाल जी, मन्त्री आर्य्यसमाज दानापुर।

जिसके पास जितना चन्दा हो वह फर्रुखाबाद में महाशय जसराम गोहेराम के पास भेजकर उसकी रसीद मँगा लें। मेरी बनाई पुस्तकें समर्थ-दानजी और इन्द्रमन जी से मिलेंगी।

कानपुर से चलकर महाराज प्रयाग और मिरजापुर में ठहरते हुए द्वितीय आश्विन सुदी १५ सं० १९३६ को दानापुर में सुशोभित हुए। दानापुर-वासी आर्य्य जनों के चित्त महाराज के दर्शनों के लिए अतीव आतुर थे। वे चातक की भाँति, धर्म्म-मेघ की उपदेश-वर्षा के प्यासे थे। उन्हें प्रार्थना करते, विनय पत्र भेजते और श्री-सेवा में उपस्थित होकर विनती करते बरसों बीत गये थे। जब उन्होंने श्रवण किया कि आज श्री महाराज पधारते हैं तो उनके हृदय हर्षपूर से भरपूर हो गये। चित्त में पूर्णमासी का चन्द्रमा चढ़ आया। उस दिन वे फूले गात नहीं समाते थे। सभी के नेत्र प्रसन्नता के प्रकाश से उज्ज्वल और विकसित हो रहे थे। जिस समय महाराज की गाड़ी ने रेलवे स्टेशन पर पहुँचना था उसके बहुत ही पहले से, नगर से स्टेशन तक गाड़ियों का ताँता बंध गया था। महाराज के स्वागत के लिए, इतनी जन-संख्या रेलवे स्टेशन पर एकत्र हो गई कि एक मेला अथवा महोत्सव प्रतीत होता था। भक्त लोग, भगवान् को एक चौपहिया गाड़ी में बैठाकर बड़े समारोह से नगर में लाये। कुछ काल तक विश्राम करने के लिए उन्हें, श्री माधोराम जी के निवास में ठहराया। वहाँ स्वामीजी ने सज्जनों से परिचय प्राप्त किया। फिर वे श्रीमान् जोन्स महाशय के बङ्गले पर जा विराजमान हुए। यहाँ, उमाप्रसाद नाम के एक महाशय ने कहा--"आपके उपदेश तो सत्य हैं, परन्तु यदि लोग हठधर्मी से न मानें तो आप क्या कर सकते हैं।" इस पर स्वामी जी ने कथन किया, "यदि हमारे वचनों को लोग एक बार भी कान देकर सुन लें तो हमारा कार्य्य सिद्ध हो गया। ये कथन एक बार भी कान में पड़े हुए फिर निकलने नहीं पाते। सुई की भाँति गहरे चुभ जाते हैं! इन वचनों को ऊपर से कोई कितना छिपाये रक्खे, परन्तु इष्ट मित्रों से एकान्त में बात-चीत करते, इनका आप ही आप प्रकाश हो जायगा।"

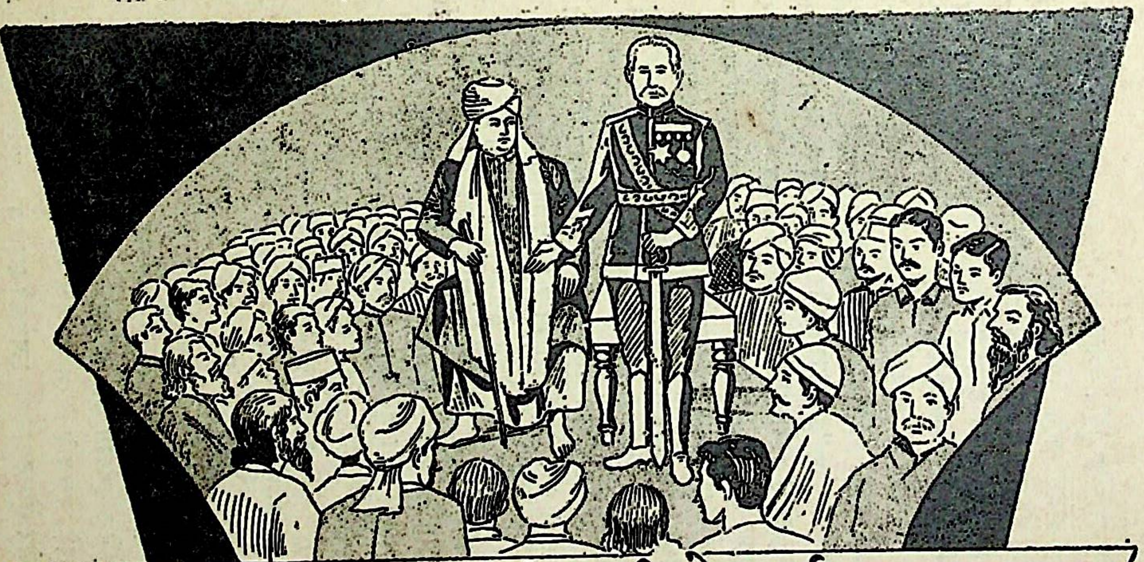
महाराज के व्याख्यानों के लिए प्रेमी पुरुषों ने एक मण्डप सजाया था। वहाँ महाराज सिंहासनारूढ़ होकर उपदेश किया करते। ईश्वरादि अनेक विषयों पर सारगर्भित और चित्ताकर्षक भाषण होते। इनमें बीच-बीच में पन्थों पर

मनोगम समालोचना भी होती रहती। एक दिन, कुछ-एक मुसलमानों ने स्वामी जी के व्याख्यान-स्थान के पास ही एक मौलवी का व्याख्यान कराना आरम्भ कर दिया। परन्तु वे लोग देर तक विघ्न-बाधा न कर सके। पुलिस के एक अधिकारी ने उनका डेरा-डण्डा वहाँ से उठवा दिया।

महाशय गुलाबचन्द लालजी स्वामीजी के भक्तों में से थे। उन्होंने एक दिन निवेदन किया, "महाराज! मुसलमानों के विरुद्ध कुछ भी न कहिएगा। ये लोग चटपट बिगड़ बैठते हैं, और लड़ाई-झगड़े पर उतर आते हैं।" स्वामी जी उस समय तो मौन रहे, परन्तु व्याख्यान में मुसलमान मत पर तीक्ष्ण, तर्क-तीर वर्षा करते हुए बोले—"छोकरे मुझे कहते हैं कि मुसलमान मत का खण्डन न कीजिए। मैं सत्य को कैसे छिपा सकता हूँ? जब मुसलमानों की चलती थी, उन्होंने हमारा खण्डन खड्ग से किया। परन्तु अन्धेर की बात है कि आज मुझे वचनों द्वारा खण्डन करने से भी रोका जाता है। भला मतमतान्तरों की पोल खोलने से मैं रुक सकता हूँ?"

व्याख्यान के अनन्तर जब महाराज अपने डेरे पर पधारे तो कहने लगे, "इस समय का राज्य-प्रबन्ध किसी मतमतान्तर की समालोचना करने से किसी को नहीं रोकता। वैदिक धर्म्म के प्रचार में इस समय यह एक सुविधा है।" पंजाब के एक नगर का वर्णन करते हुए महाराज ने कहा, "वहाँ मैंने विज्ञापनों द्वारा घोषणा कर दी कि कल ईसाइयों का खण्डन किया जायगा। व्याख्यान के समय, बहुत से देशी और योरुपीय ईसाई तथा पादरी महाशय आकर बैठ गये। उस समय प्रधान सेनापति, लार्ड राबर्ट्स महोदय भी वहाँ उपस्थित थे। उस दिन, मैंने अपने सारे सामर्थ्य से ईसाई मत की समालोचना की। उस पर आक्षेप किये। बाईबल में परस्पर विरोध बताया। परन्तु रुष्ट होना तो दूर, प्रधान सेनापति अति प्रसन्न हुए। व्याख्यान के पश्चात् उन्होंने, पास आकर मुझसे हाथ मिलाया और कहा कि निस्सन्देह आप निर्भय मनुष्य हैं। हम लोगों की उपस्थिति में हमारे धर्म का खण्डन करते, आप किंचिन्मात्र भी नहीं हिचके तो भला दूसरों से आपको कब भय हो सकता है?"

पत्तों, फूलों और फलों को निष्प्रयोजन तोड़ना धर्म्म-शास्त्र में विवर्जित है। इसलिए स्वामीजी भी इनका व्यर्थ नाश नहीं करने देते थे। एक दिन, महाराज बंगले के बाहर टहल रहे थे। उस समय, महाशय अनन्तलाल दर्शनार्थ



भारत के जंगी लाट लार्ड राबर्टससे वार्तालाप करना।

श्री सेवा में उपस्थित हुए । उन्होंने यों ही, गुलाब का एक फूल तोड़ लिया । स्वामीजी ने डाँटकर कहा—"आपने यह अच्छा नहीं किया । यह पुष्प शाखा से लगा हुआ ही शोभायमान था और सुगन्ध प्रदान करता था । आपने व्यर्थ में अकाल ही में इसे तोड़ डाला है ।' इसके अनन्तर वे भीतर आकर बैठ गये और मोरछल से मक्खियाँ उड़ाने लगे । उस समय महाशय अनन्तलाल ने विनय की, " भगवन् ! आपने पुष्प तोड़ने से मुझे रोक दिया, परन्तु आप मोरछल से मक्खियों को पीड़ा पहुँचा रहे हैं, क्या इसमें दोष नहीं है ?" इस पर महाराज ने कहा—"हानिकारक और क्षुद्र जीवों के निवारण करने में आप जैसे बोदे मनुष्यों ने बाधा डाली है । इसी नाममात्र की दया से भारतवर्ष का सत्यानाश हुआ है । आप जैसे मक्खी-मच्छर की दया मानने वाले, भीरु हृदय के दुर्बल मनुष्य, काम पड़ने पर रण-क्षेत्र में क्या कर सकते हैं !"

स्वामीजी अपने सेवकों को प्राणायाम की शिक्षा दिया करते थे । प्राण-क्रिया से वे भयकर रोगों की शान्ति मानते थे । इससे आत्मिक गुणों का विकास, प्रतिभा की जागृति और मानस-शक्ति की उपलब्धि का होना भी वे स्वीकार करते थे । उन्होंने लिखा भी है कि प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी आधीन हो जाती हैं । बल और पुरुषार्थ बढ़ जाता है । बुद्धि इतनी तीव्र और सूक्ष्म हो जाती है कि अति कठिन और सूक्ष्म विषय को शीघ्र ग्रहण कर लेती है । ठाकुरदास नाम के एक सज्जन दानापुर में वास करते थे । उन्हें योगाभ्यास की जब लगन लगी तो उन्होंने एक निपट अनाड़ी मनुष्य से प्राणायाम सीखना आरम्भ कर दिया । विधि-विहीन, उलटी-पुलटी रीति से पूरक, रेचक और कुम्भक करने पर उनके प्राण प्रकुपित हो गये । नाभि कमल-निवासी, अपान पवन में गाँठ पड़ जाने से उन्हें सदा पीड़ा रहने लगी । इससे, बड़े दुर्बल और कृश हो गये । एक दिन,उन्होंने भगवान् के आगे अपने रोग-भोग का वर्णन किया । महाराज ने उनको आश्वासन देतेहुए कहा—"योगासन से, हम आपका तीन वर्षों का रोग दो-ढाई पल में दूर कर देंगे ।"

महाराज ने ठाकुरदास को एक कोठरी में लेजाकर पीठ के बल लिटा दिया और घुटने खड़े रखवाये । उनके पाँव पर अपने पाँव रखकर दबाव डाला और दूसरी ओर से उनका सिर ऊपर को उठवाया । इस क्रिया से वे तत्काल स्वस्थ हो गये । उनकी व्याधि दूर हो गई ।

एक दिन ठाकुरदासजी ने स्वामीजी से प्रार्थना की, "भगवन् ! निराकार परमात्मा का दर्शन कैसे हो सकता है ?" स्वामीजी ने उत्तर में कहा—जैसे सूक्ष्म रज-कण सारे आकाश में उड़ते फिरते हैं; परन्तु दृष्टिगोचर तभी होते हैं जब सूर्य की किरणें झरोके में से होकर उनको प्रकाशित करती हैं; ऐसे ही परमेश्वर सर्वत्र परिपूर्ण है परन्तु हृदय के झरोके में ध्यान किये बिना देव के दर्शन दुर्लभ हैं।"

एक दिन जोन्स महाशय, कई पादरियों-सहित श्री सेवा में आये और शिष्टाचार के अनन्तर कहने लगे—"महाराज ! कोई धर्मोपदेश दीजिए।" स्वामी जी ने उनकी विनय पर उपदेश देना आरम्भ किया कि, "परमात्मा के रचे हुए पदार्थ सबके लिए एक से हैं। सूर्य और चन्द्रमा सबको समान प्रकाश प्रदान करते हैं। वायु और जल आदि वस्तुयें सब को एक-सी दी गई हैं। जैसे ये पदार्थ ईश्वर की देन हैं, सब प्राणियों के लिए एक से हैं, ऐसे ही परमेश्वर-प्रदत्त धर्म्म भी मनुष्यों के लिए एक और एक-सा होना चाहिये।"

फिर महाराज ने कहा—"उस एक साधारण धर्म्म को ढूंढने के लिए यदि कोई जिज्ञासु सारे मतवादियों में भटकता रहे और पन्थाइयों के कथनों पर विश्वास करके धर्म्म को जानना चाहे तो उसे सच्चे धर्म्म का ज्ञान कदापि नहीं हो सकेगा। हाँ, यदि वह सब में से सार को निकाले तो उसे प्रतीत होगा कि थोड़ा बहुत सत्य सब मतों में पाया जाता है, जैसे, सत्य को सब मतावलम्बी स्वीकार करते हैं। सभी कहते हैं कि परोपकार पुण्य कर्म्म है, भूत-दया का भाव बहुत अच्छा है, विपत्ति-व्याधि-ग्रस्त मनुष्यों को सहायता देना और दान-पुण्य करना शुभ कर्म्म है। सारांश यह कि सदाचार और धर्म्म के जिन अङ्गों में सब मत एक-मत हैं वही धर्म्म ईश्वर की देन है। वही सच्चा और सनातन है। शेष यह सब अपनी-अपनी खींचातानी है कि ईसा, मुहम्मद और श्रीकृष्ण के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।"

इतना कहकर महाराज ने अतिथियों से पूछा—"क्या आप इस पर कुछ कथन किया चाहते हैं ?"

जोन्स महाशय ने कहा—"आपका कथन ही ऐसा है कि इस पर कुछ कहते बन नहीं आता। जब आप इतने उदार और स्वतन्त्र विचार रखते हैं

तो छूताछूत क्यों मानते हैं ? आपको हमारे साथ मिलकर भोजन करने में क्यों नकार है ?"

इस पर स्वामीजी बोले—"किसी मनुष्य के साथ खाने-पीने में धर्म्माधर्म नहीं है। ऐसी सब रीतियां, देश और जाति के आचार-व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखती हैं। वास्तविक धर्म्म के साथ, इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं। परन्तु सोच-विचार वाले सभी मनुष्य, आवश्यकता के बिना अपने देश और जाति के नियमों को नहीं तोड़ते; उनके प्रतिकूल आचरण नहीं करते। आप ही बताइए, क्या आप अपनी पुत्री का विवाह किसी देशी ईसाई के साथ करने को समुद्यत हैं ? क्या ऐसा कर देने से आपको प्रसन्नता होगी ?" उस योरुपीय महाशय ने कहा—"हम ऐसा करने के लिए कभी भी समुद्यत न होंगे।"

स्वामीजी ने पूछा—"क्यों धर्म्म-विचार से ?"

उत्तर मिला—"नहीं, अपनी जाति की रीति-नीति के कारण।"

तब फिर महाराज ने कहा—"इसी प्रकार, हम भी अपने देश-बन्धुओं के नियम और व्यवहार के कारण आप लोगों से सहभोज नहीं करते।" यह सुनकर वे लोग सन्तुष्ट हो गये।

जोन्स महाशय ने फिर निवेदन किया—"हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा क्यों है ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"आर्य्यों के धर्म्म में और धर्म्म-ग्रन्थों में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है। इसके चलने का कारण यह प्रतीत होता है कि पहले लोग अपने मृत महापुरुषों की मूर्तियाँ बनवाकर घरों में रखते थे। उन्हें अपने पूज्य पुरुषों का स्मारक चिह्न समझते थे। कालान्तर में उन्हीं प्रतिमाओं को वे प्रेम से पूजने लगे। आपके मत में भी लोग ईसा और मरियम की मूर्तियाँ रखते हैं। इनका पूजन भी करते हैं। अविद्या की ये बातें दोनों मतों में समान हैं।"

जोन्स महाशय स्वामीजी की कथन-शैली पर अति प्रसन्न हुए और प्रशंसा-पूर्वक हाथ मिलाकर चले गये।

फिर एक दिन कई पादरी महाशय स्वामीजी के निवास-स्थान पर पधारे। गो-रक्षा पर बात-चीत चल पड़ी। महाराज ने जोन्स महाशय से पूछा—"भलाई क्या है ?" उसने कहा—"आप ही बताने की कृपा कीजिए।" तब स्वामीजी ने कहा, जिस कर्म में अधिकांश मनुष्यों का अधिक उपकार हो उस कर्म को

मैं भलाई मानता हूँ ।" इस सिद्धान्त को जोन्स महाशय ने भी स्वीकार कर लिया । तब फिर, महाराज ने बड़ी उत्तमता से सिद्ध कर दिखलाया कि 'गो-रक्षा से अधिकाँश मनुष्यों को अत्यन्त अधिक लाभ होता है ।'

उनके उपदेशों को सुनकर जोन्स महाशय ने गो-माँस भक्षण के परित्याग का वहीं प्रण धारण कर लिया ।

जिन दिनों में स्वामीजी दानापुर-वासियों को धर्म्मोपदेश प्रदान कर रहे थे, उन्हीं दिनों में वहाँ की धर्म्म-सभा ने चतुर्भुज पण्डित को अलीगढ़ से बुला लिया, उसके व्याख्यान भी होते थे । चतुर्भुज था बड़ा नटखट । उसने अपने व्याख्यानों में स्वामीजी के विरुद्ध मुसलमानों को भड़काना आरम्भ किया । दानापुर के आर्य्य जन उसकी चालों को ताड़ गये । उन्होंने स्वामीजी को भी संयत और सचेत रहने की प्रार्थना की । एक दिन महाराज व्याख्यान समाप्त कर चुके तो कुछ लोगों ने आकर उनसे निवेदन किया कि कुञ्ज-विहारी शाह के मकान पर चलिए। वहाँ पण्डित चतुर्भुज भी आयगा । परस्पर मिलकर शास्त्रार्थ के नियमों का निर्णय कर लीजिए । स्वामीजी सहज स्वभाव से उनके साथ चल पड़े । आर्य्य पुरुष भी उनके साथ हो लिये । जब स्वामीजी ने उस मकान में प्रवेश किया तो वह पहले ही पौराणिकों और मुसलमानों से ठसाठस भरा हुआ था । वे लोग गोलमाल करने के लिए कटि-बद्ध बैठे थे ।

स्वामीजी ने कहा —'चतुर्भुज जी कहाँ हैं ? उन्हें बुलाइए, जिससे शास्त्रार्थ के नियम नियत किये जायें ।" चतुर्भुज बड़ा खुर्राट था । वह वहाँ नहीं आया। धर्म्म-सभा के मन्त्री ने उत्तर दिया कि आप हम ही से बात-चीत कीजिए । महाराज ने फिर बलपूर्वक कहा कि चतुर्भुज के साथ मिलकर नियम निश्चित करने के लिए मुझे आमन्त्रित किया गया है । उन्हीं से वार्त्तालाप होगा ।

धर्म्म-सभा के मन्त्री ने परुष भाषा में कहा कि चतुर्भुज जी तो आपका दर्शन करना भी पाप मानते हैं । आपने जो कुछ कहना है हमीं से कहिए । स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यदि मुझे देखने से वे पातकी बन जाते हैं तो बीच में एक पड़दा तानकर उन्हें उसकी ओट में बैठा दीजिये, पर बात-चीत अवश्य कराइये ।

उस समय रात के नौ बजे होंगे। ऐसे वाद में किसी ने दीपक बुझा दिया। फिर चारों ओर ताली बजने लगी। लोग ठठ्ठा मार कर हँसने लगे। उनको इस प्रकार खिल्ली उड़ाते देख श्री माधोलाल जी, कोपावेश में आकर गर्जनापूर्वक बोले कि स्मरण रखिये, यदि आपने कोई छेड़-छाड़ की तो हम भी आपको यहाँ से जीता न जाने देंगे। उसी समय आर्य्य पुरुष महाराज को आगे करके वहाँ से चल पड़े। दुष्ट जनों ने श्री महाराज पर दो-चार डेले भी फेंके, परन्तु वे सकुशल स्वस्थान पर पहुँच गये।

एक रात का वर्णन है कि महाराज आधी रात के समय जाग पड़े और उठकर इधर-उधर चक्कर लगाने लगे। उनके पाँव की आहट सुनकर एक कर्म्मचारी की भी आँख खुल गई। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि स्वामीजी किसी बड़ी व्याकुलता और घबराहट में घूम रहे हैं। उसने विनय की—"भगवन्! यदि कोई वेदना है तो आज्ञा कीजिए। सेवक औषधोपचार करने के लिये उपस्थित है। यदि आदेश हो तो वैद्य को भी बुला लाऊँ।" उस समय, स्वामीजी ने सुदीर्घ साँस लेकर कहा—"भाई! यह बड़े वेग से बढ़ती हुई वेदना, आपके औषधोपचार से शमन होने वाली नहीं है। यह वेदना भारत के परिश्रमी लोगों की दुर्दशा के चिन्तन से, चित्त में अभी उत्पन्न हुई है। ईसाई लोग कोल-भील आदि भारत-वासियों को ईसाई बनाने के लिये अपनी कल्पनाओं के ताने-बाने तन रहे हैं। रुपया भी पानी की तरह बहाने को कटिबद्ध हैं। परन्तु इधर आर्य्य जाति के ये पुरोहित हैं, जो कुम्भकर्ण की नींद पड़े सोते हैं। उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। मैं अब यह चाहता हूँ कि राजों-महाराजों को सन्मार्ग पर लाकर सुधार करूँ। आर्य्य जाति को एक उद्देश्य रूपी, सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध करूँ।"

महाराज आगन्तुक जन के मनोगत भावों को जानने में अति निपुण थे। एक शब्द के उच्चारण पर ही दूसरे की लम्बी-चौड़ी वार्त्ता का आशय जान जाना उनके लिये एक साधारण बात थी। किसी के प्रश्न का एक शब्द सुन पाने पर उसके सारे प्रश्न का उत्तर देने लग जाते थे। इससे श्रोता जन बड़े विस्मय को प्राप्त होते। उनके सत्सङ्ग में आने वाले प्रेमी जन इस बात का अनुभव करने लगते कि महाराज के विमल चित्त-दर्पण पर, हमारे हार्दिक भावों का अवश्यमेव प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, जिससे वे हमारी बात के एक

अंश को सुनकर सम्पूर्ण का परिज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। एक प्रेमी पुरुष ने प्रार्थना की—"महाराज ! अभ्यास में मन लगाने का बहुत ही यत्न करता हूं, परन्तु इसके तरल तरङ्ग अभङ्ग ही बने रहते हैं; सङ्कल्प-विकल्प शान्त ही नहीं होते।"

स्वामीजी ने व्यङ्ग्यभाव से समझाया, "मन नहीं टिकता तो भाँग-भवानी का एक लोटा और चढ़ा लिया करो।"

उत्तर सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह मन ही मन कहने लगा कि स्वामीजी को तो 'स्थाली-पुलाक न्याय' से भी पता नहीं है कि मैं भाँग पीता हूँ। फिर यह जान कैसे गए ? सच है सत्पुरुषों के सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं पा सकता। महापुरुषों का माहात्म्य अगम्य हुआ करता है। एक महाशय ने एक दिन निवेदन किया—भगवन् ! उपासना में चंचल चित्त को टिकाने के लिये किसी योग-क्रिया का उपदेश दीजिये। स्वामीजी ने व्यङ्ग्य वचन से शिक्षा दी कि एक और विवाह कर लो, फिर चित्त आप ही स्थिर हो जायगा। यह उत्तर सुनकर, वह मनुष्य अति लज्जित और विस्मित हुआ। लज्जा तो उसे इससे आयी कि एक स्त्री के जीते जी उसने दूसरा विवाह कर लिया था, और आश्चर्य इसलिये हुआ कि बिना बताये महाराज को इसका ज्ञान हुआ तो कैसे हुआ।

महाराज सत्य को अति महत्व देते। सत्य पर ही सारे सुधार का निर्भर समझते। उनका निश्चय था कि जब तक किसी जन अथवा जाति में सत्य नहीं आता तब तक उसकी उन्नति के दिन सुदूर ही रहते हैं। सत्यवादी मनुष्य के लिये वे अति प्रेम और सम्मान प्रदर्शित किया करते। महाराज व्याख्यान-स्थान में आते समय सबको नमस्ते कहा करते। मेल-मिलाप के समय भी नमस्ते उच्चारण करते। उनके पास कोई कितना ही साधारण परिस्थिति का मनुष्य क्यों न जाता वे मुस्कराते हुए, पहले 'नमस्ते कहा करते। उनके इस शिष्टाचार पर प्रेमीजन मोहित हो जाते थे।

महाराज में निरभिमानता चरमसीमा को पहुँची हुई थी। उनमें अहंकार का लेश भी न था। एक बार एक भद्र पुरुष ने उन्हें कहा—"भगवान् ! आप तो ऋषि हैं।" महाराज ने उत्तर में कहा—"ऋषियों के अभाव में, आप लोग मुझे ऋषि कह रहे हैं। परन्तु सत्य जानिये, यदि मैं कणाद ऋषि का सम-

कालीन होता तो विद्वानों में भी अति कठिनता से गिना जाता।"

दानापुर में धर्म-वृक्ष को उपदेशामृत से सिंचन करके, स्वामीजी महाराज कार्त्तिक सुदी चतुर्दशी १९३६ को वहाँ से प्रस्थान कर उसी दिन काशी धाम में सुशोभित हुए। काशी धाम में उनका यह शुभागमन सप्तम और अन्तिम था। पण्डित भीमसेन जी के नाम से एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ और काशी के कोने-कोने में लगाया गया कि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जी महाराज, यहाँ पधार कर, विजयनगर के आनन्द उद्यान में विराजमान हैं। वे मूर्ति-पूजा और पुराणों का प्रबल खण्डन करते हैं। इनको वेद-विरुद्ध सिद्ध कर दिखलाते हैं। जो पण्डित इनके सिद्ध करने का सामर्थ्य रखता हो वह स्वामीजी के सामने आकर शास्त्रार्थ कर ले। जब इस विज्ञापन पर किसी महामहोपाध्याय की निद्रा न टूटी तो चौगुने बल से दूसरा विज्ञापन निकाला गया। पण्डित लोग घरों में बैठे तो बहुतेरी डींगे मारते, परन्तु शास्त्रार्थ करने का नाम तक न लेते। जैसे कदली-कुंज को कर्दन-मर्दन करने वाले कुञ्जर, केसरी की गर्जना सुनकर चिङ्घाड़ते अवश्य हैं परन्तु बल के कारण नहीं, प्रत्युत भय से, ऐसे ही शास्त्री जन स्वामीजी के सिंहनाद से कम्पित होकर चिल्लाते तो बहुत थे, परन्तु उस नर-सिंह के समीप जाने का साहस नहीं करते थे।

श्रीमान् कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की, तीन चार साथियों सहित श्री महाराज के दर्शन करने के लिए मार्गशीर्ष सुदी २ संवत् १९३६ को आए। उनके आगमन के पश्चात् दूसरे दिन राजा शिवप्रसाद भी वहाँ आ गए। स्वामीजी से थोड़ी देर तक बात-चीत करने के अनन्तर, वे अल्काट महाशय और मैडम से मिले। श्री अल्काट और मैडम, श्री महाराज सत्संग में बैठकर, ज्ञान-चर्चा और योग-वार्त्ता का आनन्द उपलब्ध किया करते थे।

स्वामीजी ने जब देखा कि शास्त्रार्थ के लिए तो काशी का कोई पण्डित समुद्यत नहीं होता, तो उन्होंने उपदेश देने का विचार कर लिया। पण्डित भीमसेन जी की ओर से विज्ञापन निकाला गया कि मार्गशीर्ष सुदी ७ संवत् १९३६ को, बङ्गाली टोला के अन्तर्गत पुत्री पाठशाला में, श्री महाराज का व्याख्यान होगा और अल्काट महाशय भी भाषण करेंगे। व्याख्यान के विज्ञापनों को देखकर, काशी के कुछ मनुष्यों ने एक निन्दनीय नीति का आश्रय लिया। उन्होंने कलेक्टर महाशय को जाकर कहा कि "यदि स्वामीजी का

भाषण हुआ तो काशी में शान्ति भंग हो जायगी ।" जिन स्वामीजी के इने-गिने सङ्गी-साथी थे, वे सारे नगर की जन-संख्या के साथ लड़-भिड़कर शांति-भंग कैसे कर देंगे, इस पर कुछ भी ध्यान दिये बिना कलेक्टर महाशय ने आज्ञा-पत्र लिखकर ठीक उस समय स्वामीजी के पास पहुँचाया, जब वे पुत्री पाठशाला के द्वार पर पहुँचे । उसमें लिखा था कि काशी में कोई वाद अथवा व्याख्यान न कीजिए ।

कलेक्टर महाशय की आज्ञा पर 'पायोनियर' समाचार-पत्र ने अपने पौष वदी २ संवत् १९३६ के अङ्क में जो टिप्पणी की थी उसका सारांश यह है:—
"हमें निश्चय था कि भारत के शासक जन किसी के धर्म्म-प्रचार में हस्तक्षेप नहीं करते । दिल्ली की घोषणा का भी यही सार-मर्म है । परन्तु आज यह बात विचारणीय है कि ब्रिटिश शासन में हम को धार्मिक स्वतन्त्रता है भी कि नहीं ? देखिए, एक मनुष्य जिसकी विद्या में किसी को ननु-नच तक करने का अवकाश नहीं है, वह लगातार पाँच वर्षों से नगर-नगर में चक्कर लगाकर वेदों का प्रचार करता है । वह केवल एक परब्रह्म की उपासना करने का उपदेश देता है । उसने युक्ति-प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि सती होने की रीति और मूर्त्ति-पूजन वेद विरुद्ध है । जो, बुरी-बुरी रीतियाँ आर्य्यावर्त्त और आर्य्य जाति को बिगाड़ रही हैं उनको वह हटाता है । वह अपने देश-वासियों के सुधार में रात-दिन लीन रहता है । आज जो भारत के युवकों में उन्नति की उच्चाकांक्षा पाई जाती है यह उसी के उपदेशों का प्रताप है । वर्त्तमान शासन के विरुद्ध आन्दोलन करने की उसने कभी इच्छा नहीं की । उसने तो अपने भाषणों में कई बार कहा है कि यह शोभा ब्रिटिश राज्य ही को प्राप्त है कि किसी के मत में विघ्न-बाधा नहीं डाली जाती । वह महापुरुष आर्य्य-समाज का संस्थापक, आचार्य्य दयानन्द सरस्वती है । उन्होंने काशी में पधार कर विज्ञापनों द्वारा धर्म्म का आन्दोलन उत्पन्न कर दिया । स्वार्थी लोग उसका विरोध करने के लिए इतने तुले कि कलेक्टर को कह कर उनका व्याख्यान बंद करादिया । इस बात की व्याख्या करना व्यर्थहै कि एक योरुपीय मजिस्ट्रेट ने, उनके व्याख्यान बंद करके, एक भारी भूल की है । निस्सन्देह, कलेक्टर 'वाल' महाशय विचारने पर स्वयमेव अनुभव करेंगे कि उन्होंने इस कार्य्यवाही से, इस युग के अत्यन्त विद्वान्, योग्य महात्मा के हृदय को ठेस पहुँचाई है ।"

वाल महाशय की उस आज्ञा पर और भी अनेक पत्रों ने कड़ी समालोचना की और उनके कर्म को सर्वथा अनुचित ठहराया। अन्त में किसी ऊपरी दबाव से अथवा अपने पिछले किये को अनुचित जानकर वाल महाशय ने मार्गशीर्ष सुदी १२ संवत् १९३६ को स्वामीजी की सेवा में पुलिस के इन्स्पेक्टर को भेजकर सूचित किया, "अब आप अपने निश्चयानुसार धर्म्म-प्रचार करने में स्वतन्त्र हैं।"

इसके पश्चात् वाल महाशय आप स्वामीजी से मिले और अपने आज्ञा-पत्र के विषय में कहने लगे, "यह सब कुछ आपकी रक्षा के निमित्त किया गया था। एक तो मुहर्रम के दिनों में आपका व्याख्यान देना, अपने जीवन को जोखिम में डालना था। दूसरे काशी के एक बहुत बड़े सम्भ्रान्त व्यक्ति ने हमें कहा था कि यदि स्वामीजी व्याख्यान देंगे तो अवश्य शान्ति भंग हो जायगी।" स्वामीजी ने वाल महाशय से कहा, "आप राजपुरुष हैं। प्रबन्ध करना आपका कर्त्तव्य है। जब आपको ज्ञात हुआ था कि कुछ लोग गड़बड़ करना चाहते हैं तो आप उन्हें डाँट बताते और व्याख्यान-स्थान पर पुलिस का प्रबन्ध करते। परन्तु आपने उलटा व्याख्यान ही बन्द कर दिया।"

वाल महाशय ने अपनी भूल स्वीकार की और आगे को सावधान रहने का वचन दिया। कहा जाता है कि प्रान्तीय गवर्नर महोदय ने वाल महाशय से उत्तर माँगा था कि 'तुमने स्वामी जी के व्याख्यान क्यों बन्द किये हैं?' व्याख्यानों के मार्ग की रुकावट तो एक अठवाड़े में ही उठा दी गई थी, परन्तु श्री महाराज फाल्गुन सुदी नवमी सम्वत् १९३६ तक अपने स्थान पर ही सत्संग लगाते रहे। धर्म्माभिलाषी जन वहीं आकर आनन्द उठाते थे।

फाल्गुन सुदी दशमी सम्वत् १९३६ से लक्ष्मीकुण्ड पर साँझ के सात बजे से नौ बजे तक प्रतिदिन, महाराज के धुंआधार व्याख्यान होने लगे। इन व्याख्यानों में उन्होंने मिथ्या-मूलक मन्तव्यों का बलपूर्वक खण्डन किया। चैत्र सुदी ६ को जब व्याख्यान-माला समाप्त हुई तो उसी दिन आर्य्यसमाज की शुभ स्थापना कर दी गई। महाराज के व्याख्यानों से एक बार तो काशी हिल गई थी। जहाँ जाओ, वहीं व्याख्यानों की ही चर्चा सुनाई देती। उपदेशों में पण्डित लोग दल बांधकर आते, परन्तु शास्त्रार्थ और प्रश्नोत्तर करने के लिए एक भी समुद्यत न होता।

स्वामी जी अपने शिष्यों से कहा करते थे कि "प्रथम शास्त्रार्थ में तारा-चरण भट्टाचार्य्य ने बड़ी टेढ़ी चाल से काम लिया था। जो पुस्तक उन्होंने सम्मुख की वह हस्तलिखित थी और प्रयोजन से प्रस्तुत की गई थी कि पढ़ी ही न जाय। अब की बार मैं ऐसी सुसज्जा से आया हूँ कि कोई कुटिल और कूट नीति से भी मुझे धोखा नहीं दे सकेगा। पण्डित लोग अपने विद्यार्थियों के सामने मुझे सहस्रों गालियाँ देते हैं, परन्तु सामने आने का नाम तक नहीं लेते।"

एक दिन एक ब्राह्मण ने महाराज से कहा—आप मूर्ति का खण्डन क्यों करते हैं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैंने अपने सारे जीवन में एक भी मूर्ति का खण्डन नहीं किया। हाँ, मूर्ति-पूजा का खण्डन तो प्रतिदिन करता हूँ।

महाराज के कर्मचारियों में एक दिनेशराम लेखक था। वह ऊपर से तो बड़ा भक्त बना रहता, परन्तु भीतर से स्वामीजी के कार्यों में जान-बूझकर अशुद्धियाँ कर देता। स्वामीजी के सम्मुख, वह बड़ी चिकनी-चुपड़ी बातें करता, उनकी पीठ पीछे, दूसरे कर्मचारियों को कहता कि यह साधुड़ा हम लोगों के हथकण्डों को क्या जाने? हम चातुर्य्य से इसके ग्रन्थों में ऐसी बातें मिला देंगे और इस प्रकार मिला देंगे कि उनका पता, इसे प्रलय-काल तक भी न लगेगा! अन्त में दिनेशराम महाराज की सूक्ष्म दृष्टि से न बच सका। वह लेखक के काम से पृथक् कर दिया गया।

स्वामीजी के कर्मचारी कई बातें उनके मन्तव्य के विरुद्ध कर देते। विद्यार्थी जन कई बातें बार-बार समझाने पर भी न मानते। महाराज ने एक दिन सबको एकत्र करके कहा, "आप लोगों के हृदयों में जो मेरे कथनों का विश्वास उत्पन्न नहीं होता इसके अनेक कारण हैं; एक तो आप में सचाई के लिए अधिक आदर नहीं है। दूसरे, आप सब मिथ्या-कथाओं से प्राप्त किये अन्न से पले हो। तीसरे, आप मृतकों का आदर करने वाले बन गये हो। यह भाव आप में से उठ गया है कि जीवित पितरों का श्रद्धा-भक्ति से आदर करना धर्म्म है।"

महाराज का एक कर्मचारी आनन्द उद्यान में एक दिन बेर तोड़ रहा था। उन्होंने उसे देखकर पास बुलाया और शिक्षा दी कि उद्यान के स्वामी से पूछे बिना कभी कोई फल न तोड़ना।

काशी नगर के कोतवाल महाशय स्वामी जी के भक्त बन गये थे। उन्होंने महाराज के रसोइए को कह दिया था कि जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह हमारे नाम पर दुकान से ले आया करो। एक दिन कोतवाल महाशय ने स्वामीजी से निवेदन किया कि भगवन्! आज बुढ़वा-मङ्गल का मेला है। यदि उसमें चलें तो नौका का प्रवन्ध कर दिया जाय। महाराज ने उत्तर दिया कि जिस मेले में वेश्याओं के नृत्य और गीत होते हैं; वह बुढ़वा-मंगल नहीं किन्तु भड़वा-मंगल है। मलिन मेले को देखना मैं कदापि उचित नहीं समझता। कोतवाल महाशय ने अति प्रीति से, महाराज के बैठने के लिए एक गद्दी बनवा कर उनकी भेंट की। एक शीतलपाटी भी श्री चरणों में रक्खी। वे प्रतिदिन दर्शनार्थ आते थे।

एक दिन पण्डित हरिश्चन्द्र जी श्री सेवा में उपस्थित हुए। उस समय स्वामी जी अल्काट महाशय से अपना जीवन-चरित्र लिखवा रहे थे। वार्त्तालाप में श्री हरिश्चन्द्रजी ने निवेदन किया—"महाराज! आपके खण्डन करने से लोगों में वैर-विरोध बहुत बढ़ता है।" महाराज ने अपने हाथों को मिलाकर कहा—"मेरा उद्देश्य इस प्रकार लोगों को आपस में मिलाना है। सकल समुदायों को एकता में लाना है। मैं चाहता हूँ कि कोल-भील से लेकर ब्राह्मण पर्यन्त सबमें एक ही जातीय जीवन की जागृति हो। चारों वर्ण के लोग एक दूसरे को अंग-अंगी समझें। परन्तु क्या करें, सुधार के बिना मिलाप होना असम्भव है। मेरा खण्डन करना हित और सुधार से भिन्न कुछ भी नहीं।"

एक भक्त स्वामीजी से निवेदन किया—"भगवन्! जहाँ आर्य्यसमाज न हो वहाँ आर्य्य जनों को अपने धार्मिक जीवन को परिपुष्ट बनाये रखने के लिए क्या उपाय करने चाहिए?

महाराज ने उपदेश दिया—"जब कोई आर्य्य एकाकी हो तो उसे स्वाध्याय करना चाहिए। दो आर्य्यजन हों तो उन्हें परस्पर प्रश्नोत्तर और संवाद करना उचित है। यदि दो से अधिक आर्य्य एकत्र हों तो उनको चाहिए कि परस्पर सत्संग करें, किसी धर्म्म-ग्रन्थ का पाठ सुनें-सुनावें।"

स्वामीजी को खुली वायु में बैठना मनोनीत था। जिस कोठरी में बैठ कर वे कार्य किया करते वह, कभी-कभी, दर्शकों की भीड़ से खचाखच भर

जाती थी। ज्यों ही लोग वहाँ से चले जाते महाराज, उसी समय, उसमें से उठकर बाहर टहलने लगते, कभी-कभी घूमने भी चले जाते। रात के समय उनके शयन की कोठरी में दोनों ओर की खिड़कियाँ खुली रहतीं। पवन के गमनागमन का उनको बड़ा ध्यान रहता था। मुख पर वस्त्र डालकर वे कभी न सोते थे। खुले स्थान में बैठकर कार्य्य करना, एक आसन बैठकर घण्टों तक काम करते चले जाना, नियत समय पर नियमित कार्य्य आरम्भ करना और उस दिन का निश्चित कार्य्य समाप्त करके ही उठना, उनके स्वभाव का एक अङ्ग था। वे नित्य प्रति नियत काल पर ही घूमने निकला करते और ठीक समय पर लौट आते। उनकी सारी दिनचर्या का मार्ग घड़ी की सूइयों के मार्ग की भाँति नियमित था। शिष्टाचार में, मर्यादा-पालन में और रहन-सहन में वे दृष्टान्त रूप थे। सकल सद्‌गुण-समूह का समावेश, श्री स्वामीजी के स्वभाव में पाया जाता था। वैसे तो वे बड़े सरल, कोमल और मृदु थे परन्तु स्पष्टवादिता में वे किसी का भी पक्षपात नहीं करते थे। सत्य-भाषण में वे आदर्शस्वरूप थे। उनकी वाणी में लाग-लपेट की वासना तक नहीं होती थी। उनके चित्त में दूसरों के लिए बड़ा आदर था। आगंतुक की आव-भगत में, वे वचन-कञ्जूस कभी नहीं कहलाये। वे छोटे-बड़े सबको सम्मान देते। बात-चीत में वे अति सौम्य और प्रिय लगते थे। सब दर्शक जन, अतृप्त और निर्निमेष नेत्रों से, उनकी मनोज्ञ मूर्त्ति को देखा करते। परन्तु जब वे धर्म्म-संग्राम में उतरते तो उनका तेज सूर्य्य-समान हो जाता था। उनकी ओर झाँकने से वादियों की आँखें चौन्धिया जातीं। उनको वे केसरी-सदृश दिखाई देते।

काशी-वास में, स्वामीजी ने अनेक उत्तमोत्तम कार्य्यों के साथ-साथ माघ सुदी २ संवत् १९३६ को लक्ष्मीकुण्ड पर, महाराज विजय नगर के स्थान में वैदिक मुद्रणालय स्थापित करके, उसी में अपनी पुस्तकें छपाने का पूरा-पूरा प्रबन्ध भी कर लिया।

स्वामीजी महाराज ने काशी-निवास में, कई मास के लगातार सत्सङ्ग से वहाँ वालों को कृतार्थ कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने निर्घोषित कर दिया कि—"वैशाख कृष्ण एकादशी १९३७ को हम यहां से प्रस्थान कर जायेंगे, इसलिए जिस किसी को धर्म्म-चर्चा करनी हो और प्रश्न पूछने हों, वह उक्त

तिथि से पहले, हमारे स्थान पर आकर अपने सन्देह मिटा सकता है।"

इतने मास में किसी को पूछने योग्य कुछ भी न सूझा। किसी को भी कार्य्यों और ग्रन्थों में कोई भूल दिखाई न दी। परन्तु जिस समय स्वामीजी के उपकरण स्टेशन को जा रहे थे और वह चलने ही को थे, उस समय राजा शिवप्रसाद ने पत्र भेजकर कुछ प्रश्नों के उत्तर माँगे।

यद्यपि राजा महाशय का यह कर्म घृणित था और उनके घमण्ड को प्रकट करता था फिर भी मान-मत्सर रहित, उस महापुरुष ने राजा महाशय को लिख दिया कि मैं प्रस्थान करने को समुद्यत हूँ। आप यथा-सम्भव शीघ्र आइये और अपनी शङ्काओं का समाधान सुन जाइए। पर वहाँ आना-जाना किसने था! वह तो उङ्गली को लहू लगाकर वीर बन जाने वाली बात थी। राजा महाशय ने तो जैसे-तैसे अपना पाण्डित्य प्रख्यात करना था।

स्वामीजी देर तक शिवप्रसादजी की प्रतीक्षा करते रहे। जब वे न आये और गाड़ी का समय हो गया तो वे, वहाँ से प्रस्थान कर लखनऊ आ गये। श्री रामाधार और सरयूदयाल आदि सज्जनों ने, महाराज को नदी के किनारे, मोती महल में ठहराया। एक दिन, उस स्थान की मनोभावनी शोभा देख कर श्री रामाधारजी ने कहा—"यदि ऐसा शोभाशाली, आर्य्यसमाज का मन्दिर हो तब आनन्द आये।" इस पर महाराज ने कहा—"ऐसा विशाल धर्म्म-मन्दिर मिलना, कोई दुर्लभ बात नहीं है। यह कोठी राजा दिग्विजयसिंह जी की है। यदि आप उनको पक्का आर्य्यसमाजी बना लें तो यही धर्म्म-मन्दिर बन सकता है। रामाधारजी! पहले मनुष्यों को प्रेम से अपनाओ, आर्य बनाओ, फिर उनके सुन्दर स्थान आप ही के हो जायेंगे।

श्री रामाधार जी ने एक दिन लम्बी साँस लेकर कहा—"भगवन्! आप इतना पुरुषार्थ करते हैं, परन्तु लोग पौराणिक लीलायें छोड़ते ही नहीं। उन्हीं लोगों में रहकर सुधार कैसे होगा? ये कहीं हमें भी तो न ले डूबेंगे?" स्वामीजी ने ढाढस बंधाते हुए कहा—"ब्राह्मसमाजियों और ईसाइयों की भाँति पृथक् होकर, सामूहिक जातीय जीवन की मात्रा को घटा देना हमारा उद्देश्य नहीं है। इन्हीं लोगों में रहते हुए अपने कर्त्तव्य-कर्म को करते जाओ। वैदिक धर्म्म का प्रचार करो। ये लोग यदि आपका विकट विरोध करें और घृणा

करें तो भी इनको अपनाने का प्रयत्न करो, परन्तु अपनी धर्म्म-धारणा से एक उंगली भर भी इधर-उधर नहीं झुकना चाहिए। अन्त में ये सब आपका रूप बन जायेंगे। उतावली से कुछ मनुष्य आगे निकल सकते हैं, परन्तु शोभा सबको साथ लेकर आगे बढ़ने में है।"

एक दिन, महाराज व्याख्यान देकर अपने आसन को जा रहे थे। उस समय उनके साथ सरयूदयाल आदि कई सज्जन थे। मार्ग में जराजीर्ण कलेवर वाली एक अति कृशा बुढ़िया मिली। उसके तन के सारे वस्त्र जर्जरित थे। महाराज को आते देख वह कातर स्वर से कहने लगी, "बाबा! मैं कई दिनों की भूखी अनाथा हूँ। मेरा पालन-पोषण करने वाला कोई भी नहीं है। भगवान् तेरा भला करेगा। आज का अन्न तो दिला दे।" उस वृद्धा के आर्त्तनाद को सुनकर स्वामीजी के पाँव रुक गये। उसका दारुण दुःख देखकर उनका हृदय पसीज गया। वे आँखों से टप-टप आँसू बरसाते अपने प्रेमियों को कहने लगे, "कभी वह भी काल था जब भारतवर्ष सुवर्णमय बन रहा था। यहाँ खाद्य पदार्थों की इतनी अधिकता थी कि भूखा अनाथ देखने को नहीं मिलता था। परन्तु आज यह समय है कि क्षुधा-वेदना ने इस बुढ़िया को इतना व्याकुल बना दिया है कि इसे यह भी विवेक नहीं रहा, जिससे मैं माँग रही हूँ वह तो आप माँगकर निर्वाह करता है।" महाराज ने उस वृद्धा को पर्याप्त अन्न दिला दिया।

जब महाराज लखनऊ में आए तब भी उनका स्वास्थ्य कुछ अच्छी अवस्था में न था। वे जब सवेरे वायु-सेवन करके आसन पर आते तो दही का मट्ठा पिया करते थे। यह सेवा श्री रामाधारजी को ही प्राप्त थी।

: १२ :

थियासौफिकल सोसाइटी से सम्बन्ध-विच्छेद

लखनऊ से चलकर श्री महाराज वैशाख सुदी ११ संवत् १९३७ को फर्रुखाबाद में पधारे और व्याख्यानों से लोगों को कृतार्थ करने लगे। उनके आगमन के बहुत दिन पहले, कुछ-एक उद्दण्ड लोगों ने मिलकर एक आर्य्य सभासद् को मारा-पीटा था और अभियोग चलने पर, उनको स्काट महाशय के न्यायालय से दण्ड मिला था। जब स्वामीजी यहाँ पधारे तो आर्य्य पुरुषों

ने अपनी विजय का समाचार बड़े हर्ष से, उन्हें सुनाया। स्वामीजी ने कहा, "हमने लोगों के कठोर हृदयों को कोमल बनाना है। दूर भागतों को आकर्षित करना है। यदि वे अत्याचार भी करें तो अपने उदात्त उद्देश्य को दृष्टि में रखकर, हमें तो उनसे प्रेम ही करना चाहिए। धर्म्म के नाम से बदला लेने की भावना सर्वथा अभद्र है।"

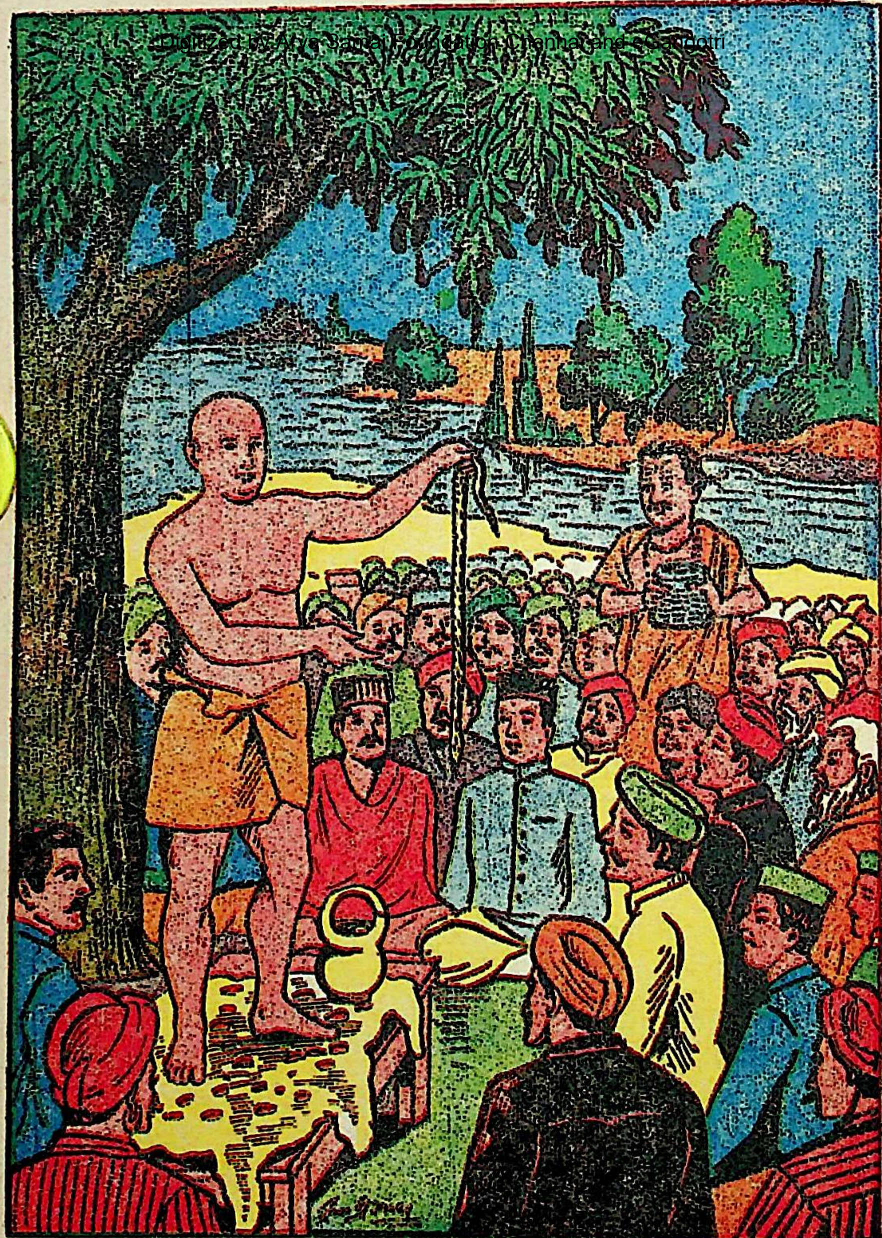
स्काट महाशय ने जब महाराज से भेंट की तो प्रशंसा-वश कहा—"आपके एक सेवक को कुछ-एक दुष्ट मनुष्यों ने पीटा था। उन लोगों को उचित दण्ड मिल गया है।" स्वामीजी ने कहा—"महाशय! संन्यासी लोग तो अपने प्राण-घातक को भी पीड़ा पहुंचते देखकर प्रसन्न नहीं होते। इस आश्रम में अपने-पराये सब समान समझे जाते हैं।" महाराज की उदारता से स्काट महाशय अतीव प्रसन्न हुए।

फर्रुखाबाद से चलकर श्री महाराज आषाढ़ वदी ६ संवत् १६३७ को मैनपुरी पधारे और थानसिंह के उद्यान में विराजमान हुए। यहाँ उनके तीन-चार प्रभावशाली भाषण हुए। उनमें नगर के सभी सामान्य और मान्य लोग तथा कलेक्टर आदि राज-पुरुष आते रहे। उनके भाषण प्रत्येक हृदय पर अङ्कित हो जाते थे। उनको सुनकर सब सज्जन मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगते थे। मैनपुरी में सहस्रों मनुष्यों को उपदेश-सुधा से सींचकर महाराज आषाढ़ वदी १४ संवत् १६३७ को मेरठ को प्रस्थान कर गये।

आषाढ़ सुदी १ संवत् १६३७ को श्री स्वामीजी ने मेरठ में पदार्पण किया और श्रीमान् रामशरणदास जी की कोठी में आसन लगाया। यहाँ उन्होंने एक-एक, दो-दो सप्ताह की अनेक व्याख्यान-मालायें दीं, जिनमें मेरठ के अधिवासी जन कृतार्थ हो गये। एक दिन महाराज के व्याख्यान में बहुत से पण्डित, ईसाई और मुसलमान अपनी शंकायें लिखते जाते थे। परन्तु व्याख्यान की समाप्ति पर सबने अपने टिप्पणीपत्र फाड़ डाले। जब उनसे ऐसा पूछा गया तो उन्होंने बताया कि हमारी शंकाओं के उत्तर व्याख्यान ही में आ गये हैं।

महाराज की, यह हार्दिक कामना थी कि किसी प्रकार मातृ-शक्ति का सुधार हो। स्त्रियों में भी धर्म्म-प्रचार और शुभ शिक्षा फैले। वे अपनी कुशाग्र बुद्धि से इस सिद्धान्त के मर्म को जानते थे कि सन्तानों में नवजीवन





एक ब्राह्मण का स्वामी जी पर सर्प को फेंकना और स्वामी जी का सर्प को पकड़ कर दूर फेंक देना।

की नींव रखने वाले हाथ माताओं के होते हैं। मीठी-मीठी लोरियों के साथ और पोली-पोली थपक से मातायें, पुत्रों में वे भाव भर देती हैं, जो किसी भी दूसरे स्थान में प्राप्त नहीं हो सकते। जननियाँ जाति के जीवन की वास्तविक जड़ हैं, सन्तति को उन्नति के उच्चतम शिखर पर ले जाने के लिए जगमगाती ज्योतियाँ हैं। परन्तु उन्हें कोई ऐसी आर्य्य-देवी नहीं दीखती थी, जो भारत की भोली-भाली बहनों की शिक्षा-दीक्षा का भार अपने ऊपर ले सके, जो स्त्री-जाति के सुधार के लिए प्राणपण से समुद्यत हो जाय। महाराज का हृदय इसी ऊहापोह और विचार-परम्परा में परायण था कि एकाएक उनकी सेवा में श्री रमा के पत्र आने लग गये। वे पत्र पूज्य भाव से, आदर बुद्धि से और भक्ति-विनय से परिपूर्ण थे। श्री रमा ने अपनी विनय-पत्रिकाओं में जहाँ श्री-दर्शनों की तीव्र लालसा प्रकट की वहाँ श्री आदेश को भी परिपालन करने की आशा दिलाई।

महाराज ने अपनी अपार कृपा से रमा को दर्शन देना स्वीकार कर लिया। श्री रमा जी बड़े भक्ति-भाव से मेरठ में आईं और श्री दर्शनों से लाभ उठाने लगीं। श्री रमाबाई जी एक महाराष्ट्र-ब्राह्मण की पुत्री थीं। उनका संस्कृत पांडित्य प्रख्यात था। वे धारा-प्रवाह संस्कृत भाषण करती थीं। उनके विचार कुछ स्वतन्त्रता को लिये हुए थे। वे एक बङ्गीय कायस्थ से विवाह करना चाहती थीं। इसलिए बन्धु-बान्धवों ने उन्हें घर से पृथक् कर दिया था। वे कलकत्ता से मेरठ आई थीं। उस समय उनके साथ एक नोकरानी और एक बङ्गाली सभ्य था। सम्भवतः, वह वही भद्र पुरुष था, जिसके साथ वह विवाह करना चाहती थीं।

श्री रमाबाई जी के मेरठ में अनेक भाषण हुए।

उन दिनों में पण्डित भीमसेन जी, ज्वालादत्तजी, पालीरामजी और श्रीमान् ज्योति-स्वरूप आदि विद्यार्थियों ने महाराज से वैशेषिक दर्शन पढ़ना आरम्भ किया। श्रीमती रमा जी भी पढ़ा करतीं। महाराज की पढ़ाने की शैली अत्युत्तम थी, उनकी व्याख्या-पद्धति अपूर्व थी। सभी अध्येता उनकी पाठन-परिपाटी से अति प्रसन्न होते, किसी का कैसा ही संशय क्यों न हो पाठ पढ़ते ही पढ़ते दूर हो जाता।

महाराज ने श्री रमा को उपदेश दिया—"इस समय आर्य्य जाति की

पुत्रियों की अवस्था अति शोचनीय है। ये संसार भर के भ्रमों और कुरीतियों का केन्द्र बन रही हैं। आप आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर उनका सुधार कीजिए। उनको दीन दशा से उबारिये। इस शुभ कार्य्य को आर्य्य-समाज की पद्धति पर चलाते, आपको धन की पर्याप्त सहायता प्राप्त होती रहेगी।" महाराज ने उनको यह भी कहा—"आपके विना, मैंने आजतक सामने बैठा-कर किसी स्त्री को उपदेश नहीं दिया। आपको सम्मुख बैठाकर, उपदेश सुनने का अवसर केवल इसीलिए दिया गया है कि आप अद्वितीय विदुषी हैं। सम्भव है मेरे वचन सुनकर आप आजीवन ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण कर लें और स्त्री जाति के परोपकार-रूप, परम पुण्य कार्य में, प्राणपण से परायण हो जायें।"

श्री रमा जी ने विनीत निवेदन किया—"महाराज! गृहस्थ लोग भी तो उपकार का कार्य्य कर सकते हैं। उन्हें भी तो पुण्य-कर्म्म की पूँजी उपार्जन करने का पुष्कल अवकाश मिल जाता है।"

इस पर स्वामीजी ने कहा—"बन्धु-बान्धवों के विविध बन्धनों में जकड़े-पकड़े हुए जन परहित का उतना कार्य नहीं कर सकते, जितना कि ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी कर सकती है। जो जन एक-दो व्यक्तियों को अपने प्रेम का केन्द्र बना लेते हैं, उनमें परहित-साधना की मात्रा, सहज ही से स्वल्प हो जाती है। उन्हें काम-धन्धों से अवकाश ही नहीं मिलता। जब पुत्र-पुत्री उत्पन्न हो जाते हैं तो उनके पालन-पोषण का सोच-विचार पीछे लग जाता है। पति और पुत्र-पौत्र आदि का वियोग सारे सुख को निपट नीरस बना देता है। जब मनुष्य इस प्रकार गृहस्थी के गहरे गढ़े में गड़ जाता है तो परोपकार के भाव, एक-एक करके भूलने लग जाते हैं। इसलिए रमा! आप अपने जीवन को परार्थ अर्पण कर दीजिए। महिला-मण्डल का मङ्गल कार्य्य साधित कीजिये।"

जैसे ज्वरावेश में मनुष्यों को भोजन की रुचि नहीं होती, ठीक वैसे ही, प्रारब्ध-कर्म्म के प्रभाव से श्रीमती रमा के हृदय में, महाराज के उपदेशों को स्थान नहीं मिला। श्री रमा सारा जीवन ब्रह्मचर्य व्रत में विताने के लिए समुद्यत न हुईं।

रमाजी, महाराज से दूसरे दर्शन भी अध्ययन करना चाहती थीं। परन्तु

स्वामीजी ने उनको और समय देना स्वीकार न किया। एक मास से अधिक काल तक रमा जी ने श्री उपदेश श्रवण किये और फिर कलकत्ते को प्रस्थान कर गईं। महाराज ने उस देवी को, चलते समय, अपनी सारी पुस्तकों की एक-एक प्रति प्रदान की।

स्वामीजी महाराज अपने प्रेमियों में बठकर अपने पिछले जीवन की बीती बातें भी सुनाया करते थे। एक दिन उन्होंने सुनाया कि एक स्थान में हमारा भाषण सुनकर वहाँ के कलेक्टर ने कहा कि आपके भाषण पर यदि लोग चलने लग जायँ तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि हमें अपना बदना-बोरिया बाँधना पड़ेगा।

अपनी यात्राओं का वर्णन सुनाते हुए महाराज ने कहा—"आप लोग मेरे इस समय के दूर तक वायु-सेवन करने जाने पर आश्चर्य करते है, परन्तु अवधूत दशा में मेरे लिए, एक दिन में, चालीस कोस चलना एक साधारण बात थी। एक दिन मैंने गंगा-स्रोत से चलकर, इस महानदी के किनारे-किनारे, गंगा-सागर संगम तक की यात्रा की। गंगोत्तरी से रामेश्वर तक भी मैं चलकर गया हूँ।" जपाराधन का वर्णन करते हुए महाराज ने कहा—"बद्रीनारायण में रहकर मैंने भगवती गायत्री का जपानुष्ठान किया था।"

अध्ययन-काल की कथा सुनाते वे कहा करते थे कि "जब कभी रात को पढ़ने के लिए तैल न मिलता तो मैं दूकानों के दीवों की लौ में बैठकर पढ़ा करता।" तप का वृत्त सुनाते वे कहते, "ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से, तप्त तवे की तरह, संतप्त रेत पर मैंने कई दोपहर काटे हैं। तुषार-राशि में परिणत, पर्वतों के पाषाणों और गंगा-पुलिन पर, पौष-माघ की रातों के पाले, नग्न, निराहार सहन किये हैं।"

शिब्बामल वैश्य, स्वामीजी का प्रेमी भक्त था। एक दिन, वह जब श्री-सेवा में आया तो महाराज ने कहा कि आज मार्ग में आपको साँप दिखाई दिया और आप डर गये थे। उसने आश्चर्य के साथ इस बात का समर्थन किया। जब वह उठकर जाने लगा तो उन्होंने उसे कहा कि छाता ले लिया होता तो पानी पड़ने पर, भीगने से तो बच जाते। शिब्बामल को उस समय तो वर्षा का कोई चिह्न दिखाई न देता था, परन्तु मार्ग में ऐसी वृष्टि हुई कि वह सड़कों पर पानी लाँघता, कठिनता से घर पहुँचा।

एक दिन कुछ भद्र पुरुषों ने स्वामीजी से निवेदन किया, "आप यदि नीति से काम लें तो बड़ी सफलता हो।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "यह नीति पहले ही मुझे बड़ी महँगी पड़ी है। अब मेरा इसमें विश्वास नहीं है। राजा जयकृष्णदासजी कहा करते थे कि इस बात के रखने से लोग प्रसन्न होंगे, उस बात के न छेड़ने से अधिक सुभीता-सुविधा होगी। जयपुर में शैवों ने कहा वैष्णवों का खण्डन कर दो हम आपके अनुयायी बन जायँगे। वे तो वैसे ही रहे; परन्तु अब, जयपुर में जाकर जब मैं शैव मत को अमूलक वर्णन करता हूँ तो वहाँ के ठाकुर लोग अपने गले से रुद्राक्ष ही की माला का एक दाना दिखाकर कहतेहैं कि यह भी तो आपने ही पहनाई थी। हम आपकी किस बात को सच्ची मानें ?"

अल्काट महाशय और श्रीमती ब्लैवट्स्की शिमले जाते हुए, स्वामीजी के आदेशानुसार, मार्ग में मेरठ शहर गये। उन दिनों परस्पर वैमनस्य बढ़ने की स्थिति थी। इसलिए मिलकर इस विषय पर बात-चीत की गई। वहाँ, यह स्थिर हुआ कि सुनी-सुनाई बात पर विश्वास न किया जाय। भ्रम उत्पन्न करने वाले विषयों में गुरु-शिष्य परस्पर मिलकर, अथवा पत्र-व्यवहार द्वारा निर्णय कर लिया करें।

कर्नल और मैडम ने यह वचन दिया कि वे किसी आर्य्य सभासद् को अपनी सभा का सभासद् बनाने का यत्न नहीं करेंगे।

मेरठ में अमृत-वर्षा करने के पश्चात् भाद्रपद सुदी द्वादशी संवत् १९३७ को महाराज वहाँ से मुजफ्फरनगर में पधारे और श्रीमान् निहालचन्द के बंगले में ठहरे। वहाँ महाराज के उत्तमोत्तम उपदेश हुए। उनसे नगर-वासियों को बड़ा भारी लाभ हुआ।

लाला भगवानदास आदि अनेक सज्जनों ने श्री-चरणों बैठकर प्रश्न किये और पूर्ण उत्तर पाकर अपने को कृतार्थ हुआ माना। वे दिन श्राद्धों के थे। स्वामीजी ने अनुकूल समय ताक कर, मृतक-श्राद्ध का बड़े बल से खण्डन किया। इससे लोग अति प्रभावित हुए।

श्रीमान् निहालचन्दजी ने प्रश्न किया —"भगवन् ! एक मनुष्य ने अपने जीवन-काल में प्रभूत धन एकत्रित किया। वह कालवश मर कर ऐसे-वैसे जन्म में चला गया है। उसके एकत्र किये धन को, यदि उसके पुत्र-पौत्र

श्राद्धादि शुभ कर्मों में लगाते हैं तो उस कर्म का उसको लाभ क्यों नहीं होना चाहिए ?" महाराज ने उत्तर दिया—"अपने ही किये कर्म का फल मिलता है। यदि, पीछे छोड़े अपने धन से शुभ कर्मों का फल मानो तो पितामह की सम्पत्ति को पाकर, पुत्र-पौत्र जो घृणित दुष्कर्म करते हैं उनका पाप भी मृतक आत्मा को ही लगना चाहिए। अपने पुरुषाओं की सम्पत्ति पाने से पुण्य थोड़े जन ही करते हैं। अधिकांश तो पाप ही किया जाता है।"

एक भक्त ने स्त्री-शिक्षा के विषय में प्रश्न करते हुए कहा—"लोग कहते हैं कि स्त्रियों को पढ़ाने से उनमें दुष्कर्म बढ़ जायेंगे।" स्वामीजी ने इस पर कहा—"शिक्षा का परिणाम पाप हो तो पुरुषों को भी अशिक्षित ही रहना चाहिए। अधिकांश पाप कर्म्म अपढ़ और कुपढ़ जन ही किया करते हैं। स्त्रियों में विद्या का विस्तार अवश्यमेव होना चाहिए।"

एक भक्त ने पूछा—"महाराज! क्या अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति ही से सुख होता है?"

उन्होंने उत्तर दिया कि—"सुख दो प्रकार के होते हैं—एक विद्या-जन्य और दूसरे अविद्या-जन्य। विद्या-जन्य सुख ही सच्चा सुख है। यह सुख अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति से होता है। अविद्या-जन्य सुख तो पशु आदि जीवों में पाया जाता है। जीव एकदेशी होने से अल्पज्ञ है। इसीलिए अज्ञानी हो जाता है। परमात्मा देश-काल से ऊपर और सर्वज्ञ है। उसमें अज्ञान का लेश भी नहीं है। वह परमानन्दमय, आनन्दघन, परब्रह्म है।"

जिस मकान में महाराज ठहरे हुए थे, उसमें अकस्मात् एक भयङ्कर साँप निकल आया! महाराज ने उसे तत्काल अपने विद्यार्थी से मरवा दिया। मैडम ब्लैवट्स्की ने लिखा है कि बङ्ग देश के एक नगर में महाराज भाषण दे रहे थे। उस समय एक दुष्ट मनुष्य ने एक भीषण विषैला फणियर नाग उनके पाँव के पास फेंक दिया! महाराज ने उस विषधर के सिर पर अपने पैर की एड़ी रखकर, उसे मसलते हुए कहा कि जिनके देवता इस दशा में कुचले जाते हैं उन भक्तों की दुर्गति का तो ठिकाना ही नहीं है।

श्री स्वामीजी मुजफ्फरनगर के अधिवासियों को आत्मा-परमात्मा और धर्म्म-कर्म्म के उपदेश सुनाकर फिर मेरठ लौट आये।

आश्विन वदी चतुर्दशी संवत् १९३७ को आर्य्यसमाज का दूसरा वार्षिको-

त्सव था। भगवान् उसी को शोभा प्रदान करने के लिए पधारे थे। उत्सव पर दोनों सायं को, महाराज के भावशाली उपदेश हुए। उनमें, उन्होंने थियोसौफिकल सोसायटी से सावधान रहने के लिए अपने शिष्यों को संकेत किया। मैडम के चमत्कारों की भी समालोचना की। स्वामीजी के दोनों दिन के वे व्याख्यान थियोसौफिकल सोसायटी को आर्य्यसमाज से पृथक् करने के लिए घोषणारूप थे। इस विषय के परिपुष्ट प्रमाण मिलते हैं कि ब्लैवट्स्की महाशया के व्यवहार से ही वे ऐसा करने के लिए बाधित हो गये।

थियासोफी के संस्थापकों का स्वामीजी के साथ गहरा सम्बन्ध था। अल्काट महाशय और ब्लैवट्स्की महाराज को अपना गुरु मानते थे। उन्होंने, अपनी सब सभाओं का प्रधानाचार्य्य उन्हीं को नियत किया था। सभा के सब कार्यों पर, महाराज की एक प्रकार की अनुमति से, उनकी नामाङ्कित मुद्रा लगाई जाती और अल्काट महाशय उनकी स्थानापन्नता में हस्ताक्षर किया करते। भूमण्डल की सारी थियोसौफिकल सभायें आर्य्यसमाज की शाखायें समझी जाती थीं।

काल के चक्र पर चढ़ा हुआ यह सारा चराचर जगत् परिवर्तन-शील है। भूतकाल के सभी पदार्थ नित्य नये रङ्ग बदलते हैं। ऐसा अवस्था में, किसी मनुष्य के विचारों का, मन्तव्यों का, कर्म्म-धर्म्म का, प्रण-प्रतिज्ञा का, और सम्बन्ध-साथ का परिवर्त्तित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। महाश्चर्य तो स्थिर रहने में है। वहिरङ्ग के प्रभाव ने, थोड़े ही वर्षों में उस गुरु-शिष्य और अङ्ग-अङ्गी के सम्बन्ध को भी शिथिल कर दिया। आर्य्यसमाज और थियोसौफिकल सोसायटी का प्रेम-बन्धन ढीला हो गया।

इस सम्बन्ध के किरकिरा होने और अन्त में टूट जाने की उदार भाव से मीमांसा करना उचित है। उसके कारणों को जानना आवश्यक है। यह बात निस्सन्देह सच्ची है कि कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की ने, महाराज के साथ, अमरीका से जो चिट्ठी-पत्री की, वह शुद्ध भाव से की। उन्होंने उस समय, अपने को श्रीचरणों में उच्च भक्ति-भाव से समर्पित किया। परन्तु इसके साथ, हमें इस बात को भी लक्ष्य में रखना चाहिए कि श्री महाराज अंग्रेजी नहीं जानते थे और अमरीका देश-वासी बन्धु आर्य्यभाषा और

संस्कृत से अनभिज्ञ थे। उन्होंने परस्पर के पत्र-व्यवहार का द्वार हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, बम्बई निवासी को नियत किया। उस समय पश्चिमी सभ्यता की चटकीली चाँदनी, भारत-भूखण्ड पर चहुँ-ओर चमक रही थी। खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल और भाव-भेद आदि में अनुकरण करने का युग भर-यौवन में था। नव-शिक्षित समाज, अपने पूर्वजों की पद-पंक्ति पर पदार्पण करने में, अपमान मानता था। पुराने इतिहास और स्मार्त्त धर्म्म से लोग नाक-भौं सिकोड़ते थे। उन्हें प्रत्येक पुरानी रीति-नीति और चाल-ढाल घृणा-योग्य और उपेक्षणीय दीखती थी। ऐसे समय में, किसी पश्चिमी पण्डित के मुख से आर्य्य धर्म्म-कर्म्म की प्रशंसा के शब्द सुनना अतिशय सौभाग्य समझा जाता था। उन लोगों की थोड़ी सहानुभूति भी महामूल्यवती मानी जाती। इस दशा में, ऐसे युग में और ऐसी परिस्थिति में यदि हरिश्चन्द्रजी ने यह समझा हो कि अल्काट महाशय और मैडम ब्लैवट्स्की वेद को वैसे तो मानते हैं ही, अवान्तर बातों के भेद आप ही मिट जायँगे; उनके यहाँ आने, आर्य्य-रीति का पक्ष-पोषण करने, और प्रशंसित स्वामीजी को गुरु मान लेने से आर्य्यों का बड़ा प्रभाव पड़ेगा; इत्यादि विचारों से उभय पक्ष के छोटे-छोटे भेदों को उन्होंने दृष्टि से ओझल करदिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। भाग-त्याग-लक्षणा से काम लेते हुए कुछ-एक भेद-मूलक मन्तव्यों को मिलन-मूलक मान लेना उस समय सम्भावित था। कुछ भी हो, यह मानना पड़ता है कि सुदूर-देशस्थ बन्धुओं को समझने-समझाने की कुछ-एक बातें, बीच में ही गुप्त और लुप्त अवश्य हो गईं।

स्वामीजी, अल्काट तथा मैडम के परस्पर साक्षात् के समय भी, दुभाषियों से काम लिया जाता था। दुभाषिया बनना बड़ी निपुणता का काम है। अधूरे दुभाषिये बहुधा एक का कथन जब दूसरे मनुष्यों को समझाने लगते हैं तो झटपट सारांश पर दौड़ जाते हैं। छोटी-मोटी बात का भाषान्तर न करना उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है। अपनी टीका-टिप्पणियों का रङ्ग चढ़ाने का चस्का उनको भी हुआ करता है। इस दूसरे साधन में भी कई भूलों का हो जाना स्वाभाविक है। थियोसौफिकल सोसायटी के आर्यसमाज से वियुक्त हो जाने का यह भी एक कारण है कि अल्काट और ब्लैवट्स्की ने भारत और भारत-वासियों के विषय में न जाने, कैसे-कैसे मनोनीत चित्र अपने

चित्त में खींच रक्खे होंगे, परन्तु यहाँ आकर उन्हें पता लगा होगा कि भारत के अधिकांश आर्य अपने परम सुधारक और आदर्श संस्कारक महापुरुष के विरुद्ध हैं। हमारे पास भी स्वामीजी के विपरीत बोलते हैं। अधिक जन-संख्या सुधार के प्रतिकूल है। स्वामीजी के साथ लगे रहने से हमारी सर्व-प्रियता में बट्टा लग जायगा। इसलिए उनसे कुछ पीछे हटा रहना चाहिए। यहाँ आकर, उनके लिये यह जानना अति सुगम था कि भारतवासी जिस किसी के पीछे चलने के लिए समुद्यत हैं। आर्यसमाज से पृथक् हो जाने से सहस्रों कुलीन ब्राह्मण उनका भी चरण-चुम्बन करने लगेंगे। भारत की भ्रम-भरी, भोली प्रजा को अपना शिष्य बनाना बड़ा सहज काम है।

हमारा यह भी निश्चय है कि राजा शिवप्रसाद आदि, स्वामीजी के कट्टर विरोधी लोग और अन्य पक्के पौराणिक प्रतिष्ठित पुरुष, महाराज के विरुद्ध मैडम और कर्नल के कान दिन-रात भरते थे। स्वामीजी का साथ छोड़ने के लिए सम्मति देते थे। आर्य्य-समाज से पृथक् हो जाने की प्रबल प्रेरणा करते थे। मैडम ब्लैवट्स्की और महाशय अल्काट आर्य्यसमाज के सभासदों को भी अपनी सोसायटी में मिलाने लग गये थे।

उपर्युक्त कारणों से गुरुदेव और शिष्यों में दिनों-दिन मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। इसी मनमुटाव को मिटाने के लिए स्वामीजी ने मैडम और अल्काट महाशय को शिमले जाते हुए, मार्ग में मेरठ ठहरने के लिए आमन्त्रित किया। वे ठहरे भी, परन्तु भेद की वेल का विषैला अंकुर उखड़ न सका। मैडम के पत्र से आर्य्यसमाज और थियोसौफिकल सोसायटी के सङ्ग-भङ्ग का कारण, एक यह भी प्रतीत होता है कि थियोसौफिकल सभा में राज पुरुष सम्मिलित होने लग गये थे। सभा आर्य्यसमाज की शाखा थी। स्वामीजी सभा के प्रधान आचार्य्य और आर्य्यसमाज के सर्वस्व थे। राज-पुरुष, तन्त्र-शासन के कुछ एक अधिकारी लोग, ऐसी दशा में, सभा में सम्मिलित होने में किन्तु-परन्तु करते होंगे। उनकी ऐसी धारणा का वर्णन मैडम ने स्वयं किया है।

स्वामीजी महाराज मैडम के चमत्कारों का समर्थन नहीं करते थे। एक तो वे उनके चमत्कारों को योग की सिद्धियाँ नहीं समझते थे। दूसरे वे सिद्धियाँ दिखाना उचित नहीं मानते थे। इससे भी मैडम अपने मन में रुष्ट रहा करती थीं। ऊपर के सारे कथन का सार-मर्म यह है कि मैडम और अल्काट

महाशय ने स्वामीजी को जिस समय गुरु माना, जब उनकी सेवा में विनय-पत्रिकायें भेजीं और जब वे भारत में पधारे तो उनके भाव निर्दोष थे। उनका हृदय भक्ति-भाव से भरपूर था। वे सच्चे मन से महाराज के शिष्य थे। परन्तु भारत में आने के पश्चात् बाहर की परिस्थिति ने उनमें परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। दूसरे के भावों को समझने में भी त्रुटियाँ रह गईं।

स्वामीजी ने अपने हाथ से लगाये हुए पौधों को सभा के सिर पर से न्यौछावर कर देना उचित नहीं समझा। उन्होंने अपने पश्चिमी शिष्यों से, समाज-रक्षण को प्रधानता दी। थियोसौफिकल सभा के प्रधानाचार्य्य पद की अपेक्षा आर्य्यसमाजियों को सब कुछ बनाकर, आप कोई पदवी ग्रहण न करना उत्तम माना। महाराज ने ठीक समय पर घोषणा द्वारा, आर्य्य पुरुषों को सूचित कर दिया कि आर्य्यसमाज और कर्नल तथा मैडम की थियोसौफिकल सभा का सम्बन्ध-सूत्र विच्छेद किया जाता है। आर्य्यसमाज और सभा के संग-भंग के कारण, नीचे दिये पत्रों से भली भाँति प्रकट हो जायेंगे। ये पत्र श्रीमती परोपकारिणी सभा के मन्त्री ने एकत्र कर कार्तिक सुदी १ संवत् १९४६ को 'परोपकारी' नामक पत्र में छपवाये थे।

मैडम महाशया का पत्र— बाबू छेदीलाल महाशय के नाम।

शिमला, अक्टूबर सन् १८८०

"मेरे प्यारे बाबूजी, यह चिट्ठी जो मैं आपको लिख रही हूँ आप की अपेक्षा स्वामीजी से अधिक सम्बन्ध रखती है। मुझे इस बात का निश्चय नहीं है कि स्वामीजी के पास योग्य और विश्वास-पात्र अनुवादक हैं। इस लिए मैं आप से प्रार्थना करती हूँ कि आप इसका अनुवाद स्वामीजी के पास यथासम्भव शीघ्र भेज दीजिए।

आप हमारे मित्र हैं और मेरा आप पर अन्य आर्य्यसमाजियों की अपेक्षा अधिक विश्वास है। यदि आप आर्य्यों की बात अपने जी में ऐसी ही समझते हों जैसी कि मैं थियोसौफीकल को समझती हूँ तो आप इसको अतीव सावधानी से पढ़ेंगे और जब स्वामीजी का उत्तर आयेगा तो मेरे पास भी भेज देंगे।

विदाई के समय स्वामीजी ने यह वचन कहा था कि आप इस समय यह प्रतिज्ञा करो कि जब कभी कोई मनुष्य आपके पास आकर कहे कि स्वामीजी ने आपके और आपकी सभा के विरुद्ध ऐसा कहा है, या ऐसा किया है तो

आप मुझे उसकी तुरन्त सूचना देंगे, जिससे मुझे इस बात का अवसर मिल जाय कि मैं अपनी ओर से आपके जी में अन्तर न पड़ने दूँ। मैं भी आपके साथ इसी प्रकार वर्त्ताव किया करूँगा।

मैंने स्वामीजी के कथन को स्वीकार कर लिया था और अब वही समय सम्मुख उपस्थित हुआ है।

मैंने उनसे यह प्रतिज्ञा भी की थी कि यदि कोई मनुष्य आकर मुझसे ऐसी बातें करेगा कि जिससे हमारे और उनके बीच मेल-मिलाप के स्थान शत्रुता उत्पन्न हो जाय तो मैं जब तक स्वामीजी के मुख से न सुन लूँगी, उन बातों पर कभी विश्वास नहीं करूँगी। अब भी आगे को ऐसा ही करूँगी। पर इस वर्तमान विषय में न तो मुझसे किसी ने कुछ कहा है और न ही यह सुनी-सुनाई गप्प है। मैं जानना चाहती हूं कि स्वामीजी इसका क्या उत्तर देते हैं।

मेरठ आर्य्य समाज का दूसरा वार्षिकोत्सव अभी मनाया गया है। उसमें अन्यान्य आर्य्यसमाजों के सभासद् सम्मिलित थे। ऐसे समय में स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में सबके सामने ये विचित्र वचन कहे कि जब किसी अन्य सभा-समाज के सभ्य आर्य्यसमाजियों को अपनी सभा में भरती होने के लिए प्रेरणा करें तो उन्हें यह उत्तर देना चाहिए कि यदि आप की सभा के नियम और उद्देश्य आर्य्यसमाज के साथ मिलते हैं तो उनमें सम्मिलित होने से कोई लाभ नहीं है। यदि वे कहें कि हमारे नियम आर्य्य-समाज के नियमों से भिन्न हैं तो आर्य्यसमाजियों को उन्हें यह उत्तर देना चाहिए कि आर्य्यसमाज के नियम अखण्डित हैं। जिस सभा के नियम खण्डित हैं उनमें मिल जाने की हमें आवश्यकता नहीं है।

यथार्थ में रोम का अभ्रान्तशील पोप इससे अधिक और क्या कहता है। स्वामीजी गर्वित ब्राह्मणों के दम्भ के विरोधी हैं। उनके कहने का यह तात्पर्य कदापि न होगा। उन्होंने यह भी कहा था कि अन्य देशियों के समाज में वैसी मित्रता और स्नेह नहीं हो सकता जैसा कि एक ही मत और देश के आर्य्य-सभासदों में है।

उन्होंने दूसरे दिन कहा कि—"थियोसौफिकल सभा के सदस्य आर्य्य-समाजियों को अपनी सभा में मिलाने का उद्योग करते हैं। आर्य्यसमाजियों

को चाहिए कि ऐसा अवसर आ पड़ने पर उन्हें वही उत्तर दें जो मैंने पिछली रात बताया था। थियोसोफीवालों को ऐसा करना उचित नहीं है।"

उनके उक्त कथन का क्या अर्थ है ? हमने आपके बिना अन्य किसी भी आर्य्यसमाजी को अपनी सभा में मिलाने का प्रयत्न नहीं किया। हाँ, बम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्य्यसमाजी हमारी सभा के सभासद् हैं। परन्तु उनको सम्मिलित होने के लिए हमने कभी नहीं कहा।

हमारे नियमों में आर्य्यसमाज से केवल इतनी प्रतिकूलता है कि हम प्रत्येक सभ्य के धर्म्म की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रत्येक मतावलम्बी को, चाहे वह आर्य्यसमाजी हो, ईसाई हो अथवा मूर्ति-पूजक हो, हम सभा में मिला लेते हैं। हम अपने सभासदों के मत और धर्म्म के विरुद्ध कभी हस्तक्षेप नहीं करते। स्वामी जी स्वमतवादी हैं। जो धार्मिक विचार उनके हैं, वे ही आर्य्यसमाजियों के हैं। और यह सभासद् होने का आवश्यक नियम है। हम तो स्वामीजी और प्रत्येक सामाजिक को अपना मुख्य भाई समझते हैं। उनके थियोसोफी सभा में मिलने में कोई बात बाधक नहीं हो सकती। यहाँ तक कि स्वामीजी ढाई वर्ष से हमारे सबसे उत्तम सभासदों में से एक हैं। वे हमारे बहुत से अंग्रेज और अमरीका के सभासदों के गुरु हैं। मैं ईश्वर को कर्त्ता-धर्त्ता नहीं मानती हूँ, इसलिए आपके समाज में भरती नहीं हो सकती, तो बताइये कि वह भ्रातृ-भाव, जिसमें अधिक लाभ है, किनमें अधिक हुआ ? सबसे मुख्य और गौण भ्रातृ-भाव कौन सा है ? क्या वह है जिसमें सब मनुष्य भरती हो सकते हैं अथवा वह है कि जिसमें थोड़े से ही मनुष्यों का ही बन्धु-प्रेम और रक्षण हो सके ? स्वामीजी के उक्त वाक्य विचित्र हैं और एक प्रकार से हमारी ओर से उनके हृदय में भेद डालते हैं।

अब तक मैं जानती थी कि सब सामाजिक और हमारी सभा के सभ्य, आपस में भाई हैं। जब से हमारा मिलाप स्वामीजी से हुआ है इस बात का अधिक प्रचार उन्होंने ही किया। इसी विषय के पत्र भी उन्होंने आर्य्यसमाजों को लिखे थे।

हमारे लण्डन और अमरीका के सभ्य आर्य्यसमाजियों को अपना भाई मानते हैं। परन्तु जो अंग्रेज हिन्दुस्तान में हमारे सभासद् हैं वे ऐसा नहीं समझते। जो अंग्रेज हमें यहाँ मिले हैं, विशेषतया वे प्रधान जन जो शिमले में हैं, वे

कहते हैं कि थियोसौफी-सभा के सदस्यों के साथ चाहे वे अंग्रेज हों अथवा हिन्दुस्तानी, हम भ्रातृ-भाव से वर्तने को समुद्यत हैं। परन्तु वे यह भी कहते हैं कि स्वामीजी के अनन्तर आर्य्यसमाजियों के साथ वैसा ही वर्ताव करने का हमें कोई दृढ़ हेतु नहीं दीखता। स्वामीजी के साथ भ्रातृ-भाव से वर्ताव करने का यह कारण है कि वे बहुत से योरुप-वासी भाइयों के गुरु हैं। ये शब्द कल मुझे एक नवीन सभासद् ने कहे थे। वह पुरुष सैनिक समाचार के कार्य्यालय का प्रधान है।

इसी हेतु से मैने आपको, और दो-एक अन्य सज्जनों को सभा में भरती होने की सम्मति दी थी। रही यह कि आर्य्यसामाजिक हम से मिलें अथवा न मिलें—इसकी हमें परवाह नहीं है। इसमें उन्हीं की और कदाचित् समाजों की हानि है।

पुलिस के सबसे बड़े अधिकारी, हुंडरसन महाशय सभा में सम्मिलित हुए हैं। इससे हमारा अभीष्ट सर्वथा सिद्ध हो गया। हमारी सभा में सम्मिलित होते उन्होंने कहा कि मैं इसमें इसलिए मिलता हूँ कि इससे बड़े-बड़े लाभ पहुँचे हैं। आप और अल्काट ने अठारह मास में वह बात प्राप्त कर ली है, जो हम अंग्रेज बहुत वर्षों से भी नहीं कर पाए। उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों के बीच जो खाई है उसे आप भर रहे हैं। आपके कारण हम उनकी अधिक प्रतिष्ठा करने लगे हैं और वे हमसे घृणा छोड़ रहेहैं। वे हमारे काम की प्रतिष्ठा करते और श्रेष्ठ समझतेहैं। मुझे आशा है कि जैसे उनके विचार हैं वे वैसा ही कर दिखलायेंगे। परन्तु जब स्वामीजी का प्रसंग चला तो उन्होंने भी यह कहा कि थियोसौफी के समान स्वामीजी की सम्मति नहीं है। उनके विचार अनिषेधक और उदार नहीं दीखते। आर्य्यसमाज ईश्वर को हर्त्ता-कर्त्ता मानने वालों का एक जत्था है। ऐसी दशा में हम उनको भाइयों के सदृश क्यों जानें।

उपर्युक्त से अब आप विचार कर सकते हैं कि थियोसौफी-सभा में भरती होने से आर्य्यसमाजियों को हानि है अथवा लाभ। उनको लाभ अवश्य है और ऐसा आप देखेंगे भी। परन्तु यह नहीं सिद्ध होता कि हमने स्वामीजी के सामाजिकों को कभी भरती करने का उद्योग किया है। हमने तो कभी ऐसा नहीं किया इस हेतु से वे चाहे, थियोसौफी में न भी मिलें पर वे हमारे

भाई हैं। स्वामीजी ने अपने शब्दों द्वारा आर्यसामाजिकों के चित्त प्रायः हटा दिये होंगे। अस्तु, इस विषय में उनको अधिकार है।"

थियोसौफी-सभा में बहुत से अंग्रेजों के मिलने का वर्णन करती हुई मैडम अन्त में लिखती हैं—

इस पत्र का उलथा करके स्वामीजी को भेज देना। मैं जानना चाहती हूँ कि वे इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं। हम परस्पर मित्र रहेंगे अथवा अकस्मात् शत्रु बन जायँगे ? चुन्नालाल को मेरी ओर से प्यार करना। शिवनारायण और दूसरों को मित्र भाव।"

(हस्ताक्षर) एच. पी. ब्लैवट्स्की।

ऊपर के पत्र का स्वामीजी ने यह उत्तर दिया :—

"एच. पी. मैडम ब्लैवट्स्की जी ! आनन्दित रहो।

आपकी चिट्ठी ता० ८ अक्टूबर १८८० की लिखी हुई बाबू छेदीलाल रईस मेरठ-द्वारा मेरे पास देहरादून में पहुँची। उसका क्रमानुसार उत्तर सत्य निश्चय से देता हूं। आपके जो पत्र अमरीका से मेरे पास आये और उनका जो उत्तर मैंने दिया तथा सहारनपुर, मेरठ, काशी और फिर मेरठ में जो आपका मिलाप हुआ, उन सब के अनुसार और अपने निश्चय के अनुकूल मैं सदा व्यवहार करता हूँ। परन्तु आपका व्यवहार वैसा दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रथम आप लोगों ने जैसा लिखा था, जैसा प्रथम भेंट के समय विदित किया था, उसके अनुसार आपका बर्त्ताव कहाँ है ?

वे पत्र छपाकर प्रकाशित कर दिए गए हैं, जिनमें आपने लिखा था कि हम संस्कृत अध्ययन करेंगे और अपनी सभा को समाज की शाखा बना देंगे। जो पत्र मैंने आपके पास भेजे थे उनकी नकल भी मेरे पास है। देखिये, थोड़े दिन हुए जब आप से मेरठ में आर्यसमाज और थियोसौफी-सभा के विषय में बात-चीत हुई थी, उस समय मैंने सबके सामने क्या आपसे नहीं कहा था कि समाज के नियमों से सभा के नियमों में कुछ भी विशेषता नहीं है। यही बात मैंने बम्बई में भी पत्र द्वारा सूचित की थी। वैसे ही मैं अब भी मानता हूं, कि आर्यसमाजस्थों को धर्म्मादिक विषयों के लिए सभा में मिलना उचित नहीं है। यह बात आपने और अल्काट महाशय ने अपनी पुस्तक 'उपदेश और संवाद' में नहीं लिखी ? क्या यह नहीं कहा कि सत्य धर्म्म, सत्य विद्या,

यथार्थ सुधार और परमोपयोग की बातें जैसी आर्यावर्तीय मनुष्यों में सदा से चली आई हैं वैसी कभी कहीं थीं और न अब हैं ?

अब विचारणीय विषय यह है कि ऐसी दशा में थियोसौफी वालों को आर्यसमाज में मिलना चाहिये अथवा आर्यावर्त-वासियों को उस सभा में। देखिए, मैंने अथवा किसी आर्य सभासद् ने आज तक किसी भी थियोसौफिस्ट को आर्यसमाज का सभासद् बनाने का यत्न नहीं किया। आप अपनी आत्मा में विचारिये कि आपने क्या किया और क्या कर रही हैं। आपने कितने ही आर्यसमाजियों को अपनी सभा में भरती होने के लिए प्रेरणा की। कई सज्जनों से सभासद् बनने का दस रुपया चन्दा भी लिया। मेरठ में वार्त्तालाप के अनन्तर भी क्या आपने बाबू छेदीलाल को अम्बाले में प्रेरणा नहीं की ? शिमले से उनको ऐसा पत्र नहीं भेजा ? इन्हीं कारणों से मैंने मेरठ आर्यसमाज के उत्सव पर अवश्य कहा था कि यदि आपको मैडम अथवा महाशय वा कोई अन्य थियोसौफिस्ट और ऐसे ही किसी दूसरी सभा का सभासद् अपनी सभा में भरती होने के लिए कहे तो उसे यही उत्तर दीजियेगा। यदि आर्यसमाज के नियमों और उद्देश्यों के समान ही थियोसौफी आदि सभाओं के नियम हैं तो हम और आप एक ही हैं, और यदि नियमों में भेद है तो मिलने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब तक आर्यसमाज के नियमों में कोई बात खण्डनीय सिद्ध न हो जाय तब तक वे अखण्डित हैं। अब बताइए कि निर्भ्रान्त पोप की भाँति मेरे कथन हैं अथवा आपके ?

अन्य देशियों के समाज में मित्रता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसा कि स्वदेशियों के समाजों में होता है—यह बात मैंने उस समय कही थी, अब कहता हूँ और आगे को भी कहूंगा ! परन्तु ऊपर की बात मैंने जिस प्रसङ्ग पर कही थी वह यह है कि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'। अर्थात् जिनका देश एक है, भाषा एक है, जन्म और सहवास एक है, जिनके विवाहादि सम्बन्ध परस्पर होते हैं, उनको परस्पर जितना लाभ होता है, उनकी जितनी परस्पर प्रीति है, उतना लाभ और उन्नति भिन्न-देशवासियों को भिन्न-देशवासियों से नहीं हो सकती। देखिये, केवल भाषा का ही भेद होने पर मुझको और योरुपीय महाशयों को परस्पर उपकार करने में कितनी कठिनता होती है।

दूसरे दिन भी मैंने उन्हीं बातों को दुहराया था, क्योंकि रोगी के रोग का निदान करना और उसे औषध-पथ्य देना आवश्यक है। हम थियोसौफी-सभा के सदस्यों को आर्यसमाज का अवयवभूत शाखास्थ भ्रातृ-मण्डल मानते आये हैं और जहां तक बन पड़ेगा भविष्य में भी ऐसा ही मानेंगे। उनको आर्यसमाज में मिलने और दस रुपये चन्दा लेने का यत्न, न हमने पहले किया है और न ही अब करते हैं। हाँ, जो मनुष्य आर्यसमाज और सभा में नहीं हैं वे उपदेश सुनकर आर्यसमाज में स्वयं मिलते हैं। हम उनको प्रसन्नता से स्वीकार कर लेते हैं।

आप जो लिखती हो कि आपके बिना बम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्यसामाजिक हमारी सभा में सम्मिलित हैं, परन्तु हमने उनको भरती होने के लिए कभी नहीं कहा, यह सत्य नहीं है। आपने बम्बई में श्री समर्थदानजी आदि को और प्रयाग में पण्डित सुन्दरलालजी आदि सभ्यों को सभा में सम्मिलित होने के लिए अवश्य प्रेरित किया। इसका साक्षी मैं ही हूं। मैं जब तक न सुनता तो इसका पता मुझे कैसे हो सकता था! जैसे मेरा नाम सभासदों में लिखती हो वैसा अन्यत्र भी आपने किया होगा। यह बात निस्सन्देह है।

आप यह भी लिखती हैं कि आर्यसमाज के नियमों के विरुद्ध हम में यही बात है कि हम प्रत्येक धर्म्म की प्रतिष्ठा करते हैं। सब धर्म्मों के लोगों को अपने में मिलाते हैं। हमारी सभा का सदस्य होने के लिए उनके मार्ग में कोई बात रुकावट नहीं बन सकती। इसमें मैं आपसे पूछता हूं कि आपका धर्म्म क्या है? यदि आप कहें कि हमारा धर्म्म अमुक धर्म्म से विरुद्ध है तो विरुद्ध धर्म्म वाला मनुष्य आपकी सभा में नहीं मिल सकता। यदि यह कहो कि हमारा धर्म्म किसी से भी विरुद्ध नहीं है तो उसमें कोई काहे को मिलेगा? मुसलमान अपने से भिन्न धर्म्म वालों को अधर्म्मी कहते हैं और उनमें मिलना अनुचित समझते हैं। भला ऐसे धर्म्मों वाले लोग आप में कैसे मिल सकते हैं। यदि वे आत्मा और मन से अन्य-मतवालों के साथ प्रीति करते हैं तो उनका अपना धर्म्म जाता है। यदि अपना बनाए रक्खें तो आपकी सभा में नहीं रह सकते। एक चित्त से एक काल में दो कार्य नहीं किये जा सकते। इन सब बातों के उत्तर दीजिएगा। विशेषता से तो तभी वर्णन होगा, जब हम आमने-सामने बैठ कर वार्त्तालाप करेंगे।

क्या यह बात सर्वथा असम्भव नहीं है कि 'स्वामीजी ढाई वर्ष से हमारे सबसे उत्तम सभासदों में से एक हैं।' भला आप ही कहिए कि मैंने आपकी सभा का सदस्य बनने के लिए कब प्रार्थना-पत्र भेजा था ? मैंने कब कहा था कि मैं आपका सभासद् बनना चाहता हूँ ? मैंने जो बम्बई पत्र भेजकर आप को सूचित किया कि मैं वेदोक्त, सनातन और आर्यावर्तीय धर्म्म के बिना अन्य किसी सभा-समाज के नियमों को न कभी स्वीकार करता था, न ही अब करता हूँ और न आगे करूँगा। यह धर्म्म मेरे आत्मा में रमा हुआ है। चाहे प्राण भी चले जायँ, परन्तु मैं इस धर्म्म के विरुद्ध नहीं हो सकता।

यह अपराध आप लोगों का ही है कि विना कहे, सुने-सुनाये अपनी इच्छा से मेरा नाम आपने अपने सभासदों में लिख लिया है। सो सत्य क्यों कर हो सकता है ? क्या आप इस बात को भूल गई हो कि मेरठ में मैंने आपकी उपस्थिति में अल्काट महाशय को कहा था कि 'आपने बम्बई कौंसिल में मेरा नाम समासदों में क्यों लिखा ? जिसमें मेरी सम्मति न हो ऐसा काम आप कभी न कीजिएगा। जो काम आप लोग अपने मन से कर लोगे उसको मैं स्वीकार नहीं करूँगा।' इस पर अल्काट महाशय ने कहा था कि 'ऐसा कार्य हम कभी नहीं करेंगे।' बम्बई में मैंने चिट्ठी भी लिखी थी कि आपने अपनी इच्छा से जहां कहीं मेरा नाम सभासदों में लिखा हो, वहाँ काट दीजिये। इतना होने पर भी जो बात आपने लिखी है क्या वह सत्य ठहर सकती है ? क्या ही आश्चर्य की बात है ! आये तो विद्यार्थी और शिष्य बनने को, और चाहते हैं बनना गुरु और आचार्य ! ऐसी पूर्वापर-विरुद्ध वार्त्ता करना किसी के लिए भी योग्य नहीं है।

आप ईश्वर को हर्त्ता-कर्त्ता नहीं मानतीं यह इसी १९३७ के भाद्रपद की बात है। इस विषय में आपने पहले कुछ भी नहीं कहा। हाँ, प्रमोददास मित्र और डाक्टर लाजरस ने मुझसे काशीमें इसकी चर्चा कीथी। प्रमोददास को मैंने कहा कि आप मैडम का आशय नहीं समझे होंगे। मैंने दामोदर द्वारा आप से पुछवाया तो उसने कहा कि वे ईश्वर को मानती हैं। क्या उक्त वार्त्ता असत्य है। ? मेरी बातें भेद-कारिणी और विचित्र नहीं हैं, किन्तु आपकी बातें भेद उत्पन्न करने वाली हैं। मैं आपको भगिनी और मित्र समान मानता

रहा हूं। कोई विशेष कारण न हुआ तो ऐसा ही जानता रहूँगा। मै और सभी आर्य सज्जन सदा से यही मानते आए हैं कि सामान्यतया आर्यावर्त्त, इङ्गलैण्ड और अमरीका आदि सकल भूमण्डल के मनुष्य भाई हैं, परस्पर मित्र हैं और समान हैं। पर मानते हैं धार्मिक व्यवहारों के साथ, न कि असत्य और अधर्म्म के साथ।

यहाँ, अंग्रेज आर्यों को चाहे जैसा मानें। कोई राज्याधिकारी हों अथवा व्यावहारिक हों, मुझको भी चाहे अपनी समझ के अनुकूल यथेष्ट मानें। परन्तु मैं तो सब मनुष्यों के साथ सुहृद्भाव से वर्त्तता हूँ और वर्त्तता आया हूं। उन लोगों का यह कहना कि हम इसका कोई दृढ़ हेतु नहीं देखते कि स्वामीजी के अनन्तर अन्य आर्यसमाजियों से भी वैसा ही वर्त्तें, तब तक है जब तक वे आर्यावर्तीय आर्यों का पूर्व इतिहास,आचार,नीति, विद्या, पुरुषार्थ और न्यायादि उत्तम गुणों को नहीं जानते, वेदादि शास्त्रों के सच्चे अर्थ को नहीं समझते। जब उनको ऊपर की बातों का ज्ञान हो जायगा तो उनका भ्रम अवश्य दूर हो जायगा। तथापि मैं परमात्मा को धन्यवाद देता हूँ कि हमने आपस की फूट, विरोध और अत्याचार से, और जैन तथा मुसलमानों की पीड़ा से कुछ-कुछ स्वास्थ्य और स्वतन्त्रता प्राप्त की है। सभी सज्जन अपने अभिप्राय के अनुसार पुस्तकें रचते हैं। स्वाधीनता से उपदेश देते हैं। यदि भारतेश्वरी महाराणी, राज-सभा और आर्यावर्त्त में शासन करने वाले राजपुरुष धार्मिक,विद्वान् और सुशील न होते तो क्या मैं स्वतन्त्रता से व्याख्यान दे सकता? इसलिए पूर्वोक्त महात्माओं को हम धन्यवाद देते हैं।

आपको स्मरण होगा कि काशी की चिट्ठी के उत्तर में आपने मुझे लिखा था कि यदि आप भी वेदों को छोड़ दें तो भी हम नहीं छोड़ेंगे। आपकी यह बात धन्यवाद और प्रशंसा के योग्य है। यदि सभी यूरोपियन इस उत्तम बात में सहमत हो जायँ तो कैसा आनन्द हो। और यदि वे लोग इस सिद्धान्त को न भी मानें तो हम आर्यों और आर्यसमाजों की कोई हानि नहीं हो सकती। हमारे लिये यह कोई नवीन बात नहीं है। हम तो सृष्टि की आदि से वेदों को मानते चले आये हैं; क्या हुआ जो थोड़े समय से, अज्ञानवश, कुछ आर्य लोग वेद-विरुद्ध चलने लग गये हैं।

इस अवस्था में, जिसका जी चाहे आर्यसमाज में मिले। उनके न मिलने

से हमारी कुछ भी हानि नहीं हो सकती। हां, उनकी हानि अवश्य है। हम तो सबकी उन्नति में अपनी उन्नति करना इष्ट मानते हैं। हमारी कामना भी यही है। यह बात प्रत्येक मनुष्य कह सकता है कि अमुक मनुष्य से मेरा विचार बड़ा है। उसका विचार तुच्छ है। अमुक मनुष्य ईश्वर को हर्त्ता-कर्त्ता मानता है, फिर हम उससे क्यों प्रेम करें। परन्तु ये बातें आप के उस सिद्धान्त को काट देती हैं कि सबको अपना बन्धु जानना चाहिए।

सोचकर देखिए कि हानि के कारण किनकी ओर हैं। हमारा तो यह सिद्धान्त है ही कि किसी की हानि नहीं करनी चाहिए और सबका उपकार करना चाहिए। यहाँ हम यह बात कह सकते हैं कि यदि थियोसौफी वाले, आर्य्यसमाजों का विरोध करेंगे तो हमें कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकेंगे, किन्तु अपने भ्रातृ-भाव को नष्ट कर अपनी ही हानि कर लेंगे। हमारा तो यही स्वभाव है कि धार्मिक जनों से मित्र-भाव रखना और अधर्मियों को धार्मिक बनाना। अपनी सामर्थ्य से हम सबसे भ्रातृ-भाव रखते हैं और रखते रहेंगे। अब आप अपने पूर्वापर व्यवहार को समझकर यथेष्ट कीजिए। अल्काट महाशय को मेरा नमस्ते कह दीजिएगा।

दयानन्द सरस्वती।

माघ वदी ६ सं० १९३७

ऊपर के दोनों पत्रों को उद्धृत करते हुए भाषा की अपेक्षा भाव पर अधिक ध्यान दिया गया है।

मेरठ आर्य्यसमाज के उत्सव पर, अन्तिम व्याख्यान देते समय, उस अन्तिमाश्रमी महापुरुष ने अतीव अन्त की शिक्षायें दीं। उन्होंने कहा—"मुझे लोग कहते हैं, जो कोई आता है आप उसे ही भरती कर लेते हैं। मेरा इस विषय में स्पष्ट उत्तर है कि मैं वेद ही को सर्वोपरि मानता हूँ। वेद ही ऐसी पुस्तक है कि जिसके झण्डे तले सारे आर्य्य आ सकते हैं। इसलिए जो मनुष्य कह दे कि मैं वेदों को मानता हूं और आर्य हूं, उसे आर्यसमाज में सम्मिलित कर लो। ऐसे विश्वासी को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लोग भिन्न-भेद पर अधिक दृष्टिपात करते हैं परन्तु आप लोग परस्पर भेद-मूलक बातों की अपेक्षा मेल-मूलक बातों पर अधिक ध्यान दो। तुच्छ भेदों और विरोधों को त्याग कर मेल-जोल की बातों में मिलाप सम्पादन करो। आपस में मिलती बातों में मिल जाने से विरोध और भेद स्वयमेव मिट जाते हैं।

"अब आपको अपना कर्त्तव्य आप पालन करना चाहिये। अपने जीवन को ऊँचा बनाओ और अपनी आवश्यकताओं को आप पूर्ण करो। इस समय तो यह अवस्था है कि जब कोई प्रबल प्रतिपक्षी आ जाता है तो आप तार पर तार देकर, मुझे ही बुलाते हैं। किसी संशय के उत्पन्न होने पर मुझ पर ही अवलम्बित रहते हो, उपदेश कराने हों तो मुझ पर ही निर्भर करते हो। जब कभी आप में परस्पर की फूट, फूट निकलती है, वैमनस्य बढ़ जाता है, अनबन बढ़ने लगती है और वैर-विरोध उत्पन्न हो जाता है तो उसे मिटाने की चिन्ता मुझे ही करनी पड़ती है। मैं ही आकर आप में शान्ति-स्थापन करता हूँ। आपके अन्तःकरणों में अवनतिकारी अन्तर नहीं पड़ने देता। आपके पारस्परिक स्नेह के सुकोमल सूत्र को छीजने नहीं देता। परन्तु महाशयो! मैं कोई सदा नहीं बना रहूंगा। विधाता के नियम-न्याय में मेरा शरीर भी क्षणभंगुर है। काल अपने कराल पेट में सबको पचा डालता है। अन्त में इस देह के कच्चे घड़े को भी उसके हाथ टूटना है।

"सोचो, यदि अपने पांव खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे आंख मीचने के पीछे क्या करोगे। अभी से अपने को सुसज्जित कर लो। स्वावलम्बन के सिद्धान्त का अवलम्बन करो। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के योग्य बन जाओ। किसी दूसरे के सहारे की अपेक्षा अपने ही पर निर्भर करो। मुझे विश्वास है कि आपमें ऐसे अनेक सज्जन उत्पन्न होंगे जो उत्तमोत्तम कार्य्य कर दिखायेंगे। प्राणपण से अपने पवित्र प्रणों की पालना करेंगे। आर्य्य-समाज का बड़ा विस्तार हो जायगा। कालान्तर में ये वाटिकायें हरी-भरी, फूलीं-फली और लहलहाती दिखाई देंगी। ईश्वर-कृपा से वह सब कुछ होगा, परन्तु मैं नहीं देख सकूंगा।"

महाराज के इस भाषण का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सबके हृदय उछल पड़े। गात रोमाञ्चित हो गये। उनकी आँखें आंसुओं के बादलों से आच्छादित हो गईं। महाराज के कथन से ऐसा प्रतीत होता था कि वे होनी की निश्चित तिथि देखकर यह कह रहे हैं। अपने मानसपुत्रों को बिछुड़ते समय का उपदेश दे रहे हैं। मानो इस नौका का यह निपुण नाविक, अब आप, विदा हुआ चाहता है। इसलिए यात्रियों ही को अखिल खेप सौंपकर, नौका खेने के लिए खेवट बना रहा है।

: १३ :

परम योगी, प्रभु-भक्त : तर्क-सङ्गर के अद्वितीय योद्धा

महाराज, मेरठ के उत्सव को आशातीत सफलता प्रदान कर देहरादून को चल पड़े। मार्ग में सहारनपुर के रेलवे स्टेशन पर कुछ काल के लिए ठहरे। जब सहारनपुर नगर के आर्य्य पुरुषों को समाचार मिला कि गुरुदेव रेलवे स्टेशन पर विराजमान हैं तो वे, श्री दर्शनों के लिए वहाँ दौड़े चले आये। वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में, लक्ष्मीदत्त नाम के एक ज्योतिषी ने महाराज को कहा कि मैं ज्योतिष के अनुसार प्रश्नों के उत्तर दिया करता हूं। वे उत्तर सच्चे होते हैं। इस पर महाराज ने कहा—"ऐसे उत्तर निरे अटकल-पच्चू हुआ करते हैं। जैसे एक कौआ उड़ता हुआ, जब आम के पेड़ के नीचे से निकला तो अचानक उस पर, ऊपर से एक आम टूट पड़ा। उस फल की चोट से कौआ गिर कर मर गया! आम के लगने का ज्ञान न तो कौवे को था और न ही आम जानता था कि मुझसे वह मर जायगा। ऐसी बातें दैव-योग से हो जाया करती हैं। आपके प्रश्न कभी दैवयोग से सच्चे हो जाते होंगे। यदि गणना से सच्चे होते मानो तो गणित में तो कोई भूल नहीं होती। उसके सारे नियम शुद्ध हैं। परन्तु आपके सारे प्रश्न पूर्ण नहीं होते। गणित नियम से फलित होता तो उसमें भूल कदापि न होने पाती। फलित ज्योतिष को 'काकतालीय न्याय' के तुल्य ही समझना चाहिए।"

एक भक्त ने पूछा—"भगवन्! जन्म के समय जो दस दिन का सूतक माना जाता है क्या यह शास्त्रानुकूल है?" महाराज ने उत्तर दिया कि "मनुस्मृति के अनुसार तो, केवल नव-जात बालक की माता ही को एक रात का सूतक होता है—बच्चे के पिता तक को भी नहीं होता। यह सूतक-पातक का झमेला वैसे भी ठीक नहीं है। इनमें लोग सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि भले काम भी छोड़ बैठते हैं। कोई असत्य-भाषण और चौर कर्म्म आदि बुराइयों को तो नहीं छोड़ता। ऐसी रीतियों को मानकर क्या करना जिससे शुभ तो दूर हो जाय और अशुभ धड़ाधड़ होता रहे?"

श्रीमान् भोलानाथजी ने अति खेद से खिन्न-चित्त होकर कहा—"महाराज! जैन मत वालों ने समाचार-पत्रों में विज्ञापन निकलवाये हैं। उनसे प्रतीत होता

है कि वे लोग आपको कारागार में आबद्ध कराना चाहते हैं। इसी विषय के विज्ञापन सहारनपुर में भी स्थान-स्थान पर लगे हुए हैं।" यह वचन सुनकर महाराज के विमल, मधुर, मनोहर और प्रफुल्ल मुख-कमल का रङ्ग किंचिन्मात्र भी भङ्ग न हुआ। किन्तु उन्होंने गम्भीरता से कहा—"भाई सोने को जितना तपाया जाता है उतना ही कुन्दन होता है। विरोध की आंच से सत्य की कान्ति चौगुनी चमकती है। दयानन्द को तो यदि, कोई तोप के मुंह के आगे रखकर भी पूछेगा कि सत्य क्या है? तब भी उसके मुख से वेद की श्रुति ही निकलेगी। अब तो मैंने जैन मत के बहुत से ग्रन्थ देख लिए हैं। वे लोग मेरे प्रश्नों का उत्तर कदापि नहीं दे सकते।" इस प्रकार अपने सुधा-समान शब्दों से सेवकों के हृदय को प्रबल प्रोत्साहन प्रदान करते हुए महाराज देहरादून की गाड़ी में बैठ गये। जब गाड़ी हिलने लगी तो प्रेमीजन उनको नमस्कार कर अपने नगर को लौट पड़े।

स्वामीजी आश्विन सु० ४ सं० १९३७ को देहरादून में पधारे और लाला बलदेवसिंह की कोठी पर ठहरे। उनके शुभागमन और व्याख्यानों के विज्ञापन स्थान-स्थान पर लग गये। जिज्ञासु और श्रोताजन श्री-सत्सगों से अलभ्य लाभ उठाते। प्रश्न करने वाले वादी लोग भी उनकी सुतीक्ष्ण तर्क-प्रणाली से अपार प्रसन्नता प्राप्त करते।

कई पौराणिक पण्डित और पादरी महाशय वाद-प्रतिवाद की बातें तो बहुतेरी बनाते थे, परन्तु सरलता से संवाद करने के लिए सामने कोई भी न आया। एक दिन महाराज बैठे शङ्का-समाधान कर रहे थे। एक मौलवी कुछ पूछने के लिए आगे बढ़ा। परन्तु जब बोलने लगा तो उसकी जीभ लड़खड़ा गई।

लोगों के आग्रह पर, स्वामीजी एक दिन हवा घर (आबज़रवेटरी) देखने गये। उनका प्रधान प्रबन्धकर्त्ता एक यूरोपियन और मदखान मिस्त्री महाराज को प्रत्येक वस्तु, बड़े आदर से दिखाते थे। प्रसंग-प्रसंग पर स्वामी जी भी संस्कृत के श्लोक बोलकर बताते कि इन वस्तुओं का वर्णन हमारी पुरातन पुस्तकों में पाया जाता है।

महाराज व्याख्यान के आरम्भ में पद्मासन बांध और नेत्र बन्द करके प्रार्थना करते। उसमें पहले "ओ३म्" का उच्चारण गुंजाते। यह गूंज अतीव

मधुर और मनोहारिणी होती। कर्णगोचर होते ही मन मूर्छित हो जाता। ऐसा प्रतीत होता कि कोई वादन-कला-निपुण मनुष्य, सुर-मिली वीणा बजा रहा है। ऐसा रसीला स्वर किसी ने कभी नहीं सुना था, उनका ओ३म् नाद बड़ा लम्बायमान होता था। उनके होंठ बन्द कर लेने पर भी उसकी ध्वनि बड़ी देर तक प्रतिध्वनित होती रहती। ओ३म्-उच्चारण के अनन्तर स्वामीजी मन्त्र-पाठ गायन करते। तत्पश्चात् आँखें खोलकर, एक बार सारी सभा पर नेत्र-ज्योति डालते। उस समय बहुधा बहुत से मनुष्य यह अनुभव करने लग जाते कि हम किसी अज्ञात विधि से अत्यन्त प्रभावित हो रहे हैं। हमारी चित्त-वृत्तियां स्वामीजी की ओर आप ही आप खिची चली जाती हैं। महाराज के नेत्रों में, अवश्यमेव प्रबल आत्मिक अयस्कान्त था। जब वे नेत्र-ज्योति चहुँ-ओर फिराते तो लोगों के हृदयों में, तन्त्री के तारों की भाँति, झङ्कार होने लग जाता।

समालोचनात्मक भाषणों में वे पहले पूर्वपक्ष की स्थापना करते। उस पक्ष की पुष्टि में जो भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं उनकी एक लड़ी पिरो देते। उस समय सबको यही जान पड़ता कि इन तर्क-तीरों का प्रतिकार करने के समय स्वामीजी निपट निरुपाय हो जायँगे। इनका समाधान करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होंगे। परन्तु ज्योंही वे उत्तर-पक्ष प्रारम्भ करते और अपूर्व प्रतिभा-प्रभा से पूर्व-पक्ष का खण्डन करने लगते तो लोगों की कल्पना के कोट अपने कंगूरे-सहित धड़ाधड़ धराशायी होने लग जाते। सम्पूर्ण शङ्का-समूह का समूलोच्छेदन हो जाता। उस समय बाल की खाल उतारने वाले तार्किक भी महाराज की अलौकिक बुद्धि का आलोक देखकर आश्चर्य-चकित रह जाते। स्वामीजी का ईश्वर-चिन्तन के विषय पर एक व्याख्यान देहरादून-निवासियों के लिये, अमूल्य मणि के समान हो गया। उन्होने ईश्वर-भक्ति का वर्णन ऐसे भावों में किया कि लोगों के हृदय प्रेम-रस के प्रवाह से भरपूर हो गये। तन में रोमाञ्च हो आया। आँखों से आंसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने उस भाषण में यह भी कहा कि सन्ध्या अवश्य करो। यह ईश्वर का सत्संग है। उपासना-काल में उपासक अपने उपास्य के बहुत ही पास पहुंच जाता है। उपासना में ईश्वर के गुणों का विकास उपासक के भीतर अवश्य ही होता है।

महाराज के व्याख्यान दो घण्टे तक हुआ करते थे। वे उस समय घड़ी नहीं रखते थे। पर उन्होंने कभी दो-चार पल के लिए भी कालातिक्रम नहीं किया। ठीक समय पर उपदेश समाप्त हो जाता।

बहुत से सज्जनों ने महाराज की छवि लेने का आग्रह किया। वे पहले तो मानते ही न थे। कहते कि आज तक हमने किसी को अपनी प्रत्याकृति नहीं लेने दी। परन्तु लोगों के अत्यन्त अनुनय-विनय पर उन्होंने प्रत्याकृति उतरवाना स्वीकार कर लिया। कुंवरसिंह नाम के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने उनकी छवि ली। सिर पर साफे और गले में दुपट्टे वाली छवि देहरादून में ही ली गई थी।

देहरादून के अधिवासियों को सन्मार्ग दिखाने के उपरान्त महाराज मार्गशीर्ष वदी ८ संवत् १९३७ को मेरठ आ गये। उन दिनों वैदिक यन्त्रालय के प्रवन्धकर्त्ता महाशय बख्तावरसिंह जी ने कुछ गोलमाल कर रक्खा था। इस लिए स्वामीजी उसी कार्य में लगे रहे। यन्त्रालय प्रवन्धकर्त्ता पण्डित भीमसेन जी को नियुक्त कर मार्गशीर्ष वदी १२ को वहाँ से प्रस्थान कर आगरा नगर में सुशोभित हुए। यहाँ, महाराज लाला गिरधारीलाल के मकान पर ठहरे।

श्रीमान् लक्ष्मणप्रसाद जी की स्वामीजी में भक्ति थी। वे ही सारे आगरे ने उनके कार्य के प्रबल पोषक थे। उन्होंने अपने इष्टमित्रों से मिलकर, स्वामी जी के व्याख्यानों का प्रबन्ध मुफीदे-आम स्कूल के मकान में किया। यह स्थान पीपल मण्डी में था। वहाँ वे पौष वदी १२ से माघ वदी ७ तक प्रतिदिन सायं सात बजे व्याख्यान देते रहे।

महाराज के उपदेशों में एक अद्भुत रस था। तीन-तीन चार-चार कोस तक से लोग सुनने आते। उनकी मनोरंजक उक्तियाँ और अटूट युक्तियाँ सुनकर वे लट्टू हो जाते। उनके तर्क के सामने कोई चिरकाल तक नहीं ठहर सकता था। एक बङ्गाली डाक्टर आगरे में निवास करता था। वह कट्टर नास्तिक था। उसकी तर्क-शक्ति बड़ी प्रबल मानी जाती थी। उसने लोगों पर अपने ज्ञान-विज्ञान का सिक्का जमा रक्खा था। वह एक दिन बड़ा दल साथ लेकर स्वामीजी के व्याख्यान पर गया। व्याख्यान के अनन्तर शंका-समाधान के लिए समय दिया जाता था। उस दिन सबसे पहले यह बङ्गाली महाशय ही उठे। उस समय लोगों ने एक-दूसरे को कहा कि आज स्वामीजी को एक विशाल

वज्रशिला से टक्कर लेनी पड़ी है। डाक्टर महाशय को जीतना 'टेढ़ी खीर' है। परन्तु थोड़े ही समय में लोगों का आश्चर्य सीमा को पार कर गया। उन्होंने देखा कि बङ्गाली महाशय, दो-तीन बार बोल कर, मुंह से झाग उगलते हुए हार कर बैठ गये। उस दिन महाराज ने, आगरा-निवासियों के हृदयों पर, अपने तर्कनातीत तर्क का ठप्पा लगा दिया। सभी लोग धन्य-धन्य करते वहाँ से लौटे।

श्री स्वामीजी के व्याख्यानों के प्रभाव से पौष वदी ९ को आर्य्यसमाज की स्थापना हो गई। यहाँ उन्होंने ठाकुर श्यामलालसिंह जी के तीन पुत्रों को अपने पवित्र कर-कमलों से सविधि यज्ञोपवीत पहनाये।

एक दिन महाराज ने आगरे के बिशप महाशय से मिलकर कहा कि "आओ, पहले सब आपस में मिलकर एक धर्म्म स्थिर कर लें और नास्तिक-वाद को निर्मूल किया जाय।" बिशप महाशय ने एकता के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ दिखाईं। उनके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि यदि वेद पवित्र को सभी सज्जन स्वीकार कर लें तो ये सब आपत्तियाँ तुरन्त दूर हो सकती हैं। वार्तालाप के पश्चात् महाराज उनका बड़ा गिर्जा देखने के लिए गये। जब वे उसके भीतर प्रवेश करने लगे तो एक ईसाई ने कहा—'महाशय! सिर पर से पगड़ी उतारकर भीतर प्रवेश कीजिये। स्वामीजी आगे नहीं बढ़े और उससे बोले कि हमारे देश की रीति के अनुसार सिर पर पगड़ी धारण करके किसी जगह जाना प्रतिष्ठा का चिह्न है। अपने देश की सभ्यता के प्रतिकूल हम नहीं करेंगे। परन्तु यदि आप कहें तो हम पाँव से जूता उतार सकते हैं। उसने उत्तर दिया कि दोनों का उतारना उचित है। तब स्वामीजी भीतर नहीं गये और बराण्डे में से उनकी मूर्तियाँ देखकर चले आए।

एक दिन स्वामीजी गो-रक्षा पर व्याख्यान देते हुए बता रहे थे कि गो-वध से कैसी-कैसी हानियाँ हो रही हैं। पास ही बैठा हुआ एक ब्राह्मण बे-तरह बिगड़ा और कुवचन बकने लगा। लोगों ने उसे शान्त करते हुए पूछा कि देवता वस्त्रों से बाहर क्यों हुए जाते हो ? उसने उत्तर दिया कि 'उन्होंने गो-हत्या से होने वाली हानियों का वर्णन करते समय 'गो-वध' शब्द अपने मुख से क्यों उच्चारण किया ?' महाराज ने तब उसे कहा कि यह शब्द इसलिए उच्चारण किया था कि गो-वध से जो-जो हानियाँ जगत् में हो रही हैं उनका

लोगों को ज्ञान हो जाय और वे गो-रक्षा करने में तत्पर हो जायँ।

इस उत्तर से उस ब्राह्मण का पारा और भी ऊपर चढ़ गया और वह गालियाँ देता हुआ सभा से चल पड़ा! स्वामीजी ने खेद से कहा—"हमारे देश के लोग हिताहित से कितने अज्ञान हैं! ये नाम से तो इतने चिढ़ते हैं कि आग बन जाते हैं परन्तु उसके विरुद्ध काम करने का नाम तक नहीं लेते। जिस देश में ऐसे विवेक-विचार-विवर्जित जन वास करते हों बताइए, वहाँ बुद्धि को स्थान कहाँ है?

एक दिन, महाराज एक भेड़िये की माँद में पले हुए मनुष्य को देखने गये। उसे बचपन में ही एक भेड़िया उठाकर ले गया था। फिर वह किसी प्रकार ईसाइयों के हाथ लग गया। महाराज ने जब उसको देखा तो उस समय वह एक कुरता धारण किये हुए था और थोड़े-थोड़े मानुषी व्यवहार भी सीख चुका था। स्वामीजी से नमस्कार पूर्वक उसने पैसा माँगा। इस पर स्वामीजी ने उससे कहा कि इतना चिर पशुओं में वास करने पर भी तुमने पैसों का प्रेम न छोड़ा। महाराज के संकेत से उनके साथी भक्त ने दो-चार आने उसको दे दिये।

पण्डित कालीदासजी सेण्ट जोन्स कालेज में संस्कृत के मुख्याध्यापक थे। वे किसी समय, छः सात मास पर्यन्त श्री विरजानन्द जी की सेवा में भी अध्ययन करते रहे थे। आगरे के बहुत से पण्डित और श्रद्धालु सेठ उनके निकट जाकर कहने लगे—"स्वामी दयानन्द जी ने सारे नगर-निवासियों के निश्चय हिला दिये हैं। पौराणिक देव-मूर्तियों से लोगों की धारणा उठती चली जाती है। आप उनको शास्त्रार्थ द्वारा परास्त कीजिए जिससे उनके विचारों के फैलने में कुछ रोक-थाम हो जाय।" पण्डित कालीदास जी ने कहा—"स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है। मैं जब श्री विरजानन्द जी के पास पढ़ा करता था, उन्हीं दिनों, ये महानुभाव भी वहाँ अध्ययन करते थे। गुरुजी के आगे, ये कभी-कभी ऐसे प्रबल तर्क उपस्थित करते थे कि उस पर गुरुजी को भी कहना पड़ता कि इसका उत्तर हम कल देंगे? भाई ऐसे बड़े विद्वान् से, वैर-विरोध बाँधना अपने को भाड़ में भूनना है। तुच्छ पतङ्ग, दीपक का प्रतिपक्ष ही क्या कर सकता है।" एक दिन, पण्डित कालीदास जी श्री-सत्संग में गये और वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में बोले—"भगवन्! सन्ध्या का

विधान तो त्रिकाल के लिए है। आप दो काल सन्ध्या करना क्यों बताते हैं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि "धर्म्म-शास्त्र में दो काल ही सन्ध्या करना लिखा है। त्रिकाल सन्ध्या की रीति सर्वथा अनार्ष है।"

महाराज कठिन विषयों का समाधिस्थ होकर मनन किया करते। उनकी धारणा थी कि जब मनुष्य अन्तर्मुख होता है तो उस समय उसमें ईश्वरीय ज्ञान का सीधा प्रकाश पड़ने लग जाता है।

ब्रह्मानन्द जी अपने युवाकाल में जब आगरा कालेज में अध्ययन करते थे तो उन्हीं दिनों, श्री महाराज के वहाँ धुँआधार व्याख्यान होते थे। ब्रह्मानन्दजी एक दिन सत्सङ्ग प्राप्त करने के लिए महाराज के निवास-स्थान पर गये। उस समय स्वामीजी तो स्थान पर नहीं थे, परन्तु भीमसेनजी और ज्वालादत्त जी आदि पण्डित बैठे आत्म-चर्चा कर रहे थे। ब्रह्मानन्द जी ने उनसे पूछा—"आप कोई आत्म-ज्ञानी जन भी बता सकते हैं?" उत्तर में ज्वालादत्त जी ने कहा—"इस समय सबसे बड़े आत्मदर्शी हमारे स्वामीजी महाराज हैं। हमने उनको अनेक बार अचल ध्यान में लीन देखा है। उनको योग की सकल सिद्धियाँ सम्प्राप्त हैं। हमें वेद-भाष्य लिखाते समय, कोई कठिन विषय उपस्थित होने पर, वे कई बार बीच में से उठकर चले जाते हैं और कोठरी के किवाड़ लगाकर बड़ी देर तक अन्तर्ध्यान बैठे रहते हैं। फिर बाहर आकर पहले लिखे में से कई वाक्य और पंक्तियाँ तक कटवा देते हैं और उनके स्थान पर नवीन वाक्य की योजना लिखाते हैं। उनका अन्तःकरण इतना विमल और इतना विशुद्ध है कि सातवीं कोठरी में भी की गई वार्त्ता का आभास, उसमें पड़ जाता है। उन्होंने कई बार हमारे प्रच्छन्न मनोरथों को हमारे आगे वर्णन किया है। वे हमें उपदेश दिया करते हैं कि जब मनुष्य के हृदय की सकल ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तो उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तिलों में तेल की तरह आत्मा में ही परमात्म-देव रमे हुए हैं इसलिए उनका भी उसी समय ज्ञान हो जाता है।"

आगरा-निवासियों के हृदयों को, अपने अमृतोपदेश से तृप्त करके, महाराज इस देश के राजों-महाराजों को सुधारने के लिए राजस्थान को प्रस्थान कर गये।

महर्षि का उपकार

ऋषियों के मर्म को वेद के धर्म को था भुलाया—
महर्षि ने हमें आ जगाया ॥१॥
वेद-ज्योति जगाई ऋषि ने, ज्ञान-गंगा बहाई ऋषि ने।
वेद का भाष्य कर, सत्य का अर्थ करके दिखाया ॥ महर्षि० ॥२॥
थी छुआछात की यहाँ बीमारी, विधवा करती थीं हाहाकारी।
उस छुआछात की, जन्म की जात को था मिटाया ॥ महर्षि० ॥३॥
गीत गाती तेरी दुनिया सारी, बालपन से तू था ब्रह्मचारी।
वेद-प्रचार में, देश-उपकार में, जहर खाया ॥ महर्षि० ॥४॥
तेरी जय-जय सभी कर रहे हैं, तेरे ग्रन्थों में हम पढ़ रहे हैं।
रास्ता जो तूने दास 'नन्दलाल' को है बताया ॥
महर्षि ने हमें आ बचाया ॥५॥



राजस्थान काण्ड

: १ :

धर्मवीर शिष्य और कर्मवीर गुरु का मिलाप

फाल्गुन सुदी दशमी संवत् १९३७ को महाराज भरतपुर में पधारे और रेल के स्टेशन के निकट एक प्रतिष्ठित पुरुष के उद्यान में ठहरे। उन्होंने वहाँ दश दिन तक व्याख्यान दिए और फिर चैत्र वदी पंचमी को प्रस्थान कर जयपुर में सुशोभित हुए। यहाँ, वे बदनपुरा में, अचरौल के ठाकुरों के उद्यान में विराजे। महाराज के सत्संग से जयपुर-वासी प्रेमी जनों ने बहुत लाभ उठाया। फिर वहाँ से चलकर वे वैशाख सुदी सप्तमी संवत् १९३८ को अजमेर में पधारे। यहाँ उन्होंने सेठ फतेहमल जी के उद्यान में डेरा किया।

विज्ञापनों द्वारा सर्व साधारण को सूचना देकर व्याख्यान आरम्भ किये गये। श्रोता लोग भी अतिशय उत्साह से सत्संग में आते और एकाग्र भावना से सुनते थे। महाराज के व्याख्यान, प्रतिदिन सायं के सात बजे से रात के नौ बजे तक होते, परन्तु बीच में उठकर चले जाना तो कहाँ, कोई हिलने-जुलने तक का भी नाम न लेता। सभी उपस्थित जन नीरव, निस्तब्ध और निर्निमेष होकर, अपने ललचाए हुए लोचनों से महाराज की मंगलमयी मनोहर मूर्ति का दर्शन किया करते। सभा-सागर में चहुँ-ओर चुप्पी का अचल भाव छाया होता। सुनते हुए लोग तृप्त नहीं होते थे। यही चाहते थे कि महाराज सुनाते जायँ, व्याख्यान समाप्त न करें। उपदेश की समाप्ति पर, सभी श्रोता स्वामीजी को शत-शत सहस्र-सहस्र साधुवाद देते घरों को जाते। उनके उपदेशों में वर्णनातीत रस होता था। जो एक दिन इसका आस्वादन कर जाता उसे ऐसा चस्का लगता कि आगामी दिन, वह सबसे पहले पहुँचने की चेष्टा करता।

नसीराबाद-निवासी श्री हीरालालजी को महाराज ने, यथाविधि अपने श्री हाथों से यज्ञोपवीत धारण कराया। उसको धर्म्म-कर्म्म का अतीव

उपयोगी उपदेश भी दिया।

कुछ एक पेटार्थी पण्डित लोग परमहंस जी से शास्त्रार्थ करने की कोरी गप्पें हाँकते तो थे, परन्तु वह मन उन्हें नहीं मिला था, वह हृदय उनको नहीं प्राप्त था और वह आत्मा उनमें निवास नहीं करता था, जिसमें स्वामीजी के सामने आने का साहस हो सकता।

पण्डित श्री लेखराम जी के हृदय में महाराज के दर्शनों की तीव्र लालसा उत्पन्न हो आई। वे, कुछ काल के लिए अपने सारे कामकाज छोड़कर, पंजाब से अजमेर जा पहुचे। ज्येष्ठ व० ४ सं० १९३८ के प्रातः काल श्री सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने; भक्ति-भाव के भार से नम्रीभूत होकर, श्री चरणों में विनीत नमस्ते निवेदन किया। उनके प्रेम-रस से रसीले, विमल लोचनों को, मधुर मुखमण्डल को, शोभाशाली विशाल ललाट को और पतित-पावनी परम पवित्र आकृति को अवलोकन कर, मोहियाल वंश के सुवीर सुपूत को अतिशय प्रसन्नता उपलब्ध हुई। वे मार्ग की सारी थकान तत्काल भूल गये। वे अतृप्त लोचनों से स्वामीजी के सुन्दर स्वरूप को देखने लगे।

पण्डितजी ने बद्धाञ्जलि होकर पूछा कि भगवन्! आकाश और ब्रह्म दोनों पदार्थ व्यापक हैं। ये दोनों एक स्थान में एकत्र क्योंकर रह सकते हैं? महाराज ने एक पास का बड़ा पत्थर उठाकर पूछा कि इसमें अग्नि व्यापक है या नहीं? उन्होंने कहा कि हाँ अवश्यमेव है। फिर उन्होंने उसी पाषाण-खण्ड में वायु, जल, मृत्तिका, आकाश और परमात्मा की व्यापकता पूछी। पण्डित जी ने सबकी व्यापकता स्वीकार कर ली। तब स्वामीजी ने कहा—"भद्र! आपने समझ लिया कि एक पत्थर में सब पदार्थ व्याप्त हो रहे हैं। इस व्यापकता का सरल सिद्धान्त यह है कि जो पदार्थ जिससे सूक्ष्म होता है वह उसमें व्याप्त हो सकता है। परमात्मदेव परम सूक्ष्म हैं। इसलिए वे सब पदार्थों में परिपूर्ण हो रहे हैं।"

भगवान् ने ताड़ लिया कि भक्त की हृदय-भूमि उपजाऊ है। उसमें धर्म-कल्पतरु का बीज बोने की भावना से उन्होंने कहा कि आप यथेष्ट प्रश्न पूछकर अपने संशय निवारण कर लीजिए। उस समय पण्डितजी ने दस प्रश्न पूछे। उनमें से, पीछे से उन्हें ये थोड़े से स्मरण रह गये :—

प्रश्न—भगवन्! जीव और ब्रह्म के भिन्न-भिन्न होने में कोई प्रमाण दीजिए।

उत्तर—यजुर्वेद का सारा चालीसवाँ अध्याय जीव और ब्रह्म का भेद वर्णन करता है।

प्रश्न—मुसलमान और ईसाई आदि मतों के मनुष्यों को क्या शुद्ध कर लेना चाहिए?

उत्तर—हाँ, अवश्यमेव शुद्ध कर लेना चाहिए।

प्रश्न—बिजली क्या वस्तु है और किस प्रकार उत्पन्न होती है?

उत्तर—बिजली सर्वत्र है। रगड़ से अभिव्यक्त हो जाती है। बादलों की विद्युत् भी वायु और बादलों के संघर्षण से प्रकट होती है।

महाराज ने पण्डितजी को कहा—"जब तक आपकी आयु पच्चीस वर्ष की न हो तब तक विवाह कदापि न कराइएगा।" धर्म्म-वीर, जब अपने परम-धीर और कर्म्म-वीर गुरु से विदा होने लगे तो उनसे बोले—"गुरुदेव! कोई अपना स्मारक चिह्न प्रदान कीजिए।" महाराज ने निज अनन्य भक्त को, अतिवत्सल भाव से, एक प्रति अष्टाध्यायी की प्रदान की। तत्पश्चात् होनहार आर्य्यपथिक उनके अरुणवर्ण चरण छूकर वहाँ से अपने प्रान्त को लौट आए।

एक दिन पश्चिमी विज्ञान का एक धुरन्धर पण्डित स्वामीजी के निकट आया। वह योग की सिद्धियों को भ्रममूलक मानता था। उसने योग विभूतियों के विषय में पूछा कि क्या आप इनको मानते हैं? स्वामीजी ने योग-सिद्धियों को सिद्ध करते हुए कहा कि क्या आप समझते हैं कि मेरा इतना बड़ा काम बिना योग-सिद्धि के ही हो रहा है। इतने ही शब्दों से, उसका वज्रसदृश कड़ा मन पिघलकर मोम सा नर्म हो गया और उसे आर्य्यसमाज से प्रीति हो गई।

मसूदा-राज्य के नरेश, राव श्री बहादुरसिंहजी को जब समाचार मिला कि गुरुदेव अजमेर में विराजमान हैं तो उन्होंने एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को निमन्त्रण पत्र देकर श्री-सेवा में भेजा और मसूदा राज्य को सौभाग्य प्रदान करने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना पर श्री महाराज आषाढ़ वदी द्वादशी संवत् १९३८ को मसूदा में पधारे और राम उद्यान में ठहरे। आगामी दिन से उनके व्याख्यान धर्म्म, राजनीति और पुनर्विवाह आदि विषयों पर होने प्रारम्भ हो गये।

पादरी शूलब्रेड, एक देसी पादरी सहित स्वामीजी से मिलने आये। उस समय राव महाशय स्वामीजी के पास ही बैठे थे। उन्होंने एक नौकर को आज्ञा दी कि पादरी महाशय के लिए यहाँ कुर्सी ले आओ। जब कुर्सी लाकर, वह फर्श पर रखने लगा तो महाराज ने कहा कि फर्श को उलटकर कुर्सी रखिए। राव महाशय के पूछने पर उन्होंने कहा कि आप सब फर्श पर बैठे हैं। यदि कुर्सी फर्श पर रक्खी जायगी तो आगन्तुक के जूते फर्श पर होंगे। यह सभ्यता की बात नहीं है कि जिस आस्तरण पर लोग आसन लगाये बैठे हों, उस पर एक मनुष्य, जूते समेत पाँव रखकर, कुर्सी पर बैठे।

शूलब्रेड महाशय से स्वामीजी ने अनेक प्रश्न पूछे, परन्तु वे उत्तर कुछ भी न दे सके। शूलब्रेड के पूछने पर महाराज ने कहा कि वेदों में गोमेध, अश्वमेध आदि का वर्णन नहीं है। एक देशी ईसाई ने कहा कि 'स्वामीजी! आप राजों-महाराजों को ही उपदेश देते हैं, परन्तु निर्धनों में जाकर उन्हें नहीं समझाते। इस पर उन्होंने कहा—"मैं सर्वत्र पर्यटन करता हूँ। मेरे व्याख्यान भी सर्वसाधारण के लिए होते हैं। इनमें छोटे से छोटा मनुष्य, किसी रुकावट और प्रतिबंध के बिना आ सकता है। वैसे तो कुंए के पास प्यासे ही आया करते हैं, न कि कुआँ प्यासों के पास जाया करता है।"

उन्हीं दिनों में वहां जैनियों का साधु सिद्धकरण भी आया हुआ था। एक दिन वह घूमते हुए स्वामी जी को मिल गया। वह बड़े उजड्डपन से उनको कहने लगा—"आपकी तोंद तो बड़ी बढ़ रही है। क्या इसमें ज्ञान भरा हुआ है? इस पर लोहे का तवा बाँध लीजिए। नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि यह फट जाय। आपको ज्ञानाजीर्ण भी हो रहा है।" महाराज ने उस साधु के अक्खड़ और फक्कड़पन पर कुछ भी दृष्टि न दी और न ही फबती उड़ाने पर कर्णपात किया। गम्भीर भाव से उन्होंने प्रश्न किया—"आप लोग मुख पर पट्टी क्यों बाँधते हैं? और गर्म जल क्यों पीते हैं?" इस पर देर तक वादानुवाद होता रहा।

प्रातःकाल जब स्वामीजी भ्रमणार्थ जाया करते तो राव महाशय दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा महाराज को देखा करते। उस दिन, जब उन्होंने देखा कि उनके साथ कोई बातचीत कर रहा है तो वे तुरन्त घोड़े पर सवार होकर वहाँ जा पहुंचे। राव महाशय को आते देख साधुजी खिसक गये। स्वामीजी,

राव महाशय के साथ वार्त्तालाप करते हुए स्वस्थान पर चले आये। श्रावण वदी द्वितीया संवत् १९३८ को महाराज ने निम्न लिखित प्रश्न सिद्धकरण के पास भेजे—

"जैन मत के अन्तर्गत आप 'ढूंढक' लोग मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा समझते हैं। आपका यह सिद्धान्त भ्रममूलक है। जीव अजर और अमर है। वह मुख की पवन से नहीं मर सकता। यदि प्राणियों को पीड़ा देने से पाप का भागी होना मानते हो तो यह भी अयुक्त है। प्राणधारी को पीड़ा पहुंचाये बिना तो निर्वाह ही नहीं हो सकता। यदि आपका यह कथन हो कि सारा वायु-मण्डल जीवों से भरा पड़ा है। मुख पर पट्टी बांधने से जितनों का बचाव हो जाय उतना ही अच्छा है तो भी ठीक नहीं। जैसे आग जलाकर द्वार बन्द कर देने से उष्णता बढ़ जाती है इसी प्रकार मुंह बन्द रखने से वायु अधिक उष्ण हो जाती है और इससे जीवों को अधिक पीड़ा पहुँचती है। मुख की भांति नाक से भी तो पवन निकलती है। उससे भी जीव मरते होंगे! तब आप नाक पर पट्टी क्यों नहीं बाँधते? जैसे नली द्वारा वायु बड़े वेग से लगती है ऐसे ही इससे जीवों का नाश भी होता होगा। इत्यादि युक्तियों से आप अपने निश्चय के अनुसार, अहिंसक नहीं हो सकते। मुख पर वस्त्र बांधने से दुर्गन्ध भी बढ़ जाती है। इससे अधिक रोग बढ़ते हैं। दुर्गन्ध बढ़ाने वाला मनुष्य अधिक अपराधी हुआ करता है।

"जो सादे पानी के पीने में दोष मानते हो और उष्ण कराकर पीते हो, यह भी आपकी भारी भूल है। तुम्हारे मन्तव्य के अनुसार, यदि जल जीवमय है तो उष्ण करने से उन्हें अधिक पीड़ा होती होगी। वे जीव, जीवित जल जाते होंगे। यदि कहो कि हम तो जल को उष्ण नहीं करते इसलिए जलीय जीवों को जलाने के भागी, हम नहीं बन सकते, तो आपका यह भी कथन सत्य नहीं। यदि आप उष्ण जल न लें तो उसे कोई गर्म न करे। इस कारण, आप उनकी हिंसा के भागी अवश्य हैं।

"आपके मत में ऐसी ही अनेक अयुक्त बातें पाई जाती हैं। आप लोगों का यह मानना कि पैसा भर कन्द में अनन्त जीव हैं, सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है। भला सान्त में अनन्त कैसे समा सकते हैं?"

इसका जो उत्तर साधु सिद्धकरण ने दिया उसका सार यह है—

"जब किसी मकानमें आग जलती हो तो उसके द्वार में से वायु के जो जीव भीतर जाते हैं वे मर जाते हैं। ओट से जाने वाले नहीं मरते। ऐसे ही मुख पर पट्टी बांधने से मुख-वायु द्वारा अधिक जीव नहीं मरने पाते। चूल्हे पर रखे हुए देगचे में जब भाप निकलती है तो उस पर हाथ रखने से हाथ जलने लग जाता है। परन्तु यदि उस पर कपड़ा आदि रख दो तो उसमें से होकर जो भाप जायगी वह अधिक उष्ण न होगी। ऐसे ही मुख पर वस्त्र रखने से वायु के जीव नहीं मरते।"

इसका उत्तर स्वामीजी ने फिर लिखकर भेजा—"वायु सब प्राणियों के जीवन का कारण है। इसके बिना कोई भी जीव, जी नहीं सकता। इसके संयोग के बिना आग भी नहीं जलती। सर्वथा निर्वात स्थान में रक्खा हुआ दीपक भी बुझ जाता है। ज्वाला को यदि बाहर जाने के लिए द्वार का मार्ग न मिलेगा तो वह दूसरे मार्ग से बलपूर्वक बाहर निकल जायगी; किन्तु ठण्डी न होगी। इसी प्रकार मुख पर पट्टी बाँधने से नाक आदि द्वारों द्वारा भीतर की वायु बलपूर्वक बाहर जाकर, आपके माने हुए जीवों का हनन करेगी। भाप पर हाथ रखने से वह शीतल नहीं हो जाती, किन्तु यदि हाथ न रखा जाय तो वह चारों ओर फैलकर शीघ्र ही शीतल हो जाती है। बर्तन के मुख पर हाथ रखने से वह इसलिए नहीं जलती कि उष्ण वाष्प सीधी ऊपर को चली जाती है। यदि आगे से उसे रोक दिया जाय तो आघात खाकर, वह चौगुने बल से,दूसरे टेढ़े मार्ग से बाहर निकल जायगी। आपका वायु के जीवों पर दया का भाव सृष्टि-नियम के प्रतिकूल है। यदि उष्णता से ठण्डी वायु के जीव मर जाते हैं तो ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से, जब पवन भी अत्यन्त तप्त हो जाती है और अतीव उष्ण लू चलने लगती है, उस समय, कोई जीव जीता नहीं रहना चाहिए। ऐसे ही उष्ण वायु के जीवों का, पौष-माघ के जाड़ों में, प्राणान्त हो जाता होगा।"

जब लोग स्वामीजी का प्रत्युत्तर साधु सिद्धकरणजी के पास लेकर गये दो ढाई सौ मनुष्यों की भीड़-भाड़ हो गई। लोगों ने साधुजी से कहा कि अब आप इसका उत्तर लिख दीजिए। परन्तु उसने तो पहले भी बड़ी कठिनता से ज्यों-त्यों करके उत्तर दिये थे। इस बार तो वह सर्वथा साहस हार बैठा। उसने उत्तर देना स्वीकार न किया।

साधुजी के जी छोड़ देने से जैन लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनको अपने मत में भारी भ्रम दीखने लगे। उधर महाराज भी, प्रति-दिन अपने भाषणों में जैन मत की अयुक्तता सिद्ध करते रहते थे। इसका अन्तिम परिणाम यह निकला कि एक दिन बहुत से जैनियों ने मिलकर महाराज की सेवा में प्रार्थना की—"आपने हमारे नेत्र खोल दिये हैं। अब हमें जैन मत की असारता स्पष्ट दीखने लगी है। अपनी अपार कृपा से, हमें यज्ञोपवीत धारण कराकर, दीक्षित आर्य्य बना दीजिए।"

महाराज ने तब, राव महाशय को यज्ञ-सामग्री के लिए आदेश किया। श्रावण पूर्णमासी संवत् १९३८ के दिन राव महाशय की ओर से महोत्सव रचाया गया। उसमें बृहद् हवन हुआ। फिर श्री महाराज ने अपने शुभ हाथों से तैंतीस भद्र पुरुषों को यज्ञोपवीत प्रदान किये। उन्हें आर्य्य-धर्म्म की दीक्षा दी। मसूदा के जैनियों के जैन-मत-त्याग से सारे मारवाड़ के जैनियों पर प्रभाव पड़ा। आर्य्यों के उत्साह भी चतुर्गुण हो गये। भाद्रपद कृष्णा द्वितीया को भरतपुर के राजपूतों, क्षत्रियों, वैश्यों, कायस्थों और चारण लोगों ने श्री स्वामीजी से यज्ञोपवीत ग्रहण किए। उस दिन भी राव महाशय ने उत्सव और यज्ञ रचाया।

कहते हैं कि मारवाड़ के राज्यों में, जो लोग मुगलों के समय में मुसलमान हो गये थे उनको वहाँ के आर्य्य लोग, स्वामीजी के समय तक, अपनी लड़कियाँ देते थे। महाराज ने ऐसे आर्यों (हिन्दुओं) को आमन्त्रित किया और सभा लगाकर उनको उपदेश दिया कि जान-बूझ कर अपनी प्यारी पुत्रियों को मुसलमान न बनाओ। उन पर यह अनीति, अन्याय और अनर्थ न करो। महाराज के वचन लोगों के हृदयों में घर कर गये। उन्होंने वहीं प्रण किया कि हम आगे को इस घोर अपराध के भागी न बनेंगे। इस प्रकार स्वामीजी ने बीसियों आर्य्य बालिकाओं के धार्मिक जीवन को बचा लिया।

रायपुर राज्य से महाराज के पास निमन्त्रण पर निमन्त्रण आने लगे। उन्होंने राव महाशय से प्रस्थान की अनुमति माँगी। गुरु महाराज के प्रस्थान का प्रस्ताव सुनकर राव महाशय का जी भर आया। उन्होंने विनय की—"भगवन्! आपका यहाँ से गमन कर जाना मेरे लिए अतीव कष्टदायक है, परन्तु श्री-चरणों को रोका भी नहीं जा सकता। सेवक आपकी आज्ञाओं को

भली-भाँति पालन करता रहेगा और यथाशक्ति वेद-भाष्य में भी साहाय्य किया करेगा।"

महाराज के प्रस्थान के दिन राव महाशय ने सम्मान-सभा की योजना की। किले की डेवढ़ी के आगे एक सुन्दर मण्डप रचा गया। उसमें स्वच्छ और बहुमूल्य फर्श बिछाया गया। स्वामीजी की बग्घी उनके निवास-स्थान से चलकर, नगर में से होती हुई, सभा-मण्डप के सामने आ गई। सारी सभा ने उठकर उनका स्वागत किया। एक ऊँचे सिंहासन पर आरूढ़ होकर, उन्होंने उस समय राजा-प्रजा के धर्मों का अत्युत्तमता से निरूपण किया। उपदेश के अनन्तर राव महाशय ने उठकर अभिनन्दन-पत्र पढ़ा। उसमें स्वामी जी के उपकारों की प्रभूत प्रशंसा की गई। इसके उपरान्त राव महाशय ने श्री महाराज के गले में पुष्पमाला पहनाई और चरणों पर पाँच सौ रुपया रखकर नमस्कार किया। आशीर्वाद देते हुए स्वामीजी ने भी फूलों का हार, अपने मङ्गलमय हाथों से राव महाशय के गले में डाला। तत्पश्चात् राव महाशय आदि सज्जनों से वार्त्तालाप करते हुए स्वामीजी उठकर बग्घी में बैठ गये। कोई आध कोस तक चार सौ मनुष्य उन्हें पहुँचाने गये। अन्त में स्वामीजी ने गाड़ी खड़ी करके उनको उपदेश दिया और नगर को लौटा दिया। राव महाशय तो लगभग चार कोस तक उपदेश सुनते चले गये। अन्त में अत्याग्रह से महाराज ने उनको लौटाया।

महाराज भाद्रपद कृष्णा नवमी १९३८ को मसूदा से विदा हुए और अगले दिन रायपुर में पहुँच गये। यहाँ उन्होंने माधोदास की वाटिका में डेरा किया। उनका शुभागमन सुनकर, ठाकुर हरिसिंह अपने स्वजनों-परिजनों समेत श्री-दर्शनों को आये। एक सुवर्णमुद्रा और पाँच रुपये भेंट कर चरण छूकर नमस्कार किया। महाराज की अनुमति पाकर सभी यथायोग्य स्थान पर बैठ गये। कुशल-क्षेम प्रश्न के पश्चात् स्वामीजी ने समागत सभ्यों को एक अत्युत्तम उपदेश दिया। प्रसङ्गानुसार ठाकुर महाशय को समझाया कि प्रजा-रञ्जन, कर्त्तव्य-पालन, शासन-सुधार, भद्र और कुलीन कर्म्मचारियों की नियुक्ति पर विशेष ध्यान देना चाहिये। स्वामीजी के कथनों से कुछ-एक सत्ताधारी मुसलमान बहुत लाल-पीले हुए। उनको, वहाँ किसी विधि से, वेदना पहुँचाना अपने वश से बाहर की बात जान; अन्त में उन्होंने एक काजी

महाशय को स्वामीजी के साथ ला भिड़ाया। उत्तर-प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने कुरान की पुस्तक भूतल पर रख दी। इतने ही से काजी महाशय कपड़ों से बाहर होने लगे और झुंझलाकर बोले - "आपने यह क्या अनर्थ ढाया है ? कुरान को पाँव के स्थान पर क्यों रख दिया है ?"

स्वामीजी ने कहा—"काजी जी घबराइए नहीं। सोचिये तो सही, ये कागज बनते किन पदार्थों से हैं। स्याही के प्रस्तुत होने की विधि भी विचारिये। मुद्रणालय में छपे पत्रों की क्या दशा होती है और वे कहाँ-कहाँ रक्खे जाते हैं, इस क्रम पर भी टुक दृष्टि डालिये।"

काजी महाशय सर्वथा निरुत्तर होकर उठ खड़े हुए और अपने साथियों-सहित वहाँ से चले आये।

पञ्जाब-निवासी श्रीमान् रूपसिंह जी, देशाटन करते हुए, श्री-दर्शनों के निमित्त रायपुर में पहुँचे। महाराज के पवित्र चरणों को स्पर्श करके उन्होंने बड़ी भक्ति भावना से निवेदन किया —"भगवन्! आपने पंजाब प्रान्त को तो अपने पुनीत पदार्पण से पवित्र किया, परन्तु महाराज सीमाप्रान्त में क्यों नहीं पधारे ?" महाराज ने उत्तर में कहा —"महाशय, आप लोगों की ओर से हमें पूर्ण निश्चिन्तता है। इस समय तो राजस्थान में प्रचार की बड़ी आवश्यकता है।"

स्वामीजी के उपदेश, उनके निवास-स्थान पर प्रतिदिन हुआ करते। उनसे ठाकुर महाशय भी लाभ उठाते। ठाकुर महाशय एक यज्ञ कराने का भी उद्योग कर रहे थे, परन्तु उनकी ठकुरानी के देहान्त का समाचार आ जाने से उनकी मनःकामना मन ही में रह गई! महाराज ने जब देखा कि ठाकुर महाशय शोकाकुल हो रहे हैं तो वह भी प्रस्थान के लिए समुद्यत हो गये। एक सज्जन ने स्वामीजी से कहा —"आप भी ठाकुर महाशय के यहाँ शोक प्रकाशित कर आइए।" इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि "भद्र! मैंने तो सारे सांसारिक बन्धन तोड़ दिये हैं। किसी का जीना और मरना मेरे सम्मुख अब समान है। मैं न तो किसी के जन्म पर प्रसन्नता का प्रकाश करने जाता हूं और न ही मरण पर शोक ही प्रकट करता फिरता हूँ। मेरा सम्बन्ध तो उपदेश और धर्म्म के अतिरिक्त किसी से कुछ भी नहीं है।'

यहाँ स्वामीजी ने वेदाङ्ग-प्रकाश समास प्रकरण तक लिख लिया था।

बीस दिवस तक रायपुर में निवास करके महाराज जिस दिन प्रस्थान करने लगे उस दिन ठाकुर महाशय ने अपने पिता और प्रतिष्ठित बन्धुओं को भेजकर उनको बड़े आदर के साथ विदा किया।

भाद्रपद सुदी १५ संवत् १९३८ को रायपुर से प्रस्थान कर स्वामीजी ब्यावर पधारे। अगले दिन पता लगते ही लोग दल बाँधकर और मण्डलियाँ बनाकर श्री-दर्शनों को आने आरम्भ हो गए।

पादरी शूलब्रेड और बिहारीलालजी कई दिनों तक धर्म्म-चर्चा करने का आनन्द लूटते रहे। और भी अनेक सज्जनों ने अपने संशय और भ्रम मिटाये। यहाँ महाराज ने कई दिनों तक मनोहर उपदेश दिए।

चन्दूलाल जी के पिता अति श्रद्धालु भक्त थे। स्वामीजी में उनकी बड़ी भावना थी। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र को पुकार कर कहा—"बेटा चन्दूलाल! स्वामीजी की सेवा-शुश्रूषा अवश्य किया कर। ऐसे महापुरुषों का मंगल-मिलाप अमूल्य पदार्थ है।"

पिता के आदेशानुसार चन्दूलाल जी, श्री-चरणों में चित्त के उच्च-भाव से जाते और सेवा किया करते। चन्दूलाल जी के विचार वेदान्त के ढाँचे में ढले हुए थे। उन्होंने इस विषय पर स्वामी जी से प्रश्न भी पूछे। महाराज ने उनसे कहा—"भद्र! अभी आप नवयुवक हैं, इस तात्त्विक मर्म को समझ नहीं सकेंगे। आप, हमारे रचे सत्यार्थ-प्रकाश का ध्यानपूर्वक पाठ करते जाइए। आपके सारे संशय आप ही आप दूर हो जायेंगे।" चन्दूलाल जी ने कालान्तर में सत्यार्थ-प्रकाश के पाठ ही से पूर्ण विश्वास प्राप्त कर लिया।

स्वामीजी की बताई विधि से, प्रतिदिन २१ प्राणायाम करने से, उनका पुराना पेचिश रोग दूर हो गया। इस रीति के अनुसार, उनके एक मित्र का अति पुरातन अर्श-रोग जड़-मूल से जाता रहा।

ब्यावर में महाराज ने बारह-तेरह दिन तक निवास किया और फिर वे आश्विन वदी त्रयोदशी संवत् १९३८ को मसूदा में पधारे। वहाँ १५ दिन तक विश्राम किया। बनेड़ा के ठाकुर के अत्याग्रह से आश्विन शुक्ला १४ को मसूदा से चलकर, मार्ग में तीन स्थानों में एक-एक रात ठहरते, वे बनेड़ा में जा विराजे। मसूदा-नरेश की ओर से महाराज को बनेड़ा तक पहुँचाने के लिए एक तांगा, एक रथ, उपकरण लादने के लिए एक गाड़ी और चार

अश्वारोही सैनिक गए। बनेड़ा के राजा महाशय ने उनका अत्यादर से स्वागत किया और नगर से बाहर झामरा मन्दिर के निकट तम्बू लगाकर, उनमें निवास कराया।

राजा महाशय ने अपने गुरु से मिलकर निश्चय किया कि तीन-चार दिन तक स्वामीजी से कोई प्रश्नोत्तर न किया जाय। इतने दिनों में यदि हमें ज्ञात हो गया कि उनके सम्मुख प्रश्नोत्तर करने का हममें सामर्थ्य है तो फिर जो कुछ पूछना होगा पूछ लेंगे। सायंकाल जब, राजा महाशय श्री-सत्सग में आए तो उस समय महाराज कौपीन लगाए एक कृष्ण-वर्ण आसन पर विराजमान थे। उनके भाग्यशाली विशाल भाल की शुभ शोभा को, उनके विमल नेत्रों की निर्मल ज्योति को, उनके कमनीय मुखमण्डल की उज्ज्वल कान्ति को और उनकी दिव्य देह की दैवी दीप्ति को दूर ही से देखकर, राजा महाशय के हृदय में भक्ति का प्रवाह उमड़ पड़ा। वे प्रेम-रस में गद्गद हो गए। अति निकट आकर श्री चरण-स्पर्श करते हुए उन्होंने निवेदन किया—"भगवन्! यह हमारे सौभाग्य की शुभ सूचना है कि श्री महाराज यहाँ पधारे हैं। आपके शुभ दर्शनों से सारा नगर कृतार्थ हो गया है।" महाराज ने भी राजा महाशय को कुशल-मंगल और योग-क्षेम पूछा और कहा कि आप कोई प्रश्न पूछिये। उन्होंने जीव-ब्रह्म के विषय में प्रश्न किया जिसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जीवात्मा से ब्रह्म न्यारा है। फिर स्वामी जी ने समझाया कि जैसे आकाश सारे मन्दिर के भीतर-बाहर परिपूर्ण है, परन्तु मन्दिर आकाश से भिन्न ही बना रहता है, ऐसे ही परमात्मा जीवात्मा में रमा हुआ है, परन्तु जीव उससे न्यारे ही रहते हैं। एक दिन राजा जी के साथ राज-पण्डित भी आये। वार्त्ता महीधर-भाष्य पर चल पड़ी। स्वामी जी ने महीधर-भाष्य का ऐसा खण्डन किया कि राजगुरु से उसका कोई भी उत्तर न बन आया।

महाराज धर्म्म-प्रचार से भी बनेड़ा-वासियों का मंगल साधित करने में तत्पर थे। उनके भाषणों में सैकड़ों जन आते थे। एक दिन चक्राङ्कितों की समालोचना करते हुए कहा कि यदि एक अंग के दग्ध करने से स्वर्ग मिलता है तो भड़भूजे के भाड़ में पड़कर भुन जाने से तो तत्काल मुक्ति मिल जानी चाहिए। श्री स्वामी-सत्संग से राजा महाशय ने अलभ्य लाभ उपलब्ध

किया। वेद पर उनका निश्चय पक्का हो गया। उनके दोनों राजकुमारों को भी सेवा में बैठाकर शुभ शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बनेड़ा के अधिवासियों में धर्म्म-मेघ बरसाकर श्री महाराज चित्तौड़ को चल पड़े।

कार्तिक सुदी ५ संवत् १९३८ को महाराज चित्तौड़ में सुशोभित हुए और गम्भीरी नदी के तीर पर, रुण्डेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे। उन दिनों चित्तौड़ में बड़ी चहल-पहल थी। सर्वप्रिय, लाट रिपन महोदय की वहाँ राज-सभा लगने वाली थी। इसलिए उदयपुर के अन्तर्गत जितने भी राजे और ठाकुर थे सब अति सजधज से वहाँ एकत्र हो रहे थे। मेवाड़ राज्य की सारी शोभा, अतिशय तड़क-भड़क की वेश-विभूषा में वहाँ शोभायमान थी। श्रीयुत राणा सज्जनसिंह जी, अपने स्वजन समूह और कर्मचारी वर्ग-सहित सुशोभित थे।

स्वामीजी का सत्संग प्रतिदिन सायंकाल लगा करता। उसमें मेवाड़ राज्य के प्रायः सभी राजे जाते, श्री-दर्शनों और उपदेशों से लाभ उठाते। उनके उपदेशों में श्रोताओं की बड़ी भारी संख्या हुआ करती। कविराज श्यामलदास जी स्वामीजी के अति प्रेमी भक्त थे। वे प्रतिदिन, श्री-सत्संग में जाते समय अपने साथ एक दक्षिणी शास्त्री को भी लिवा ले जाते। छः सात दिवस तक शास्त्रीजी ने महाराज से 'पदार्थ छः हैं अथवा सात' के विषय पर बात-चीत की। स्वामीजी ने छः ही पदार्थों की सत्ता सिद्ध करते हुए, सप्तम पदार्थ, अभाव का अति प्रबल प्रमाणों से खण्डन किया।

स्वामीजी के सुगुण-सुमनों की शुभ सुगन्ध श्री राणा सज्जनसिंह तक भी पहुँच गई। उनकी निष्कलङ्क कीर्ति का मधुर कीर्त्तन उनके कानों ने भी आस्वादन किया। एक दिन श्रीराणा जी ने कविराज फतेहकरण जी और एक राज-पण्डित को श्री स्वामीजी के पास, उनका गुण-ज्ञान और रहन-सहन आदि व्यवहार देखने के लिए भेजा। उन दोनों व्यक्तियों ने वहाँ से लौटकर श्री राणा जी के सामने जगद्गुरु के गुणगान और गौरव-गरिमा का भूरि-भूरि गायन किया। उसे सुनकर श्री राणा जी के हृदय में श्री-दर्शनों की उत्कट इच्छा प्रगट हो आई। एक दिन, वे अपने प्रतिष्ठित राजों-सहित श्री सेवा में आते समय बोले—"हम स्वामीजी के पास चुपचाप जाना चाहते हैं। उनके

आगे हमारे नाम-ठाम का निर्देश, दिग्दर्शन-रूप में भी नहीं होना चाहिए। हम एक निःस्पृह संन्यासी से अपना सम्मान कराना नहीं चाहते।"

श्री सेवा में पहुँचकर श्री राणाजी ने परोपकार-परायण परमहंसजी को परमादर से नम्र नमस्कार किया और फिर वे पास पड़े पटड़े पर बैठ गये। उस समय महाराज ने राजधर्म्म और राजकीय कर्तव्य-कर्म्म का ऐसी उत्तमता से वर्णन किया कि सबके मुख से धन्य-धन्य की ध्वनि निकलने लगी। जैसे कोरे घड़े में पानी की बूँद रच जाती है, चिट्टे-दुपट्टे पर वसन्ती रङ्ग बस जाता है और अयस्कान्त मणि से संघर्षण पाकर लोहे में आकर्षण समा जाता है, ऐसे ही, उपदेश का एकएक वचन महाराणा के महत्त्वपूर्ण मन में घर करता चला गया। उनका हृदय अनुपम प्रभाव से परिपूर्ण हो गया। व्याख्यान की समाप्ति पर श्रीमहाराज ने शाहपुराधीश की ओर नेत्र-ज्योति फिरा कुशल-क्षेम पूछा। फिर श्रीमहाराज जी की ओर निहारकर कहा—"आपका पहले तो साक्षात्कार कभी नहीं हुआ दीखता।" एक बार तो शाहपुराधीश मौन रहे, परन्तु दूसरी बार पूछने पर उन्होंने कहा—"आप, राणा श्री सज्जनसिंहजी हैं।" तब स्वामीजी आत्मिक अयस्कान्त-दृष्टि से निहारते हुए, अपनी सुधा-समान वाणी से बोले—"राणाजी! श्रीमन्त का इस प्रकार चुपचाप आना और एक साधारण आसन पर बैठ जाना शोभा नहीं देता।"

श्री राणाजी ने अति नम्रता से निवेदन किया—"भगवन्! आप ऐसे सन्तों के समीप साधारण अवस्था में आने और साधारण आसन पर बैठने ही में हम गृहस्थों की शोभा और सौभाग्य है। दूसरी सभाओं में तो हमें राजसी ठाठ-बाट से जाना ही पड़ता है, यदि संन्यासियों के सत्सङ्ग में भी, उसी बाहर की बन-ठन में आये तो विशेषता ही क्या हुई? यही तो एक आसन है जहाँ, आकर शासन-कर्त्ता भी नम्रता सीखते हैं।" श्रीराणाजी उस दिन के सत्सङ्ग से बड़े प्रभावित होकर राज-भवन में लौटे। उन्होंने एक बार गाड़ी भेजकर महाराज को अपने भवन पर निमन्त्रित किया और उपदेश सुनने के अनन्तर उदयपुर में पदार्पण करने की प्रार्थना की। श्री महाराज ने, बम्बई से लौटते समय उदयपुर में आने का वचन दे दिया।

: २ :

मातृशक्ति की मान-कथा

• स्वामीजी के हृदय में स्त्रियों के लिए अतिशय सम्मान का भाव था। उन्होंने स्त्री-जाति के सम्बन्ध में कभी समालोचना तक नहीं की। सब आचार्य्यों में एक स्वामी दयानन्द ही ऐसे हैं जिन्होंने स्त्रियों के गौरव को बढ़ाया है। उनके लिए समान अधिकारों की घोषणा की है। उनसे पहले जितने भी अर्वाचीन आचार्य्य हुए हैं वे सब, एक स्वर होकर स्त्रियों की परतन्त्रता का पोषण करते हैं, उनको शूद्र-पद प्रदान करते हैं। स्त्री-जाति की जितनी निन्दा वेदान्त के आचार्य्यों ने की है, भूतल पर उतनी कदाचित् ही किसी दूसरे ने की होगी।

स्वामी दयानन्दजी स्त्री-जाति की पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्के पक्षपाती थे। वे उनको द्विज-पद प्रदान कर गये हैं। शास्त्राधिकार दे गये हैं। उनके किसी ग्रन्थ में भी महिला-मण्डल के महत्व को बट्टा लगाने वाला, कोई वचन नहीं मिलता। उस महामुनि के विमल मन में मातृ-मण्डल का कितना महत्त्व भरा हुआ था उसका पूर्ण प्रकाश इस कथा से होता है:—

एक दिन स्वामीजी व्याख्यान के अनन्तर कई राजों और पंडितों सहित भ्रमण करने जा रहे थे। मूर्तिपूजा पर युक्तियाँ-प्रतियुक्तियाँ चल रही थीं। आगे ग्रामीण लोगों का एक देवालय आ गया। उस समय वहाँ बहुत से छोटे-छोटे बच्चे मिल-जुलकर स्वच्छन्दतापूर्वक खेल-कूद रहे थे। स्वामीजी ने वहाँ एकाएक सिर नीचा कर दिया और फिर आगे चल पड़े। एक साथी पण्डित ने कहा—स्वामीजी! प्रतिमा-पूजन का खण्डन चाहे जितना करो, पर देव-बल का भी प्रत्यक्ष प्रभाव है कि देवालय के सामने. आपका मस्तक आप-ही-आप नीचा हो गया। महाराज यह सुनते ही उन्हीं पाँव पर खड़े हो गए और उन बालकों में खेलती हुई एक चतुर्वर्षीया, विगत-वस्त्रा, बालिका की ओर संकेत करके बोले—"देखते नहीं हो यह मातृ-शक्ति है, जिसने हम सब को जन्म प्रदान किया है!" ये शब्द सुनते ही सारी संङ्गति पर सन्नाटा छा गया, सभी मूक हो गये। आसन पर लौट आने तक, उन लोगों के कानों में वही शब्द गूँजते रहे।

जीवनगिरी नामक एक संन्यासी वहाँ थोड़ी देर से ठहरे हुए थे। स्वामी जी ने उनको शास्त्रार्थ करने के लिए आहूत किया, परन्तु कवि श्यामलदासजी ने बीच में पड़कर गिरीजी को बचा दिया। जीवनगिरी स्वामीजी का सम्मान सहन न कर सका। वह रात-दिन अपने चित्त को, ईर्ष्या की चिता पर चढ़ा, अकारण ही कोयले समान काला बनाता रहा।

जिस दिन महाराज ने प्रस्थान करना था उस दिन श्री राणाजी ने बग्घी भेजकर महाराज को अपने भवन पर निमन्त्रित किया। उनको भक्ति-भाव से सम्मानित कर पांच-सौ रुपए भेंट किए और श्रीचरण छूकर प्रार्थना की--"भगवन्! उदयपुर में यथा-सम्भव शीघ्र ही दर्शन दीजिएगा।"

महाराज ने दो मास पर्यन्त चित्तौड़ में निवास किया और फिर वे अति सम्मान से विदा होकर बम्बई को प्रस्थान कर गये।

इन्दौर-नरेश चिरकाल से श्रीदर्शनों को चाहते थे और इन्दौर पधारने की प्रार्थना भी किया करते थे। परन्तु महाराज, जब बम्बई जाते हुए, वहाँ उतरे तो दैवयोग से वे कहीं अन्यत्र गये हुए थे। न्यायाधीश, श्रीनिवासजी ने उनको बड़ी आव-भगत से ठहराया और सेवा-शुश्रूषा की। एक सप्ताह पर्य्यन्त जनता को अपने सत्सङ्ग-सुधा से सींच कर स्वामीली पौष सुदी एकादशी १९३८ को बम्बई नगर में पधारे। उनका इस वार का आगमन स्थानीय समाज के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में था। महाराज की गाड़ी जिस समय रेलवे-स्टेशन पर पहुँची उस समय श्रीमान् अलकाट महाशय, आर्य्यसमाज के सभासदों-सहित, वहाँ उपस्थित थे। जब वे गाड़ी से उतरे तो सब नम्रता से नमस्ते कह कर उन्हें मिले। महाराज ने भी अपनी मधुवर्षिणी वाणी से अनुपम प्रेम प्रदर्शित करते, सब सज्जनों को क्रमशः कल्याण पूछा। तत्पश्चात् गाड़ी में बैठकर बालुकेश्वर पर गो-शाला नाम के स्थान में निवास किया। वह स्थान समुद्र तट पर है, सागर के उत्ताल तरङ्ग उसके साथ आकर टकराते हैं। यहाँ रहकर स्वामीजी ने विशेषता से लिखने का कार्य्य किया।

बम्बई के नागरिक भवन में पादरी थूसफ महाशय ने माघ वदी १३ सं० १९३८ को एक व्याख्यान दिया। व्याख्यान का विषय था—"ईसाई धर्म्म ही एक नारायणी धर्म्म है और सारे संसार पर इसी का विस्तार होगा।" स्वामीजी ने माघ वदी १४ को उक्त पादरी महाशय को एक पत्र लिखा—

"आपने जो अपने व्याख्यान में ईसाई मत को नारायणी धर्म्म और सारे भू-मण्डल पर फैलने वाला बताया है, यह सर्वथा असत्य है, यदि आप अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए समुद्यत हैं और यह नहीं चाहते कि यहाँ के लोग बिना प्रमाण ही आपके कथन को मान लें तो मैं अति प्रसन्नता से आपके साथ संवाद करने के लिए कटिवद्ध हूँ। आगामी आदित्यवार, सायं के पाँच बजे का समय, फ्रामजी काऊसजी इन्स्टीट्यूट का स्थान मैं व्याख्यान के लिये नियत करता हूँ। आपको यह रुचिकर न हो तो कोई दूसरा स्थान नियत कर लीजिए। आप और मैं दोनों एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ हैं, इसलिये यह आवश्यक है कि दोनों के उत्तर और प्रत्युत्तर का अनुवाद करके सर्व-साधारण को सुना दिया जाय। सारा संवाद लेख-बद्ध हो। उस पर हम दोनों के हस्ताक्षर हों, यह सवाद सभ्य-सभा में होना उचित है। इस संवाद को अन्त में मुद्रित कराकर प्रकाशित किया जाय, जिससे लोगों को ज्ञान हो कि कौन-सा धर्म्म परमेश्वर-प्रदत्त है।"

महाराज ने इस पत्र का अनुवाद अल्काट महाशय से कराकर भेजा। पादरी महाशय ने उत्तर में लिख दिया कि संवाद करना मुझे स्वीकार नहीं है। तत्पश्चात् नियत तिथि पर महाराज ने ईसाई मत खण्डन पर व्याख्यान दिया। उसमें उन्होंने अति मनोरञ्जक समालोचना की। उनका व्याख्यान समाप्त होते ही अल्काट महाशय ने भी ईसाई धर्म्म पर युक्तियुक्त आक्षेप किये।

बम्बई-आर्य्यसमाज का उत्सव बड़े उत्साह से मनाया गया। उसमें एक दक्षिणी पण्डित का वेद-गान लोगों के लिये अतीव चित्ताकर्षक सिद्ध हुआ। उत्सव पर महाराज के अमृतोपदेश भी अपूर्व प्रभाव उत्पन्न करने वाले थे। उस उत्सव में दानापुर से श्री जनकधारीलाल जी आदि कई सज्जन श्री-दर्शनों को वहाँ आये। महाराज के मंगल-मिलाप और मधुमय मनोहर वार्त्तालाप से उनको अति प्रसन्नता प्राप्त हुई। स्वामीजी ने उनको कहा— "दानापुर से चलते समय आप की यह कामना थी कि वहाँ चल कर अमुक-अमुक प्रश्न पूछेंगे। सो इस समय अवकाश है जो कुछ पूछना हो पूछ लीजिये।" वे बड़ा आश्चर्य करने लगे कि स्वामीजी ने हमारी मनःकामना तक को कैसे जान लिया है।

श्री जनकधारीलाल, महाराज की कोठी से बाहर बैठकर अपने पूर्व-चिन्तित कठिन प्रश्नों को, स्वामीजी से पूछने के लिए लेखबद्ध करने लगे। वे ज्यों ही पत्र पर कोई प्रश्न लिखते थे त्यों ही उनका प्रबल उत्तर, उनके भीतर प्रकाशित हो जाता था। इस प्रकार उन्होंने सब प्रश्नों को एक-एक करके लिखा और उत्तर सूझने पर उनको काट डाला। इस काट-छाँट से प्रश्न तो उनके पास कोई न रहा, परन्तु उनके आश्चर्य्य का कोई ठौर-ठिकाना न था। वे सोचते थे कि जिन युक्तियों को हम वज्र-शिला के सदृश समझते थे वे आज, रूई के फाहे की भाँति आप ही आप उड़ी चली जा रही हैं। मानों कोई अपूर्व तार्किक, हमारे अन्तःकरण में आसन लगाकर, उत्तर दे रहा है। इतने में स्वामीजी बाहर आ गये और हँसकर बोले—"कहिये, प्रश्न लिख लिये ?" जनकधारीलाल जी ने विनय की कि और तो कुछ पूछने योग्य रहा ही नहीं, अब केवल ईश्वरोपासना की विधि बताइये। महाराज ने कहा—"उपासना की विधि तो हमने आपको दानापुर ही में बताई थी। प्रतीत होता है आप उसके अनुसार नहीं करते हो।"

जनकधारीलाल जी ने प्राणायाम करके दिखाया। उसको देखकर उन्होंने कहा—"आप प्राणायाम यथाविधि नहीं करते। चाहिए तो यह कि जब प्राण को भीतर से बाहर निकाला जाय तो उस समय मूलाधार चक्र में आकर्षण उत्पन्न किया जाय। उसमें रहने वाली वायु को ऊपर उठाया जाय। सो वह आप से बन नहीं पड़ता, इसलिए साधारण रीति से प्राणायाम किया करो।" जनकधारीलाल जी ने फिर पूछा—"चंचल मन इधर-उधर भाग जाता है, इसे कैसे ठहराया जाय और किस रूप में कहाँ ठहराया जाय ?"

स्वामीजी ने कहा—"मूलाधार से ब्रह्म-रन्ध्र तक, जिस चक्र में आपका चित्त स्थिर हो सके उसी में ठहरा लो, रूप की, अभ्यास में कोई भी आवश्यकता नहीं है। यदि चित्त किसी प्रकार भी स्थिर न हो तो मूलाधार से ब्रह्म-रन्ध्र पर्य्यन्त, प्रत्येक चक्र में चमकते हुए मनकों की धारणा करो। उनके साथ ओम् का जप ध्यान से करो। अथवा त्रिकुटी में, सुई की नोक के समान बिन्दु की कल्पना करके उसमें धारणापूर्वक ओम् का ध्यान करो। ज्यों-ज्यों आपकी धारणा दृढ़ होती जाय त्यों-त्यों उस तिल के खण्ड करते जाओ।

यहाँ तक कि अन्त में बिन्दु के बिना ही आपकी धारणा ध्रुवता को धारण कर ले।"

श्री जनकधारीलाल जी के एक साथी ने भी प्रार्थना कि भगवन्! मुझे भी उपासना की पद्धति का उपदेश दीजिए। महाराज ने उसके मुख पर अपने नेत्रों की ज्वलन्त ज्योति को डालकर कहा कि आप अभी यम-नियम का ही पालन कीजिए। उसने तीन बार यही प्रश्न पूछा और महाराज ने भी तीनों वार उसे यम-नियम का निभाना ही बताया। वह भद्र पुरुष, कुछ खिन्न और उदास होकर, कोठरी से बाहर निकल आया। जब उसके साथी भी उसे आ मिले तो वह उनको उलाहना देकर बोला कि इतनी दूर से यहाँ आये, परन्तु प्राप्त कानी-कौडी भी न हुई! इस पर उसके संगियों ने उसे समझाया कि स्वामीजी तो मनुष्य के मनों के गुप्त भेदों को भी जान जाते हैं। वे यदि आपको यम-नियम न बताते तो आप ही बतायें और क्या कहते?

उस समय उस भद्र पुरुष को भी अपने किए दुष्कर्म का ध्यान आ गया। वह मन ही मन कहने लगा कि जब, मैं दायभाग के एक बड़े भारी झगड़े में झूठी साक्षी देकर आया हूँ और यहाँ से जाकर भी उसी में मिथ्या-कथन करूँगा तो महाराज ने मुझे ठीक ही उपदेश दिया है। इससे अधिक का अधिकारी, मैं हूँ ही नहीं।

एक सज्जन ने स्वामीजी से निवेदन किया—'भगवन्! पातञ्जल-शास्त्र का विभूति-पाद क्या सच्चा है?" उन्होंने कृपा की, "आप यों ही सन्देह करते हैं। योग-शास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। वह कोई पुराणों की सी कल्पना नहीं है, किन्तु क्रियात्मक और अनुभव-सिद्ध शास्त्र है। दूसरी विद्याओं में उत्तीर्ण होने के लिए, आप लोग कई वर्ष व्यय करते हैं। इसके लिए यदि आप तीन मास तक मेरे पास निवास करें और मेरे कथनानुकूल योग-क्रियायें साधें तो आप, इस शास्त्र की सिद्धियों को साक्षात्, स्वयं कर लेंगे।"

एक भक्त ने विनय की—"आप योग आदि के परम-गोपनीय, गहन और गुप्त भेदों को जिस किसी के सामने वर्णन कर देते हैं, यह उचित प्रतीत नहीं होता। अनधिकारियों को उपदेश देना ऐसा है जैसे सूअरों के सम्मुख मोती बखेरना।" महाराज ने उत्तर दिया—"भद्र! ऐसे बड़े समारोह में कोई न कोई हंस भी आ जाया करता है। परन्तु यदि, परम देव की दया हो तो सूअर भी हंस बन सकते हैं।"

श्रीकृष्ण पर बात चली तो महाराज ने कहा कि वे एक महाज्ञानी महापुरुष और योगिराज थे। स्वामीजी प्रसङ्ग में भगवद्गीता के श्लोक भी सुनाया करते थे। स्वामीजी ने, आर्य्य जाति का संस्कार करते हुए, शूद्रों पर पूरा ध्यान दिया है। उन्होंने उनको वेद-शास्त्र के पठन-पाठन का पूर्णाधिकार दिया है। वे उनकी समुन्नति के पूरे पोषक हैं। शूद्रों को वेदाध्ययन का विधान करते हुए वे लिखते हैं—"क्या ईश्वर पक्षपाती है जो शूद्रों के लिए तो वेदाध्ययन का निषेध और द्विजों के लिए उसका विधान करे? यदि ईश्वर शूद्रों को पढ़ाना-सुनाना न चाहता तो उनके शरीर में वाक् और कर्णेन्द्रिय ही न रचता। उसने जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं वैसे ही वेदों का प्रकाश भी मनुष्य-मात्र के लिए किया है।"

शूद्रों के उद्धार और बचाने की चिन्ता भी उनके चित्त में बड़ी गहरी थी। एक दिन, एक मनुष्य महाराज के पास आया। उन्होंने उससे पूछा—"आप कौन हैं? क्या काम करते हैं? क्या कुछ संस्कृत भी जानते हैं?" उसने उत्तर दिया—'भगवन्! मैं ब्राह्मण हूँ। अब काम-धन्धा तो कुछ नहीं करता, केवल पेन्शन पर निर्वाह होता है। संस्कृत तो नहीं आती, परन्तु कुछ कर्म्म-काण्ड के श्लोक कण्ठाग्र किये हुए हैं।"

स्वामीजी ने उसको कहा—"आप उपदेश का कार्य करने लग जाइए।" उसने विनय की कि—"रात दिन बाल-बच्चों की चिन्ता और सोच में लगा रहता हूँ। ऐसी अवस्था में उपदेश का काम कैसे किया जा सकता है?" स्वामीजी ने कहा—"आपको पेन्शन मिलती है। उसमें पुत्र-पौत्र का परिपालन भली-भाँति हो सकता है। आप ब्राह्मण-वंशीय हैं। आपके पुरातन पुरुष, पूर्व काल में जगद्-गुरु समझे जाते थे। वे जगदुपकार में जी-जीवन से लगे रहते थे। आपके लिए भी उनके चरण-चिह्नों पर चलना उचित है। अपने पूर्वजों की भाँति परोपकार का व्रत धारण कीजिए और कटि बाँधकर भीलों की बस्तियों में चले जाइए। वे दिनों दिन, धड़ाधड़ ईसाई होते चले जा रहे हैं। उनको अपनी इच्छानुकूल ईश्वर-भक्ति का उपदेश देकर, किसी प्रकार ईसाइयों के पंजे से बचाइए। आर्य्य जाति के छिलते हुए तलुओं की, टूटती हुई अंगुलियों की और कटते हुए पाँव की रक्षा कीजिए।" पर उस ब्राह्मण

के ऐसे भाग्य न थे, जो श्री-वचनों को स्वीकार करता।

महाराज के उपदेशों से वहाँ के आर्य्य पुरुषों में उत्साह की मात्रा उत्कर्ष को पहुँच गई। आर्य्य धर्म्म-मन्दिर आदि निर्माण करने के लिए गिरगाँव में भूमि मोल ले ली। वहाँ एक विशाल भवन बनाने का उद्योग होने लगा। यद्यपि स्वामीजी किसी से सहायता की याचना नहीं करते थे, परन्तु उनकी सन्निधि-मात्र से ही लोग बड़ी उदारता दिखाते थे। महाराज, भावना और शक्ति के अनुसार दान आदि का करना बताया करते। उत्तेजित होकर उतावली से किसी कार्य को कर बैठना और पीछे पछताने लग जाना, वे अच्छा नहीं समझते थे। वे कहा करते थे कि दान उतना दो, जिससे तुम्हें भीख न माँगनी पड़े। कार्य्य-क्षेत्र में उतना चलो, जिससे जी हार न जाय और पाँव पीछे लौटाने की आवश्यकता न हो।

बम्बई में आर्य्यसमाज मन्दिर के निर्माण के लिए एक निधि खोली गई। लोग यथाशक्ति उसमें दान देते थे। उन्हीं दिनों में एक मारवाड़ी सज्जन श्री स्वामीजी के निकट आया और नम्रता से कहने लगा—"भगवन्! मेरे पास दस सहस्र रुपये हैं। वह सारा द्रव्य मैं आर्य्यसमाज-मन्दिर के कोश में समर्पित करता हूँ। कृपया यह तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए।" भगवान् ने भक्त की भावना की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—"मैं अतीव प्रसन्न हूँ कि आपके हृदय में आर्य-धर्म्म का इतना अगाध प्रेम है। परन्तु मैं आपकी सम्पूर्ण पूँजी लेकर आपके परिवार को परमुखापेक्षी, परान्न-परायण भिक्षु नहीं बनाना चाहता। जिस धर्म्म के अङ्ग को पालन करते पहला धर्म्माङ्ग बिगड़ जाय वह धर्म्म ठीक नहीं है। उस मन्दिर की क्या शोभा होगी जिसके बनने में आपका व्यापार बन्द हो जाय! आपकी गृहस्थ-यात्रा न चल सके। हां, आपसे एक सहस्र रुपया लिया जा सकता है।"

महाराज का जीवन, उद्योग और पुरुषार्थ का जीवन था। उनके पास आलस्य का अंश तक न दिखाई देता। उनके सेवक भी आलसी, निरुद्यमी, निरे लोथ से पड़े, भूभार-रूप न थे। प्रत्येक कर्म्मचारी कुछ न कुछ कार्य्य करता ही दीख पड़ता था। स्वामी जी उपदेश दिया करते, जैसे देव-यज्ञ के अनन्तर, देवों को दिया भोग-भोगने में पुण्य है ऐसे ही मनुष्यों का उपकार करके उनका दिया भोगने का अधिकार है। यदि किसी का अन्नादि ग्रहण

करने लगो तो पहले मन में सोचो कि इसे लेने का मुझे कोई अधिकार भी है ? और दानियों के लिए मैं क्या कर रहा हूँ। व्यर्थ में पर-पुरुषार्थ-जीवी बनना पाप है !"

एक दिन का वर्णन है कि अंग्रेजी का विद्वान्, एक पंजाबी स्वामी जी के दर्शनार्थ बम्बई में आया। महाराज के आदेशानुसार उसके खान-पान और निवास का उत्तम और उचित प्रबन्ध. उनके डेरे पर ही कर दिया गया। कई दिनों तक, वह महाशय सुख-पूर्वक वहाँ रहा। उसका दैनिक काम, छड़ी घुमाते नगर में चक्कर लगाना अथवा थककर खाट पर पड़े खर्राटे लेना ही था ! एक दिन महाराज ने उसको आमन्त्रित किया और कहा—"भद्र ! जो पदार्थ जितना अधिक उपयोगी है उतना ही अधिक अच्छा है। मनुष्य भी उतना ही अधिक अच्छा है, जितना वह उपयोगी हो। अब आप सोचिए, कि व्यर्थ में समय खोकर आप कितनी उपयोगिता नष्ट कर रहे हैं। देखिए, मैं भी पराम्न-भोजी हूँ, परन्तु प्रातः से सायं पर्यन्त परार्थ कार्य्य करता हूँ। आलसी और निष्क्रिय होकर किसी की कमाई पर ताकते रहना, मेरे सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। परमात्मा ने पुरुषार्थ के लिए प्रत्येक को पर्याप्त साधन दिये हैं। उन्हीं के आधार पर प्राण-यात्रा चलाना उचित है। आप भी मेरे मत के अनुयायी बन जाइए। इस कर्म-भूमि में कर्म-योग को प्रधान मानिये। जब तक आपका निवास इस नगर में रहे मुझे अंग्रेजी समाचार पत्र सुनाया कीजिए।" उस भद्र पुरुष ने उनके कथन को सिर आँखों पर रख लिया और उसी दिन से इस कार्य्य को करना आरम्भ कर दिया।

महामति रानाडे, भारत में जातीय-जीवन की जोत जगाने वालों में से एक थे। वे भी स्वामी जी में बड़ी श्रद्धा रखते थे। उनके दर्शनों से आनन्द-लाभ किया करते थे। एक दिन वे महाराज के दर्शनार्थ आए तो स्वामी जी काम में लगे हुए थे। चिर काल तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी। महाराज ने जब अपना नियत कार्य्य समाप्त कर लिया, तब उनसे वार्त्तालाप करने लगे। स्वामी जी की उदात्त नीतिमत्ता की प्रशंसा, श्रीमान् रानाडे सदा किया करते थे।

स्वामी जी को अतिथियों के सत्कार का बड़ा ध्यान रहता था। एक

दिन, कोई वंगीय भद्र पुरुष उनके दर्शनों को आया। वह महाराज के चरण छूकर बैठ गया और वार्त्तालाप करते, उसने पानी पीने की इच्छा प्रकट की। महाराज ने अपने एक गुजराती शिष्य को आज्ञा की कि इनको जल पिलाइए। गुजरात देश के आर्य्य डाढ़ी नहीं रखते। उस सज्जन की लम्बी डाढ़ी देखकर शिष्य ने उसको मुसलमान समझा, इसलिए उसे दोने में पानी पिलाया। जब अतिथि उठ कर चला गया तो उन्होंने उस शिष्य को बुलाकर झिड़का और कहा, "आप लोग अभी तक सभ्यता के साधारण नियम भी नहीं सीख पाये हैं। बताओ, आपने उसे गिलास में जल क्यों नहीं दिया ?"

शिष्य ने प्रार्थना की, "एक मुसलमान को अपने बर्तन में पानी पिलाकर मैं बर्तन को भ्रष्ट कैसे कर लेता ?" महाराज ने उसे कहा, "वैसे तो वह मुसलमान नहीं था प्रत्युत एक उपाधिधारी, बड़ा भारी आर्य्य भूमिहार था। किन्तु मेरे पास ईसाई, मुसलमान सभी लोग आते हैं। उनके आदर में कदापि कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिये। आगे को, चाहे जिस मत का मनुष्य हो, जब जल माँगे उसे गिलास में दिया करो ?"

उन्हीं दिनों बम्बई में, पश्चिम के सुप्रसिद्ध पण्डित, मोनियर विलियम्स महाशय आये हुए थे। एक दिन उन्होंने भी श्री स्वामी जी का शुभ मिलाप प्राप्त किया। पहले संस्कृत भाषा में बातचीत आरम्भ हुई, परन्तु अतिथि को अनभ्यास के कारण संस्कृत में वार्त्तालाप करना कठिन प्रतीत होता था। इसलिए महाराज ने एक दुभाषिया बीच में बैठा लिया। स्वामी जी तो संस्कृत ही में बोलते थे और मोनियर विलियम्स महाशय की इङ्गलिश का आर्य्यभाषा में अनुवाद करके, दुभाषिया स्वामी जी को समझाता था। बड़े लम्बे कथनोपकथन के अनन्तर, मोनियर विलियम्स महाशय ने महाराज के मङ्गल-मिलाप के लिए अति प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"आपके विचार परिमार्जित और अत्युच्च हैं। यूरोप-वासियों में भी इन विचारों का प्रचार होना चाहिए। यदि आप उस महाद्वीप की यात्रा करना स्वीकार करें तो मैं आपके व्यय आदि का भार अपने ऊपर लेता हूँ।"

स्वामीजी ने अतिथि को उसकी इस उदारता के लिए धन्यवाद देकर कहा—जिस भारत-भूखण्ड में मैं रहता हूँ वहाँ अविद्यान्धकार घोरतम रूप धारण किये बैठा है। इस देश के वासी दिन पर दिन दुःखी और दरिद्र

होते चले जाते हैं। यहाँ के समाज में कुरीतियों का कोई भी पारावार नहीं है। ऐसे ही कारणों से इस देश का सुधार करना मैं अपना मुख्य कर्त्तव्य मानता हूँ। दूसरे विदेश जाने के लिए वहाँ की भाषा सीखना आवश्यक है। जितना समय विदेश की भाषा सीखने में लगता है उसमें मैं यहीं अधिक कार्य्य कर सकूंगा। तीसरे, जिस देह के इतने लोग विरोधी हैं उसका भी अब अधिक भरोसा नहीं है। थोड़े से समय में, यदि इससे देश का कल्याण-कार्य्य बन सके तो बहुत अच्छा है।" तत्पश्चात् अतिथि महाशय विदा हो गये।

स्वामी जी के उत्तमोत्तम कार्य्यों में गो-रक्षा का कार्य्य भी सम्मिलित है। गो-वध के विरुद्ध आर्य्य लोग घोर घृणा का प्रकाश तो किया ही करते थे, परन्तु सभायें संगठित करके गो-रक्षा करने का भाव, सबसे पहले श्री महाराज ही ने जागृत किया। उनसे पूर्व किसी भी पुरुष को यह पद्धति नहीं सूझी थी। गो-रक्षा से उनका तात्पर्य केवल यही न था कि अङ्गहीन, वृद्धा, जीर्ण-शीर्ण-शरीरा, आसन्न-मरणा अस्थि-पंजरावशेषा, दो चार गायें पिंजरापोल में बन्द करके गो-रक्षा के ढोंग का ढोल बजाया जाय, और दूध देने वाली गायें और बोझा ढोने वाले बैल अधिकाधिक हनन होते रहें। उन्होंने अपने संगठन का नाम 'गो-रक्षण और कृषि-सुधार' रक्खा था। जब तक युवावस्था की गायें और बैल वध से न बचाये जायँ तब तक गो-रक्षण का कोई लाभ ही नहीं है। उनका बचाव केवल कृषि-सुधार से ही हो सकता है। महाराज की कुशाग्र बुद्धि ने यह बात जान ली थी कि वास्तव में गो-रक्षा तभी होगी, जब सभायें गो-जाति मात्र की रक्षा करेंगी। किसानों को खेत जोतने के लिए, रहट चलाने के लिए, चरसा खींचने के लिए, खलिहान से अन्न और भूसा ढोने के लिए तथा अन्यान्य कार्य्यों के लिए कृषि-प्रधान देशों में बैलों की आवश्यकता है। नगरों में अच्छे दूध का प्रबन्ध करने के लिए सहस्रों गायें पाली जानी चाहिएँ। कृषकों को और नगरों को अच्छी गो-सन्तान प्रदान करने ही से गो-रक्षा हो सकती है।

महाराज ने गो-रक्षा पर सैकड़ों व्याख्यान दिये। सहस्रों मुसलमानों और ईसाइयों को गाय की उपयोगिता निश्चित कराई। गोकरुणा-निधि नाम की एक युक्तियुक्त पुस्तक प्रकाशित की। और अन्त में, सकल गो-रक्षकों को एक-वाक् बना कर महाराणी के पास पुकार पहुँचाने के लिए कटि-बद्ध

हो गये। महाराज का निश्चय था कि गो-वध बंद कराने के लिए, यदि सभी सज्जन अपने हस्ताक्षर भेजें तो सर्व-प्रिय लाट रिपन महोदय के शासन-समय में राजेश्वरी का गो-हत्या बन्द कर देने की आज्ञा प्रचलित कर देना बहुत ही सम्भव है। इसलिए उन्होंने लोगों के हस्ताक्षर कराने के लिए भारत भर में पत्र भेजे और गो-रक्षा की उपयोगिता पर निम्नलिखित प्रभावशाली लेख प्रकाशित किया: —

"ओम् ! जगत् में ऐसा कौन मनुष्य है जो सुख-प्राप्ति में प्रसन्न और दुःख की प्राप्ति में दुःखित न होता हो। जैसे अपने ऊपर यदि कोई उपकार करे तो आनन्द होता है, इसी प्रकार दूसरों का उपकार करने पर आनन्दित होना चाहिए। क्या भूगोल भर में कभी कोई मनुष्य ऐसा था, अब है, अथवा आगे को होगा जो परोपकार-रूप धर्म्म और पर-हानि-रूप अधर्म्म के बिना धर्म्माधर्म्म का कोई अन्य स्वरूप सिद्ध कर सके। वे महाशय जन धन्य हैं जो अपने तन, मन और धन से संसार का अधिक उपकार साधित करते हैं। वे लोग निन्दनीय हैं जो अपनी अज्ञानता से स्वार्थ वश अपने तन, मन और धन से जग में पर-हानि करके बड़े लाभ का नाश करते हैं। सृष्टि-क्रम से यही सुनिश्चित होता है कि परमात्मा के रचे सकल पदार्थ पूर्ण उपकार लेने के लिए ही हैं। अल्प लाभ के कारण महाहानि कर बैठना सृष्टि-क्रम के प्रतिकूल है।

"विश्व भर में जीवन के मूल दो ही पदार्थ हैं—एक अन्न और दूसरा पान। मनुष्यों को खान-पान पुष्कल प्राप्त हो, इस अभिप्राय से आर्यावर्त्त के शिरोमणि राजे-महाराजे और प्रजा के लोग महोपकारक गाय आदि पशुओं का न तो आप वध करते और न ही किसी दूसरे को करने देते थे। अब तक भी वे गाय, बैल और भैंस का हनन नहीं होने देते। इनकी रक्षा से अन्न-पान की बहुत ही वृद्धि होती है, जिससे सर्वसाधारण का सुखपूर्वक निर्वाह हो सकता है। राजा-प्रजा की जितनी हानि इनकी हत्या से होती है, उतनी किसी भी दूसरे कर्म से नहीं हो सकती। एक गाय के वध से चार लाख और एक भैंस के वध से बीस सहस्र मनुष्यों की हानि होती है - इसका निर्णय हमने 'गो-करुणानिधि' नामक पुस्तक में अति विस्तार से किया है। इसलिए हम सब मिलकर प्रजा हितैषिणी श्रीमती राजराजेश्वरी महाराणी विक्टोरिया

की सेवा में प्रार्थना करें और उनकी न्याय-पद्धति में, जो गो-हत्या रूप अन्याय हो रहा है, उसे बन्द कराकर प्रसन्नता लाभ करें।

"इस बात का हमें पूर्ण निश्चय है कि विद्या, धर्म्म और प्रजा-हितप्रिया श्रीमती राजेश्वरी महाराणी विक्टोरिया, शासक सभा और सर्वप्रिय राज-प्रतिनिधि महोदय इस हानिकारक गाय, बैल और भैंस के हनन को उत्साह और प्रसन्नता पूर्वक शीघ्र ही बन्द कर देने से हम सबको आनन्दित करेंगे। देखिए तो सही, अनेक गुणयुक्त गाय आदि पशुओं के वध से दूध-घी कितने महँगे हो गये हैं। किसानों की कितनी बड़ी हानि हो रही है, जिसका फल राजा-प्रजा सभी भोग रहे हैं। नित्यप्रति हानि की मात्रा बढ़ती ही चली जाती है। जब कोई मनुष्य पक्षपात को छोड़ कर देखता है तो परोपकार ही को धर्म्म और पर-हानि ही को अधर्म्म जानता है। क्या यह विद्या का सिद्धान्त और फल नहीं है कि जिससे अधिकांश मनुष्यों का अधिक उपकार हो उसका नाश कभी नहीं करना चाहिए, किन्तु उसका पालन और वर्धन करना ही आवश्यक है। परम दयालु, न्यायकारी, सर्वान्तिर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमात्मा इस जगदुपकारक काम के करने में समस्त राजा-प्रजा की एक-सम्मति करे।"

—हस्ताक्षर

"विज्ञापन—सब आर्य्य सज्जनों को विदित किया जाता है कि जिस पत्र के ऊपर 'ओ३म्' और नीचे 'हस्ताक्षर' ऐसा लिखा छपा है वही सही करने का पत्र है। उसी पर हस्ताक्षर करना चाहिए। हस्ताक्षर इस प्रकार करने उचित हैं कि जिस राज्य अथवा देश में ब्राह्मणादि वंशों की जितनी संख्या हो वह लिखकर फिर लिखना चाहिए कि मैं अमुक पुरुष इतने सौ, सहस्र, लाख अथवा करोड़ मनुष्यों की ओर से सही करता हूँ॥ प्रधान महाशय की सही पर ही सारे सभासदों की सही समझी जायगी। परन्तु जितने मनुष्यों की ओर से एक मुख्य पुरुष सही करे उसे चाहिए कि उनकी सही लेकर अपने पास रख ले। जो-जो मुसलमान-ईसाई इस महोपकारक विषय में अपनी सही से सहायता करना चाहें वे हस्ताक्षर कर सकते हैं। मुझे दृढ़ विश्वास हैं कि आप परमोदार महात्माओं के पुरुषार्थ, उत्साह और प्रेम से यह महोपकारक महापुण्य और कीर्ति-प्रदायक कार्य्य यथावत् सिद्ध हो जायगा।"

बम्बई चैत्र कृष्णा नवमी संवत् १९३८] दयानन्द सरस्वती

महाराज ने उन दिनों में गो-रक्षा के विषय में बड़े बल से कार्य आरम्भ किया था। स्थान-स्थान पर पत्र भेजकर हस्ताक्षरों के लिए प्रेरणा की थी। बम्बई-वास ही में स्वामीजी ने आर्य्यसमाज और थियोसोफीकल सोसायटी के सङ्ग-भङ्ग की अन्तिम घोषणा कर दी।

: ३ :

माया को जीतने वाले मुनि

स्वामीजी के पास गुजरात-काठियावाड़ और आगरा—अवध आदि प्रान्तों से निमन्त्रण-पत्र लगातार आते थे परन्तु उन्होंने देशीय शासकों को सुधारने के विचार से राजस्थान को प्रस्थान कर दिया। आषाढ़ सुदी ३ संवत् १९३९ को बम्बई से चलकर वे ८ को खण्डवा पहूँचे। फिर इन्दौर, रतलाम और जावरा आदि नगरों में धर्म्मोपदेश करते हुए श्रावण सुदी ९ संवत् १९३९ को चित्तौड़ में सुशोभित हुए। महाराज के यहाँ पहुँचने से पहले ही मेवाड़ राज्य की ओर से उनके निवास का पूर्ण प्रबन्ध हो गया था। ठाकुर जगन्नाथ जी उस समय चित्तौड़ में उच्च राज-कर्म्मचारी थे। उन्होंने अति भक्ति-भाव से महाराज की सेवा-शुश्रूषा की। स्वामीजी ने दो सप्ताह पर्यन्त चित्तौड़ में निवास किया।

द्वितीय श्रावण वदी १२ को चित्तौड़ से चलकर महाराज१३ को उदयपुर में पधारे। वहाँ वे नौ-लखा उद्यान में, एक सुन्दर धवलराज मन्दिर में— विराजमान हुए। उस समय उनके साथ रामानन्द ब्रह्मचारी; स्वामी आत्मानन्द जी और पण्डित भीमसेन जी थे। दो-एक सेवक भी थे। जिस दिन महाराज ने अपने चरण-स्पर्श ते उदयपुर को शोभा प्रदान की उसी दिन श्री राणाजी मन्त्रिमण्डल और पुरोहितों-सहित श्री-दर्शनों को आये। पुरातन आर्य्य राजाओं की भाँति, राणा श्री सज्जनसिंह जी आगे-आगे पैदल चलते थे और उनके पीछे सैकड़ों लोगों की भीड़ चली आती थी। स्वामीजी के समीप जाकर श्री राणाजी ने अति नम्र नमस्कार किया और कुशल-प्रश्नानन्तर यथायोग्य आसन पर बैठ गए। कुछ काल तक वार्त्तालाप करने के पश्चात् राणा जा आज्ञा लेकर चले आये।

स्वामीजी प्रातःकाल उठकर गोवर्द्धन-विलास पर्वत पर भ्रमण करने जाया करते थे। परन्तु कुछ दिनों के पश्चात् राणा जी सवेरे ही श्री-सेवा में उपस्थित होने लग गये। इसलिए फिर गुलाब-उद्यान में ही पर्याप्त भ्रमण कर लेते।

उदयपुर में पधारने के एक मास पश्चात्, मौलवी अब्दुर्रहमान ने स्वामी जी से प्रश्नोत्तर किये। वे प्रश्नोत्तर लिखे भी जाते थे। वे नीचे दिये जाते हैं—

"ऐसा कौन सा धर्म्म है जिसकी धर्म्म-पुस्तक सब मनुष्यों की बोल-चाल और प्राकृत नियमों को सिद्ध करने में प्रबल हो? जितने मत मिलते हैं वे भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं में, भिन्न-भिन्न नियमों से ऐसे बने हैं कि एक-दूसरे से मेल नहीं रखते। जहाँ जो मत उत्पन्न हुआ है उसके सारे गुण वहीं तक सीमाबद्ध हैं। मतों में एक-दूसरे से ऐसे भिन्न चिह्न पाये जाते हैं कि जिन्हें दूसरे देखना भी अच्छा नहीं समझते। ऐसी अवस्था में सच्चा धर्म्म कौन सा है?" "मत सम्बन्धी सारी पुस्तकें हठ-धर्मी से भरी पड़ी हैं। इसलिए उनमें विश्वास के योग्य एक भी पुस्तक नहीं है। मेरी सम्मति में जो पुस्तक ज्ञान सम्बन्धी है वही सत्य है। उसमें पक्षपात नहीं हो सकता। ऐसी ही पुस्तक का सृष्टि-क्रम के अनुकूल होना सम्भव है। मेरे आज तक के अन्वेषण में वेद ही ऐसी पुस्तक है। वह किसी एक देश की भाषा में नहीं है। वह ज्ञानमय है और उसकी भाषा भी ज्ञान-भाषा है। इसलिए वेद पर ही निश्चय लाना चाहिए।" "क्या वेद मत की पुस्तक नहीं है?" "नहीं, वह ज्ञान की पुस्तक है।" "मत का आप क्या अर्थ करते हैं?" "पक्षपात युक्त मन्तव्यों के समुदाय को मत कहते हैं।" "हमारे पूछने के अभिप्राय का उत्तर आपने वेद बताया है, सो क्या वेद में वे सब गुण पाये जाते हैं?" "हाँ, पाये जाते हैं।" "आपने कहा कि वेद किसी देश की भाषा में नहीं है। जो भाषा किसी भी देश की नहीं है वह सब भाषाओं पर कैसे प्रबल हो सकती है?" "जो देश-विशेष की भाषा होती है वह व्यापक नहीं हो सकती।" "जब वह भाषा किसी देश की नहीं है तो वह सब पर प्रबल कैसे हो सकती है?" "जैसे आकाश किसी एक स्थान का नहीं है, परन्तु सर्वत्र व्यापक है ऐसे ही वेदों की भाषा देश भाषा न होने से सब भाषाओं में व्यापक है।" "वह भाषा किसकी है?" "ज्ञान की।" "इसका

बोलने वाला कौन है ?"। "इसका बोलने वाला सर्वदेशी परब्रह्म है।" "इसका सुनने वाला कौन है ?" "इसके सुनने वाले अग्नि आदि चार ऋषि सृष्टि के आदि में हुए हैं। उन्होंने परमात्मा से सुनकर सब मनुष्यों को सुनाया है।" "ईश्वर ने यह भाषा उन्हीं को क्यों सुनाई ? क्या वे इस बोली को जानते थे ?" "वे चारों सर्वोत्तम थे। ईश्वर ही ने उनको तत्काल भाषा का भी ज्ञान करा दिया था।" "आप इसमें क्या युक्ति देते हैं ?" "कारण के बिना कार्य्य नहीं होता यही युक्ति है और ब्रह्मादि ऋषियों की साक्षी है।" "भूमण्डल भर के सारे मनुष्य क्या एक ही कुल के हैं ?" "भिन्न-भिन्न कुलों के हैं। आदि सृष्टि में उतने ही जीव मनुष्य-शरीर धारण करते हैं, जितने गर्भ-सृष्टि में शरीर धारण करने के योग्य होते हैं। वे जीव असंख्य होते हैं।" "इस पर कोई युक्ति दीजिए।" "अब भी सब अनेक मां-बाप की सन्तान हैं।" "जो आकृतियाँ मनुष्यों की हैं उनके तन क्या एक ही प्रकार के बने थे ?" "आदि में मनुष्यों में रङ्ग और लम्बाई-चौड़ाई आदि का भेद अवश्य था।" "सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई ?" "सृष्टि को उत्पन्न हुए एक अर्ब, छियानवे करोड़ और कई लाख वर्ष बीत गयेहैं।" "आप किसी मत के नियमों का पालन करते हैं कि नहीं ?" "जो धर्म्म ज्ञानानुकूल है मैं उसके सारे नियमों का पालन करता हूँ।" "क्या उपादान कारण अनादि है ? आप कितने पदार्थों को अनादि मानते हैं ?" "उपादान कारण अनादि है। जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि हैं। इनका परस्पर संयोग-वियोग-कर्म और कर्मों का फल-भोग प्रवाह से अनादि हैं।" "जो वस्तु हमारी बुद्धि की सीमा से बाहर है हम उसे अनादि कैसे मान लें ?" "जो वस्तुयें नहीं हैं वे कभी भी नहीं हो सकतीं। जो हैं वे पहले भी थीं और आगे को भी बनी रहेंगी।" "वेद यदि ईश्वर का बनाया हुआ होता तो सूर्यादि की भाँति सारे संसार के मनुष्यों को इससे लाभ पहुँचता।" "वेद पवित्र, सूर्यादि पदार्थों की तरह ही सबको लाभ पहुँचाता है। सारे धर्म्मों के ग्रन्थों और विद्या की पुस्तकों का कारण वेद ही है। यह सबसे पहले है, इसलिए जितने शुभ विचार और ज्ञान की वार्त्तायें दूसरे ग्रन्थों में पाई जाती हैं वे सब वेद से ली गई हैं। हानिकारक कथायें उन ग्रन्थों के कर्त्ताओं की अपनी मन-घड़न्त हैं। वेद में किसी का खण्डन-मण्डन नहीं पाया जाता, इसलिए यह पक्षपात-रहित है। जैसे सृष्टि-विद्या वाले सूर्यादि से अधिक लाभ

लेते हैं ऐसे ही वेद का अनुशीलन करने वाले वेद से अधिकाधिक उपकार प्राप्त करते हैं।"

एक दिन सवेरे, एक काषायाम्बर-धारी, बिहारी ब्राह्मण दण्ड-कमण्डलु लिये नौ-लखा उद्यान में आ निकला। उसने दूर से देखा कि कोई महात्मा पद्मासन रमाये ध्यान में लीन हैं। वह और निकट आकर महामुनिजी की माधुरी और मनोहारिणी मूर्ति को एकटक, लालायित लोचनों से निहारने लगा। बाल सूर्य्य की सुनहरी किरणें उनकी कुन्दन समान, दीप्तिमान् देह पर पड़कर उसे और भी उद्दीप्त कर रही थीं। स्वर्ण-कलश की भांति, उनका मस्तक चमक रहा था। तप्त-ताम्र-समान, उनके दोनों हाथों की हथेलियां, मुद्रा-बद्ध दशा में, शोभा पा रही थीं। सूर्य्य की तरुण किरण से प्रकाशित उनके अरुणवर्ण नख, नवपल्लव सदृश, दहकते दिखाई देते थे। उदयकाल के सूर्य के समान रक्तवर्ण, उनके दोनों होठों पर एक नीरव, अनुपम, अनिर्वचनीय, आनन्दमयी मुस्कराहट खेल रही थी। आगन्तुक उस दैवी स्वरूप के दर्शनों में ऐसा निमग्न हुआ, ऐसा लीन हुआ कि चित्रवत् हो एक चित्त से, उस देव-दुर्लभ दर्शनामृत को अतृप्त तृषा से पान करने लग गया। उसे ऐसा प्रतीत होता था कि इस सर्वाङ्ग सुन्दर, सुवर्ण-प्रतिमा के चहुं ओर, प्रकाश-पुञ्ज का एक चक्र सा बना हुआ है।

कोई एक मुहूर्त्त के पश्चात् उस महापुरुष ने अपनी चित्त-वृत्ति को समाधि की उच्च भूमि से नीचे उतारा और नेत्र खोलकर ओम् नाम का बार-बार सुरीले स्वर से गायन किया। उसी समय आगन्तुक ने उनके चरणों पर अपना सिर रखकर नमस्कार किया। दो-चार बातों ही से अतिथि को ज्ञात हो गया कि यही भगवान् दयानन्द हैं।

फिर चरण ग्रहण करके उसने निवेदन किया, "भगवन्! मैं बिहार देश का रहने वाला ब्राह्मण हूँ। मैंने व्याकरण और दर्शन शास्त्रों का अनुशीलन किया है। विशेषता से वेदान्त शास्त्र को अधिक परिश्रम से पढ़ा है। मैं वैराग्यवश गृह-परित्याग कर पर्य्यटन कर रहा हूँ, मेरा वेष तो संन्यासियों का सा है और नाम भी सहजानन्द है, परन्तु मैंने विधिपूर्वक संन्यास नहीं लिया। मै आपकी विमल कीर्ति सुनकर, सुदूर देश से चल कर यहाँ आया हूँ। अपनी अद्वितीय दयालुता से, मुझे संन्यास देकर निज जनों की पंक्ति में मिला लीजिए।"

भगवान् ने, अपने द्युतिमान् दाहिने हाथ से, सहजानन्दजी के पृष्ठ-प्रदेश को प्रकाशित करते हुए कहा—"वत्स, ! यदि आपकी ऐसी ही भावना है और आप सार्वजनिक जीवन की जड़ को अपने पुरुषार्थ के पानी से सींचना चाहते हैं तो चलिये हमारे डेरे पर ही विश्राम कीजिये। देश-काल मिलने पर संन्यास की वार्त्ता भी विचार ली जायगी।"

सहजानन्द जी स्वामी जी महाराज के पास रहने लगे। अन्त में सुयोग्य व्यक्ति जानकर महाराज ने उनको अपने सेवक-समूह में सम्मिलित कर लिया। महाराज ने सहजानन्दजी को उपदेश दिया, "संन्यासी को सदा परमात्मा पर ही निर्भर करना चाहिये। आप नित्य प्रति प्रातः और सायं समय प्रणव पवित्र का जप और आराधन किया करें। यही हम लोगों का आश्रय और आधार है। इसके चिन्तन से चित्त की सारी चंचलता दूर हो जाती है। पाप-पङ्क को धोने के लिए इससे बढ़कर दूसरा साधन नहीं है। महामुनि जन, इसी महामन्त्र से मन्मथोन्मथन करके परमानन्द में निमग्न रहा करते हैं।

"लक्ष्य को वेधने के समय, जैसे वीर धनुर्धर टकटकी लगाकर केवल लक्ष्य ही को देखता है, इसी प्रकार मनोवृत्तियों को एकाग्र कर प्रणव-पाठ जपने से कल्पनातीत परिणाम प्राप्त होता है। जब तुम चिरकाल पर्यन्त इस भक्ति-योग को करते रहोगे तो समाधि के मधुमय, स्वादु फल को आप ही आस्वादन करने लगोगे। उस समय आपकी सब वासनायें शान्त हो जायँगी। कामनायें परा तृप्ति को प्राप्त कर लेंगी।" सहजानन्दजी को स्वामीजी ने दशलक्षण-युक्त धर्म्म का पालन करने की आज्ञा की।

महाराज ने अपने ग्रन्थों में लिखा भी है—"इसी दस-लक्षण-युक्त वेदोक्त धर्म्म पर आप चलना और दूसरों को समझा कर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म्म है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि गृहस्थादि सब आश्रमों को सब प्रकार के सच्चे व्यवहारों का निश्चय करायें। उनसे अधर्म कर्म छुड़ा दें। उनके संशय छेदन कर उनको धर्म्म-युक्त व्यवहारों में प्रवृत्त करें। जैसे देखने और सुनने के सामर्थ्य से विहीन आँख और कान के गोलकों का होना व्यर्थ है, ऐसे ही, जो संन्यासी जन सत्योपदेश नहीं देते और वेदादि सत्य शास्त्रों का विचार तथा प्रचार नहीं करते वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं।"

महाराज ने अपने नूतन शिष्य को प्रचार के कार्य्य के लिए उत्तेजित किया। उसको कहा, "आप पर्याप्त पठित हैं। सुयोग्य और समझ-विचार वाले हैं। आपको अवकाश भी बहुत है। कटिबद्ध होकर आर्य्यसमाजों में पर्य्यटन कीजिए और स्थान-स्थान पर उपदेश देने में प्रवृत्त हो जाइए। सहजानन्द ने सिर झुकाकर श्री-वचनों को स्वीकार कर लिया। उन्होंने रात दिन महाराज के पास निवास करते हुए देखा कि वह रात के समय केवल चार घण्टे भर विश्राम लेते हैं और फिर उठकर ध्यानारूढ़ हो जाते हैं। किसी निर्जन वन-स्थान अथवा एकान्त उद्यान में भी, प्रतिदिन सूर्योदय के समय, एक घण्टा भर के लिए ध्यानारूढ़ हुआ करते हैं।

नौ-लखा उद्यान के पास ही एक विस्तीर्ण सरोवर है। महाराज गोवर्द्धन पर्वत को उसी के किनारे-किनारे जाया करते। वे तो बहुत सवेरे जाते थे, परन्तु सहजानन्द जी, सूर्योदय से कुछ ही पूर्व, उसी ओर भ्रमण करने निकलते थे। एक दिन, अपने निवास के उद्यान से बहुत अन्तर पर, सहजानन्द जी ने देखा कि स्वामी जी जल पर पद्मासन लगाये, योग-मुद्रा में कमल-दल की भाँति विराजमान हैं। गुरुदेव की इस मनोहर योग-मुद्रा ने उनके मन में एक गहरा भक्ति-भाव उत्पन्न कर दिया। उस शान्त समय में, उस शून्य प्रदेश में, उस शान्त सरोवर के ऊपरी भाग पर वे प्रशान्तात्मा ऐसे सुन्दर स्वरूप, ऐसे तप्त सुवर्ण-वर्ण और मनोहर दिखाई देते थे मानो सागर में सूर्योदय हो रहा है। महाराज कभी-कभी लम्बी समाधि भी लिया करते थे। अपनी कोठरी के गवाक्ष खोल देते और द्वार बन्द करके ध्यान में निमग्न हो जाते थे। जहाँ कहीं लम्बी समाधि में अवस्थित होना होता, वहां एक दिन पहले ही मिलने-जुलने वालों को उस दिन के लिए आने से रोक देते। समाधिस्थ होने से पूर्व, अपने कर्मचारियों को कह देते कि आज अमुक समय तक हमारी कोठरी के पास कोई न आये और न ही कोई किवाड़ खटखटाये। बहिर्मुख कर्म्मचारी वर्ग तो यही समझता कि आज स्वामी जी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। वे भीतर पड़े आराम करते हैं। चलो छुट्टी मिल गई, इधर-उधर चक्कर लगायेंगे। परन्तु सहजानन्द ऐसी समझ के मनुष्य न थे। उनको अपने गुरुदेव के गुणग्राम और गौरव-गरिमा का ज्ञान हो गया था।

उदयपुर में एक बार, महाराज ने श्वास-प्रश्वास तक की क्रिया को रोक

कर निरन्तर चौबीस घण्टों की समाधि ली। गुरुदेव ने, अपने नवीन शिष्य को यह भेद एक दिन पहले ही बता दिया था और कह दिया था कि आप चाहें तो चुपचाप, मौन भाव से खिड़की-विशेष द्वारा देख सकते हैं। उनके आदेश को पाकर, सहजानन्द जी ने तुर्य्यावस्था-अवस्थित और असंप्रज्ञात-समाधिगत, गुरु-महाराज के उस दिन रात में कई बार दर्शन किये। उस समय महाराज की काया अकम्प और अचल थी। वे सौन्दर्य-समुच्चय प्रतीत होते थे। उनके मुखमण्डल की कान्ति मस्तक का तेज, मुद्रा की शोभा और देह की दीप्ति अद्भुत और अनुपम दीख पड़ती थी। उनके चारों ओर शान्ति बरस रही थी। उस समय वहां शान्त रस मूर्तिमान् हो रहा था।

महाराज का हृदय स्फटिक के सदृश था। उसमें दूसरों के मनोगत भाव प्रतिबिम्बित हो जाते थे। मन लगाने पर, दूर देश में घटित घटनाओं का भी उसमें आभास पड़ जाता था।

एक दिन श्री राणा सज्जनसिंहजी और सहजानन्दजी आदि सज्जन स्वामीजी के पास बैठे थे। महाराज ने श्री राणाजी को कहा, "पण्डित सुन्दरलाल जी यहाँ आ रहे हैं। यदि पहले सूचना दे देते तो उनके लिए यान का उचित प्रबन्ध कर दिया जाता।" राजा जी ने निवेदन किया, "भगवन्! अब भी यान भेजा जा सकता है।" इस पर स्वामी जी ने कहा, "अब तो वे बैलगाड़ी में आ रहे हैं। उसका एक बैल शुक्ल वर्ण है और दूसरे के तन पर लाल धवल धब्बे हैं। वे कल यहाँ पहुँच जायेंगे।" महाराज का कथन अगले दिन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ।

एक दिन, दो साधु स्वामी जी से मिलने आये। सहजानन्द जी ने उनका आगमन श्री-सेवा में निवेदन किया। इस पर उन्होंने कहा कि अभी हमें कुछ कृत्य करना शेष है। इतने में आप अतिथियों को भोजन कराइये। जब सहजानन्द जी उन अभ्यागतों को भोजन करा चुके तो स्वामीजी ने उनको भीतर आमन्त्रित कर लिया। वे दोनों महात्मा महाराज से बड़ी देर तक ज्ञान-चर्चा करते रहे। जब वे चलने लगे तो बोले—"भगवन्! आप अधिकारी जन को ही उपदेश दिया करें। जो लोग आपके सत्सङ्गों में आते हैं वे सब ही अधिकारी नहीं होते। आपके खण्डन-विषयक व्याख्यानों के तो बिरले जन ही अधिकारी होते होंगे।"

स्वामी जी ने कहा, "धर्म्मोपदेश में अधिकारानधिकार का प्रश्न उठाना व्यर्थ है। इसका अधिकारी मनुष्य-मात्र है। कोई भी बालक औषध आप ही आप नहीं खाता किन्तु उसके बन्धु उसे विवश करके खिलाते हैं। हमारा कुरीति-खण्डन भी एक कड़वा क्वाथ है। साधारण जन धर्म्माधर्म्म के बोध और सत्यासत्य के विवेक से विवर्जित हैं। उनको तो यह कटु क्वाथ बलात्कार ही से पिलाना पड़ेगा। महात्मा जी! आपके धर्म्म-बन्धु और जाति के अङ्ग आये-दिन शत-शत और सहस्र-सहस्र की संख्या में ईसाई और मुसलमान होते जाते हैं, और आप हमें अधिकारानधिकार की पट्टी पढ़ाने लगे हैं। यह समय तो कार्य्य करने का है। धर्म की नौका को चट्टान के साथ टकराने से बचाने और भँवर से निकालने का है। पहले धर्म्म के आकाश से विपत्ति के बादलों को दूर कीजिये, अधिकारों के विचार तो पीछे होते रहेंगे।"

सहजानन्द जी, उदयपुर से ही महाराज के आदेशानुसार उपदेश कार्य्य के लिए समुद्यत होकर चल पड़े और नगर-नगर में विचरने लगे।

पण्डया मोहनलाल विष्णुलाल आदि कई सज्जन श्री महाराज से पढ़ने लग गये। उन्हें देखकर श्री राणा जी भी, बड़ी लगन से, उस श्रेणी में सम्मिलित हुए। श्री राणा जी पहले भी संस्कृत जानते थे। व्याकरण के कुछ अधिक नियम स्वामी जी ने स्लेट पर लिखकर उन्हें समझा दिये। स्वामी जी ने श्री राणा जी को योग दर्शन सारा पढ़ाया। न्याय और वैशेषिक के, बीच बीच में से प्रकरण ऐसी रीति से पढ़ाये कि उन्हें सम्पूर्ण ग्रन्थ का बोध हो गया। महाराज ने उनको मनुस्मृति भी पढ़ाई। राजाओं के धर्म्मों की ऐसी उत्तम व्याख्या की कि राणा जी अतीव प्रभावित हुए। स्वामी जी कहा करते कि "मनु-स्मृति प्रत्येक मनुष्य को पढ़नी चाहिए। इसके जाने बिना अपने कर्त्तव्य कर्मों का बोध होना दुर्लभ है। यह आर्य्य धर्म्म का निचोड़ है। आर्य्य जाति की नीति-रीति का भरा-पूरा भण्डार है। यह मनुष्य को कार्य्य-कुशल और व्यवहार-निपुण बनाती है।"

उन्होंने मानव-धर्म्म-शास्त्र, राणा जी को सम्पूर्ण पढ़ाया। उनका अर्थ वर्णन करना, व्याख्या करके बताना, परस्पर की सङ्गति समझाना और दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट कर देना, कुछ ऐसा था कि ग्रन्थ के आशय की आकृति, एक बार तो आँखों के सामने खड़ी हो जाती थी। किसी भ्रम और संशय को तो अवकाश ही नहीं रहता था।

उन्होंने प्रक्षिप्त श्लोकों और प्रकरणों के समझने के 'गुर' भी बताये। वे उपदेश देते थे कि "जो बात प्रकरण-विरुद्ध हो वह प्रक्षिप्त समझनी चाहिए। यह ग्रन्थ क्रम से धर्म्म का वर्णन करता है। जहाँ क्रम टूटे और पूर्वापर में विरोध आ जाय वहाँ मिलावट मानना उचित है। जैसे मनु में बुद्धि के अनुसार दण्ड का विधान है, अबोध मनुष्य के लिए थोड़ा दण्ड देना लिखा है और जो अधिक बुद्धिमान् होकर अपराध करता है उसे अधिक दण्ड देने की मर्यादा बाँधी है। परन्तु बीच ही में ब्राह्मण के लिये इस नियम को शिथिल कर दिया गया है; इसलिए बीच का यह प्रसङ्ग प्रक्षिप्त है।" स्वामी जी ने, राणा जी को महाभारत के भी कुछ भाग पढ़ाये।

श्री राणा जी, स्वामी जी के सत्सङ्ग के लिए प्रति प्रातःकाल को आया करते। जिस दिन, सवेरे समय न मिल सकता उस दिन सायंकाल अवश्य आते। एक दिन राणा जी ने निवेदन किया, "भगवन्! आप जब किसी मूर्त्तिमान् वस्तु में ध्यान लगाना अच्छा नहीं समझते तो फिर ध्यान किया किसका जाय?"

महाराज ने उत्तर दिया—"ईश्वर का कोई आकार कल्पना करके उसका ध्यान करना अनुचित है। वह सर्वव्यापक है। प्रत्येक पदार्थ में परिपूर्ण है। सबका स्वामी, अन्तर्यामी और नियन्ता है; इत्यादि गुणों का चिन्तन और ध्यान करना उचित है।"

महाराज ने ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में राजा-प्रजा-धर्म्म पर अनेक व्याख्यान दिये। उनमें से कई व्याख्यान तो यूरोपीय राजपुरुषों ही ने कराये थे। ये जाति और देश की उन्नति के विषयों पर भी, ओजस्विनी और तेजस्विनी भाषा में प्रभावशाली भाषण दिया करते थे। उनके भाषणों को सुन कर श्रोताओं में ऊष्मा भर जाती थी, उनका साहस बढ़ जाता था, उत्साह उमड़ आता था, हृदय उछलने लगता था, अङ्ग फड़क उठते थे और जातीय जीवन का रक्त खौलने लग जाता था; परन्तु किसी मनुष्य और जाति-विशेष के लिए मन में घृणा और द्वेष नहीं होता था। उनकी उदात्त नीतिमत्ता और राष्ट्र-सुधार के विचार, सिद्धान्त रूप में प्रकाशित होते थे। वे दार्शनिक भाव को लिये होते थे और सब पर घट जाते थे।

महाराज ने स्वराज्य और स्वायत्त शासन के सार-मर्म के कुछ एक सूत्र,

और अति स्पष्ट सूत्र सत्यार्थप्रकाश में उस समय लिखे थे जब यहाँ जातीय महासभा का 'जात-कर्म्म' भी नहीं हुआ था। शासन-सुधारवादियों ने स्वराज्य शब्द का अभी स्वप्न नहीं देखा था। महाराज के समय, भारतीयों की राष्ट्र-नीति अभी नवजात बालिका थी; दुध-मुँही बच्ची थी, पालने में पड़ी अङ्गूठा चूस रही थी। नीति-निपुण मुसलमान सज्जन उसे अछूत समझते और उससे बड़े अन्तर पर रहते थे। थोड़े से आर्य्य-लोग थे जो कभी दो-एक बार, उसे व्याख्यान-भवनों के हिण्डोले में डालकर, अपने धुँआधार भाषणों के दो-चार हिलोड़े दे छोड़ा करते। उनके भाई-बन्धु भी बहुतेरे ऐसे थे, जो मीठी-मीठी लोरियों और कोमल-कोमल थपकियों से उसे सुलाये रखने ही में तत्पर थे।

राष्ट्र-जागृति और जातीय जीवन के ऐसे बाल काल में श्री स्वामी जी का बलाढच शब्दों में, ओज और ऊष्मा-पूर्ण भाषा में स्वायत्त शासन का समर्थन करना, उसे परम सुखदायक बताना इस बात का उज्ज्वल और ज्वलन्त उदाहरण है कि उनके राष्ट्र-नीति सम्बन्धी विचार पूर्ण प्रगति को पाये हुए थे; चरम और परम लक्ष्य को परिलक्षित कर चुके थे। उनके विशाल हृदय में भारत की प्रजा का हित कूट-कूटकर भरा हुआ था। उनके अन्तः-करण में, मस्तक में, अस्थि में, मज्जा में, एक-एक रक्तबिन्दु और नाड़ी-नस में भारत के कल्याण की निष्कलङ्क कामना, उत्कृष्ट उत्कर्ष को पहुंच चुकी थी। समय आयगा जब भारत की भावी सन्तति, अपने जातीय मन्दिरों में स्वायत्त शासन की देवी का पूजन करने से पूर्व उसे पहले-पहल आहूत करने वाले देव-स्वरूप दयानन्द का प्रथम अर्चन किया करेगी।

एक दिन पण्डचा मोहनलाल विष्णुलाल जी ने निवेदन किया—"भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहाँ जातीय उन्नति कब होगी?"

महाराज ने उत्तर दिया—"एक धर्म्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये विना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य्य है। सब उन्नतियों का केन्द्र-स्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाय वहाँ, सागर में नदियों की भाँति, सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने

शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म्म, भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दें, फिर भारत भर में आप ही आप सुधार हो जायगा।"

फिर श्री पण्डया जी ने प्रार्थना की—"जब आपका उद्देश्य और आदर्श एकता सम्पादन करना है तो आप मत-मतान्तरों का कठोर खण्डन क्यों करते हैं? इससे तो उल्टा वैर-विरोध और वैमनस्य बढ़ता है।"

महाराज ने उत्तर दिया—"एक तो मेरा धार्म्मिक लक्ष्य सार्वजनिक है। उसे सङ्कुचित नहीं किया जा सकता। दूसरे, भारतवासी लम्बी तानकर, ऐसी गहरी नींद में सो रहे हैं कि मीठे शब्दों से तो आँख तक खोलने को भी समुद्यत नहीं होते। सुधार का तो ये नाम तक नहीं लेते। कु-रीतियों और कु-नीतियों के खण्डन-रूप कोड़े की तड़ातड़ ध्वनि से भी यदि, ये जग जायें तो ईश्वर का कोई-कोटि धन्यवाद करूंगा।

"पण्डयाजी! कोई देश, जन-शून्य नहीं हो जाया करता। लोग तो बने ही रहा करते हैं। परन्तु धर्म्म-गुरुओं और सामाजिक नेताओं की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिह्न बदल जाते हैं। जाति के आचार-विचार परिवर्त्तित हो जाते हैं। रहन-सहन के ढंगों में भेद आ जाता है। ठीक ऐसा ही समय अब इस देश पर उपस्थित है। यदि संभाला न गया तो आर्य्य जाति परिवर्तन के चंचल चक्र पर चढ़ कर, अतिशय उतावली से, अपने पूर्व पवित्र शरीर को परिवर्तित कर डालेगी। इसके पिछले प्रमाद के कारण करोड़ों मनुष्य मुसलमान बन गए। अब प्रतिदिन सैंकड़ों ईसाई बनते चले जा रहे हैं! ऐसे समय में तो, अपने सधर्म्म बन्धुओं को कड़े हाथ से उनकी चोटियाँ पकड़कर भी जगाना होगा। भाई! यह कटु कर्त्तव्य, मैं कोई अपने स्वार्थ के लिए तो पालन नहीं कर रहा हूँ। मुझे तो इसके कारण अवहेलना, निन्दा, कुवचन, ईंट-पत्थर और विष ही स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु बन्धु-वात्सल्य की भावना, मुझे विपत्तियों के विकट और जटिल जाल में भी समाज-सुधार के लिए प्रोत्साहित कर रही है।"

पण्डयाजी ने नमस्कार-पूर्वक श्री-वचनों का हार्दिक अनुमोदन करते हुए कहा—"महाराज! यदि दो-चार धर्म्माचार्य भी आपके विचार के हो जायें तो, स्वल्प समय में ही आर्य्य जाति का बेड़ा पार हो सकता है।"

प्रलोभन-वश बड़े-बड़े महात्मा भी अपनी मान-मर्यादा को मलियामेट कर देते हैं। प्रलोभन के स्वरूप ने कई तपस्वियों की तपश्चर्य्या और यतियों के व्रत-धर्म्म को दिन-दहाड़े लूट लिया है। व्यक्तियों की तो कोई गणना ही नहीं हो सकती, इसके तो चरणों को जातियों के, मुकुटों से चमकते हुए सिर चढ़ाकर भी चर्चित किया गया है। जहाँ कभी बाँके मन्दिर आकाश से बातें करते थे और राग-रङ्ग होता था, वहाँ आज इसके हाथों चमगादड़ बसते, उल्लू बोलते, गीदड़ नाचते और चिल्लाते हैं। जिस महापुरुष ने अन्न-मय कोष में रहकर मायाधारी प्रलोभन-पिशाच को जीत लियाहै, वह सचमुच इस मोह-मायामयी सृष्टि से ऊपर है, दैवतबल-सम्पन्न है।

भगवान् दयानन्द के लिए भक्तों का भक्ति-भाव अपार बढ़ जाता है, जब यह कथा उनके कर्णगोचर होती है। एक दिन महाराज अकेले बैठे हुए थे। उस समय श्री राणा जी पधारे और गुरु महाराज से विनीत विनय करने लगे—"भगवन् आप मूर्त्ति-पूजा का खण्डन छोड़ दें। यह राजनीति के 'सर्व संग्रह' सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यदि आप ऊपर की बातें स्वीकार कर लें तो एक लिङ्ग महादेव के महन्त की गद्दी आपकी है। वैसे तो यह राज्य भी उसी मन्दिर के समर्पित है, परन्तु मन्दिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी लाखों की आय है। इतना भारी ऐश्वर्य आपका हो जायगा। सारे राज्य के आप गुरु माने जायँगे।"

श्री राणा जी की प्रार्थना श्रवण करते ही स्वामीजी झुंझलाकर बोले—"आप मुझे तुच्छ प्रलोभन दिखाकर परमात्मदेव से विमुख किया चाहते हैं! उसकी आज्ञा-भङ्ग कराना चाहते हैं। राणा जी! आपके जिस छोटे से राज्य और मन्दिर से मैं एक दौड़ लगाकर बाहर जा सकता हूँ वह मुझे अनन्त ईश्वर की आज्ञा-भंग करने के लिए विवश नहीं कर सकता! परमात्म-देव के परम प्रेम के सामने, इस मरुभूमि की मायाविनी मरीचिका अति तुच्छ है। लाखों मनुष्यों के विश्वास केवल मेरे भरोसे पर निर्भर हैं। मुझे ऐसे शब्द कहने का फिर कभी साहस न कीजिएगा! मेरी धर्म्म की ध्रुव धारणा को धराधाम और आकाश की कोई भी वस्तु डगमगा नहीं सकती।"

राणा जी, उनके सत्य के आवेश से, सूर्यसमान चमकते हुए, मुख मण्डल को देखकर चौंक पड़े और चित्त में अतीव आश्चर्य-चकित हुए। वे हाथ जोड़

कर बोले—"भगवन् ! मैंने आपके निश्चय की दृढ़ता देखने के लिए ही ऐसा कहा था। सो इस धृष्टता को क्षमा कर दीजिएगा। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि संसार की कोई भी वस्तु आपकी दृढ़ता को डाँवाडोल नहीं कर सकती। आपका निश्चय कभी हिल नहीं सकता।"

श्री राणा जी को महाराज ने दिन-चर्य्या को नियमबद्ध रखने का उपदेश दिया—"तीन घड़ी रात रहते उठिये। आवश्यकताओं से निवृत्त होकर मुँह-हाथ धोइए। दातून और कुल्ले के करने के अनन्तर एक गिलास शीतल जल का पान कीजिए। उसी समय पास रहने वालों को पृथक् कर ईश्वरोपासना में मग्न हो जाइए।" महाराज ने राणा जी को प्रातःकाल की उपासना के लिए कुछ मन्त्र भी सिखाए। फिर कहा—"उपासना के पश्चात्, हो सके तो चलकर नहीं तो बग्घी पर हो, वायु-सेवन के लिए बाहर जाइए। एक घण्टा भर का भ्रमण पर्याप्त है। भ्रमण करते समय प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखना उचित है। यात्रा से लौटकर जब आइए तो जिस भवन में दिन भर रहना हो उसमें घृतादि का हवन कराइए। दिन के नौ बजे कार्य्यों को किया कीजिए। फिर दस बजे के पश्चात् भोजन पाइए और कुछ देर तक टहलिए। तदनन्तर, यदि चित्त चाहे तो बारह बजे तक शय्या पर विश्राम कीजिए। दोपहर के उपरान्त चार बजे तक न्याय करना और लिखने-पढ़ने का काम करना उचित है। चार बजे के अनन्तर आवश्यकताओं से निवृत्त होकर वस्त्र-परिवर्तन कीजिए। फिर अश्वारूढ़ होकर चाहे सेना देखिए अथवा उद्यान, मन्दिर और सड़कों का निरीक्षण कीजिए। दिन छिपे राज-मन्दिर में आ जाइए। उस समय कुछ पढ़ना चाहिए। उपासना और ज्ञान की वार्त्ता भी सुननी चाहिए। बुद्धिमानों का सत्संग और इतिहास-श्रवण करना चाहिए। ये सब कार्य्य दो घण्टों में समाप्त हो जाने उचित हैं। उसके पश्चात् भोजन ग्रहण करना चाहिए। खाना खाने के पश्चात् आधे घण्टे तक टहलना चाहिए। उस समय गन्धर्वों से राग भी सुनिए। राग में अधिक लीन होना अच्छा नहीं है। कवियों की कोमल काव्यकला का भी रस लेना चाहिए। चारण तथा कड़खेतों के कवित्त और कड़खे भी सुनने चाहिएं। परन्तु उनमें अश्लीलता नहीं होनी चाहिए। तत्पश्चात् शोभन शय्या पर लेट जाइए। छः घण्टे तक पूर्ण निद्रा लीजिए। एकाकी सोना ही उत्तम है। शास्त्रानुसार परिवार-सम्बन्ध को पालन कीजिए।"

ऊपर का उपदेश देकर महाराज ने पूछा कि आप मेरी बताई दिन-चर्य्या पर चलेंगे ? राणा जी ने सिर झुकाकर निवेदन किया कि कल ही से इसके पालन में कटिबद्ध हो जाऊँगा। राणा जी ने किया भी ऐसे ही। स्वामीजी ने, श्री राणा जी को शास्त्र पढ़ाकर, राज्य के रक्षण और सम्वर्द्धन की नीति सुनाकर, शारीरिक नियम सिखाकर, अन्य अनेक धार्मिक और तात्विक कथोपकथन श्रवण कराकर पूर्ण आर्य्य बना लिया। उनमें आर्य्यसमाज के लिए असीम स्नेह और सहानुभूति का भाव उत्पन्न कर दिया।

स्वामीजी, विद्या के कार्य्यों में लोगों को प्रोत्साहन दिया करते थे। एक दिन वे चारण-पाठशाला का निरीक्षण करने गये। वहाँ उन्होंने विद्यार्थियों की परीक्षा ली और उनको अपनी ओर से प्रीति भोजन दिया। महाराज ने, श्री राणा जी से विचार करने के अनन्तर, सारे राज्यों के राजों और ठाकुरों के लड़कों के लिए एक पाठशाला खोलने का प्रबन्ध भी कर लिया। परन्तु पीछे राणा जी के रुग्ण हो जाने के कारण, यह कार्य्य बीच में ही रह गया।

एक दिन श्री राणाजी को मनुस्मृति का पाठ पढ़ाते हुए महाराज ने कहा—"यदि कोई अधिकारी धार्मिक आज्ञा दे तब ही उसका पालन करना चाहिए। अधर्म्म-युक्त कथन को कभी नहीं मानना चाहिए।" इस पर सरदारगढ़ के ठाकुर मोहनसिंह जी ने निवेदन किया—भगवन् ! ये राणा जी हमारे भूपाल हैं। यदि हमें यह कोई आज्ञा दें और हम उसे अधर्म्म-युक्त समझकर न मानें तो हमारा लघु राज्य ही छिन जाय।" महाराज ने कहा— "कोई चिन्ता नहीं। धर्म्म के लिए धन और ठकुराई भले ही चली जाय। धर्म्म-हीन हो जाने से और अधर्म्म-काम करके अन्न खाने से तो भीख माँग कर पेट की पालना करना बहुत अच्छा है।"

स्वामीजी के उदयपुर में निवास के दिनों में दशहरा आ गया। इस त्योहार को वहाँ बड़े समारोह से मनाया जाता है। राणा जी की यात्रा बड़े ठाठ-बाट से निकलती है। बड़ी भारी राज-सभा लगती है। उस दिन कई भैंसे भी काटे जाते हैं। राणा जी के निवेदन पर, श्री महाराज भी दशहरा महोत्सव देखने पधारे। जब उन्हें पता लगा कि यहाँ बहुत से भैंसे काटे जायँगे तो उन्होंने राणा जी को कहा कि आप नरेश हैं। न्याय करना आपका

कर्त्तव्य-कर्म्म है। मैं मारे जाने वाले भैंसों का वकील बनकर श्रीमन्त के सम्मुख उपस्थित हूँ। अब न्यायाधीश को निर्णय करना चाहिए कि इसका वध क्योंकर उचित है ? चिरकाल तक बात-चीत होती रही। अन्त में श्री राणा-जी ने विनय की कि यह पुरानी परिपाटी, परम्परा से चली आ रही है। इसे एकाएक न तो हम उठा सकते हैं और न उठा देना उचित ही है। हाँ, आपके आदेशानुसार इसे धीरे-धीरे हटा देने का प्रयत्न किया जायगा।

श्री राणा जी, स्वामीजी के कथनों को स्वीकार करने के लिए सदा समुद्यत रहते थे, परन्तु महाराज, धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त, राज्य के अन्य किसी भी कार्य्य में हस्तक्षेप नहीं करते थे। एक दिन का वर्णन है कि राणा जी स्वामीजी के दर्शन करके जब राजभवन को लौटे तो उसी समय स्वामीजी के पास पचास पटेल आ गये और अभियोग की बात-चीत करने लगे। राणा जी ने उन भूमिहारों को स्वामीजी के पास जाते देख लिया था, इसलिए उन्होंने अब्दुर्रहमान को कहा कि जाइए, पता लीजिए कि इन लोगों ने श्री-सेवा में क्या निवेदन किया है। उसने उन लोगों से पूछकर राणा जी से विनय किया कि इन लोगों ने अपने अभियोग की बात चलाई थी और इस पर महाराज ने कहा कि हम साधु हैं; किसी सांसारिक झंझट-झमेले से हमारा सम्बन्ध सर्वथा नहीं है। उस समय राणाजी ने कहा—'मौलवीजी ! देखा, मैं कहता न था कि स्वामीजी राज-काज के कार्य्यों में कदापि हस्तक्षेप नहीं करते। जगत् के रगड़े-झगड़े से स्वतन्त्र, भला, ऐसा कोई दूसरा मनुष्य कभी आपने देखा है ?"

उदयपुर ही में रहते हुए, महाराज ने परोपकारिणी सभा स्थापित की। अपनी सारी सम्पत्ति उसके नाम कर दी। उनका लिखा स्वीकार-पत्र इस प्रकार है—

मैं दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित तेईस सज्जन आर्य्य पुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ। इसको परोपकार के शुभ कार्य्य में लगाने के लिए अध्यक्ष बनाकर यह स्वीकार-पत्र लिखे देता हूँ कि समय पर काम आये।

इस सभा का नाम परोपकारिणी सभा है। और निम्नलिखित तेईस महाशय इसके सभासद् हैं:—

१. श्रीमन्महाराजाधिराज महीमहेन्द्र यावदार्य्य-कुल-दिवाकर महाराणाजी श्री १०८ सज्जनसिंहजी वर्म्मा जी. सी. आई. उदयपुराधीश, राज्य मेवाड़—सभापति।

२. लाला मूलराज एम० ए० एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर, प्रधान आर्य-समाज लाहौर, उपप्रधान।

३. श्रीयुत कविराज श्यामदासजी उदयपुर, राज्य मेवाड़—मन्त्री।

४. लाला रामसरनदासजी, उपप्रधान आर्यसमाज मेरठ, मन्त्री।

५. पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलाल, उदयपुर, उपमन्त्री।

६. श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी शाहपुराधीश, सभासद्

७. श्री राव तख्तसिंहजी बेदले, राज्य मेवाड़।

८. श्रीमन्त राजराणा श्री फतेहसिंहजी वर्म्मा, भीलवाड़ा ,,

९. श्रीमत् मावत अर्जुनसिंहजी वर्म्मा, असन्द ,,

१०. श्रीमत् महाराजा श्री राजसिंह वर्म्मा, उदयपुर ,,

११. श्रीमत् राव श्रीबहादुरसिंहजी वर्म्मा, मसूदा जि० अजमेर ,,

१२. रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल, सुपरिंटेण्डेण्ट वर्कशाप अलीगढ़, सभासद्।

१३. राजा जयकृष्णदास जी सी. एस. आई. डिपटी कलेक्टर बिजनौर, मुरादाबाद, सभासद्।

१४. साहू दुर्गाप्रसाद कोषाध्यक्ष, आ० स० फर्रुखाबाद, सभासद्

१५. साहू जगन्नाथप्रसाद, फर्रुखाबाद। ,,

१६. सेठ निर्भयराम, प्रधान आर्य्यसमाज, फर्रुखाबाद, बिसावर राजपूताना सभासद्।

१७. लाला कालीचरण, मन्त्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद, सभासद्

१८. श्रीयुत छेदीलाल, गुमाश्ते कमसरियट छावनी मुरार-ग्वालियर, सभासद्।

१९. लाला साईंदास, मन्त्री आर्यसमाज, लाहौर, सभासद्

२०. श्री माधवदास, मंत्री आर्यसमाज दानापुर, ,,

२१. रायबहादुर राजमान्य राजेश्री पण्डित गोपालराव हरि देश-मुख, सभासद्, कौंसिल गवर्नर बम्बई, तथा प्रधान आर्यसमाज बम्बई, पूना, सभासद् ।

२२. रावबहादुर महादेव गोविन्द रानडे, जज पूना, सभासद्

२३. श्रीयुत श्यामजी कृष्ण वर्म्मा प्रोफेसर, संस्कृत युनीवर्सिटी आक्सफोर्ड, लण्डन, बम्बई, सभासद् ।

स्वीकार-पत्र के नियम

१. उक्त सभा जैसे मेरे जीवन-काल में मेरे सकल पदार्थों की रक्षा करके निम्नलिखित परोपकार के काम में लगाने का अधिकार रखती है, वैसे ही मेरे पीछे अर्थात् मरने के पश्चात् भी लगाया करे ।

(१) वेद-वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार, उनकी व्याख्या करने कराने, पढ़ने पढ़ाने, सुनने सुनाने, छापने छपाने, आदि में ।

(२) वेदोक्त धर्म्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशक-मण्डली नियत करके देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्यागादि में ।

(३) आर्य्यावर्त्त के अनाथ और दीन जनों की शिक्षा और पालन में व्यय करे और कराए ।

२. जैसे मेरी उपस्थिति में यह सभा प्रबन्ध करती है वैसे ही मेरे पीछे, तीसरे व छठे मास, किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय के बही-खाते के समझने और पड़तालने के लिये भेजा करे । यह सभासद् वहाँ जाकर सारे आय-व्यय की जाँच पड़ताल किया करे । उसके नीचे अपने हस्ताक्षर करे और उस पड़ताल की एक-एक प्रति प्रत्येक सभासद् के पास भेजे । यदि यन्त्रालय के प्रबन्ध में कोई त्रुटि देखे तो उसके सुधार के लिए अपनी सम्मति लिखकर प्रत्येक सभासद् के पास भेजे । प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी सम्मति सभापति के पास लिख भेजे और सभापति सबकी सम्मति पर यथोचित कार्य करे । इस कार्य में सभासद् आलस्य और अनुचित व्यवहार न करे ।

३ इस सभा को उचित है कि जैसा यह परम धर्म्म और परमार्थ का काम है उसको वैसे ही उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे ।

४. पहले कहे तेईस आर्य्य सज्जनों की सभा मेरे पीछे सब प्रकार मेरी स्थानापन्न समझी जाय, अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व पर है वही अधिकार सभा को है और होगा। यदि उक्त सभासदों में से कोई सभासद् स्वार्थ में पड़कर इन नियमों के विरुद्ध काम करे वा कोई अन्य मनुष्य हस्तक्षेप करे तो वह सर्वथा झूठा समझा जाय।

५. जैसे इस सभा को वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे सब पदार्थों की यथाशक्ति रक्षा और उन्नति करने का भी अधिकार है, वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार का भी अधिकार है। जब मेरा शरीर छूटे तो उसको न गाड़ें, न जल में बहावें, न जङ्गल में फेंकें। केवल चन्दन की चिता बनायें। और यदि यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पाँच सेर कपूर, ढाई मन अगर-तगर और दस मन काष्ठ लेकर वेद-विहित विधि से जैसा कि संस्कार विधि पुस्तक में लिखा है, वेदी बनाकर, उस पुस्तक में जो वेद-मन्त्र लिखे हैं, उनसे भस्म करें। वेद-विरुद्ध कुछ भी न करें। उस समय यदि इस सभा का कोई भी सभासद् उपस्थित न हो तो जो कोई उपस्थित हो वही यह काम करे। जितना धन इस काम में लगे उतना सभा से ले लेवे और सभा उसको दे देवे।

६. अपने जीवन में मैं और मेरे पीछे यह सभा इस बात का अधिकार रखती है कि जिस सभासद् को चाहे पृथक् करके, किसी और योग्य सामाजिक आर्य पुरुष को उसका स्थानापन्न नियत कर दे। परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जायगा जब तक उसके काम में कोई अनुचित चेष्टा न पाई जाय।

७. मेरे सदृश यह सभा सदा स्वीकार-पत्र की व्याख्या वा उसके नियमों का पालन, वा किसी सभासद् को पृथक् करने, उसके स्थान में अन्य सभासद् को नियत करने और मेरे आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में उद्योग करे। यदि सभासदों की सम्मति में विरोध रहे तो बहु-सम्मति के अनुसार काम करे। सभापति की सम्मति सदा द्विगुण समझें।

८. किसी दशा में भी, यह सभा तीन से अधिक सभासदों को, अपराध के सिद्ध होने पर पृथक् न कर सकेगी जब तक, उनके स्थान में अन्य सभासदों को नियत न कर ले।

९. यदि किसी सभासद् का देहान्त हो जाय वा वेदोक्त धर्म्म को छोड़ कर वह उक्त नियमों के विरुद्ध चलने लगे तो सभापति को उचित है कि सब सभासदों की सम्मति से उसको पृथक् करके उसके स्थान पर किसी और योग्य वेदोक्त धर्म्म-युक्त आर्य्य पुरुष को नियत करे। परन्तु उस समय तक साधारण कामों के अतिरिक्त कोई भी नया काम न छेड़ा जाय।

१०. इस सभा को अधिकार है कि सब प्रकार का प्रबन्ध करे और नये उपाय सोचे। परन्तु यदि सभा को अपने परामर्श पर पूरा-पूरा निश्चय और विश्वास न हो तो समय का निर्धारण करके लेख द्वारा सम्पूर्ण आर्य्य-समाजों से सम्मति ले और बहु-पक्षानुसार उचित प्रबन्ध करे।

११. प्रबन्ध का घटाना-बढ़ाना, स्वीकार अथवा अस्वीकार करना, किसी सभासद् को नियत या पृथक् करना, आय-व्यय की जाँच-पड़ताल करना, अन्य हानि-लाभ सम्बन्धी विषयों को सभापति वर्ष भर में अथवा छः मास में छपाकर चिट्ठी द्वारा सब सभासदों में प्रचारित करे।

१२. यदि इस स्वीकार-पत्र के विषय में कोई झगड़ा उठे तो उसको राजगृह में न ले जाना चाहिए, किन्तु जहाँ तक हो सके यह सभा अपने आप उसका निर्णय करे। यदि आपस में किसी प्रकार निर्णय न हो सके तो फिर न्यायालय से निर्णय होना चाहिए।

१३. यदि मैं अपने जीते जी किसी योग्य आर्य्य पुरुष को पारितोषिक देना चाहूँ और उसकी लिखत-पढ़त कराकर रजिस्ट्री करा दूँ तो सभा को चाहिए कि उसको माने और दे।

१४. मुझे और मेरे पीछे सभा को सदा अधिकार रहेगा कि उक्त नियमों को देश के किसी विशेष लाभ और परोपकार के लिए न्यूनाधिक करें।

(हस्ताक्षर) 'दयानन्द सरस्वती।'

राणा जी एक दिन श्रीसत्सङ्ग में बैठे हुए थे। उनके अन्तःपुर में सन्तान-दर्शन की आशा थी। प्रसङ्ग-वश स्वामीजी ने कहा कि आपको पुत्र प्राप्त होगा। माघ सु० २ सं० १९३९ को स्वामी जी का वचन सत्य सिद्ध होगया। श्रीमन्महाराणा के भवन में पुत्र-जन्म महोत्सव के उपलक्ष्य में आनन्द के बाजे बजने लगे। चारों ओर से बधाई आने लगी। राणा जी ने इस प्रसन्नता का समाचार स्वामी जी के आसन पर निवेदन कराया और आठ सौ रुपया

फीरोजपुर अनाथालय को प्रदान किया।

राणा जी ने श्री-सेवा में निवेदन किया कि यदि आप दर्शनों का भाष्य कर दें तो उसके छपवाने के लिए बीस सहस्र रुपया मैं भेंट करने को समुद्यत हूं। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वेद-भाष्य समाप्त होने पर दर्शनों के विषय में सोचा जायगा।

जिस सीसोदिया वंश की विमल कीर्ति को महाराणा प्रताप ने उदयास्त तक विस्तृत करके अमर बना दिया, जिस वंश ने—"जो राखे निज धर्म्म को तेहि राखे करतार"—इस पद को अपना आदर्श माना, जिस वंश के वीरों ने अपनी आन-बान और मान-मर्यादा की रक्षा के निमित्त मर मिटना तो स्वीकार किया, परन्तु कायर बनकर उसको बट्टा नहीं लगाया, और जिस वंश की बहू-बेटियों ने प्रचण्ड चिताओं पर चढ़कर भस्मीभूत होना तो उत्तम समझा, परन्तु अपने पवित्र चरित्र की चिट्टी चादर को मलिन मन वाले, दुष्ट मनुष्यों का हाथ-स्पर्श होने नहीं दिया; उस विशुद्ध वंश के शिरोमणि, श्रीमन्महाराणा सज्जनसिंह जी को अपना शिष्य बनाकर, जगद्गुरु दयानन्द प्रस्थान करने के लिए समुद्यत हो गये। महाराणा जी श्री-चरणों से वियुक्त होना तो नहीं चाहते थे, परन्तु ऐसे निर्मोही महापुरुष रोके रुक भी नहीं सकते।

फाल्गुन वदी ७ संवत् १९३९ को स्वामी जी ने उदयपुर से प्रस्थान करना नियत किया। उनके सम्मान के उपलक्ष्य में एक सभा लगाई गई। महाराज को एक अत्युत्तम और उच्च सिंहासन पर बैठाकर, एक सुन्दर पुष्प-माला से उनका पूजन किया गया। इसके उपरान्त एक सज्जन ने, श्रीमन्महाराणा जी की ओर से नीचे लिखा सम्मान-पत्र पढ़कर सुनाया:—

"स्वस्ति श्री सर्वोपकारकरणार्थ कारुणिक परमहंस परिव्राजकाचार्य्यवर्य्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती यतिवर्येषु इतः महाराणा सज्जनसिंहस्य नतयः समुल्लसन्तु उदन्त्यः। आपका आठ सात मास का निवास सूं चित्त अन्यन्त आनन्द में रह्यो। क्योंकि आपकी शिक्षा का प्रकार श्रेष्ठ और उन्नतिदायक है। और आपका संयोग सूं के ही न्याय धर्म्मादि शारीरिक कार्य्यों में निसन्देह लाभ प्राप्त होवा की, म्हां का सभ्य जनासहित दृढ़ आशा होवे है कारण कि शिक्षा और उपदेश वा पुरुषों का दृढ़ होवे है जो स्वकीय आचरण भी प्रतिकूल नहीं

राखै। सो आप में यथार्थ मिल्यो। अब म्हें आपका वियोग को संयोग तो नहीं चावां परन्तु आपको शरीर अनेक मनुष्यों के उपकारक है। जीसूँ अवरोध करणो अनुचित। तथापि पुनरागमनसूँ आप भी म्हां का चित्त ने शीघ्र अनुमोदित करेंगे इत्यलम्।" सम्वत् १९३९ फाल्गुन कृष्णा ५ भौमे। हस्ताक्षर महाराणा सज्जनसिंहस्य।

: ४ :

जोधपुर-प्रस्थान : मैं सत्योपदेश ही करूँगा

स्वामी जी, उदयपुर से अति सम्मान-पूर्वक विदा होकर, चित्तौड़ होते हुए फाल्गुन वदी अमावस १९३९ को शाहपुरा में सुशोभित हुए। नगर के बाहर राजकीय उद्यान में निवास किया गया। शाहपुराधीश ने श्री चरणों के दर्शन अनेक दिनों तक चित्तौड़ में किये थे। महाराज के अनुपम प्रभावजनक भाषणों से प्रभावित होकर राजाधिराज ने अपने नगर में पधारने के लिए उनसे विनय की थी। उन्होंने स्वीकार करते हुए कहा था कि अनुकूल अवसर आने पर अवश्य आऊँगा। उसी प्रण की पालना के लिए ये शाहपुरा में पधारे।

श्री स्वामी जी के आगमन को शाहपुराधीश ने अपने सौभाग्य की शुभ सूचना समझा। वे उसी सायं को श्री सेवा में उपस्थित हुए और विनीत नमस्कार करके प्रश्न पूछने लगे। पाँच दिन तो राजाधिराज ने संशय निवारण में बिताये। उसके उपरान्त सायं समय के छः बजे से रात के नौ बजे तक वे एक घण्टा भर तो वार्त्तालाप करते और घण्टे तक अध्ययन करते। स्वामी जी राजाधिराज को मनुस्मृति पढ़ाया करते। उनका समझाने का ढंग बहुत ही अच्छा था। फिर महाराज ने उनको योग-दर्शन पढ़ाया और उसकी समाप्ति पर कुछ एक भाग वैशेषिक के भी अध्ययन कराये। स्वामी जी प्रातः-काल भ्रमणार्थ बाहर जाया करते थे। किसी-किसी दिन राजाधिराज भी वहाँ जा दर्शन करते और प्राणायाम की विधि सीखते।

स्वामीजी महाराज ने अपने ग्रन्थों में संन्यासधर्म्म का बड़ा महत्व दर्शाया है। वे प्रशान्त-चित्त, जितेन्द्रिय और ज्ञानी जन ही को संन्यास का अधिकारी वर्णन करते हैं। साम्प्रदायिक संन्यास देने की विधि के बड़े भारी विरोधी थे।

उन्होंने संन्यास लेकर भिक्षा का ग्रहण करना उन्हीं के लिए बताया है, जो जन जनता के हितार्थ अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं। लोक-कल्याण के लिए रात्रि-दिवा यत्नशील रहते हैं। सत्योपदेश और परोपकार कर्म्म में परायण पाये जाते हैं और जो आठों पहर प्रजा-प्रेम का परम पावन पुण्यपाठ पढ़ते रहते हैं। जो मनुष्य मानव-हित-शून्य होकर अपाहजों की भाँति गली-गली में भटकते फिरते हैं, जन-जन के आगे हाथ पसारते हैं और घर-घर के टुकड़ों के चटोरे बन जाते हैं वे आश्रम की मान-मर्यादा और महत्त्व को मूल से मिटाने वाले हैं।

शारीरिक सामर्थ्य रखते हुए, अनुपकारी जन का पराये अन्न पर पेट पालना एक प्रकार का पतित कर्म्म है। इसलिए, स्वामी जी ने जो लोग, लोकहित के कार्य्य नहीं करना चाहते अथवा उनके करने में असमर्थ हैं उनके लिए सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखा है—"बाह्य जितने कर्म्म हैं उनको त्यागकर योगाभ्यासादि आभ्यन्तर कर्मों को यथावत् करें। अन्तःकरण की सारी मलीनता और राग-द्वेष आदि को छोड़कर, निश्चिन्त होकर, सदा वेद का अभ्यास करें। अपने पुत्रों से अन्न-वस्त्र शरीर के लिए लेवें। नगर के समीप एकान्त में वास करें। प्रतिदिन भोजन-आच्छादन घर से लेकर अपनी मुक्ति के साधन में तत्पर रहें।"

शाहपुरा में, स्वामीजी ने एक होनहार ब्राह्मण युवक को संन्यास देकर दण्ड धारण कराया। उसका नाम ईश्वरानन्द रक्खा। वह कुछ पठित भी था, परन्तु अधिक अध्ययन करने के लिए उसे प्रयाग भेज दिया गया। स्वामीजी ने वहाँ अपने यन्त्रालय के प्रबन्धकर्त्ता को लिख दिया कि जब तक वह साधु अध्ययन करता रहे इसे पाँच रुपये मासिक मिला करें।

गोपालराव नामक एक ब्राह्मण भक्त श्री स्वामीजी का जीवन-चरित्र लिख रहा था। चित्तौड़ का वृतान्त लिखते हुए उसने वर्णन किया कि वहाँ श्रीमन्महाराणाजी, श्री महाराज को प्रतिदिन दो बार मिलते। इस पर एक नवीन वेदान्ती साधु; अमृतराम ने स्वामीजी को शाहपुरा में लिखा कि गोपालराव ने आपके सत्संग में राणा जी का नित्य प्रति दो बार आना लिखा है सो सर्वथा असत्य है।

स्वामीजी महाराज ने साधु महाशय का पत्र पाते ही गोपालराव को यह

पत्र लिखा—"पण्डित गोपालराव हरि जी ! आनन्दित रहो । आज एक साधु का पत्र मेरे पास आया, वह आपको भेजता हूं । साधु का लेख सत्य है, परन्तु चित्तौड़ सम्बन्धी इतिहास में न जाने कहाँ से सुन-सुनाकर ऐसा लेख लिखदिया है । उस समय वहाँ उदयपुराधीश से मेरा समागम केवल तीन बार ही हुआ । आपने तो प्रतिदिन दो बार होना लिखा है । आप जानते ही हैं कि ऐसे कार्य्यों के परिशोधन का अवकाश मुझे नहीं मिलता ।

"आप यद्यपि सत्य-प्रिय हैं और शुद्ध भाव-भावित हैं, उसी चित्त और हित से कार्य्य कर रहे हैं, परन्तु जब आपको मेरा ठीक-ठीक वृत्तान्त विदित ही नहीं है तो इसके लिखने में साहस कभी न कीजिए । थोड़ा सा भी असत्य मिल जाने से सम्पूर्ण निर्दोष कृत्य भी बिगड़ जाता है । ऐसा ही निश्चय रक्खो और इस पत्र का उत्तर शीघ्र भेजो ।"

वैशाख शुक्ला द्वितीया १९४० — दयानन्द सरस्वती

एक दिन, एक नैयायिक पण्डित स्वामीजी से संवाद करने लगा । उसको महाराज ने कहा कि—'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इसका नव्य न्याय की रीति से अर्थ करो । वह आध घड़ी तक इसी पर बोलता रहा । फिर महाराज ने उसके कथन में दोष दिखाकर खण्डन किया और कहा कि इसका सरल और सीधा अर्थ तो यह है कि देवदत्त ग्राम को जाता है; परन्तु काक-भाषा भाषी इसे ऐसा जटिल बनायेंगे कि किसी के पल्ले कुछ पड़ने ही नहीं पाता । महाराज ने उसे यह भी कहा कि देवता जी ! आर्ष दर्शनों के दर्शन कर लीजिए । इसके पश्चात् दार्शनिक बात-चीत कीजिएगा ।

एक दिन, एक मनुष्य स्वामीजी के निकट बताशे लाया । उन्होंने देखते ही कहा कि ये पत्थर पर चढ़ाये गये हैं, इसलिए मैं नहीं लेता । उसके पूछने पर, स्वामीजी ने उसके बताशों पर सिन्दूर का चिह्न पड़ा हुआ दिखा दिया ।

एक दिन स्वामीजी बड़े बल से मूर्ति-पूजा का खण्डन कर रहे थे । उस समय एक पण्डित ने कहा कि वाल्मीकि-रामायण में लिखा है कि श्रीराम ने महादेव का पूजन किया था—जैसे "अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः ।" स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि इसमें तो प्रतिमा-पूजन का लेश भी नहीं है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यहाँ परमेश्वर ने मुझ पर कृपा की ।

एक दिन, एक दाधिमथ स्वामीजी के पास आया । स्वामीजी ने कहा—

"आइए, व्यासजी बैठिए। आज मुझे भी छुट्टी है, आपसे वार्त्तालाप करने में पूरा सुभीता होगा।" व्यासजी ने निवेदन किया—"भगवन्! छुट्टी तो बद्ध लोगों के लिए हुआ करती है। आप तो परमहंस हैं। पूर्ण स्वाधीन और स्वच्छन्द हैं। आपको ऐसा कौन बन्धन शेष है जिससे आपने आज अवकाश मनाया है। स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मैं सारे धार्मिक बन्धनों को मानता हूँ। वर्णाश्रम से, नीति-रीति से मैं उच्छृङ्खल और निरङ्कुश नहीं हूँ। स्वच्छन्दतापूर्वक ही वेद-भाष्य आदि का कार्य किया करता हूँ। आज उससे छुट्टी मनाई है।"

एक रामस्नेही सज्जन ने, स्वामीजी के समीप आकर निवेदन किया; "केवल, नाम ही से निस्तार हो जाता है। भव-सागर पार उतरने के लिए नामी के गुणों को जानना कोई आवश्यक नहीं है।" स्वामी जी ने कहा—"परमानन्द की प्राप्ति के लिए नामी के गुणों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। जैसे शब्द के साथ ही उसके अर्थ का बोध हो जाता है, जल कहते ही शीत-गुण-प्रधान, द्रवीभूत जल पदार्थ की प्रतीति हो जाती है, ऐसे ही नाम लेते ही उसके वाच्य का ज्ञान हो जाना चाहिए। जैसे जल शब्द कहते ही उसके वाच्य का ज्ञान होना और उसकी प्राप्ति की क्रिया करना परमावश्यक है, ऐसे ही नाम और उसके अर्थ को जानना तथा उसकी उपलब्धि के लिए प्रत्याहार, धारणा और ध्यान आदि क्रिया-कलाप का करना अतीव आवश्यक है।"

स्वामीजी कच्ची-पक्की रसोई के झगड़े को एक आडम्बर ही समझते थे। एक साधु स्वामीजी के पास पढ़ता था। वह एक दिन चौके के बखेड़े पर रसोइए के साथ लड़ पड़ा। स्वामीजी ने उसे बुलाकर कहा—"आप संन्यासी भी हो गये, परन्तु चौके-चूल्हे का भ्रम-जाल आपके पीछे पड़ा ही रहा। कच्चे-पक्के के पाप-पाखण्ड ने आप का पिण्ड न छोड़ा। भाई! यहाँ तो चारों वर्णों के परस्पर के भेद-भाव को मिटाना होगा। सार्वजनिक बन्धु-भावना की भूमि पर प्रेम का प्रासाद निर्माण करना होगा।"

महाराज ने राम-स्नेहियों के महन्त को धर्म-चर्चा के लिए आहूत किया। परन्तु वे महन्तजी तो अपने आसन पर ही बैठे बढ़-बढ़कर बातें बनाना जानते थे। बेतुकी उड़ाना ही उन्हें आता था। सिर-पैर-विहीन कथायें, अपने सेवकों के मस्तक में उंडेलते जाना उनके कर्त्तव्य की इति-श्री थी। वे भोलेनाथ, भला

शास्त्रार्थ और संवाद को क्या जानें। इसलिए संवाद न हो सका।

स्वामीजी ने मनोनिग्रह भी परम-कोटि का किया हुआ था। उनकी सब वृत्तियाँ वशवर्तिनी थीं। मस्तक के सूक्ष्मतम तन्तुओं पर भी उनका इतना वशीकार था कि निद्रा तक उनके सर्वथा अधीन थी। शाहपुरा में मध्याह्न समय भोजन पाकर, स्वामीजी स्वल्प समय के लिए सो जाया करते। उन दिनों में सोलह मिनट तक नींद लिया करते थे। सोते उठकर मुँह हाथ धोने और कुल्ले करने के लिए जल लेते। नौकर भी घड़ी देखता रहता। ज्यों ही सोलहवाँ मिनट आरम्भ होता त्यों ही वह जल का कलसा और अंगोछा ले, हस्त-मुख प्रक्षालन करने के स्थान पर, जाकर खड़ा हो जाता। ठीक सोलहवें मिनट की समाप्ति पर जगद्गुरु जग जाते और तत्काल मुखादि धोकर कार्य्य पर आ बैठते। रात्रि के समय वे ठीक दस बजे शुद्ध, स्वच्छ, साधारण और शुभासन शय्या पर शयन किया करते। भक्तजनों से वार्त्तालाप करते हुए जिस समय दस बजने की पहली 'टन' की ध्वनि होती वे तुरन्त खाट पर टेढ़े हो जाते। दूसरी 'टन' ध्वनि पर प्रगाढ़ निद्रा में लीन जान पड़ते। उनके इस असाधारण सामर्थ्य पर सभी को परमाश्चर्य हुआ करता था।

योगानुष्ठान से उनकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी निर्मल हो गई थीं, कि सूक्ष्मतम विषय को भी सुगमता से ग्रहण कर लेती थीं। योग-दर्शन कथित दिव्य सम्वित् उन्हें प्राप्त थी।

स्वामीजी के निवास-स्थान पर खस की टट्टियाँ लगा दी गईं थीं। दुपहर के पश्चात्, जब लू चलने लगती, ग्रीष्म का भीषण उत्ताप, जब वायु-सहित भूमि को उत्तप्त बना देता तो उस समय, उन टट्टियों पर जल सींच दिया जाता, जिससे सारी कोठरी की वायु सुशीतल और सुगन्धित हो जाती। एक दिन मध्याह्नोत्तर समय, जब जल छिड़का गया तो महाराज ने कहा कि आज कहीं से दुर्गन्ध आ रही है। सेवकों ने इधर-उधर सर्वत्र घूमकर देख-भाल की, परन्तु कहीं भी कोई सड़ी-गली वस्तु दिखाई न दी। टट्टियों में जल सींचने के लिए एक कुण्ड में कुछ पानी एकत्र रहा करता, उसका बासी जल नित्य निकालकर नया जल उसमें डाला जाता। भगवान् ने सेवक को बुलाकर पूछा कि बताओ क्या तुमने खस की टट्टियों पर कुण्ड का वासी पानी डाला है? उसने विनती की कि महाराज! वैसे तो कुण्ड में से कल का सारा

पानी मैंने उलीचकर निकाल दिया था, कदाचित् घड़ा आध घड़ा रह गया होगा। परन्तु उसमें लगभग सौ घड़े नये जल के डलवाये हैं। तब महाराज ने कहा कि उसी थोड़े से बासी जल की दुर्गन्ध आ रही है। अच्छा, इस समय टट्टियाँ उतार दो फिर कभी इन पर ऐसा जल न सींचना। भगवान् की घ्राण-इन्द्रिय की इतनी प्रबल शक्ति का पूर्ण परिचय पाकर भक्तों को पूरा निश्चय हो गया कि इनको योग-बल ही से ऐसे सूक्ष्म विषय का ज्ञान हो जाता है।

जिस समय श्री-महाराज उदयपुर में धर्म्मोपदेश दे रहे थे उन्हीं दिनों श्री-महाराज प्रतापसिंह जी और राव राजा तेजसिंह जी के प्रार्थना-पत्र श्री-सेवा में आये थे। उनमें उन्होंने जोधपुर पधारने के लिए अत्याग्रहपूर्वक विनती की थी। महाराज ने उन महानुभावों की उत्कृष्ट उत्कण्ठा का आदर करते हुए लिख दिया कि हम शाहपुरा से होकर जोधपुर आयेंगे। शाहपुरा में महाराजा जसवन्तसिंह जी का लिखा हुआ निमन्त्रण-पत्र आया, जिससे श्री महाराजा ने शाहपुरा से प्रस्थान करने का समय ज्येष्ठ कृष्णा ४ शनिवार संवत् १६४० को दिन के दस बजे नियत कर दिया।

स्वामीजी की जोधपुर जाने की सु-सज्जा देखकर, शाहपुराधीशजी ने श्री-सेवा में निवेदन किया, "भगवन्! राजा लोग भोग-विलास और मन-माने आमोद-प्रमोद में निमग्न रहा करते हैं। जहाँ आप पधारने लगे हैं वहाँ वारा-ङ्गनाओं का अधिक खण्डन न कीजियेगा।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मैं बड़े-बड़े कटीले वृक्षों को नुहरने से नहीं काटा करता। उनके लिए तो अति तीक्ष्ण शस्त्रों की आवश्यकता होगी।"

शाहपुराधीश ने महाराज को विदा करते समय २५०) ढाई सौ रुपए श्रीचरणों में निवेदन किये और ५०) पचास रुपये मासिक एक उपदेशक के लिये देने का वचन दिया। विदाई के समय अति भक्तिभाव से सभा में यह सम्मान-पत्र श्री महाराज को सुनाया गया:—

स्वस्ति श्री सर्वोपकारार्थं कारुणिक परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के चरणारविन्द में महाराजाधिराज शाहपुरेश की बार-बार नमस्तेऽस्तु !

अपरञ्च यहाँ आपका विराजना सार्द्धद्वय मासपर्य्यन्त हुआ। तथापि

आपके सत्यधर्मोपदेश के श्रवण से मेरी आत्मा तृप्त न हुई। आशा थी कि आप ग्रीष्मान्त अत्रस्थित होते, परन्तु जोधपुराधीशों की ओर से दर्शनों की, वेदोक्त धर्मोपदेश-ग्रहण की, सत्याचरण और असत्य त्याग की तथा आपके मुखारविन्द से श्रवण करने की अभिलाषा देखकर आपने वहाँ पधारना स्वीकार किया। भवच्छरीर भी करोड़ों मनुष्यों के उपकारार्थ प्रकट हुआ है यह समझकर, मेरी भी सम्मति यही हुई है कि आपका वहाँ पधारना ही उत्तम है। यही समझकर यहाँ विराजने की प्रार्थना नहीं की। आशा है कृतकृत्य करने के निमित्त पुनरागमन करेंगे। संवत् १६४० ज्येष्ठ कृष्णा ४ (हस्ताक्षर) नाहरसिंहस्य।

जोधपुर जाते समय आर्य्य लोगों ने स्वामीजी से कहा—"जहाँ आप जा रहे हैं वहाँ के लोग कठोर प्रकृति के हैं। कहीं ऐसा न हो कि सत्योपदेश से चिढ़कर श्री-चरणों को पीड़ा पहुँचायें।" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"यदि लोग, हमारी अंगुलियों को बत्तियां बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश दूंगा।"

महाराज अति सम्मानपूर्वक शाहपुरा से विदा हुए और ज्येष्ठ वदी ५ को अजमेर ठहर कर पाली रेलवे स्टेशन पर पहुँचे। वहाँ, जोधपुर के महाराज की ओर से चारण नवलदान आदि सज्जन, स्वामी जी को लिवा ले जाने के लिए, एक हाथी, तीन ऊँट, तीन रथ, एक सेज-गाड़ी और चार अश्वारोही सैनिक लेकर आ गए।

पाली से चलकर श्रीमहाराज दो रातें मार्ग में रहे और ज्येष्ठ वदी ८ को जब, जोधपुर से तीन कोस के अन्तर पर रह गये तो प्रातःकाल के वायु से लाभ उठाने के लिए पैदल चलने लगे। साथी भी यानों से उतर खड़े हुए और पीछे-पीछे पैदल हो लिये।

जोधपुर-नरेश की ओर से महाराज के स्वागत का अत्युत्तम प्रबन्ध किया गया। रावराजा तेजसिंहजी और रावराजा ज्वानसिंहजी, परिव्राजकाचार्य्यजी के सम्मुखाभिगमन और प्रति ग्रहण करने के लिए रत्नाढा तक पैदल गये। उन्होंने दूर से देखा कि एक काषायाम्बरधारी संन्यासी गम्भीर गति से चलते चले आ रहे हैं। उनके एक हाथ में एक लम्बायमान दण्ड है। उनका विशाल भाल बाल-काल के सूर्य्य की किरण से महामूल्य मणि के समान, दीप्तिमान्

हो रहा है। मनोहर मुख-मण्डल, मेघ-मुक्त चन्द्रमा की भाँति, चमकता हुआ दर्शक के चित्त को आह्लादित कर रहा है। उस पर अपूर्व प्रतिभा की शुभ्र-प्रभा पूर्ण-रूप से विराजमान है। नीले गुलाबी डोरों से खचित उनके विमल रसीले नेत्रों की निर्मल ज्योति, दर्शक के अन्त:करण की कोठरी को जगमगाये जाती है। उनके नव-पल्लव समान होठों पर, मन्द मुस्कान की मनोरम रेखा रह-रह कर चमकती है। दाड़िम के दानों की भाँति, उनके उज्ज्वल दाँतों की पांति, पवित्र प्रभा नि:सरण कर रही है। उनकी दोनों भुजायें घुटनों को स्पर्श करती हुई शोभायुक्त बन रही हैं। उनका वर्ण, तप्त-स्वर्ण समान है। गौरव-सूचक गेरूए वेष में उनकी निष्कलङ्क और कुन्दन-कल्प काया की अलौकिक छटा, ऐसी दिखाई देती जैसे स्वर्ण के सिंहासन पर विशुद्ध स्वर्ण की प्रतिमा, सौन्दर्य का स्रोत बन रही हो। सम्पूर्ण पवित्रताओं मे परिवेष्टित, तेजोधाम, संन्यासीराज धीरे-धीरे जब दोनों रावराजाओं के निकट पहुँचे तो उन्होंने नम्रीभूत होकर गुरुदेव के अरुणवर्ण, चारु चरण अपने हाथों से चर्चित किये। विनीत भाव से कुशल-मङ्गल पूछा। महाराज ने भी उनको आशीर्वाद देकर योग-क्षेम पूछा और कहा—"आप इतनी दूर पैदल चलकर क्यों आये हैं? आपको इसमें कष्ट हुआ होगा।"

रावराजा तेजसिंहजी के हृदय-देश में तो श्री-दर्शनों ही से भवभार-नाशिनी, भगवती, भक्ति-भागीरथी का प्रादुर्भाव हो गया था, श्रद्धा की लता का शुभांकुर निकल आया था। उन्होंने झुककर निवेदन किया कि श्रीमहाराज की अगौनी के लिए पैदल चलकर आना हमारे लिए, परम पुण्य के उपार्जन का एक साधन हो गया है। दोनों राव-राजाओं ने, अपने साथियों-सहित, अति सम्मान और समारोह से स्वामीजी को ले जाकर मियाँ फैजुल्लाखाँ के उद्यान में ठहराया। उस समय स्वामीजी के साथ माननीय रायबहादुर श्री गोपालराव हरि देशमुख के सुयोग्य पुत्र लक्ष्मणरावजी भी थे। ये खानदेश में असिस्टेण्ट कलेक्टर थे। वहाँ से छुट्टी लेकर महाराज से योगाभ्यास सीखने आये थे।

जोधपुराधीश की ओर से चारण नवलदान, चार सेवकों-समेत श्री-सेवा में नियुक्त हुए। छः सैनिकों-सहित एक हवलदार पहरे पर लगाया। महाराज के दुग्धपान के लिए एक गाय आ गई और राव राजा तेजसिंहजी

को भी महाराजा की आज्ञा हुई कि वे श्री स्वामीजी की सेवा-शुश्रूषा की स्वयं देखरेख रक्खें। रावराजा महाशय तो महाराज के भक्त बन ही चुके थे, इसलिए उन्होंने इस आदेश को अपने सौभाग्य-सूर्य के उदय के समान ही समझा। जिस दिन महाराज जोधपुर में पधारे, उसी दिन से सत्सङ्गियों की मण्डलियाँ उनके पास आने लग गईं। वार्त्तालाप और प्रश्नोत्तर द्वारा ही अनवरत-रूप से, उपदेश-वारिवर्षण होने लग गया। उनकी उक्तियाँ और प्रतियुक्तियाँ श्रोताओं की लहलहाती चित्त-लताओं को धीमे-धीमे पड़ने वाली सावन की फुहार की तरह, शान्त करती थीं। राठौर-राज्य के सरदार और राठौर-वंश के राजपूत प्रभु दयानन्द के एक-एक करके शिष्य बनने लग गये। महाराज श्री प्रतापसिंहजी का हृदय-कमल महाराज की अनन्य भक्ति की सुगन्ध से परम-सुवासित हो गया था। उनको गुरु महाराज के सुख का रात-दिन ध्यान रहता। वे प्रतिदिन नियमपूर्वक और बड़ी भावना से सत्संग-सुधासिन्धु में स्नान करके अपने अहोभाग्य मानते। उनकी इस अपरिमित प्रीति से, अन्य अनेक राजपूत भी प्रभावित हो रहे थे। राठौर-राज्य में नमस्ते की मधुर और कर्ण-कोमल ध्वनि सर्वत्र गूँजती सुनाई देती थी। आर्य्यत्व का सर्वत्र प्रचार होता चला जाता था।

महाराज के जोधपुर में जाने के पश्चात्, सत्रहवें दिन श्री महाराजा यशवन्तसिंह जी बड़े समारोह से उनके दर्शनों को आये। समीप आकर उन्होंने बड़ी विनीतता से चरण-स्पर्शपूर्वक नमस्कार किया। एक सौ रुपये और पाँच सुवर्णमुद्रायें भेंट में रक्खीं। यद्यपि कुर्सियों का यथोचित प्रबन्ध था और श्री स्वामीजी, महाराजा महाशय को कुर्सी निमन्त्रित भी कर रहे थे, परन्तु आश्रम-मर्यादा और विनय-धर्म में निपुण, जोधपुराधीश नीचे फर्श पर ही बैठ गये। उन्होंने साथ ही यह भी कहा—"आप हमारे स्वामी हैं और हम आपके सेवक हैं, इसलिये आपके सामने नीचे आसन पर बैठने ही में हमारी शोभा है।"

श्री स्वामीजी, महाराजा महाशय को नीचे बैठा देखकर उठ खड़े हुए और कहने लगे कि आपका ऐसे आसन पर विराजना मेरे मन को अच्छा नहीं लगता। साथ ही उन्होंने सम्मान-पूर्वक शिष्ट पद्धति से महाराजा का हाथ अवलम्बन करके उनको कुर्सी पर ला बिठाया। परमहंसजी के

आर्योचित औदार्य्य का परम प्रमाण, प्रत्यक्ष रूप में पाकर, राठौर-वंश के सभी सरदार मोहित हो गये और मन-ही-मन उनकी प्रशंसा करने लगे। तीन घण्टे तक महीपाल, महर्षि के सत्सङ्ग में बैठकर मनु-स्मृति से राजधर्म्म श्रवण करते रहे। स्वामीजी के वचन उनके लिए अपूर्व रुचिकर थे; उनके आत्मा में बसते जाते थे, उनके अन्तःकरण में रचते जा रहे थे। थोड़ी देर तक कुछ वार्त्तालाप भी हुआ और फिर महाराजने वहाँ से उठते समय निवेदन किया—"भगवन् आप ऐसे पर-दुःख भंजन करने वाले दयालु महात्माओं का यहाँ पदार्पण करना अति दुर्लभ है। यह हमारे सौभाग्य-प्रभात का शुभ सूचक शुभागमन है, जो श्रीमन्त ने यहाँ अपने देव-दुर्लभ दर्शन दिये हैं! इसलिए, श्री-सेवा में यह विनीत विनय है कि पूज्यपाद जब तक यहां निवास करें, अपने उपदेशामृत से लोगों को कृतार्थ करते रहें।"

महाराजा के मिलाप के दूसरे दिन ही से, स्वामीजी ने विविध विषय-सम्बन्धी व्याख्यान वारिवर्षण की घोषणा कर दी। जिस बङ्गले में महाराज विराजमान थे उसके विशाल आँगन ही में उपदेशों का प्रबन्ध किया गया। समय सायं के चार बजे से छः बजे तक नियत हुआ।

पहले दिन जब महाराज व्याख्यान स्थान को पधारने लगे तो राव राजा तेजसिंह जी ने प्रार्थना की कि भगवन्, महाराजा महाशय के रहन-सहन के विषय में कुछ भी न कहिएगा।

स्वामी जी ने किंचित् बलपूर्वक कहा कि क्या आप मुझसे झूठ कहलाना चाहते हैं? स्मरण रखिए, मैं जो कुछ कहूँगा सत्य ही कहूँगा। मेरा कथन कभी असभ्यतासूचक भी नहीं हुआ करता और न ही मैं, किसी व्यक्ति-विशेष का नाम-निर्देश करके, कभी कर्ण-कटु कटाक्ष किया करता हूँ। राव-राजा महाशय ने सिर झुका दिया और महाराज व्याख्यान स्थान में जा पहुँचे और एक स्वच्छ और सुन्दर सिंहासन पर आरूढ़ हो गये। उस दिन महाराजा यशवन्तसिंहजी के बिना राज्य के सारे उच्च पदाधिकारी-कर्मचारी वहाँ एकत्र हुए। सेठ-साहूकार आदि सज्जन भी आये। सभी उपस्थित सभ्य चातक की भाँति तृषित और निर्निमेष नयनों से उनके विमल मुख-चन्द्र के दर्शन पा रहे थे।

ठीक समय पर स्वामी जी ने अपने दोनों नेत्रों के पलक-द्वार बन्द कर

लिये और उनकी ज्वलन्त ज्योति को उलट कर, त्रिकुटी-मन्दिर को जगमगा दिया। फिर भव-भय हरण, परम पावन प्रणव का गम्भीर नाद ऐसा गुंजाया कि सब श्रोताओं की मनोवृत्तियाँ मूर्च्छित हो गईं। ऐसा प्रतीत होता था कि कोई वादन-कला-प्रवीण जन किसी मन्दिर के द्वार बन्द करके वीणा बजा रहा है। सङ्गीत-रस ने मानों इस स्वर में अवतार धारण कर लिया है। जैसे वसन्त में, पुष्पित लता पर भ्रमर गूंजता है उसी प्रकार होठ बन्द करके महाराज ओम्ध्वनि गुंजाते थे, परन्तु उसका अलौकिक माधुर्य्य मोहिनी मन्त्र का काम करता जाता था। ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से सन्तप्त वनराजि पर, जैसे बदली छमा-छम बरसकर, उसे शान्त बना रही हो, उसी प्रकार वह स्वर-रस श्रोताओं के वृत्ति-वन पर वर्षण करके उसे अननुभूत आनन्द प्रदान कर रहा था। वह सहस्रों मनुष्यों की सभा थी, परन्तु कोई भी मनुष्य हिलता-डुलता तक न था। सर्वत्र मौन छा रहा था। प्रशान्ति का अटल राज्य विराजमान था।

प्रत्येक उपस्थित को यह प्रतीत होता था कि यह अपूर्व नाद मेरे कानों के अति निकट गूंज रहा है। उससे दशों दिशायें निनादित हो रही हैं। सारी सभा, कई मिनटों तक एक-चित्त होकर अनुपम नाद-रस लूटती रही। फिर जब श्री स्वामीजी ने मन्त्र-गायन आरम्भ किया तब लोगों की चित्त-वृत्तियां एकाकार पद से नीचे उतर सकीं। जोधपुर के अधिवासियों के लिये वह आनन्द सर्वथा नया था। उन्होंने ऐसे स्वर्गीय स्वादु रस का, पहले कभी, स्वप्न में भी आस्वादन नहीं किया था। इसलिये हर्ष के उत्कृष्ट उत्कर्ष से उनके हृदय उछलने लग गये। महाराज का व्याख्यान जब आरम्भ हुआ तो सबकी दृष्टियां सिमट कर उनके दैवी स्वरूप की छाया की अद्भुत छटा को निरखने लगीं। सबके श्रोत्र एक-रूप होकर उनके वचनामृत का पान करने लगे। उनका प्रथम व्याख्यान 'ईश्वर' विषय पर था। उसमें उन्होंने ईश्वर के स्वरूप का निरूपण ऐसे अनुपम प्रकार से किया कि भक्ति-भाव के भादों की झड़ी लग गई।

लोग परम्परा से पुराणों की पुरानी चाशनी चखते-चखते उकता गये थे। देवमाला की मनोरंजक, रोचक, भयानक, और कल्पित कथा-कहानियों से उनके जी ऊब गये थे। महाराज के यथार्थ उपदेशों से उनके हृदयों के कपाट

खुल गये। उनको छल-बल-रहित सरल सत्य की समझ पड़ी।

प्रतिदिन, श्री महाराज सायं के चार बजे व्याख्यान-स्थान पर आ विराजते और ज्ञान-गङ्गा बहाकर श्रोताओं को निहाल कर देते। वे अपनी शाण-शाणित कुशाग्र बुद्धि के प्रबल प्रताप से युक्तियों और प्रमाणों का ऐसा तार लगाते कि सुनते-सुनते ही सारे भ्रम दूर हो जाया करते। यद्यपि व्याख्यान के अनन्तर शङ्का-समाधान के लिये समय दिया जाता परन्तु बिरला ही कोई उस समय कुछ पूछता। हाँ, कभी-कभी कोई अपनी पुरानी परिपाटी को पीटने वाला, पुराण पद्धति का पण्डित कुछ पूछ लेता, परन्तु एक-दो बार बोलकर ही जी छोड़ बैठता। क्षीर-नीर का निर्णय करने वाले परमहंस के सत्सङ्ग में न्याय होता था, नीति होती थी, युक्तियां होती थीं, प्रमाण होते थे और सर्वोपरि सत्य का प्रकाश होता था। कितना ही बली-छली कोई क्यों न हो, वहाँ आकर वह छल-छिद्र की सारी चालें चूक जाता। उसका हृदय शून्य हो जाता। उसे पूछने योग्य कोई बात सूझती ही नहीं थी। वह अपना बचाव इसी बात में समझता था कि उस नर-सिंह के सामने ही न आये।

जोधपुर में उन दिनों एक गणेशपुरी नामक प्रसिद्ध संन्यासी आये हुएथे। वे प्रबल पण्डित भी थे। अपने डेरे पर स्वामीजी के विरुद्ध बोलने में भूतला-काश एकाकार कर देते। अपने पक्ष की पुष्टि में, छाती ठोककर, प्रमाण देने के लिए समुद्यत हो जाते। कुछ सज्जनों ने उनको जाकर कहा—"महात्माजी! स्वामी दयानन्दजी अपने शास्त्र-सामर्थ्य और यौक्तिक बल से देवमाला की लड़ी को तोड़ रहे हैं। आपकी पुराण-पाठ की पक्की और परिपुष्ट पटड़ी को उखाड़े चले जाते हैं। आप चलकर उनसे शास्त्रार्थ कीजिए। नहीं तो बड़ी देर का बना-बनाया आडम्बर बिगड़ जायगा।" गणेशपुरी ने आज-कल करते कई दिन तो टालमटोल में बिता दिये, परन्तु जब देखा कि ऊपर की टीप-टाप बनाये रखने के लिये शास्त्रार्थ की चक्की में पिसना ही पड़ेगा तो स्पष्ट कह उठे, 'भाई! वे जो कुछ कह रहे हैं, सो सब सत्य है। उनके सम्मुख होने का न तो हम में साहस है और न ही सामर्थ्य।" जब उनको लोग बहुत विवश करने लगे तो वे अपना डेरा-डण्डा उठाकर वहां से चुपके ही कहीं चल दिये।

रावराजा ज्वानसिंह जी आदि अनेक सज्जनों ने सत्सङ्ग में प्रश्नोत्तर

करके अपने सारे संशय मिटाये। एक दिन श्री महाराजा प्रतापसिंह जी ने श्री-सेवा में विनीत निवेदन किया कि भगवन् ! आप ब्रह्म हैं अथवा जीव ? उन्होंने उत्तर दिया, मैं जीव हूँ। महाराजा महाशय ने कहा कि 'हमारे पण्डित तो हमें ब्रह्म बताया करते हैं।' स्वामीजी ने उपदेश देते हुए कहा कि—आप ब्रह्म होते तो आपमें ब्रह्म के गुण भी पाये जाते। उसके सर्वज्ञता आदि गुण आपमें नहीं हैं इसलिए आप जीव हैं। ब्रह्म में भूल और अशुद्धि का मानना भारी भ्रम है।

महाराजा महाशय ने फिर निवेदन किया—"भगवन् ! कोई ऐसा उपाय अथवा साधन बताइये जिससे विविध वासनाओं के पाश में बद्ध, मेरे-जैसे मनुष्य की भी मुक्ति हो जाय।" महाराज ने कृपा की—"आप लोगों के दूसरे कर्म तो मोक्ष-मार्ग के नहीं हैं, किन्तु एक काम करना आपके आधीन है और वह है निरपेक्ष न्याय करना। यदि आप प्रजा का न्याय करने में न्यूनता नहीं आने देंगे तो आपका आत्मा, इसी से निर्लेप होकर निर्वाण-पद पा लेगा।"

महाराजा प्रतापसिंह जी एक दिन श्री स्वामीजी को अपना दुर्ग दिखाने के लिए ले गये। उन्होंने अनेक अद्भुत वस्तुओं को देखते-देखते राठौर-वंश के प्रबल प्रतापी पुरुष, महाराजा प्रतापसिंह का एक हस्त-चित्र भी देखा। उनका डाढ़ी-रहित मुखमण्डल, बल खाती बाङ्की मूँछों से तेजोधाम प्रतीत होता था। स्वामीजी ने महाराज को सम्बोधन करके कहा—"टुक इस छवि की छटा तो देखिए। आपके पुरातन पुरुषों के मुखों पर ऐसा तेज और गौरव हुआ करता था। देखिये इस चित्र ही से कैसी वीरता टपकी पड़ती है।"

महाराज ने एक दिन, अपने ओजस्वी भाषण में, वैष्णवों के चक्राङ्कित सम्प्रदाय पर प्रबल टीका-टिप्पणी की। उनके अलीक और अमूल्य मन्तव्यों का जी खोलकर खण्डन किया। उनके तिलक-छाप को निराधार और मिथ्या-मूलक बताया। उस सम्प्रदाय के अनेक जन उस सभा में बैठे बल तो बहुत खाते थे, परन्तु उनका वश कुछ न चलता था। महाराज की युक्तियों के अनिवार्य्य और अचूक प्रहारों की चोट निरे चिढ़ने से क्यों कर दूर हो सकती थी। एक पहाड़ी पण्डित श्रीराम बड़ा कट्टर चक्राङ्कित था। उसके वहाँ चेले-चाँटे भी बहुतेरे थे। वह आगे बढ़ा और शास्त्रार्थ के लिए लिखा-पढ़ी करने

लगा। परन्तु किसी एक नियम पर न टिका। अन्तपर्यन्त यह कहता रहा कि मेरे महता विजयसिंह को मध्यस्थ मानो तो मैं शास्त्रार्थ करने को कटिबद्ध हूँ। स्वामीजी ने उसको उत्तर दिया कि महता महाशय संस्कृत भाषा से सर्वथा शून्य हैं, इसलिए उनका मध्यस्थ नियत होना अनुचित है। कोई विद्वान् पण्डित चुनकर बताइए, उसको मध्यस्थ बना दिया जायगा। परन्तु उस पण्डित महाशय ने महाराज के कथनों को स्वीकार न किया।

श्रीराम ने सामने आकर शास्त्रार्थ तो न किया, परन्तु अपने अनुगामियों के हृदय में विषम वैर की आग सुलगा दी। महता महाशय के मन में भी एक विकट गाँठ पड़ गई। कुछ एक वैष्णव लोग जैसे भी हो, पूज्यपाद के अप्रिय करने में प्राण-प्रण से परायण हो गये।

महाराज, अपने व्याख्यानों में सभी मत-मतान्तरों पर प्रसङ्गानुसार समालोचना कर दिया करते थे। कोई कितना ही सत्ताधारी सामने क्यों न बैठा होता, प्रकरणानुसार वे उनके मत के भ्रम-मूलक विचारों पर आक्षेप कर ही देते। जोधपुर में भगवान् ने मुसलमान मत पर भी समालोचनात्मक भाषण दिया। उसको सुनकर भैया फैजुल्ला खाँ के तन-बदन में आग सी लग गई। वे बहुत ही चिढ़कर बोले—"स्वामी! यदि मुसलमानों का राज्य होता तो आपको लोग जीवित-जागृत न छोड़ते। उस समय आप ऐसे भाषण भी न कर पाते।"

स्वामीजी ने खाँ महाशय को बड़ी धीरता से उत्तर दिया—"यदि ऐसा अवसर आता तो मैं भी कभी थरथराहट में न आता और निठल्ला न बैठता, किन्तु निधड़क मन से, दो-चार वीर राजपूतों की पीठ ठोंककर विरोधियों धुर्रे उड़ा देता। ऐसा छकाता कि छक्के छूट जाते।" महाराज के इस उत्तर से खाँ महाशय सटपटा उठे। उनके भाषण में, एक दिन एक मुसलमान युवक, सहसा भिड़भिड़ाकर उठ खड़ा हुआ। एक हाथ तलवार की मुट्ठी पर रख झुँझलाकर बोला—"आप मुँह सम्भालकर बोलें। हमारे मत के विषय में कुछ भी न कहें।" स्वामीजी ने, अति कोमलता से उस युवक को कहा—"सौम्य! आपके अभी दूध के दाँत हैं। संसार के उतार-चढ़ाव का आपको कुछ भी अनुभव नहीं। आप तो कोरे खड्ग को हाथ से थामने वाले हो, उसे कोश से निकाल नहीं सकते। भला, चना भड़केगा तो क्या भाड़ फोड़ डालेगा।

यदि हम ऐसी थोथी झिड़का-झिड़की से झिझकने लगते तो इतना बड़ा बोझ कैसे उठा सकते ?"

यह युवक थरथराता हुआ बैठ गया और इतना लज्जित हुआ कि फिर ऊपर को सिर न उठा सका। भैया फैजुल्ला खाँ के हृदय में उपर्युक्त बात-चीत से बहुत से पेचीले बल पड़ गये। वे प्रतिकार के उपाय के लिए चिन्तित रहने लगे।

महाराज का हृदय सरल था। वे सर्वसाधारण के हितार्थ सत्योपदेश देते थे। लपेट की बात बनाना और शक्तिशालियों की चापलूसी करना कभी स्वप्न में भी नहीं सीखे थे। संसार छल-कपट से भरा है। इसमें खरे-खोटे को परखने वाले मनुष्य विरले ही मिलते हैं। उस महापुरुष के मानस-महत्त्व को मर्त्य लोक के कीटाणु क्या जानते! हास-विलास और विषयानन्द के जीव-जन्तुओं को तो वे बतक्कड़ ही अच्छे लगते हैं, जो मुँह-देखी बातें करते हैं। चबा-चबाकर चिकनी-चुपड़ी गपशप हाँकते रहते हैं। बड़े मनुष्यों की मिथ्दा प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं।

भगवान् दयानन्द, किसी के षड्यन्त्र-रचना पर कुछ भी ध्यान न दे, अपने नियत कार्यों को किये जाते थे। वे प्रातः समय भ्रमण करने जाते और एकान्त विजन प्रदेश में बैठ एक घण्टा ध्यान में निमग्न रहते थे। भ्रमण-काल में वे एक कौपीन और धोती-मात्र वस्त्र तन पर रखते, पांव में जूता धारण करते और हाथ में एक सुदृढ़ डण्डा रक्खा करते। जब स्वस्थान पर लौट आते तो पन्द्रह-बीस मिनट तक कुर्सी पर बैठकर, एक गिलास दूध का पीते। तत्पश्चात् ठीक आठ बजे वेद-भाष्य का परमोपयोगी कार्य करना आरम्भ कर देते। ग्यारह बजे यह कार्य्य बन्द कर देते और फिर स्नानादि करके भोजन पाते। उनका भोजन परिमित और बहुत ही सादा होता था। सब वस्तुयें मिलाकर उनका आहार डेढ़ पाव के अन्दर ही होता था। भोजनानन्तर महाराज कुछ काल के लिए विश्राम भी लिया करते। दोपहर ढले, एक बजने पर महाराज सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कार विधि की कापियों के प्रूफ देखते, उनका संशोधन करते। तत्पश्चात् चिट्ठी-पत्री का काम करने लग जाते। बीच में यदि कोई आवश्यक कार्य्य आ पड़ता तो वह भी कर डालते। चार बजे से कुछ पूर्व स्नान करके सारे तन पर मिट्टी भी रमाया करते। मस्तक,

छाती और भुजाओं पर उसका लेप लगाते। रेशमी धोती और साफा धारण करके एक लम्बा चोगा पहनते। उसके पश्चात् ठीक चार बजे व्यास-गद्दी पर जा विराजते और छः बजे तक परम-प्रभाव-उत्पादक उपदेश देते रहते। छः से आठ बजे तक शंका-समाधान में लोगों के भ्रम मिटाते। फिर नौ बजे तक वैसे ही वार्त्तालाप में जनता का हित-साधन करते। उपरान्त प्रभु औटाया हुआ सेर भर दूध मिश्री मिलाकर पीते थे।

आम्रफल उनका चित-चाहता भोजन था। थोड़े से आम वे अवश्य चूसते थे। पास बैठे सत्संगियों में भी, बड़ी वत्सलता से, आम के फलों का प्रसाद बांटा करते। यही समय उनके समाचार सुनने का था। जब दस बजते तो तत्काल शुभासन पर लेट जाते। कभी-कभी महाराजा महाशय सात बजे श्री-सेवा में आते और वार्त्तालाप में जब दस बजने लगते तो भगवान् कह देते कि 'राजन् अब शयन का समय हो गया है। शेष वार्तालाप कल किया जायगा।' महाराज का जीवन सुनियमता के ढाँचे में ऐसा ढला हुआ था कि उसका दूसरा उदाहरण मिलना दुर्लभ है। वे प्रत्येक कार्य्य में आदर्श स्वरूप थे।

पूज्यपाद परमहंस जी सबके साथ प्रेम से वर्ताव करते। किसी का धार्मिक विचार चाहे जो हो परन्तु उनके शिष्टाचार में अपने-पराये सभी समान थे। उनका हृदय पद्मकमल की पङ्खड़ियों सा कोमल था, मन मोम समान नर्म था, वर्ताव मृणाल-समान मृदु था और कथोपकथन तो मधुमयी मिठास का भी तिरस्कार करता था।

उनका हृदय सङ्कुचित नहीं था। उनके विचारों में संकीर्णता का लवलेश भी नहीं दिखाई देता था। किसी दीन-दुखिया को देखकर उनके भीतर दया का प्रवाह बहने लगता था। किसी का आर्त्त नाद और करुण क्रन्दन कर्ण-गोचर करने पर उनमें सहानुभूति का सागर उमड़ आता। वे तत्काल पिघल जाते, आँखें भर लाते और उसकी विपत्ति को, बाधा को, वेदना को, दूर करने का भरसक प्रयत्न करते।

महाराज का आर्यसामाजिकों से कल्पनातीत प्रेम था। उन्होंने इस वाटिका को अपने हाथों से लगाया था। इसमें से घास-फूस और झाड़-झँखाड़ उखाड़ फेंकने में वे बड़ी दौड़-धूप करते रहे। उन्होंने इस परम और चरम-

कर्म में रात-दिन कुछ भी नहीं गिना। लहू-पसीना एक कर दिया। किसी विनीत आर्यसमाजी को अपने सामने नत-शिर देखकर उनकी छाती उतनी ही ठण्डी होती थी, उनका हृदय उतना ही वात्सल्य-भाव से भर जाता था और उनके नेत्रों में उतना ही प्रेम-पूर प्रकट हो आता था जितना एक प्रेम-पुञ्ज पिता को प्रीति के पुतले, सुपात्र और सुपुत्र में हो आता है।

महाराज अपनी मानस-सन्तान से क्या आशा रखते थे उसका प्रकाश इस बात से होता है। एक दिन रावराजा ज्वानसिंह जी ने नम्र निवेदन किया—"प्रभो! आप कोई सुयोग्य शिष्य तो बनाइए, जिससे आपके उद्देश्यों की लड़ी बीच में कहीं टूटने न पाये।" भगवान् ने भक्त को कहा—"शिष्यों से मुझे कोई आशा नही है। ऐसा एक भी सुपात्र और सुयोग्य शिष्य मुझे नहीं मिल सका, जिसके हाथ में अपने कार्य की बागडोर सौंप सकूँ। अब तो मेरे शिष्य सभी आर्य सामाजिक हैं। वे ही मेरे विश्वास और भरोसे के भव्य-भवन हैं। उन्हीं के पुरुषार्थ पर मेरे कार्यों की पूर्ति और मनोरथों की सफलता अवलम्बित है।"

महाराज की शारीरिक व्यवस्था अधिक कार्य करने पर भी अत्युत्तम थी। उनके तन पर वार्द्धकता का कोई चिह्न नहीं दीख पड़ता था। सत्सङ्गी जन प्रायः यह कहा करते कि सौ वर्ष से पूर्व इनकी दैवी देह पर जरा का आक्रमण कदापि न होगा। कहीं भी कोई झुर्री दिखाई न देगी। इनके तन का थकना, ढीला हो जाना और थलथलाने लगना एक शताब्दी के भीतर तो असम्भव है। महाराज स्वयं भी कहा करते कि हमारा देहपात यदि विष-प्रयोग अथवा शस्त्र-संयोग से न हुआ तो यह देह मानुषी जीवन-काल की परमावधि तक कार्य करने में समर्थ बनी रहेगी और मुरझाने तथा कुम्हलाने नहीं पायेगी।

रावराजा तेजसिंह जी आदि भक्त जन, कभी पाँव दबाने के बहाने से, महाराज की पिण्डली में बलपूर्वक अपनी अंगुलियाँ धँसाते तो वे कुछ भी न धँसने पातीं। उनको महाराज के सारे अङ्ग वज्र समान बलिष्ठ और परि-पुष्ट प्रतीत होते। अस्थियों से माँस का ढलकना तो दूर यदि कभी कोई सेवा करते-करते माँस को मुट्ठी में लेने लगता तो उसे हड्डी, माँस और त्वचा एकात्म हुए जान पड़ते। उनकी देह की वज्र-सङ्गठन थी और वज्र समान



जोध पुर नरेश को वेश्या के कारण स्वामी जी का फ़टकारना

सुदृढ़ता थी। उनकी काया का कल्पतरु सांसारिक कलह-कल्पना के कलुष-कीचड़ से ऊपर था। लोक की कल्याण-कामना से परिपूर्ण था। परमार्थ और परमात्मा की प्रजा के पालनार्थ उसकी रचना हुई थी। पाँव के अंगूठे से लेकर शिखा-स्थान तक उसमें पर-हित और पर-प्रेम भरपूर हो रहा था। महाराज तन, मन, धन सहित मनसा, वाचा, कर्मणा, परोपकार में समर्पित थे। परन्तु द्रोह, धोखे और धड़ा-बन्दी के भार से लदी हुई इस धरणी पर, लोग धर्म की आड़ में रात-दिन धड़ाधड़ महा अधर्म कमाते हैं। किसी-किसी समय वे अपनों पर ऐसे घोर अत्याचार कर बैठते हैं, कि जिनके स्मरण से रोमराजी खड़ी हो जाती है, कलेजा काँप उठता है।

महाराज के दर्शनों के लिए, महाराजा श्री यशवन्तसिंह जी तीन बार उनके आसन पर आये और तीन बार ही श्री-चरणों को अपने आवास में आमन्त्रित किया। एक दिन श्री महाराज जब जोधपुराधीश को दर्शन देने गये तो उस समय वहाँ वाराङ्गना 'नन्हीजान' आई हुई थी। उनको आते देखकर महाराजा महाशय ने उसकी पालकी को उठवाने का संकेत किया। नन्हीजान का बहुत कुछ मान था। सभी नौकर-चाकर उससे काँपते थे। यहां तक कि अधिकारियों को भी उसे प्रसन्न रखने की आवश्यकता होती थी।

वह वाराङ्गना तो वहाँ से चली गई, परन्तु उस दृश्य को देख कर भगवान् दयानन्द का हृदय अतीव दुःखित हुआ। वेश्या-प्रेम के घोर घृणित कुव्यसन का वैसे ही कड़ा खण्डन किया करते थे। सैकड़ों पुरुषों का उन्होंने इस पाप-पङ्क और दुर्व्यसन की दलदल में से उद्धार किया था। महाराजा महाशय को भी वे धर्मावेश में आकर कहने लगे—"राजन्! राजा लोग सिंह समान समझे जाते हैं। स्थान-स्थान पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृश है। वीर-शार्दूल का कृपणा कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है, आर्य जाति की कुल-मर्यादा के विपरीत है। केसरी की कन्दरा में ऐसी कल्मष-कलुषित कुक्कुरी के आगमन का क्या काम है? इस कुव्यसन के कारण धर्म-कर्म भ्रष्ट हो जाता है। मान-मर्यादा को बट्टा लगता है। इस पाप-सोपान पर प्रथम पदार्पण करते ही, पुनः पद-पद पर पुरुष का अधःपतन, आप ही आप होता चला जाता है। इस दुर्व्यसन को तिलाञ्जलि देनी चाहिए।"

उपदेश देने के अनन्तर महाराज अपने आसन पर चले आये। प्रेमी पुरुषों से कथनोपकथन करते उन्होंने कई बार कहा कि हमारे देश के बड़े-बड़े मनुष्यों के आचार-विचार तो इतने बिगड़ गये हैं कि इनका सर्वनाश कभी का हो चुका होता, इनकी नौका मंझधार में डूब गई होती, परन्तु इनकी पत्नियों का पतिव्रत-धर्म ही इन्हें अभी तक बचाए हुए है। कुलवन्ती आर्य सतियाँ ही अपने धर्म से इनकी रक्षा कर रही हैं।

नन्हीजान इस बात को जानती थी कि महाराज के उपदेश वेश्या-व्यसन के विरुद्ध मोहिनी-मन्त्र का प्रभाव रखते हैं। बरसों के महाव्यसनी भी उनके श्रवण-मात्र से सुधर जाते हैं। उसे इस बात का भी पता लग गया कि स्वामीजी ने उसकी तुलना कुतिया के साथ की है। इन दोनों बातों से उसके कलेजे पर साँप लोटने लगा। वह विकट वैर की विषम ज्वाला से रात-दिन सन्तप्त रहने लगी इसी बीच में भगवान् ने महाराजा प्रतापसिंह जी को यह पत्र लिखा—

"श्रीयुत मान्यवर महाराजा श्री प्रतापसिंहजी! आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा महाशय के दृष्टिगोचर भी करा दीजियेगा।

"मुझे इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्त्तमान हैं और आप तथा बाबा महाशय रोगी शरीर वाले हैं। इस राज्य में सोलह लाख से अधिक मनुष्य बसते हैं। उनके रक्षण और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। उनका सुधार-बिगाड़ भी आप तीन महाशयों पर ही निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर की रोग से रक्षा करने और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत अल्प ध्यान देते हैं। यह बात कितनी बड़ी शोचनीय है।

मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुधार लें, जिससे मारवाड़ तो क्या अपने आर्यावर्त्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध हो जायें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत थोड़े जनमते हैं और जनम कर भी बहुत स्वल्प आयु भोगते हैं। इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होता। आप जैसे पुरुष जितना अधिक जियें उतनी ही अधिक देशोन्नति होती है। इस पर आप लोगों को ध्यान अवश्य देना चाहिए। आगे जैसी आप लोगों की इच्छा हो।"

आ० वदी तृतीया १९४०। (हस्ताखर) दयानन्द सरस्वती।

महाराज का ऊपर का पत्र राठौर-वंश की हितेच्छा से कितना पूर्ण है, यह उसके एक-एक पद में प्रकाशित हो रहा है। परन्तु जो वस्तु एक के लिये अमृत होती है वही दूसरे के लिये विष बन जाती है। नन्हीजान को यह पत्र ठीक कालकूट सदृश दीख पड़ा। महाराज के उत्तमोपदेश से उसके हृदय में जो गहरा घाव उत्पन्न हो गया था उस पर इस पत्र ने लवण का काम किया। उधर उसे दिनों-दिन यह दीखने लगा कि वह महाराजा से उतरी और आँखों से गिरी चली जा रही है। वह दिन दूर नहीं जब वह म्लान कुसुम-माला की भाँति परित्यक्ता हो जायगी। उसकी चिन्ता की प्रचण्ड पवन ने वैर-दावानल को द्विगुण-चतुर्गुण भड़का दिया। नागिन की भांति वैर-विष से व्याकुल इस वाराङ्गना के साथ वे लोग भी क्रियात्मक सहानुभूति करने के लिए समुद्यत हो गये जिन्होंने कभी मत-भेद से स्वामीजी की बातों को बुरा मनाया था, जो कभी भक से उड़ जाने वाली वस्तु की भाँति उनके व्याख्यानों में भड़क उठे थे। स्वामीजी को साँझा शत्रु समझकर, कुटिल नीति के गुप्त सूत्रपात होने लगे।

जब कोई विषम विपत्ति आने लगती है तो बयार पहले ही विपरीत बहने लग जाती है। महाराज का सेवक कल्लू कहार अति प्रीति से उनकी सेवा किया करता था। परन्तु जोधपुर-निवास के पंचम मास में वह कहार छः सात सौ का द्रव्य लेकर चुपके से चम्पत हो गया। द्रव्य बटोर कर वह जिस खिड़की के द्वार से बाहर निकला उसके आगे ब्रह्मचारी रामानन्द जी को सोने की आज्ञा हुई थी, परन्तु उस रात वे वहाँ नहीं सो सके।

प्रभात होते ही कहार के चौर्य-कर्म का कोलाहल मच गया। राजाज्ञा हुई कि उसे पाताल से भी ढूँढ निकालना चाहिए। परन्तु अत्याश्चर्य की बात यह हुई कि वह विदेशी कहार मक्खन में से बाल की भाँति निकल गया। वह मारवाड़ के दुर्गम और विषम मार्गों से सर्वथा अपरिचित था, परन्तु पकड़ाई में नहीं आया। इतना पूर्ण प्रबन्ध होने पर भी चोर का कपूर की तरह उड़ जाना स्वामीजी के हृदय में सन्देह की रेखा को प्रकट करता था। उधर पहरे वाले नौकर भी अपने कर्त्तव्य कर्म से अन्यमनस्क हो रहे थे।

नन्हीजान ने अपना बदला लेने और कलेजा ठण्डा करने के लिए, ईश्वर जाने, क्या-क्या क्रूर कर्म करने निर्धारित किये होंगे। वह अपने हृदय के